

श्रीमद्सगसहाकविविरचिन —



वधमानचरित्र.

~~~ BBBBBBBBBB



अनुवादकः—जिनदास पश्चिनाथ फडकुले.

पकाशकः—रावजी सखाराम दोशी.

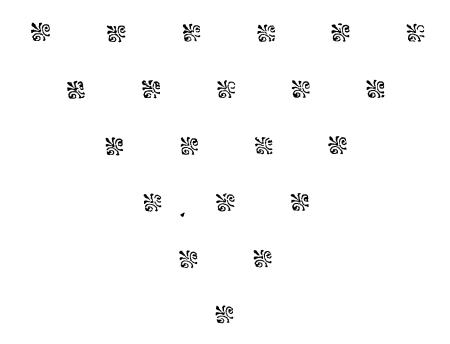
वीरनिर्वाण संवत् २४५७.

मार्च, सन् १९३१.

प्रथमाचृत्ति.

किंमत ४ रुपये.

प्रकाशकः— रावजी सखाराम दोशी, मंगळवारपेठ, सोलापूर.



सुद्रक — कर्मयोगी प्रेस, ५७४ दक्षिण कसवा, **सोलापूर** 

# विषयानुक्रमणिकाः

| अ.नं       | विषय.                                                         |            | <b>98 सं</b> ख्या. |
|------------|---------------------------------------------------------------|------------|--------------------|
| ?          | मंगलाचरण                                                      | • • •      | १                  |
| २          | पूर्वदेशाचें वर्णन                                            | • • •      | ३                  |
| ર          | श्वेतातपत्रानगरीचें वर्णन                                     | • • •      | ષ                  |
| 8          | नंदिवर्धन राजाचें वर्णन                                       | • • •      | ९                  |
|            | वीरवती राणीचें वर्णन                                          | • • •      | ११                 |
| έ          | नंदन राजपुत्राचें वर्णन                                       | • • •      | १२                 |
| ૭          | नंदिवर्धनास वैराग्य होतें                                     | • • •      | २२                 |
| 2          | नंदन राजपुत्रास राज्यापीण                                     | • • •      | २५                 |
| ९          | उद्यान वर्णन                                                  | • • •      | २८                 |
| १०         | मौष्ठिल मुनींच्या दर्शनासाठी राजाचें प्रयाण                   | • • •      | ३२                 |
| ११         | नंद राजाच्या पूर्वभवांचें मुनिकृत वर्णन                       | • • •      | ३६                 |
| १२         | अमितकीर्ति मुनींचा सिंहाला उपदेश व त्यांचे पूर्वभव वर्णन      | • • •      | ३८                 |
| १३         | आदिनाथ स्वामीबरोबर मरीचि दीक्षा घेतो                          | •••        | ४३                 |
| <b>\$8</b> | मरीचीचें भववर्णन                                              | 1000       | ८५                 |
| १५         | विश्वभूति राजास वैराग्य होतें. तो विश्वनंदि पुत्रास युवराज पद | वी देतो व  |                    |
|            | आपल्या विशाखभूति भावास राज्य देऊन दीक्षा घे                   | तो         | ५७                 |
| १६         | बगीचाविषयीं विश्वनंदी व विशाखनंदी यांचा करुह                  | • • •      | ५९                 |
| १७         | विश्वंनदी व विशाखभूति दीक्षा घेतात                            |            | ६९                 |
| १८         | विश्वनंदी मुनि निदानानें महाशुक्र स्वर्गीत उत्पन्न होतात.     |            | ७२                 |
| १९         | अश्वग्रीव विद्याघराचा जन्म व त्याचा अर्धचक्रवर्तिपणा          | •••        | ८१                 |
|            | पोदनपुरनगर वर्णन                                              | •••        | ८३                 |
|            | मजापति राजाचे वर्णन                                           | •••        | ረጓ                 |
|            | विजय व त्रिपृष्टराजपुत्राचें वर्णन                            | • •        | ८७                 |
|            | सिंहवध वर्णन                                                  | • •        | ९१                 |
|            | विद्याधरदूतानें सांगितलेली हकीकत                              | • • •      | 6.8                |
|            | त्रिपृष्ट, राजपुत्राचं स्वयंप्रभेशीं लग्न                     | • • •      | १०१                |
|            | अश्वयीवाच्या समेंत क्षुठ्य झालेल्या विद्याधर् राजांचे वर्णन   |            | १०५                |
|            | हरिश्मश्रु प्रधानाचा अश्वग्रीव राजास उपदेश व राजांचं उ        | द्धत भाषण. | १२१                |
|            | प्रजापति राजाचें मंत्रिगणासह खरुवत                            | •••        | १२२                |
|            | सुश्रुत मंत्र्याचें सामोपायवर्णन                              | •••        | १२३                |
| ३०         | विजयवरुभद्रानं सामोपायाचे खंडन केलें                          | • • •      | १२७                |

३८५

| ्अ: नं, विषय                                                    |        | ष्ट. संख्या.  |
|-----------------------------------------------------------------|--------|---------------|
| ३१ सैन्यप्रयाण वर्णन                                            | • • •  | १३६           |
| ३२ त्रिपृष्टाकडे दूत येऊन भाषण करितो                            | • • •  | १४५           |
| ३३ वरुभद्राचें त्यास उत्तर ,                                    | • • •  | १४७           |
| ३४ पुन. दूताचे भाषण                                             | • •    | १५१           |
| ३५ युद्ध वर्णन                                                  | ••     | १६२           |
| ३६ त्रिष्ट व अश्वग्रीव याचे युद्ध                               | • • •  | १७६           |
| ३७ त्रिष्ट्रपाच्या ऐश्वर्याचे वर्णन.                            | •••    | १८४           |
| ३८ प्रजापति राजाचे वैराग्य व दीक्षात्रहण                        |        | १८९           |
| ३९ त्रिष्ट्राचा मृत्यु व विजय वलंड्वाचं मुक्तिगमन               | • • •  | २००           |
| ४० नरक दु ख वर्णन                                               | • • •  | २०४           |
| ४१ अमितकीर्ति मुनीचा सिहास धर्मीपदेश .                          |        | २७७           |
| ४२ सुत्रत सुनीचा कनकध्वजराजास धर्मोपदेश                         |        | २२६           |
| ४३ राजा दीक्षा घेतो व सहस्रार स्वर्गीत देव होतो                 | • • •  | २३०           |
| ४४ हरिपेण राजा श्रुतसागर मुनी पास्न श्रावकांची त्रतें ब्रहण करि | रेतो . | २३७           |
| ४५ सूर्यास्त व चंद्रोद्य वर्णन                                  | •••    | २३९           |
| ४६ प्रियमित्रचक्रवर्तीचें व त्याच्या ऐश्वर्याचें वर्णन          | • • ¢  | <b>२५</b> ४   |
| ४७ क्षेमंकर जिनेश्वराचा चक्रवतीस सप्ततत्वाचा सविस्तर उपदेश      | •      | २६३           |
| ४८ नंडन राजा दीक्षा घेऊन मोळा भावनाचे चितन करितो.               | • •    | ३२०           |
| ४९. कुंडपुराचे वर्णन .                                          | •      | <b>३३</b> ३   |
| ५० सिद्धार्थ नृपति वर्णन                                        | •      | ३३७           |
| ५१ देवतागमन व त्रिज्ञला देवीस सोळा स्वमे पडली                   |        | ३४०           |
| ५२ स्वम फल वर्णन.                                               | •      | ३४२           |
| ५३ महावीर जन्म व त्याचा मेरू पर्वतावर इंद्र अभिषक करितो         | •      | ३४७           |
| ५४ महावीर स्वामी सर्पाच्या मस्तकावर उमे राहातात                 | • •    | ३५६           |
| ५५ महावीर स्वामी दीक्षा घेतात व रुद्र त्यांना उपसर्ग करितो      | ••     | ३५७           |
| ५६ महावीर स्वामीस केवल ज्ञानाची प्राप्ति                        | • •    | <b>३६</b> १   |
| ५७ समवसरण वर्णन                                                 | •      | ३६३           |
| ५८ गौतम ब्राह्मण दीक्षा घेतो                                    | • •    | ३७४           |
| ५२ महावीर त्वामीची इंद्र स्तुति करितो                           | •••    | રૂ <i>૭</i> ૫ |
| ६० महावीर स्वामीस मोक्ष प्राप्ति                                |        | ३८३           |
|                                                                 |        | コノリ           |

६१ कवि प्रशस्ति ..

# प्रस्तावनाः

#### काव्य कशास सणतात ?

श्री महावीरस्वामींचें सिवस्तर चिरत्र महाकवि असग यांनी संस्कृत भाषेत काव्यस्त्यानें लिहिलें आहे. हें त्यांचें काव्य उच्च दर्जांचें आहे. जैन कवींनी आवल्या काव्यांत उत्कृष्ट नायकांचेंच वर्णन केलें आहे. म्हणून त्यांनी आपल्या प्रतिभाशाली वाणीचा दुरुपयोग केला नाहीं असे मणण्यास हरकत नाहीं. जैनाचार्योच्या हृदयांत लोकांना मोक्षमार्गात तत्पर करण्याचा टहेश होता. व तो त्यांनी उच्चाचरणाच्या नायकाचें वर्णन करून पार पाहिला आहे.

हीनवृत्तीच्या नायकांचें लक्ष परमार्थीकडे वळण्याचें नसतें. व अशा नायकांचें वर्णन करण्यानें आपण जनतेला उच्चमार्गीकडे नेकं शक्षणार नाहीं हैं जैनाचार्याना पूर्णपणें माहित होतें.

सरस्वती अर्थात् वाणी ही एक अपूर्व करूपलता आहे म्हणून तिची वाढ करावयाची असेल तर तिला आदर्शनायक जे तीर्थकरादिक सत्युरुष एतत्स्वरूपी करूपवृक्षावरच चढवावयास पाहिजे.

अवमनायकरूपी विषवृक्षावर तिची वाढ करणारे किव आपल्याला पुण्योदयानें प्राप्त आलेल्या प्रतिभा गुणयुक्तवाणीचा दुरुपयोग करितात असें द्वाणावयास कांहीं हरकत वाटत नाहीं. आपश्या वाणीचा दुरुपयोग करणारे किव हे स्वतःला व जनतेला ही उच्चमार्गापासून— मोक्षमार्गापासून अष्ट करितात असें समजावें.

जैनाचार्योनी असला अशुम मार्ग स्वतः स्वीकारिला नाहीं व जनतेलाही त्या मार्गाकडे स्यांनी खेचलें नाहीं. ही फार आनंदाची गोष्ट आहे.

भगवत् जिनसेन आचार्योनीं कवि व कविता कोणास हाणावें याचें फार मार्मिक उत्तर दिलं आहे. तें याप्रमाणें:—

त एव कवयो लोके त एव च विचक्षणाः ॥
येषां धर्मकथांगत्वं भारती प्रतिपद्यते ॥ ६२ ॥
धर्मानुबंधिनी या स्यात्कविता सैव शस्यते ॥
येषा पापास्त्रायेव सुप्रयुक्तापि जायते ॥ ६३ ॥
केचिन्मिथ्याद्दशः काव्यं प्रथनन्ति श्रुतिपेशलम् ॥
तत्त्वधर्मानुबंधित्वान सतां प्रीणनक्षमम् ॥ ६४ ॥

धर्य-ज्यांची वाणी धर्ममार्गाला दृद्धिगत करण्यास कारण होते तेच या जगांत कि होत, आणि तेच चतुर समजावेत. जो रत्नत्रय धर्माला अनुवरलेली आहे त्याच किवतेला कांवता हाणणें शोभतें. धर्माला न अनुमरणारी किवता जरी श्रष्टरार्थोनों मनोहर असली तरी वी पापोत्तचीलाच कारण होते. हाणून ती किवता प्रशंसेस पात्र होत नाहीं कित्येक मिथ्यादृष्टी किव कानाला मधुर लागणारें काव्य करितात पण तें अधर्म — पाप उत्पन्न करणारें असल्यामुळें सज्जनांच्या हृदयाला सन्तुष्ट करण्यास समर्थ नसतें.

कुकवींच्या काट्यांत धर्माला गौण ठेऊन अर्थ व काम पुरुषार्थाम्च प्राधान्य दिले हैं आदलतें यास्तव अशा काट्यापासून लोकांना मोक्ष प्राप्तीचा उपाय सांपहत नाहीं. ऐहिक उन्नति करून घेणें एवढेंच मनुष्यानें आपलें ध्येय मानूं नये. ऐहिक उन्नति ही पारमार्थिक उन्नतीला साधनीभृत मानूनच तिची प्राप्ति करून ध्यांची. जसें धान्य पेरणें याचा उद्देश कडना मिळावा हा नसून धान्य मिळावें हा असतो तसेंच कड्डयाप्रमाणें असलेली ऐहिक उन्नति ही केवळ पारमार्थिक आत्मोन्नतीचें फक्त साधन आहे. ती ध्येय नहें.

यास्तव आपल्याला आत्मोन्नतिरूपी ध्येय प्राप्त करून ध्यावयाचे असेल तर तें कुकाव्यापासून प्राप्त होणें शक्य नाहीं, धर्ममार्गदर्शक काव्याच्याच आश्रयानें जनतेला ऐहिक शन्तीचें उपय सांपडतात.

जरी जैन काठ्यांत इतर लोकांच्या काठ्याप्रमाणे शुंगार रसाचें व युद्धादिकांचें वर्णन आढळून येतें तथापि त्यालाच त्यांनीं प्राधान्य दिलें नाहीं हें ध्यानांत ठेवावें. ज्याप्रमाणें भोजनाच्या पदार्थात भात, भाकरी, चपात्या वगरे क्षुधा दूर करणाऱ्या पदार्थीचेंच प्रामुख्य असतें, चटण्या कोशिवरी यांचें नसतें. चटण्या वगरे पदार्थ केवळ अज्ञाला चन येण्यासाठीं असतात. क्षुधा दूर करणेच्या कामीं त्यांचा उपयोग होत न'हीं; तसें श्रृंगागदिक रसांचा उपयोग आचार्यानीं आपल्या काठ्यांत धर्मकथेला मञ्जरता यावी म्हणूनच केलेला आहे.

अर्थ पुरुषार्थ व काम पुरुषार्थ यांचे वर्णन प्रसंगोपात्त जैन किव करितात पण धर्म पुरुषार्थीला मुख्यता आहे ही गेष्ट ते विसरत नाहींत हैं खास. अर्थ व काम हे दोन पुरुषार्थ धर्मीपासूनच प्राप्त होतात, हैं दाखिवण्यामाठींच या दोन पुरुष थींचें वर्णन जैन किव करित असतात. उपर्युक्त दोन पुरुषार्थीनाच मुख्यता दिल्यावर विकथा व धर्मकथा यांत अंतर तें काय राहाणार?

प्रस्तुत महावीर चरित्र अर्थात् वद्धेमान चरित्र हैं काव्य असग क्वींनीं आपहें चुद्धिचातुर्य खर्च करून अतिशय रसाळ असे रचिहें आहे. संस्कृत्र विद्वानांना हैं काव्य वाचून आनद वाटल्याशिवाय राहणार नाहीं अशी आमची खात्री भाहे.

#### महाबीर स्वामीचे श्रष्टत्व.

महावीर स्वामीच्या चिरत्रांतील प्रसंग सर्वच चित्ताकर्षक आहेत व या प्रसंगांचें वर्णन करणारा असग कवि ही तितकाच कुशल असल्यामुळें या काव्यामध्यें अपूर्व सरसता उत्पन्न झाली आहे. जसें स्वामाविक सौंदर्य असून पुनः तें खुल वण्याची सर्व सामग्रीही अरपूर असली म्हणने तें जसें जनतेला अतिशय मुग्ध वनवितें तसाच प्रकार या काव्यामध्यें ही भद्दन आंका आहें असें आम्हास वाटतें.

श्री महावीर स्वामींचें महत्त्व वर्णन करणें हैं आमच्या सार्ख्या अत्यंत अल्पज्ञान्याला अगर्दीच अशक्य आहे भगवान् वीर्प्रमुचे गुण व सामध्ये वर्णन करण्यास चार ज्ञानाचे घारक असे गौतशादि गणधरही स्वतःला असमर्थ समजत असत.

तथापि पूर्वीचार्योनीं लिहून ठेविलेखा अंथाच्या आधारें त्यांच्या चरित्रांतील प्रसंगांचें बर्णन भी करितो असे असग कवींनीं म्हटलें आहे. यास्तव आम्ही ही त्यांच्या चरित्राच्या महत्त्वाच्या भागाचें संक्षेपानें वर्णन करण्याचा प्रयत्न करितो. श्री समन्तभद्राचार्य स्वयंभू स्तोत्रांत एके ठिकाणीं असें म्हणतात:—

## तथापि ते मुनींद्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् ॥ पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो त्र्याम किंचन ॥

है प्रभो ! तुझ संपूर्ण चरित्र सांगणें फारच कठिण आहे छाणून आझी फक्त तुझें नाम मात्र कथन करितो. कारण तुझा नामोच्चार क ण्यानें ही आमर्ची पातकें नष्ट होऊन आमहाला पवित्रपणा प्राप्त होईल. या आचार्योच्या उक्तीला अनुसद्धनच येथें थोडासा विचार करूं.

### नोदभास्यन्यदि ध्वान्तिविच्छिदस्त्वद्वचोंऽशवः ॥ त्रमस्यन्धे जगत्कृतस्नमपतिष्यदिदं ध्रुवम् ॥५९॥ म. पु प. १

आम्हाला असे वाटतें कीं, भगवान वीर प्रभु या जगांत अवतरले नमते तर आज जैन धर्मीचें अहितत्वच राहिलें नसतें. याचें कारण अमें आहे कीं, श्री पार्श्वनाथ वीर्यकर मोक्षाला गेल्यानंतर अधर्मीची चोहोकडे अतिशय वाद झाली. जगात सर्वत्र हिंसेला धर्म मानण्यांत येकें लागलें त्यामुळें यज्ञादिक पाप कार्मीची प्रवृत्ति अतिशय वादली होती. अशा वेळीं अहिंसाधमीचें खारें स्वरूप जगाला दाखविगाऱ्या असामान्य प्रभावशाली व्यक्त ची फरच आवश्यकता होती. सर्व विचारी लोक धर्मीचें खारें स्वरूप काय आहे या विपर्यी विचार करीत होते. त्यांना योख्य सार्गदशेक एवडेंच नव्हें तर त्यांना त्या योख्य मार्गीन विधा करून

पुढें तो मार्ग अन्याहत चान्छ करण्याचें सामध्ये वाळगणारा महात्मा पाहिने होता. तो श्री पार्श्वनाथ स्वामी मोक्षास गेल्यानंतर १७८ वर्षानीं जन्मास आला व त्यानें अनेक मतांच्या कोलाहलांत ऐकूं न येणाऱ्या मागसलेल्या जैन धर्माला वेगानें पुढें आणिलें. म्हणून आज जैनधर्माचें या भारतवर्षात नांव ऐकू येत आहे.

सर्व तीर्थेकर शक्ति, गुण वर्गरे बावर्तीत समान आहेत पण इतर तीर्थकरांच्या वेळीं व महावीर स्वामींच्या वेळीं परिस्थिती वंगळी वेगळी होती. इतर तीर्थेकराच्या वेळीं अनेक कुमतांचा प्रसार झाला नव्हता तो यावेळीं झाला होता. यास्तव अनेक कुमतांच्या तीव गलबल्यांत नामशेष झालेल्या जैनधर्मानें पुनः आपली पूर्णिश्णें ऊर्जितावस्था प्राप्त करून घेतली. याला महावीरस्वामीच संपूर्णश्णें कारण झालेले आहेत.

आदि भगवंताच्या पुत्राला-भरतचक्रवतीला एकेनेळीं सोळा दुःस्वमें पडलीं होतीं. त्या स्वमापैकीं पहिलें स्वमाचा उल्लेख भगविज्ञनसेनाचार्योनीं याप्रमाणें केला आहे:—

दृष्टाः स्वमे मृगाधीशा ये त्रयोविश्वित्तप्रमाः ॥
निःसपत्नां विहृत्येमां ६मां ६माभृत्कृटमाश्रिताः ॥ ६३ ॥
तत्कलं सन्मितं मुक्तवा शेषतीर्थकरोदये ।
दुर्नयानामनुद्भृतिख्यापनं लक्ष्यतां स्फुटम् ॥ ६४ ॥
पुनरेकािकनः सिह्योतस्यान्वकमृगेक्षणात् ॥
भवेयुः सन्मतेस्तीर्थे सानुवंगाः कुलिगिनः ॥ ६५ ॥
( महापुराण पर्व ४१ वें. )

अर्थात्—है भरता ! तृ पहिल्या स्वमांत सर्व पृथ्वीवर शत्रुरहित होऊन ज्यांनी विहार केटा व नंतर पर्वताच्या शिखराचा व्याश्रय केटा व्यसे २३ सिंह पाहिलेस. त्याचे फरु हैं खाहे कीं, महावीर स्वामीस सोझन वाकीच्या तीर्थकरांच्या वेळीं इतर कुमतांची उत्पत्ति होणार नाहीं. पुढें दुसन्था स्वमांत तृं एका सिंहाच्या वच्चाच्या मागें हरिण जात असलेश पाहिलास त्याचे हें फळ ब्याहे कीं, महावीर स्वामीच्या वेळीं परिश्रह्धारी कुमतांचा प्रसार होईल.

या टक्केलावरून महावीरस्वामीच्या वेटीं कशी परिस्थिति होती हैं वाचकांच्या ध्यानांत येईलच, धर्मपरीक्षा प्रथांत अमितगति आचार्यानीं ही असा उक्केल केला आहे:—— पाखंडाः समये तुर्ये वीजरूपेण ये स्थिताः ॥ प्ररुद्य विस्तरं प्राप्ताः कलिकालेऽवनाविमे ॥ ७२॥ सर्ग ८१

जीं कुमतें चतुर्थकालांत फक्त बीजरूपाचीं होतीं ती कलिकालांत वीरभगवंताचे वेळीं अंकुर फुटून चुक्षाप्रमाणें फोपावलीं.

अशा प्राचीन श्रंथांच्या उल्लेखानरून इतर तीर्थकरांचे वेळीं व महावीर स्वामीचे वेळीं कशी परिस्थिति होती हैं चांगलें व्यक्त होतें.

श्री महावीर स्वामींनीं अहिंसा धर्माचा पुष्कळ प्रसार केला. त्यांच्या उपदेशाची व स्यांनीं प्रतिपादिलेल्या जैन धर्माची छाप हिंदुधर्मावर ही एडली, यामुळें हिंदुधर्मात यज्ञ-यागादिक बंद पडले असें लोकमान्य बाळ गंगाधर टिळक यांनींहि बडोदे येथें दिलेल्या व्याख्यानांत स्पष्ट कबूल केलें आहे. त्यांच्या व्याख्यानाचा कांहीं अंश आग्ही येथें संक्षेपानें लिहितो:—

" मीमांसक मुक्तीकरितां यज्ञयाग करीत. कालिदासानें सुद्धा मेघहुतामध्यें नदीचें पाणी यज्ञपशुंच्या वधानें लाल झाल्याचें वर्णन केलें आहे. पशुवधानें मोक्ष प्राप्ति होत नाहीं असे गाजवून जर कोणी दयेचा ध्वज प्रथम उभारला असेल तर तो मान जैनांचाच आहे. ज्ञाम्हणधमें व जैनधमें यांच्या मधील तंट्याचें कारण हिंसाच होय. वैष्णवांच्या यज्ञांत पिष्टपशुचा बिल होतो तो जैन धर्माचाच परिणाम होय. ज्ञांत अहिंसा तत्वाचा प्रसार करण्यांत महावीर स्वामीनी जी हढता दाखिवली ती अवतारी पुरुषाखेरीज दुसऱ्यांना दाखिवतां येण्यासारखी नाहीं. भी जैनधर्भाचें नुसतें महत्त्व सांगृं इच्छित नाहीं. परंतु जैनधर्माचा हिंदुधमीवर पुष्कळ परिणाम झाला हैं मला सांगितलें पाहिले. "

केवलज्ञान झाल्यावर महावीर स्वामींनीं अनेक देशांत विहार करून सर्वत्र जैन धर्मीं उज्जवल स्वरूप लोकांना दाखिलें. कोटयविध लोकांनीं जैनधर्म धारण करून आपलें कल्याण करून घेतलें. प्रभुच्या वेलीं श्रेणिक नांवाचा प्रसिद्ध राजा होलन गेला. हा इति-हासांत विधिसार या नांवानें प्रसिद्ध आहे. यानें पूर्वी बौद्ध धर्मीचा स्वीकार केला होता. परंतु पुढें श्री महाबीर स्वामीच्या समवसरणांत त्यांच्या उपदेशानें तो जैनधर्मीत प्रवीण झाला. त्यानें आपल्या मगध देशांत सर्वत्र जिनधर्मीचा प्रसार करण्याचा यशस्वी प्रयत्न केला. या श्रेणिकाला महाबीर स्वामीच्या सिन्ध श्रुप परिणामामुळें तीर्थकर प्रकृतीचा मंघ पडला. त्यामुळें तो पुढें उत्सर्पिणीच्या तिसन्या कालांत या भरतवर्णत पहिला तीर्थकर होऊन जैन धर्माचा प्रसार करणार आहे. याविषयीं हरिवंश पुराणांत जो उल्लेख आहे तो याभ्राणें:—

तत्र तीर्थकरः कुर्वन्त्रत्यदं धर्मदेशनं ॥
सेवितः श्रेणिकेनास्य न हि तृप्तिस्त्रिवर्गजा ॥ १४६ ॥
गीतमं च समासाद्य तदा तदुपदेशतः ॥
सर्वानुयोगमार्गेषु प्रवीणः स नृपोऽभवत ॥ १४७ ॥
तता जिनमृहैरतुँगे राज्ञा राजगृहं पुरम् ॥
कृतमन्तर्वहिव्याप्तमजस्त्रमहिमोत्सवैः ॥ १४८ ॥
कृतः सामतसंघातैर्महामंत्रिपुरोहितैः ॥
प्रजाभिजिनगेहादया मगवो विषयोऽखिलः ॥ १४९ ॥
पुगेषु ग्रामघोषेषु पर्वताग्रेष्वदृश्यत ॥ नदीतद्यनांतेषु तदा जिनगृहावली ॥ १५० ॥ हिरवंशपु. सर्ग २ रा.
धर्मेणायोजयद्वीरो विरहन् विमवान्तितः ॥
यथैव भगवानपूर्व वृषमो भव्यवत्सलः ॥ ७ ॥
द्योतमाने जिनादित्ये केवलोद्यातमास्वरे ॥
क लीना इति न ज्ञातास्तीर्थखद्योतसंपदः ॥ हिरवंशपु. सर्ग ३ रा.

श्रेणिक राजा, त्याचे मंत्रिमंडळ व पुरोहित आणि प्रजा यांच्या प्रयत्नाने सर्व मगर्घ देशांत जिनमंदिरांची रचना झाली. मोठीं शहरें, खेडेगावें, पर्वततट, नदीचे किनारे या सर्व ठिकाणीं जिनमंदिरें बांघली गेलीं. या रीतीनें सर्व मगघदेश जैन धर्ममय बनला होता. याच प्रमणें इतर देशांतही मगवंतांनीं विहार करून लोकांना जैनवर्मी वनविलें. जसें पूर्वी आदिनाथ स्वामीनीं सर्वाना जैन केले होतें. तसेंच महावीर स्वामीनींही केले. केवळ ज्ञानरूपी प्रकाशानें जेव्हां महावीर स्वामीरूपी सूर्य तळपत होता तेव्हां कुमतरूपी काजवे कोठें लपून वसले होते हें समजलें देखिल नाहीं! याप्रमाणें प्रयत्न केल्यामुळें महावीरस्वाभींचा वर्म आज ही या हिंद्स्थानांत टिकून राहिला आहे.

महावीरस्वामी वें अंत करण जन्मस्यापासूनच वैराग्ययुक्त होतें. म्हणून त्यांनी राज्याचा स्वीकार केला नाहीं व लग्नही करून घेतलें नाहीं. ते कुमार ब्रम्हचारी होते.

> अर्थिभ्यस्तृणबिद्धिचित्य सकलां किश्चिच्छ्यं दत्तवान् ॥ पापां तामिवतिर्पिणीं विगणयश्चादात्परं त्यक्तवान् ॥ प्रागेवाक्चशलां विमृद्धय सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रही— वैते ते विदितात्तरात्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः ॥ १०२ ॥

व्यत्मानुग्रासन,

जगांत उत्तम माणसांचे तीन प्रकार सांगितले आहेत. पहिल्या प्रकाराचीं माणसें पंचेंद्रियांच्या विषयां तृणाप्रमाणें मानून संपत्ति याचकांना देऊन टाकितात. दुसऱ्या प्रकारचीं माणसें लक्ष्मी पाप उत्पन्न करणारी आहे व तिचा उपभोग किती जरी घेतला तरीही ती लोभ वाढविणारी आहे आणि संतोषाचा नाश करणारी आहे असे समजून ती दुसऱ्याला देत नाहींत, पण तिचा त्याग करून मुनि होतात. तिसऱ्या प्रकारचीं माणसें रुक्षमीचा संबंध होण्याच्या पूर्वीच घर सोझन वीतराग तपस्वी बनतात. महावीर स्वामी हे तिसऱ्या प्रकारचे होते म्हणून त्यांनीं आजन्म ब्रम्हचर्य पाळिलें व राज्य स्वीकारिलें नाहीं.

संपत्ति न मिळतां ही मनुष्याच्या मनांत शंकडों प्रकार वीं मनोराज्ये उत्पन्न होतात व विषयलालसा सुटत नाहीं. भी असें करीन, तसें करीन, भी असा उद्योग करीन, अशी संपत्ति मिळवीन अशा मानसिक भावना नेहमीं मनांत उद्भवत असतात. परंतु महाबीर स्वामींना अतुल वैभव मिळालें होतें; स्वर्गाचा राजा इंद्रही त्यांचा नोकर बनला होता; तरीही ते अतुल वैभवाला लाथ माह्म आहिमकसुलामध्यें निम्म झाले. ही किती तरी मोठी आश्चर्याची गोष्ट आहे. अशी उत्कृष्ट त्याग बुद्धि धारण कह्मन जे परमविरक्त बनले; ज्यांनीं मिध्यांधकारांत चाचपडत असलेल्या भन्यांना रत्नत्रयात्मक प्रकाशांत आणून मुक्तीचा मार्ग दालविला त्या धीर वीर परमात्म्याला आमचा वारंवार नमस्कार असी.

भशी उत्कृष्ट त्यागबुद्धि मनांत बाणल्यामुळं ते शरीरापासून पूर्ण विरक्त झाले होते साणून त्यांना रुद्दादिका सारख्या व्यक्तींनी केलेल्या उपसर्गीचें कांडींच भय बाटलें नाडीं. त्यांच्या आत्मध्यानांतील स्थिग्तेला रुद्दादिक अष्ट करूं शकले नाहींत. असो. याप्रमाणें प्रभुच्या चरित्रांतील मुख्य गोष्टींचें आसी वर्णन केलें आहे. यांच्या चरित्रांतील कांडीं पसं-गांचें आसी 'श्री महावीर चरित्रांवर तौलिनक पद्धतीनें विचार श्या लेखांत वर्णन केलें आहे. तो लेखडी या पस्तावनेच्या पुढें जोडला आहे.

आतां प्रम्तुत चित्राचे कर्ते श्री असग किव याविषयीं थोडक्यांत माहिती देऊन ही प्रस्तावना आम्ही संपिवतों,

#### श्री असग महाकवि.

या महाकर्व में प्रस्तुत महावीरचरित्र आणि शांतिनाथचरित्र असे दोन प्रंथ िहिले आहेत. आणि याने आठ ग्रंथ िहिले आहेत असे स्वतः त्याने प्रशस्ति श्लोकांत सांगितलें आहे. संपत् नांवाच्या श्राविकेने हें महावीरचरित्र रचण्यास कवीला सांगितल्यावरून त्याने हें सुंदर चरित्र मावकीति मुनीश्वगच्या स निष्ठ राहून रचिलें आहे. या काव्याची रचना त्याने शके संव. ९१० मध्ये केली आहे. अर्थात विक्रम संवत् १०४५ मध्ये याची रचना झाली हैं सिद्ध होतें.

कांजीवरं, तंजावर, कांची या प्रदेशांना चोलदेश झणतात तेथं श्रीनाथराजाच्या राज्यांत विरला नगरीमध्यं यानें विद्याध्ययन केलें व त्या ठिकाणीं त्यानें भाठ अंथ रिचलें असा याच काव्याच्या प्रशस्ति स्रोकांत त्यानें स्वतःचा उल्लेख केला आहे.

महावीर चरित्र रचल्यानंतर या कवीनें शांतिपुराण हा ग्रंथ लिहिला भाहे. या ग्रंथाच्या प्रशस्तीमध्यें त्यानें भाष्ट्या मातापितरांचा व गुरूचा उल्लेख केला आहे. असग कवीच्या पित्याचें पटुमित असें नांव होतें हा पटुमित मुनिभक्त होता. मुनीश्वराच्या चरणरजानें याचें मस्तक पवित्र झालें होतें. याचा स्वभाव अतिशय शांत होता. व हा निर्मळ सम्यक्ताचा धारक होता. अलदान देणें, देवपूजन करणें, दशलक्षण वगेरे पर्वाचे उपवास करणें इत्यादि धार्मिक कार्यामध्ये यानें आपलें शरीर क्षीण करून पुष्कळ पुण्यसंचय केला होता. कवीच्या मातेचें 'वरेति' असें नांव होतें. हीही पतीप्रमाणें निर्मे सम्यक्त्वधारक व सत्यात्रांना दान देणारी होती.

कर्वीच्या गुरुचे नागनंद्याचार्य असे नांव होतें. हे व्याकरण शास्त्र व जैनागम यांत अतिशय निपुण होते. या कवीचा जिनप्पा नांवाचा मित्र होता. तो मोठा विद्वान असून काव्य व पुराण यांची त्याला उत्तन माहिती होती. त्याच्या आप्रहानें कवीनें शांतिपुराण हा ग्रंथ लिहिला आहे.

या प्रंथाच्या पशस्तींत शेवटच्या स्रोकांत क्वींने मी आधीं महावीरचरित्र लिहिलें व नंतर शांतिपुराण हा प्रंथ लिहिला धर्में झटलें आहे. शांतिपुराणाची पशस्ति वाचकांना उपयुक्त होईल झणुन आझी तिचा येथें उल्लेख करितो:—

मुनिचरणरजोिभः सर्वदा भृतधात्र्यां प्रणितममयलग्नैः पावनीभृतमुर्घा । उपशम इव मुर्तः शुद्धमम्यक्त्वयुक्तः पटुमितिरिति नाम्ना विश्रुतः श्रावकोऽभृत १ तनुमितितन्त्रां यः सर्वपर्वोपवासैस्तनुमनुपमधीः स्म प्रापयन्संचिनोित ॥ सत्तमिपि विश्वितं भ्रयसीमन्नदानप्रमृतिभिरुरु पुण्यं कुंद्शुभ्रं यश्रश्र ॥ २ ॥ भिक्तं परामिवरतं समपक्षपातामातन्वती मुनिनिकायचतुष्टयेऽपि ॥ वैरेतिरित्यनुपमा भ्रवि तस्य भार्या सम्यवत्वशुद्धिरिव मृतिमती पराभृत ॥ ३ ॥ पुत्रस्तयोरसग इत्यवदातकीत्योरासीन्मनीिषिनिवहप्रमुखस्य शिष्यः । चन्द्रांशुश्चभ्रयश्मो भ्रवि नागनंद्याचार्यस्य शब्दसमयार्णवपारगस्य ॥ ४ ॥ तस्याभवद्भव्यवनस्य सेव्यः सखा जिनापो जिनधमितकः । च्यातोऽपि शौर्यात्परलोक्षभीरुर्द्धिजातिनाथोऽपि विपक्षपातः ॥ ५ ॥ व्याख्यानशीरुत्वमवेक्ष्य तस्य श्रद्धां पुराणेषु च पुण्यचुद्धेः किवत्वहीनोऽपि गुरौ निवंधे तिमन्नहासीदसगः प्रवंधम् ॥ ६ ॥

# ंचिरतं विरचय्य सन्मतीयं सद्लंकारविचित्रवृत्तवंधं ॥ स पुराणमिदं व्यथत्त शांतेरसगः साधुजनप्रमोहशान्त्ये ॥ समकालीन कवि.

या कवीच्या समकालीन किव श्री हरिचंद्र, वीरनंदि, अमितगति, वादीभसिंह वगेरे आहेत. कारण या महावीरचरित्रांत जीवंघरचंपू, चंद्रप्रभचरित, सुभावितरत्नसंदोह वगेरे ग्रंथातील श्लोकापमाणें समानार्थक श्लोक आलेले आहेत. ते आम्ही प्रस्तुत ग्रंथांत टिप्पणी रूपानें दिन्ने आहेत. अमितगति आचार्य विक्रमाच्या अक्साच्या शतकांत होऊन गेले व असगकवीनें ही प्रम्तुत काच्य विक्रम संत् १०४५ मध्यें लिहिनें आहे. वीरनंदि यांचाही काल जवळ जवळ तोच आहे.

#### विषय वर्णन.

प्रस्तुतचरित्र कवीने थनेक वृत्ते, अलंकार व रस यांनी उत्तम सजविले आहे. वर्णन शेली सुंदर व चित्ताकर्षक आहे. जागो जागी यांत उत्तम नीतिवचनेहि थालेली थाहेत. सातव्या व आठव्या सर्गीत राजनीतीचे थर्थात साम, दाम, दंड व मेद या चार उपायांचे चांगलें वर्णन थाहे. दूमरा, दहावा व अकरावा सर्ग यांत वराग्यरसाचे सुंदर वर्णन थाहे. पंच-राव्या सर्गीत प्रियमित्र चक्रवर्तीला क्षेमेकर जिनांनी गृहम्थ व श्रावक यांच्या धर्मीचा उपदेश करून सप्तत्वांचे स्वरूप सांगितलें थाहे. स्याचे कवीने विस्तृत वर्णन २०० श्लोकांत केलें आहे.

अठगान्या सर्गात इंद्राने महाबीर स्वामींची स्तुत्ति केली ती ही कवीने फार उत्तमरीतीनें वर्णिली आहे. त्या स्तुतीचें मराठी भाषांतर आम्ही आर्थ्यृवृत्तांत करून या ग्रंथाच्या पार्भी जोडलें आहे.

महावीर स्वामीचा जीव प्रथम पुरूरवा नांबाचा भिल्ल होता. त्या भवापासून तीर्थक्रा-वस्था प्राप्त झाली त्या भवापर्यंत ३७ भवांचे यांत सविस्तर वर्णन आलें आहे.

#### चित्र परिचय.

या ग्रंथांत सुद्र रंगत पांच चित्रं ढिलीं थाहेत. अमिनकीर्ति मुनि सिंहाला उपदेश देन आहेत हैं पिढलें चित्र आहे. इंद्राणी मायावी बालकाला ठेऊन तीर बालकाला घेऊन इंद्राच्या स्वाधीन करीत आहे हें दुसरें चित्र. संगमक नांवाच्या देवानें सर्पाचा वेष घेऊन वीर प्रमुला मिविवण्याचा प्रयत्न केना पण प्रमुल्याच्याशीं निभयपणें की हा करीत आहेत हें तिसरें चित्र. प्रमु दीक्षा घेण्यामाठीं वनांत जाऊन वस्तालंकार खंगावरून उत्तरीत आहेत हें चौथें चित्र व प्रसु ध्यानस्थ असतां त्यास रुद्रानें उपसर्ग केला हें पांचवें चित्र. याप्रमाण या ग्रंथांत चित्रं ढिलीं आहेत. आरंभी पुष्य आचार्य शांतिसागर महागज यांचा तीन रंगी फोटो दिला आहे.

इंद्राणी प्रमुति गृहांत जाऊन जिनमातेला मायामयी झोप आणते व जिन वालकाला घेऊन इद्राच्या स्वाधीन करिते असे वर्णन महापुगण, धर्मशर्मी स्युद्य काव्य, चंद्रपमचरित्र इत्यादिकामध्ये आले आहे. त्यास अनुसद्धन येथील दुसरे चित्र आहे. पण प्रस्तुत मंथांत इंद्रानें प्रमुतिगृहांत जाऊन जिनवालकाला घेतले असे वर्णन आहे.

#### भाषांतरकाराचे वक्तव्य.

हैं काव्य संस्कृत भाषेत ज्याचा थोडासा प्रवेश झाला आहे अशा विद्याध्योंना शिक-विण्यास योग्य आहे. यापा न त्यांचें संस्कृत भाषेचे ज्ञान तर वाढेलच पण ज्या वीग्प्रभूच्या तीर्थात आपण आहोत त्यांचें चित्र किती उत्तम होतें याची ही माहिती होईल. विशाख परीक्षच्या अभ्यासक्तमांत मुंबई प्रांतिकमभेच्या परीक्षालयानें, दि. जैन महासभेनें व दि. जैन परिषदेनें आपआपल्या परीक्षालयांच्या अभ्यासक्तमांत हें काव्य प्रविष्ट करावें अशी त्यांना सविनय विनंती आहे.

प्रस्तुत चित्राचें भाषांतर भाज पर्यंत मराठी भाषेत मुल्ग्रंथासहित प्रसिद्ध केलेलें नव्हतें प्राणृन भाक्षी या ग्रंथाची संस्कृत प्रति मिळऊन हें केचेलें आहे. श्रीमान पं. खूबचंदजी शास्त्री यांनीं या ग्रंथाचे हिंदी भाषांतर पंघरा सोळा वर्षापूर्वी प्रसिद्ध केलें आहे.

श्री पूज्य व देवचंदजी यांनीं कारंजाहून आपल्या स्नेडीमंडलाक्डून लिह्ऊन संस्कृत ग्रंथ माङ्याकडे पाठऊन दिला होता, तो समग्र वाचून भाषांतर करण्याची तीव इंच्छा भला उत्पन्न झाली. व हें भी भाषांतर केलें आहें.

या विषयीं भी ब्रह्मचारिजींचा व त्यांच्या स्नेहीमंडलाचा अत्यंत आभारी आहे.

कारंज्याह्न पाठिवलेल्या प्रतीत पांचव्या सर्गीतील प्रारंभाचे ३१ श्लोक नव्हते. श्री लोकनाथ शास्त्री मुडविद्री यांनीं ते रलोक पाठिवले या बह्ल त्यांचाही मी फार आभारी आहे.

श्री धर्मवीर रावजी सखाराम दोशी यांनी हा समग्र ग्रंथ पिद्ध केला याबहल त्यांचा मी फार काभारी आहे. हे जिनवाणीचे अनन्यभक्त आहेत मराठी भाषेचे जे जैन ग्रंथ सध्यां स्वाध्यायासाठीं लोकांना वाचावयास सुलभपणें मिळनात ते सर्व बहुतेक यांनींच छापऊन प्रसिद्ध केले आहेत. दि. जैनसमाजामध्यें पुष्कळ श्रीमान् गृहस्थ आहेत त्यांनीं जिनवाणी प्रकाशनाच्या कार्यी लक्ष देऊन जैनधर्माची प्रभावना करावी अशी त्यांस विनंती काहे. अल्पवृद्धीला अनुसद्धन मी या ग्रथाचें भाषांतर केलें असल्यामुळें यांत बरेच दोष राहण्याचा संभव आहे वाचक गणांनीं याबहल क्षमा करावी.

ता. २४-२-३१ वीरसंवत् २४५७. फाल्गुन व. ७ मंगळवार. कापला नम्र, जिनदास पार्श्वनाथ फडकुल

# श्रीमहावीर चरित्रावर तौलिनक पद्धतीनें विचार.

भगवान् श्रीमहावीराच्या उज्ज्वल चित्राला श्वेतांबर ग्रंथकारांनीं कलंकित केलें आहे. दिगंवराचार्योनीं जें यांचें चित्र लिहिलें आहे तें विशुद्ध आहे. पुण्यपुरुषांचें चित्र जिसें असा-वयास पाहिजे तसेंच हें आहे. महान् पुरुषाचें चित्र हें नेहमीं उज्ज्वलच असतें. परंतु श्वेतांबराचार्यप्रणीत महावीरचित्रामध्यें तशी उज्ज्वलता आढळून येत नाहीं.

दिगंबराचार्यप्रणीत महावीरचरित्र वाचलें असतां, महावीरस्वामींची उत्तरोत्तर प्रगति कशी होत गेली हें आढळून येईल व दि० जैनसिद्धांताची अविरुद्धताहि त्यापासून वाचकांना सिद्ध झालेली आढळून येईल.

श्री महावीरस्वामी हे शेवटचे तीर्थंकर आहेत हैं दिगंबर व श्वेतांबर या उभयतांना मान्य आहे. महावीर हे धर्मवीर होते, यांनीं आपल्या उपदेशानें जैनधर्माला आलेली उत्तरती कळा नाहीशीं करून जैनधर्माची उज्ज्वलता व उत्तमता लोकांना दाखवून दिली व सर्वत्र या धर्माची संस्थापना केली.

जेव्हां जेव्हां उत्तम आचारांचा नाश होतो व मिथ्याधर्मीची भरभराट होऊन त्यामुळें जैनधर्मीला हीनस्थिति प्राप्त होत असते तेव्हां तेव्हां तीर्थंकर उत्पन्न होऊन ते जैनधर्मीचा उद्धार करितात असे जैनशास्त्रांत सांगितलें आहे.

> आचाराणां विघातेन कुद्धीनां च संपदा ॥ धर्म ग्लानि पारप्राप्तमुच्छ्यन्ते जिनाचमाः ॥ २०६ ॥

> > रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण पर्व ५ वें.

भगवद्गीतंतही---

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिभवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदातमानं सृजाम्यहम् ॥

असें ह्यटलें आहे. अर्थात् जेव्हां जेव्हां धर्माला ग्लानि येते व अधर्माचा सर्वत्र प्रसार होतो तेव्हां तेव्हां मी अवतार घेऊन धर्माचा प्रसार करितों असें कृष्णानें अर्जुनाला सांगितलें आहे. परंतु ही हिंदूंची अवतारकल्पना जैनांना मान्य नाही. आत्मा एकदां पूर्ण गुद्ध वनल्यावर त्याला पुनः देह धारण करतां येत नाही. देह, हा आत्म्याचा अग्रुद्धपणा जोपर्यंत आहे तोपर्यंत, नष्ट होत नहीं. व अग्रुद्धपणा असेल तर ईश्वरत्व कसें अस्ं शकेल ?

जैनशास्त्रांत आत्म्याच्या उन्नतीचें साधन—रत्नत्रय सन्यग्दर्शन सम्यग्नान व सम्यक्चा-रित्र हें सांगितलें आहे. या साधनांचा ज्या आत्म्यांनीं आश्रय करून त्यांची पृणे प्राप्ति करून घेतलो आहे ते पर्नात्मा वनतात. सोने जसें खाणीत अशुद्ध असते व वर काढल्या नंतर भट्टीत घालणे वगैरे उपायानी ते पूर्ण शुद्ध वनतें तसे आत्मा संसारावस्थेत अशुद्ध असतो व रत्नत्रयरूपी अभीच्या उप्णानेने त्याचा अशुद्धपणा नष्ट होऊन त्याच्या शुद्धतेचा पूर्ण विकास होता.

जैनधर्मीमध्यें त्रेसष्ट पुण्यपुरुष होऊन गेले आहेत. त्यात तीर्थकर हे सर्वात श्रेष्ठ असे मानले जातात. मोक्षमार्गीचें स्वरूप माहीत नसल्यामुळे या संसाररूपी वनामध्यें दु खरूपी अशीमध्ये हें जीव होरपळत आहेत. या अतिदीन प्राण्याचा उद्धार करीन अज्ञा रीतीचा परोपकार करण्याचा विचार सतत ज्यांच्या अंत करणात घोळत असल्यामुळें या विचाराला पोण्क अज्ञा पोडजकारण भावनाचें चितन करून जे अतिजय श्रेष्ठ अज्ञा अवस्थेला— जतेंद्रवंद्य अज्ञा अवस्थेला पोहोचतात त्यास तीर्थकर हाणतात

अज्ञा अत्युच विचारानी त्याना जो पुण्यवंघ होतो तसला उत्कृष्ट पुण्यवंघ कोणासही होत नहीं हाणून त्याची उत्कृष्टता सर्व जग आपली मान नम्र करून मान्य करतें. या उत्कृष्ट पुण्यवंधास तीर्थकर कमें असें नाव आहे. या कर्मीच्या उदयानें तीर्थकर भव्याना मोक्षमार्गाचा उपदेश करीत असतात व जैनधर्माची हीनावस्था नष्ट करून तो पूर्ण वाढीस नेतात

अशा रीतीची कामगिरी महावीर तीर्थंकरांनी केली असल्यामुळें आज भारतवर्षीत जैनधर्माचें अस्तित्व दिस्त येत आहे. महावीर स्वामीस मोक्ष प्राप्त होऊन २४५६ वर्षे पूर्ण झाली. व आतां २४५७ व वर्ष सुरूं झालें आहे. भगवान महावीर स्वामींचे चिरत्र दिगंवर व श्वेतावर आचार्यांनी आपत्या ग्रंथांत लिहून ठेविलें आहे पण दोघाच्या चिरत्रवर्णनात महदंतर आहे. दिगंवराचार्योंनीं लिहिलेल्या चिरत्रानध्यें जसा निर्दोषपणा आढळून येतो तसा श्वेतावराचार्योंनी लिहिलेल्या चिरत्रामध्ये आहाला आढळला नाही, असे मोट्या कष्टानें हाणांवें लागते. जैनधर्माच्या सिद्धांताची यानी प्रतिपादिलेल्या चिरत्राचा मेळ वसत नही. दिगंवरी महावीरचिरत्राचीं श्वेतावरी महावीर चिरत्राची तुलना करण्याचा उद्देश आमचा हा आहे कीं सत्य कोणते हें आमच्या धर्मवंधूना चागले समजावें. द्वेपभावनेला वळी पहून आही समालो-चना करीत नही. जेथे द्वेषभावना असते त्या ठिकाणीं वस्तुस्थितीचा विपर्यास होण्याचा फार संभव असतो.

महावीर चरित्रातील समय विवेचनाचें परीक्षण न करिता ज्या गोष्टी सिद्धांतविरुद्ध वाटतात तेवल्याच गोष्टीचा उल्लेख करून थाली त्यांचें परीक्षण करूं..

श्री गुणभद्र आचार्योनीं उत्तरपुराणात श्रीमहावीर स्वामीचे चरित्र वर्णिले आहे. याच-प्रमाणें असगक्ष्वी. सकलकीर्ति वगैरे दिगंबर आचार्यीनीही याचे चरित्र लिहिले आहे. या सर्व चरित्रामध्यें एकदाक्यता आहास आटळून आली आहे. श्वेतांवर आचार्य हेमचंद्र यानी ' त्रिपप्टिरुक्षणपुरुष—चरित्रम् ' या ग्रंथामध्यें शेवटीं महावीर स्वामीचें व तत्कालीन श्रेणिकादिक राजांचेंही चरित्र लिहिलें आहे. आपणास फक्त आज महावीर स्वामींच्या चरित्रविषयीं विचार करावयाचा आहे.

# [ मरीचिभव वर्णन ]

महावीर त्यामी हे, जेव्हा पहिले तीर्थकर आदिनाथ स्वामी उत्पन्न झाले होते त्यावेळीं मरीचि या नावानें आदिनाथ स्वामीचे नातु होउन उत्पन्न झाले होते. या भावांत त्यांनी आदिनाथ महाराजा बरोबर दीक्षा घेऊन तपश्चरण करण्यास सुरवात केली. परंतु लोकरच अष्ट होऊन पारित्राजक वेष धारण करून यानीं सास्त्र मताची स्थापना केली. यांचा कपिल नांवाचा शिप्य होता, त्याला यांनीं सास्त्र मताची स्थापना केली. यांचा कपिल नांवाचा शिप्य होता, त्याला यांनीं सास्त्र मतामध्यें प्रवीण करून सोडलें त्यामुळें सांख्यमताला 'कापिलमत, असें ही नांव आहे. आदिनाथ स्वामीच्या वेळी जे इतर राजे अष्ट झाले होते त्यानीही अशीच निरनिराळी मतें वनविली आहेत. शुक्र व बृहस्पति या राजांनी 'चार्वाकदर्शनाची' रचना केली. कच्छ व महा-कच्छ या राजानी तापसीय मत स्थापिलें. अशा रीतीनें अनेक कुमतांची स्थापना त्यावेळी झाली. याविषयी दिगंबर आचार्य व श्वेताबर दोघेहि सम्मत आहेत.

विधाय इशनं मां रूयं कुमारेण सरीचिना ॥ व्याख्यातं निजशिष्यस्य कविलस्य पटीयमा ॥ ५६ ॥ धर्मपरीक्षा परिच्छेद १८ वा

आदिनाथ स्वामीना केवलज्ञान झाल्यावर त्यांचा सद्धमीपदेश यांना ऐकावयास मिळाला तथापि त्यानी गाढ मिथ्यात्वाचा उदय झाल्याभुळें आपल्या मताचा परित्याग केला नाही. आदि-नाथ स्वामी जरें जैन धर्माच संस्थापक आहेत तसाच मीही सांख्यमताचा संस्थापक आहे ह्मणून त्याला अतिशय अनंतानुबंधि मान कपाय उत्पन्न झाला. या कषायानें दीर्घसंसारी व्हावे लागलें. श्वेतावरांच्या महावीर चरित्रात या मानोद्याने नीचगोत्राचा बंध पडला असा उल्लेख आहे तो या प्रमाणें:—

एवं जातिमदं कुर्वन् अजावास्कोटयन्मुहुः॥ नीचनोत्राभिधं कर्म मरीचः समुपार्जयत्॥ ५९॥

भरतानें आपल्या वंशांत पुढें कोणी तीर्थकर होणार काय असा प्रश्न आदिनाथ स्वामीस विचारला तेव्हां त्यानी मरीचि हा शेवटचा महावीर तीर्थकर होणार आहे असें सांगितलें. तें ऐकून मरीचीला अतिशय जातिगर्व उत्पन्न झाला. व या नीचगोत्राच्या उदयानें महावीर तीर्थ-कराच्या भवांत हा मरीचि नीवकुलांत जन्मला असें श्वेताम्बर महावीरचरित्रात उल्लेखिंल आहे. याचा आझी पुढें विचार करणार आहोत,

#### त्रिपृष्टभवाचा विचार.

मरीचीला गाढ मिथ्यात्वोदयानें संसारात पुष्कळ फिरावे लागले. पुढें कांही पुण्योदयानें या भारत वर्षीतील पोदनपुरामध्यें प्रजापित राजाला जयावती व मृगावती या दोन स्त्रिया होत्या. त्यापैकी मृगावतीच्या पोटी हा 'त्रिपृष्ट 'नावाचा पहिला नारायण होउन जन्मला असा दिगंबरी महावीर चरित्रांत उल्लेख आहे. याविषयीं श्वेताम्बराचार्य हेमचंद्रकृत महावीर चरित्रांत अजी हकीकत आहे:—

या भरतक्षेत्रांत पोदनपुराप्रध्यें 'रिपुप्रतिशत्रु 'या नांवाचा राजा राज्य करीत होता. त्याला भद्रा नांवाची राणी होती. तिला या राजापासून अचल नांवाचा मुलगा झाला. हा वलभद्र होता. तदनंतर याच राणीला राजापासून मृगावती नावाची मुलगी झाली. ही तरुण झाल्यावर एके दिवशी आपल्या वापाला नमस्कार करण्या करिता राजसभेत गेली. राजाला तिला पाहून कामविकार उत्पन्न झाला व त्याने तिला आपल्या माडीवर वसऊन घेतले व हिच्याशीं आपण आपलें लग्न करून ध्यावें असा विचार केला. नंतर तिला अंत पुरामध्ये जा झणून सांगितलें.

पुढें एके दिवशी शहरांतील पुढारी लोकाना बोलाऊन राजानें विचारिलें कीं, राजाच्या वाड्यात जें रत्न उत्पन्न झालेलें असतें ते कोणाचे समजावें १ पुढाच्यांना त्याच्या अंतरंगांतला अभिप्राय न समजल्यामुळें ते ह्मणाले की, त्याच्यावर राजाची मालकी असते. राजानें तीन वेळां विचारलें व तीन्ही वेळा पुढाऱ्यांनी तसेंच उत्तर दिलें तदनंतर राजानें मृगावतीला लग्ना करितां अंत पुरांतून राजसमेंत आणविलें. सर्व पुढाऱ्यांना या कृत्यामुळें लज्जा वाटली व ते आपल्या घरीं निघून गेले. इकडे राजानें मृगावतीशी गाधवी विधीने विवाह केला. मद्रा राणीला राजाच्या या अयोग्य कृत्यानें फार चीड—लज्जा उत्पन्न झाल्यामुळें ती अचल नांवाच्या आपल्या मुलाला वरोवर घेऊन दक्षिण दिशेकडे निघून गेली. तेथे 'माहेश्वरी ' नावाचे नगर अचलाने स्थापन करून आईला त्या ठिकाणीं स्थापन केलें मृगावतीशी लग्न केल्यामुळे लोक राजाला ' प्रजापति ' अशा नांवानें संवोधूं लगले.

तित्पतापि स्वप्रजायाः पतित्वेनाखिलैर्जनैः ॥
प्रजापतिरिति प्रोचे वलीयः कर्म नाम हि ॥ ११७ ॥
हेमचन्द्रकृत महावीर चरित्र पर्व १० वे सर्ग १ ला.

अर्थात्—हा रिपुप्रतिशत्रु राजा स्वत.च्या मुलीचाच नवरा वनल्यामुळे याचे प्रजापति असे नांव पडलें.

येथे या हकीकतीवर असा विचार करावयाचा कीं, त्रिपृष्ट हा पहिला नारायण अर्थात् त्रिखंडाधीश अर्धचक्रवर्ती होता हें दोघांसही—श्वेतावर व दिगंवर याना मान्य आहे. नउ नारायणांना त्रेसष्ट्रश्राला पुण्यपुरुषामध्यें हे उभयतां अंतर्भृत करितात. असे असता अशा

पुण्यपुरुषाची उत्पत्ति अञा रीतीने मानणें हें श्वेतांवर ग्रंथकाराला उचित होणार नाहीं. हीन लोकाची उत्पत्ति अञा रीतीची मानणें योग्य होईल परंतु असल्या सम्राटासारख्या पुरुषांची उत्पत्ति अञा रीतीची मानणें हा अवर्णवाद आहे. राजाचें प्रजापित असें दुसरें नांव असेल. परंतु नांवाचा असा वपरीत अर्थ कांही तरी अयोग्य संबंध जुळवून करणें हें योग्य नव्हे. प्रजा या शब्दाचा अर्थ रयत असा प्रसिद्ध आहे.

तिच्यावर राजाचें स्वामित्व असतें ह्मणून त्याला प्रजापित असें दुसरें नांव पडलेलें असतें. पित शब्दाचा अर्थ नवरा असाच करावयाचा असेल तर भूपित ह्मणजे पृथ्वीचा नवरा, नरपित ह्मणजे मनुप्यांचा—पुरुपांचा नवरा असे अर्थ करावे लागतील. भगवान् आदिनाथ स्वामींनाही प्रजापित असें नांव स्वयंम् स्तोत्रांत आहे.

'प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविपः शशास कृप्यादिवु कमेसु प्रजाः ॥ ' यावरून प्रजापति हें नांव रयतेचा मालक अशा अर्थी वापःणें योग्य आहे. अथवा प्रजापति हें नांव आहे त्याचा अर्थ करण्याची कांहीं जरूरत नाहीं. ज्या कुलांत नारायण, प्रतिनारायण, बलमद्र, चक्रवर्ती व तीर्थेकर उत्पन्न होतात त्या कुलाचीं शुद्धि व आचार हे उत्कृष्ट असतात. तेथें असले अनाचार असत नाहीत. शिवाय शलाकापुरुषांची साक्षात् उत्पत्ति तर केव्हांहि अशी निकृष्ट मानणें योग्य होणार नाही.

त्रिपृष्ठ नारायण त्रिखंडाधीश झाल्यावर पुष्कळ आरंभ परिग्रहामध्यें छुठ्य झाला त्यायोगें त्याला नरकगतीचा बंध पडला. नरकामध्यें पुष्कळ दुःख भोगून तो या भूतलावर सिंह होऊन जन्मला. तेथेंही पुष्कळ पापं करून प्रथम नरकांत जाऊन जन्मला. तेथील आयुष्य संपल्यावर या भृतलावर पुनः तो सिंह होऊन जन्मला. अमितकीर्ति मुनीश्वराच्या उपदेशानें त्याला पूर्वजन्माचें स्मरण होऊन त्याचा क्रूरपणा नष्ट झाला व त्यानें सम्यग्दर्शनपूर्वक व्रत ग्रहण केलें. येथून त्याची क्रमानें उन्नति होत गेली व हा सिंह दहाव्या जन्मीं श्री महावीर स्वामी होऊन जन्मला, अशी संक्षेपानें दिगंबराचार्योच्या महावीर चरित्रात हकीकत आहे. परंतु श्वेतांवरकृत महावीर चरित्रांत त्रिपृष्ठ वहु आरंभ व परिग्रहानें नरकाला गेला व तेथून निघृन अनेक भव धारण करून तो प्रियमित्र चक्रवर्ती झाला व नंतर नंदराजा होऊन यानंतरच्या पुढच्या भवांत महावीर स्वामी होऊन जन्मला. अशी संक्षिप्त हकीकत आहे.

# महावीर स्वामचिं वर्णन.

आतां आपण महावीर स्वामी कोठें जन्मले वगैरे विशेष महत्वाच्या हकीकतीकडे वळू.

दिगम्बरमतामध्यें महावीर स्वामी कुंडलपुराधिपति सिद्धार्थ राजाच्या राणीच्या गर्मीत अर्थात् त्रिञला देवीच्या गर्मीत सोळा स्वप्नानंतर आषाढ शुद्ध षष्ठीचे दिवशीं आहे अशी सरळ हकीकत आहे. परंतु श्वेतांवरांनी याच्या विषयी मोठी विचित्र हकीकत हिहिली आहे, ती दमाणें—

या जंबूढ़ीपामध्यें भरतक्षेत्रात ब्राह्मणकुंडग्राम नावाचें बहर आहे. तेथें ऋषभदत्त नांवाचा कौडाल गोत्रातील ब्राम्हण राहात असे. त्याच्या स्त्रीचें नाव 'देवानंदा ' असें होते ही जालं-धरवंगात उत्पन्न झालेली होती. आपाढ गुक्ल पष्टीचे दिवगी रात्री ही सुखानें निजली असतां हिला चौदा स्वप्नें दिसली व नंदराजाचा जीव हिच्या गर्भोत आला. प्रात काळी हिने हीं चौदा स्वप्नें आपत्या पतीला सागितली. तंव्हा त्याने चार वेदाचा ज्ञाता व परमधार्मिक असा पुत्र तुला होणार असे सागितलें. प्रभु गर्भात असल्यामुळे या उभयताच्या घरात कल्पवृक्ष आल्याप्रमाणें मोठी संपत्ति वाढली. देवानंदेच्या गर्भीत प्रभु वास करून ८२ व्यायनी दिवस झाले होते त्यावेळी सौधर्मेन्द्राचे आसन कंपित झालें अवधिज्ञानानें इन्ट्रानें जाणले कीं प्रभु देवानंदेच्या गर्भीत आले. नेव्हा त्याने सिद्यासनावरून उठ्ठन प्रमूला नमस्कार केला व याप्रमाणे विचार केला. —' त्रेलोक्यप्रभु तीर्थकर हे कथी नीच कुलामध्यें, ढीनाच्या घरी व मिश्लुकाच्या घरीं जन्मत नसतात. मोती जसे जिपल्यात जन्मतात, तसे इध्वाकुवंश, हरिवंश वगेरे उच्च क्षत्रियांच्या कुलायध्यें पुरुपसिइ तीर्थकर जन्मत असतात परंतु नीचकुलामध्यें प्रमूचा जन्म झाला हैं मात्र असंगत झाले, अथवा तीर्थकर देखिल वाधलेलें कर्म अन्त्रथा करण्यास समर्थ होत नाहींत. मरीचीच्या भवात प्रमृंनी कुलगढ धारण केला होता त्यावेळी त्यांना नीच गोत्राचा वंध झाला होता. त्याचा उद्य यावेळी उपस्थित झाला थाहे जरी ते नीचकुलामध्यें उत्पन्न झाले आहेत. तयापि आम्हाला तेथून काहून उच्चकुलामध्यें स्थापन करण्याचा नेहमी अधिकार आहे. तेव्हा महावंशीय राजा व राणी या अर्त क्षेत्रात कोठें आहेत वरें ? " असा विचार इंद्र करीत असता त्याला याप्रमाणें आठवंग झाली—'' या भरतक्षेत्रात मण्ड्या नगराप्रमाणें संदर् व पृथ्वीला अलंकारमृत असे क्षत्रियकुंडपाम नावाचे गहर आहे. तथ सिद्धार्थ राजा आपल्या त्रिज्ञाला राणीसङ् राज्य करीत आहे. याप्तव त्रिज्ञाला राणीच्या पोटात देवानंदंचा गर्भ आणून ठेविला पाहिजे " याप्रमाणें आठवग करून त्यानें नेगमेपी नावाच्या आपल्या सेना-पतीस हे कार्य करण्याची आज्ञा दिली. या नैगमेषी सेनापतीने इंट्राच्या आज्ञेपमाणें कार्य पार पाडलें. देवानंदा ब्राह्मणी झोपी गेली होती त्यावेळी तिनें आपत्या मुतांतून चौदा स्वमे वाहेर पडत अमलेली पाहिली. तेव्हा ती घावरून टठली व छाती वडऊन घेऊ लागली व हाणूं -लागली कीं, माझा गर्भ कोणी तरी हरण केला आहे. "

इकडे आश्विन कृष्ण त्रयोवशीच्या विवशीं हन्त नक्षत्रावर चंद्र आहा असतां त्या देवाने तो गर्भ त्रिशला राणीच्या गर्भात गुप्त रीतीने स्थापन केला.

राणीला त्यावेळी व्यवमाणे चौंडा स्वप्ने पटली हत्ती वेठ सि. अभिषेक करीत

असंत्रेठी रुक्ष्मी, पुष्पमाला, चंद्र, सूर्य, महाध्वज, पूर्ण कुंप, समुद्र, सरोवर, विमान, रत्नपुंज व निर्धूम अग्नि या स्वप्नांचीं फलें इंद्रानें, राजानें, व तज्ज्ञ लोकांनीं राणीस सांगितल्यानें तिला फार आनंद झाला. या प्रमाणें श्वतांबरांच्या महावीर स्वामीची हकीकत आहे.

# ( गर्भापहरण )

आतां प्रभूचें गर्भापहरण होऊं शकतें किंवा नाहीं याचा विचार करूं. जेव्हां सम्यग्दर्शन जीवास प्राप्त होतें तेव्हां तो जीव अत्रती जरी असला तरी नारकावस्था, नपुंसकत्व, स्नीत्व, नीच कुलामध्यें जन्म घेणें, अल्पायुषी होणें, दरिद्रच अशा अवस्थेस प्राप्त होत नाहीं अर्थात् तो उच्च कुलामध्येंच उत्पन्न होतों, ऐश्चर्य संपन्न होतों, स्नीपणा, नपुंसकत्व अशा अवस्थेपत पोहोचत नाहीं. श्वेतांवर व दिगम्बर या उभयतांना प्रमाणमूत आचार्य समंतभद्र याविषयीं रत्नकरंड श्रावकाचारांत या प्रमाणें प्रतिपादन करितातः—

# सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यड्नपुंमकस्त्रीत्यानि ॥ दुष्कुलविकृताल्पायुर्द्दरिद्रतां च त्रजंति नाप्यत्रतिकाः॥

महावीर तीर्थकराचा जीव अनेक भवापासून सम्यादर्शन धारण करून त्रतें सुद्धां पाळीत होता. यास्तव या भवांत त्याचा नीच कुलांत जन्म होणें सिद्धांताविरुद्ध आहे. नीच कुलांत उत्पन्न झालेलीं माणसें फक्त श्रावकांचीं व्रतें धारण करूं शकतात. मुनिव्रतें धारण करूं शकत नाहींत ' देसे तदियकसाया तिरिया उज्जोवणीचतिरिय गदी ' पांचव्या गुणस्थानांत चार प्रत्याख्यानावरणी कषाय, तिर्थगायु, उद्योत, नीचगोत्र व तिर्थगाति या आठ कमेप्रकृतींची उदय-व्युच्छित्ति होते अर्थात् या गुणस्थानापर्यतच यांचा उदय असू शकतो. यास्तव भगवंताचा नीच कुलामध्यें जन्म होणें असंभवनीय आहे. जेव्हां जीव सम्यन्दृष्टी होतो तेव्हां पासून त्याच्या पूर्व बद्ध अशुभ कर्माची असंख्यात पटीनें उत्तरोत्तर निर्जरा होत असते. दिगंबर व श्वेतांबर या उभ-यतांना मान्य असलेल्या श्रीमदुमास्वामी आचार्योच्या तत्वार्थसूत्र ग्रंथांत "सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानं-तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकक्षपकक्षीणमोहजिनाः ऋमशोऽसंख्येयगुणनिजिराः" हें सूत्र नवच्या अध्यायांत शेवटीं सांगितलें आहे. यांत सम्यग्दष्टीपासून केवलिजिनापर्यंत क्रमानें असंख्यात गुणी निर्जरा होते असे सांगितलें आहे. यामुळें भगवंताला मरीचीच्या भवांत जरी नीच गोत्राचा वंध कुरुमदानें झाला होता तरी तो या तीर्थकर अवस्थेतही उदयह्दपानें टिकून राहिला होता असें सणणें हें सिद्धांताला सोडून आहे असें ग्रंथाधारं सिद्ध होतें. श्री गुणभद्र आचार्यीनीं मह।वीर स्वामीच्या जीवाला मागच्या भवांत तीर्थकर नाम कमीसह उच्च गोत्राचा ही वंध झाला होता असे स्पष्ट लिहिलें आहे. तें याप्रमाणें:--

भावियत्वा भवध्वंसितीर्थकृत्वामकारणं ॥ वद्ध्वा तीर्थकरं नाम सहोर्चगाँत्रकर्मणां ॥ २,४५ ॥ जीवितांते समासाद्य सर्वामाराधनाविधि ॥ पुष्पोत्तरविमानेऽभृदच्युर्तेद्रःसुरोत्तमः ॥ २४६ ॥ उत्तरपुराण पर्व ७४ वें.

यास्तव भगवान महावीर उत्तम क्षत्रिय कुलांत जन्मलेत्या सिद्धार्थ व त्रिशला देवी यांच्या पोटींच जन्मले असं मानणेंच न्यायपाप्त आहे. इतर कल्पना असंगत वाटते.

आता देवानंदा त्राह्मणीच्या गर्भीत भगवंत आहे व तेथे ते ८२ दिवस राहिहे तथाणि इंद्राला ही गोष्ट समजली नाही असे स्वेतावर ह्मणतात यावरून भगवंताची चारच कल्याणिक झाली, पहिलें गर्भकल्याणिक झाले नाही असेच मानावें लागेल व 'भरतक्षेत्रांत उत्पन्न झालेल्या चोवीस तीर्थकरांचें पंच कल्याण होतच असतें 'या नियमास वाधा आली असें मानावे लागेल.

ज्यावेळी भगवान देवानंदेच्या गर्भी आहे त्यावेळी इंद्राला ही गोष्ट अवधिज्ञानानें माहीत झाली होती किवा नाहीं? जर त्याला ही गोष्ट माहीत झाली होती तर त्याचें कल्याणिक का केले नाही? हें जर महावीर जिनाचें कल्याणिक केलें नाही? तर इतर २३ जिनाचेंही हें कल्याणिक झालें नाही असें मानावें. असे मानलें तर तीर्थकर प्रकृतीचा वंघ मानणें व्यर्थ होईल. कदाचित् देवानंदेच्या उदरामध्यें भगवंतानी अवतरण केलें ही गोष्ट इंद्राला माहित नव्हती तर तो अज्ञानी होता असें मानावें लागेल. पुन. मोठी आश्चर्याची गोष्ट ही आहे की. त्याच इंद्राला ८२ दिवसानंतर ही गोष्ट कशी समजली?

'व्यायजी दिवसानंतर देवानंदेच्या उदरातून महावीरस्वामीचा गर्भ काहून नैगमेषी नावाच्या देवानं त्रिज्ञला राणीच्या पोटात स्थापन केला' या ठिकाणी असा प्रश्न उद्भवतों की देवानंदेच्या गर्भीत भगवान महावीरानी का अवतरण केले. १ कदाचित् यावर तुहीं असें उत्तर चाल की आपल्या पूर्वोपार्जित कर्माच्या उदयानें तथे अवतरण करावें लागलें. तर इंद्रानें त्या कर्माच्या उदयाचा निषेध कसा केला १ त्यानें आपत्या सामध्यीने, असें म्हणाल तर हैं योग्य नाही. कारण भगवान जिनेंद्रदेव अनंतानंत वल्लाली आहेत व ते जगाचे स्वामी आहेत, तरीही ते कर्माची गित रोकूं जकत नाहीत तर फक्त एका स्वर्गाचा स्वामी असा इंद्र त्यांच्या कर्मीना विपरीत कसा करूं शकेल १ दुसरा विचार येथें असा ही उद्भवतों की त्या नेगमेषी देवानें गर्भीचे अपहरण जन्ममार्गीनें केलें का अन्य मार्गीनें केलें. १

जन्ममार्गाने केलें ह्मणाल तर जन्ममार्गानें वाहेर येणें यासच जन्म ह्मणतात तेव्हा याच वेळी जन्मकल्याणिकाचाही उत्सव मानावयास पाहिजे होता. प्रवीं आपण गर्भकल्याणिक मानलें नाहीं व आतों जन्म कल्याणिक मानणार नाहीं तर दोन कल्याणिकांचा अभाव मानावा लागेल. मग वाकीचीं कल्याणिकें तरी कां मानावीत बेरें ?

तसेंच हीं दोन कल्याणिकें मानली तर त्रिशलादेवीच्या उदरी महावीर स्वामी आले असतां, जशी गर्भ व जन्म हीं दोन कल्याणिकें मानिली आहेत तशीं देवानंदेच्या उदरी ते आले होते ह्याण्न तेथें ही दोन कल्याणिकें मानावीत अञा रीतीनें महावीर जिनाचीं सात कल्याणिकें मानणें भाग पडेल.

मुख आदि अन्यद्वारें गर्भापहरण मानिलें तर अन्यमतामध्यें कर्णाची उत्पत्ति कानापासून, नासिकेय वगैरे ऋषींचा जन्म नाकापासून मानिला आहे. तो सर्व प्रकार तुझाला सत्य मानावा लागेल.

तसेंच ज्यावेळीं वीरजिनाचा गर्भ त्रिशलेच्या पोटांत स्थापन केला गेला त्याच्या पूर्वीं सहा मिहने व नंतर नड मिहनेपर्यंत रत्नशृष्टि व छप्पनकुमारिका यांची सेवा शुश्रूपा हीं कृत्यें कोठें झालीं. श्सोळा स्वप्नें कोणीं पाहिलीं वोन्हीं ठिकाणी रत्नशृष्टि वगेरे झाली हाणाल तर दोन्ही कल्याणिकें दोन्ही जागीं झाली असें मानावे लागेल.

गर्भापहरण करतेवेळीं वालकाच्या नाळीचा नाश झाला असतां वालकाचाही नाश होतो, सर्व लोक याला गर्भपात झणतात. आंब्याचें फळ तोडून तें दुसरीकडे लाविलें असतां जसें वाढत नहीं त्याच प्रमाणें नाळीचा नाश झाला असतां त्या वालकाची दुसऱ्याच्या उदरांत वाढ होऊ शकत नाहीं.

श्रीमहावीर स्वामी ऋषभदत्ताच्या वीर्यापासून उत्पन्न झाले असतां त्यांना सिद्धार्थपुत्र असें सणणें योग्य नाही; असें सणणें सणने महावीर स्व.मी दोन वापापासून उत्पन्न झालेले आहेत असें मानावे लागेल व असें मानणें सणने मोठा अवर्णवादं आहे.

तसेंच आपल्या शास्त्रांत कोठें त्रिशलादेवीच्या गर्भीत आपाढ गुद्ध पष्टीचे दिवशी वीर जिन अवतरून चैत्र शुद्ध नवमीचे दिवशी भगवंताचा जन्म झाला अर्थात् नउ महिने सात दिवस गर्भीत राहिले असा उल्लेख आहे. व कोठें कोठें भगवानाचें अपहरण दाख़िवलें अशा रीतीनें हीं शास्त्रें परस्परविरुद्ध विधानें करणारी आहेत. यास्तव गर्भापहरण मान्ण्याने वीर परमदेवाच्या ठिकाणीं उलट अयोग्यपणा सिद्ध होतो ह्मणून गर्भापहरण मान्ं नये.

त्रिशला देवीच्या गर्मीत प्रभु असतांना मातेला त्रास होईल हाण्न त्यांनी हलनचलन करणें बंद ठेविलें; त्यामुळें मातेला माझा गर्भ कोणी हरण केला किया ता नष्ट आला अधवा त्यांचें कोणी स्तंभन केलें काय असा संशय आला व ती फार शोक करूं. टागली व शानिन्यान करूं लगली असें धेतांवर ग्रंथ:त लिहिलें आहे.

परंतु येथें ज्या मातेला त्रेलोक्यनाथ गर्भीत आल्यामुळें कठिन अञा एकाची उत्तर हेनां

आली होती त्याच मातेला प्रभु गर्भातच आहेत-गर्भ नप्ट झाला नाही हैं कसें समजलें नाहीं याचें आश्चर्य वाटतें.

प्रभूंचा विवाह समस्वीर नावाच्या राजाच्या मुलीशी—यगादेशीं झाला होता. व त्यांना तिच्यापासून एक वियदर्शना नांवाची मुलगी आली होती व तिचा विवाह प्रभूंनीं जामाली नांवाच्या एका राजपुत्राशीं करून दिला होता. अभी हकीकत खेतांवराच्या वीर चरित्रांत सांगितली आहे. ती याप्रमाणें:—

पुण्येऽहिन महीनाथो जन्मोत्सवसमोत्सवम् ॥ विवाहं कारयामास महावीरयशोदयोः ॥ १५१ ॥ कालेन गच्छता भर्तुर्यशोदायामजायत ॥ नामतो रूपतश्चापि दुहिता त्रियदर्शना ॥ १५४ ॥ महाकुलो राजपुत्रो महर्द्धिनवयीवनः ॥ जामालिः परिणिनायाद्यीवनां त्रियदर्शनाम् ॥ १५५ ॥ (श्वेतावर हेमचंद्राचार्यकृत महावीरपुराण पर्व १० सर्ग २ रा.)

प्रभूच्या वडील भावाचें नाव नंदिवर्धन व वहिणीचें नांव सुदर्शना असें -होतें. तसेंच 'पउमचरिय' नांवाचा विमलाचार्यकृत एक प्राकृत ग्रंथ आहे त्यात उपर्युक्त गोष्टीचा मुळींच उल्लेख नाहीं. यावरूनही याचीं विधानें परस्परविरुद्ध अशी आहेत.

तीर्थकराच्या मातेला तीर्थकराशिवाय अन्य मुलगा होत नाही असें दिगंवर शास्त्रांत सांगितलें आहे. हाणून तीर्थकरांना कनिष्ठपणा नाही. महावीर स्वामींनीं विवाह केला नाहीं. जितशबूच्या मुलीचें यशोदा असें नाव होतें व तिचें महावीर स्वामीशीं आपण लग्न लाऊन द्यावें असा त्याचा मनोदय होतां परंतु महावीर स्वामीनी ही गोष्ट कवूल केली नाहीं असें जिनसेन प्रणीत हरिवंश पुराणामध्यें लिहिलें आहे. वासुपूज्य, मिल नेमि, पार्श्व व वीर हे पांच तीर्थकर वाल ब्रह्मचारी होते यावहल असा उल्लेख आहे—

वासुपूज्यस्तथा मह्निनेमिः पार्श्वोऽथ सन्मतिः ॥ क्रमाराः पच निष्कांताः पृथिवीपतयः परे ॥

(दशभक्ति पृष्ठ २४७)

महावीर स्वामीनीं दीक्षा घेतल्यावर १२ चातुर्मीस निरिनराळया ठिकाणीं केले असा उल्लेख आहे. पहिला चातुर्मीस त्यांनीं मोराक नावाच्या गावी केला परंतु तो पूर्ण न करतांच त्यानीं पावसाळयातच अन्य ठिकाणी प्रस्थान केले " ग्रामं नाम्नास्थिकग्रामं ययो प्राष्ट्रप्याप प्रभुः " असा उल्लेख हेमचंद्र कृत महावीर चरित्रात आहे. परंतु ढिगंवरांच्या महावीर चरित्रांत

प्रभृतीं कोठें चातुर्मास केल्याचा उहेंख आलेला नाहीं. तीर्थकरांना चातुर्मास करण्याची जरूरत नसते कारण त्यांच्या विहारापासृत कोणत्याही प्राण्याची विराधना होत नाहीं. त्यांना कधीं छेदोपस्थापना करावी लागत नाही; याचें कारण त्यांच्या हातून केव्हांही कोणताही अपराध घडत नसतो ह्मणृन त्यांना प्रतिक्रमण करणें आलोचना करणें यांची जरूरत नसते. परिहारविशुद्धि चारित्र ज्याला प्राप्त झालें आहे असा मुनि जीवांनीं भरलेल्या प्रदेशांतून जरी विहार कर्ल लागला तथापि त्याच्या विहारानें त्या जीवांना कोणतीही पीडा होत नाहीं. याबद्दल असा उहेख आहे:—

#### परिहारद्विसमेतः षड्जीयनिकायसंक्कलं विहरन् । पयसीय पद्मपत्रं न लिप्यते पापनिवहेन ।।

अर्थात् ज्याप्रमाणें कमलाचें पान पाण्यामध्यें अस्नही त्यापास्न अलिस असतें. त्या-प्रमाणें परिहारिवशुद्धिचारित्र धारक मुनि जीवसमूहांत विहार करूनही पापापास्न अलिसच राहतो. मुनि पिंछी जीवसंरक्षणाकरितां घेतात परंतु तीर्थंकरांना पिछी व कमंडळचीही अवश्य कता राहत नाहीं. यावरून त्यांचें संयम दोषरिहत असतें हें व्यक्त होतें. तीर्थंकरांना नेहमीं अभेदरूप सामायिक चरित्र असतें. या सर्व विवेचनावरून चातुर्मास करण्याची तीर्थंकरांना आवश्यकता नाहीं व दिगम्बर जैनाच्या ग्रंथांत तीर्थंकरांच्या चातुर्मासाचा उल्लेखही पण नाहीं.

महावीर स्वामीचा गोशाल नांवाचा एक शिष्य होता तो महावीर स्वामीप्रमाणें स्वतःलाही सर्वज्ञ सण्न घेकं लागला. तेव्हां ती गोष्ट गौतमगणधरांनीं महावीर स्वामीस विचारली
तेव्हां ते सणाले कीं "तो माझा शिष्य आहे. परंतु सध्या मिथ्यात्वी झाला आहे. व तो
सर्वज्ञ नाहीं. "हें महावीर स्वामीचें भाषण कर्णोपकर्णी होऊन गोशालसही समजलें तेव्हां तो
रागानें समवसरणांत येऊन महावीरस्वामीला सणाला की, "हे महावीरा! मी तुझा शिष्य
नाहीं. तूं, हा माझा शिष्य आहे असें लोकांस सांगतोस हें तूं खोटें भाषण करितोस." असें
सण्न त्यानें महावीर स्वामीच्या अंगावर तेजोलेश्या सोडली. त्यायोगानें महावीरस्वामीच्या
जवळ असलेल्या दोनतीन शिष्यावरही तिचा परिणाम होऊन ते मरण पावले व गोशालामध्यें
स्वतः स्यानें सोडलेली तेजोलेश्या शिष्टन तोही सातवे दिवशीं मरण पावला. स्वामीवर त्या
तेजोलेश्येचा परिणाम होऊन त्यांना रक्ताची परसाकड लागली व पित्तज्वर उत्पन्न झाला.
ह्यामुळें ते कृश होत चालले परंतु त्यांनीं औषध घेतले नाहीं. गोशालानें स्वामीला सांगितलें
कीं या तेजोलेश्येच्या योगानें तूं सहा महिन्यानी मरण पावशील. तें ऐकून सिह नांवाच्या
शिष्यानें स्वामीला झटलें की, "महाराज आपण औषध घ्या, नाही तर गोशालानें झटल्या
प्रमाणें होईल " हाणून तो रहं लागला व औषध घेण्यासाठीं पस्ला फार आग्रह कहं,

लागला. त्याच्या आग्रहाला मान दंऊन प्रभु त्याला हाणाल की, "रेवती नांवाच्या श्रावि-केच्या घरीं महालुंगाचा पककटाह आहे तो घेऊन ये म्हणजे त्याने आरोग्य लाभ होईल." तेव्हां त्याने तेथून तो आणिला व त्यानं प्रमृला आरोग्य लाभ झाला. या विपर्यी स्वेतांबर ग्रंथामध्यें अशीं वचनें मिळतातः—

स्वामी तु रक्तातीसारिपत्तज्वरविशात्कृशः ॥
गोशाललेश्यया जिल्ले चकार न तु भेषजम् ॥ ५४३ ॥
तं च श्रुत्वा स्वासिशिष्यः सिंहो नामानुरागवान् ॥
गत्वैकांते रुरोदोचैः क धैर्य तादशा गिरा ॥ ५४५ ॥
वीजपुरकटाहोऽस्ति यः पक्को गृहहेतवे ॥
तं गृहीत्वा समागच्छ करिष्ये देन वो धृतिम् ॥ ५५१ ॥
सिंहोऽगाद्य रेवतीगृहसुपादत्त प्रदत्तं तया,
करुष्यं भेषजमाश्च तत्र वष्ट्ये स्वर्णं च हृष्टेः सुरैः ॥
सिंहानीतमुपास्य भेषजवरं तद्वर्धमानः प्रशुः,
सद्यः संघ—चकोरपार्वणशिशी प्रापद्वपुःपाटवम् ॥ ५५३ ॥
हेमचन्द्रकृत महावीरचित्त पर्व १० वा सर्ग ८ वा.

परंतु दिगंवरांच्या महावीरचिरतामध्यें अशा रीतीची विधानें मुळींच नाहींत. तीर्थंकरां-च्या शरीरात व्याधि केव्हाही होत नसतो हें दिगंवर व श्वेतावर यांना मान्य आहे. तथापि महावीर स्वामीला रक्ताची परसाकड लागली व पित्तज्वर झाला असें श्वेतांवरांनीं लिहिलें आहे ज्या हेमचंद्रानी असे लिहिलें आहे त्याच हेमचंद्रानी 'अभिधानचितामणि ' ग्रंथामध्यें तीर्थंकराच्या शारीरिक गुणाचें वर्णन करितांना 'निरामयत्व ' हा गुण वर्णिला आहे. तो याप्रमाणे —

> तेशां च देहोऽद्भुतरूपगधो निरामयः स्वेदमलोज्झितश्च । श्वासोव्जगंबो रुधिरामिष तु गोर्श्वारधायकं ह्यविस्नम् ॥

निरामयत्व ह्मणजे निरोगपणा परंतु महावीरस्वामीस रोग झाला असें ह्मणणें हें परस्पर विरुद्ध आहे. तसेंच समवसरणांत वैर, मारी मरण हें असत नाहीं ह्मणून त्यांनीं प्रतिपादिलें आहे. परंतु गोजालाच्या तेजोलेज्येनें तीन मुनि मरण पावले अजी परस्परविरुद्ध विधानें पुष्कळ आहेत. या सर्व विवेचनावरुन दिगंवर जैनाच्या जास्नात जे महावीर जिनाचें चरित्र सांगितलें आहे तेंच सत्य आहे. महावीर म्वामीनी महाळुंगाचें औषध खाले यावरून ते आहार घेन होते हैं सिद्ध आहे. केवली कवलाहार घेतात असे श्वेतांवर क्षणतात परंतु तें दिगंबरांना मान्य नाहीं, घातिकर्माचा नाश झाल्या कारणानें अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंन सुख व अनंत शिक्त हे चार गुण प्राप्त होतात. हें उभयतांसही कब्ल आहे. केवली आहार घेतात त्यांचे कारण शक्ति कमी होत ती भरून निवावी झणून मानीत असाल तर अनंत शिक्त मानणें व्यर्थ आहे. तसेंच भुकेची वेदना मिटविण्यास्थव आहार घेत असतील तर अनंत सुख प्राप्त झालेलें व्यर्थच मानावे लागेल. भोज्य पदार्थाचा रस, गंध वगेरे जर इंद्रियद्वारें त्यांना समजत असतील तर त्यांना मतिज्ञानच मानावे लागेल. इत्यादि दोष कवलाहारामध्यें आहेत. म्हणून दिगंबरां- नीं केवली कवलाहार घेत नाहींत असें मानिलें आहे.

या प्रमाणें श्वेतांवरांच्या महावीर चरित्राची संक्षिप्त समालोचना केली आहे.

# वीरमहिमा

#### शार्दूलविकी डित.

झाले तेविस जे जिनेश जगतीं सामर्थ्य त्यांचें असे ॥
अंतातीत जिनेश वीर परि हा तैसा मला ना दिसे ॥
आला इंद्रमनांत संशय असा जन्मािय के को त्सवीं ॥
तेव्हां मेरुगिरी सकंप करुनी तो वीर त्या दाखवी ॥ १ ॥
मेरूचीं शिखरें जणूं जिनवरा वंदावया वाकलीं ! ॥
आनंदे पृथिवी तयास बघुनी नाचू जणूं लागली ! ॥
आनंदे पृथिवी तयास बघुनी नाचू जणूं लागली ! ॥
आग्व प्रभुची अचित्य अवधिज्ञानें महाशक्ति ती ॥
पश्चात्ताप करून देवपतिनें घीरास के ली नती ॥ २ ॥
नाथा ! देह तुझा विशुद्ध अणुनीं निर्माण झाला असे ॥
देवा ! त्यांत विशुद्ध पूज्य सकला आत्मा तुझा की वसे ॥
श्वीरांभोनिधिच्या जलें स्नपन हैं त्वच्छुद्धि हेतु नसे ॥
पांपाचा अग्रच्या विनाश करण्या साहाय्य हें देतसे ॥ ३ ॥

भक्तीने विनवून देवपतिने आभूवणीं भूषित ॥

केलें नृत्य जिनापुढें सम तयें होऊनिया हर्षित ॥

ठेवी नंतर वर्धमान विभुची औष्टया तशी वीर ही।। अपोंनी पितरा तया सुरपती गेला सुखें स्वर्ग्हीं ॥ ४ ॥ दोघा चारणऋद्धिधारक मुनीशांना मनीं जाहला । तत्वीं संशय तनिरास करण्या वीरास भेट्टं चला ॥ ऐसा चित्ति विचार ते करुनिया गेले महाभक्तिने ॥ त्याच्या सन्निध तृर्ण संशय लया गेलाच तद्दर्शेने ।। ५॥ हा श्रीमिक्जनराज 'सन्मति ' अशा नामा तदा पावला ॥ गेलें तें मुनियुग्म मानुनि मनीं हर्ष स्वकीय स्थला ॥ होता वीरजिनेश जन्ममस्यीं ज्ञानत्रयें भृषित ॥ याचें यास्तव नाम सन्मति असें भासे मला सैचित।। ६॥ सीघरेंद्र सभेत अन्यसमयीं देवामधे चालली। लोकीं कोण बलाढ्य संप्रति असे ऐशी कथा चांगली।। श्रीमद्वीर जिनाशिवाय दुसरा नाहीं वली भूतलीं। मांगे वासव त्यास यांत न असे मिथ्योक्तिची सावली।। ७॥ आला संगमकाच्य देव अमरावासाहुनी खालती ॥ जेथें अन्पवर्यी जिनेश अपुल्या मित्रामवें खेळती ॥ तेथें तो भुजगस्वरूप धरुनी सर्वाम भी दावितां ॥ गेले सर्व कुमार शीघ्र पल्लनी चित्तीं तुरे घीरता ॥ ८॥ श्रीवीराम परंतु पाहुनि तया भीती नसे वाटली ॥ पुष्पस्नक्षम त्या मण्न जिन तो घाली स्वतांच्या गळीं ॥ त्याच्या भीव्मक्रणावरी स्वचरणा ठेवृन नृत्या करी॥ प्रेमाने सृद् हस्त वीर फिरवी तैसे तर्दगावरी ॥ ९ ॥ हर्षीभोनिधिमर्ये देव मग तो स्वीकारुनि स्वाकृती ॥ तत्पादांबुजयुग्म वंदुनि करी नानाविधा तत्स्तुति ॥ त्रैलोक्यांत तुङ्याशिवाय न दिस नाथा दुजा विक्रमी॥ मार्ते यास्तव ठेवितो तव जिना नामा 'महावीर' मी ॥ १०॥ नामें उज्जयिनी असें नगर जें त्याच्या इमशानीं जिन ॥ दीक्षेनंतर वीरनाथ अपुल्या ध्यानांत लावी मन ॥

१ नांव २ सु उचित-अतिशय योग्य ३ फुराज्या माळेसारखा, ४ आनंद्रापी सबद.

आला रुद्र तिथं उमेरीह तदा पाहन त्याला खर्ले ॥ केला घार महोपसर्ग तरिही ध्यानाहृनी ना चळे ॥ ११॥ ज्वाला काढिति दुष्ट भूत वदनापासन भीतिप्रदा॥ क्रोधें ओरडती सभावति तसें ते नाचती ही तदा ॥ क्र च्याघ्र फणींद्र सिंह पशु तो निर्मी स्वविद्यावलें ॥ निर्मी भिल्लचमृहि घार असती जीच्या मुखांचीं बिळं ॥ १२॥ भीतीचे असले उपाय करूनी तद्धर्य भंगावया ॥ केले यत्न अनेक ते जिर तयें व्यर्थत्व आलें तया ॥ धैर्याचा निधि वीरनाथ जिन तो राह तसाचि स्थिर ॥ कांपे वृक्ष समीरणें हाणुनि कां कांपेल मेरूशिर! ॥ १३॥ आश्चर्यान्वित हर्षपूर्ण हृद्यीं होऊन रुद्रे तदा ॥ केलें नृत्य उमेस घेउनि सर्वे तैशी स्तुती पुण्यदा ॥ ठेवी तो विश्व र्व ' महा आतमहावीर ' स्वयं नाम ही ॥ वंदानी चरणद्वयास मग ता जाई स्वकीया गृहीं ॥ १४ ॥ होती चेटकभूपातिभयसुता श्राचंदना सुद्रा ॥ कामा एक नमश्ररीाधप तिला विद्यावलाने हरी ॥ पत्नीपासुनि पाउनी भय तयें ती साडिला काननीं ॥ कौशांबी नगरांत मिल्लपतिने ती आणिली तेथुनी ॥ १५ ॥ तेथें श्रावृषभादिदत्त धनिकें देऊन त्याला धन ॥ त्याच्या पासुनि घेउनी निजगृहीं ती ठेविछी आणुन ॥ मानी तो स्वसुतेसमान तिजला त्याची तथापि त्रिया॥ त्याच्याशीं सहवास मानुनि तिचा घेई तदा संश्वा ॥ १६ ॥ कांजी आणिक कोद्रवान परळामध्यें तिला देतसे ॥ क्रोधें बालुनि हात पाय निगडें बांधून टाकीतसे ॥ ऐशा हीन पार्रास्थतीत दिन ती काढीतसे बालिका॥ आली जी घडुनी हर्काकत पुढें ती सांगतो वाचका ॥ १७॥ आहारार्थ जिनेश वीर नगरीं एके दिनीं पातले॥ त्यांना पाहुनि चदनामन तदा सानंद की जाहलें ॥

१ पार्वतीसह. २ विद्याधराचा राजा,

आहे अन विशुद्ध आपण उसे राहा असे बोलनी ॥
त्यांचे स्वामन में करीन असनां ती शृंपला मंगली । ॥ १८ ॥
माला बस्र विभवणादि करनी नी चंदना शोमली ॥
ते मृत्याव सुत्रणवात्र पनले त्यांची प्रभा फाकली ! ॥
तालें कोद्रव अन्न तत्ममयि नें जान्यन कांनी नशी ! ॥
पापे दुर्धमरूपना जिनविमो ! लीला तुशी ही अशी ! ॥ १९ ॥
आहार प्रभुला दिला गुणवती श्रीचदनेने यदा ॥
पंचाधर्य सुत्रृष्टि देवनिकरं केली प्रमोदप्रदा ॥
वीराचा महिमा जसा गणधं शास्त्रामधं विशला ॥
तो मी सज्जन हो तुलांस सगला संक्षित सांगीनला ॥ २० ॥
श्रीवर्धमान सन्मति महित महावीर बीर हीं नामें ॥
अतिम तीर्थकराचीं होबोन तुलांस विप्रलेखवामें ॥२१॥

## वीरगुणस्तवन

श्रीमद्वीर जिनेंद्रा! तुझ्या गुणांचें करावया स्तवन ॥
इच्छितसे मन मार्ते परि हें ओहें कसें करूं महन ॥ १ ॥
मम हद्यि तुझ्या विपर्या झाली उत्पन्न विपुल भक्ति असे ॥
ह्यणिनच अल्पग्णस्तुति करावयाचा प्रयत्न करित असे ॥२
आवरणं क्रम विरदित वोध तुझा स्थिरहि जाणतो जगता ॥
ऐमा गुण अन्यत्र न संसृतिपतिता ह्यण्न तृं त्राता ॥ ३ ॥
किंकेच्या वाच्यानें केलास गिरींद्र मेरु कंपित तृं॥
कामा देहविहीना केलेस परास्त यांन नच किंतु ॥ १ ॥
मेधैविनिर्गत नीरा मिळ्छुनि हो चातकास मोद जसा ॥
प्राञ्चनि तब वचनामृत होतो संतास मोद अमित तसा ॥ ५ ॥

१ पुष्कळ सुलांची स्थाने अर्थात् स्वर्गनोक्षादिक स्थाने,

२ ज्ञानावरण कर्मानें आणि कमानें रहित.

३ मेषापासून निघाहेलें पाणी.

गुणमणिसागर असुनिह आहे अजलाशयैत्व तव ठायीं ॥ विमंदन अस्न अस्ती भव्यांना विपुल कामसुखदायी॥६॥ त्रैलोक्यनाथ असुनिहि परिग्रहांनीं विहीन आहेस ॥ वीरा! विरुद्ध ऐसे सद्गुण करिती तुझ्या पदीं वास ॥ ७ ॥ चंद्राचे कर जैसे देउनि आनंद वर्षिती अमृत। तम दूर करुनि सारा सगळ्या करिती जगा प्रकाशयुत ।८। तैसे वीरा! तव गुण सज्जन हृदयास मुदित करितात ॥ अज्ञानतम निवारुनि अमृतपदशाप्ति करून देतात ॥ ९ ॥ घैयें सागर जिक्कनि आकाशा जिकलें महत्त्वगुणे ।। उचपणें मेरूला सर्यकरा जिकिलें स्वतेजानें ॥ १०॥ र्धृतिगुण साहाय्याने धरणीला जिकिलें तुवां वीरा !॥ धारण करुनि प्रश्नमा परास्त केलेस चंद्रकरनिकरा ॥ ११ ॥ शुक्कध्यानवलानें वीरा! जो रागभाव जिकियला ॥ तो रक्तकमलकोमल तव पद् युग्मास शरण जणु आला ।१२। तव दिव्यध्वनि ऐकुनि भक्तजना होतसेच आल्हाद ॥ आनंदित कां न करी मयूरवृंदा नवाश्बुंदिननाद ॥ १३ ॥ वीरा! तव गुणधारक पापापासन होय नर मुक्त ॥ चंद्रप्रकाशसंयुत होइल आकाश काय तमयुक्त ॥ १४ ॥ अविनाशी दर्शन सुख बोध तसे शक्ति चार सद्गुण हे॥ असती तुझ्याच ठायीं पात्र न या हिर हरादि जन पाहे ॥ १५॥ क्षीर समुद्राचें जल असतें पीयूषतुल्य मधुर जसें॥ धारण करुं नच शकती तदितँर सागर सुनीर जिंग तैसे।१६ नाथा ! तव चरणांचा आश्रय जे भव्य जीव घेतात ।। केवल बोधासह ते अनंत सौच्यास खचित वरितात ॥ १७॥ जे नर गुणज्ञ असती स्वसुखेच्छेनें तुलाच ते भजती ॥ पुष्पित आम्रतह्ला त्यागुनि अन्यत्र भूंग नच जाती॥१८॥

श्वालाशयत्व—पाण्याचा सांठा नसणें, धजडाशयत्व—मंदबुद्धि नसणें.
 विमदन—कामविकाररहित. ३ कामछुलाला देणारा, पक्षांतरीं, इच्छित सुलाला देणारा.
 क्षमागुण ५ नवीन मेघांची गर्जना. ६ क्षीरसमुद्राहून दुसरे.

भूपण वेषा बांचुनि शोमतसे तब शरीर बीर जिना!॥ स्येंदुतीरकाविण चेताहैरता न येइ का गगना ॥ १९ ॥ विकिति नूतने कमला तैसे निर्मल शशीम पाहून।। निवति न नेत्र जनांचे निवति जसें त्वनमुखा विलोक्तन ॥ २० ॥ वंदन करीत असतां भव्यांच्या नम्र मस्तकावरती ।। पुण्यांच्या. धारासम तव पदनैखिकरण पंक्ति जणु दिसती॥ नुं भवेंपतित जनाला उद्धाराया समर्थ आहेस ॥ -रिववांचुनि कोण करी नभ निर्मेल करुनि दूर तिमिरास ॥ २२ ॥ निःस्पृह होउनि भव्या वीरा ! उपदेश तूंच देतोस ॥ धरितां मिन न फलाशा करी जसा जलँद नीरवृष्टीस॥२३॥ पूर्ण द्येनें भरलें तब मत लबहीन यांत दोप असे ॥ हिममय चंद्रामध्यें उप्णत्न निवास सांग करिल कसें ? ॥ २० ॥ वीरा ! तव वचनामृत सादर होऊन कर्णपात्राने ॥ जो नर पीतो तो नच पीडित होतो कधींहि तुप्णेनें।।२५॥ स्वाभाविक रक्त तुझे सुंदर निर्मेल जिनेश्वरा ! चरण ॥ जिनदास निमतसे हा तद्भवदुःखा करोत हे हरण ॥ २६ ॥

१ तृर्य, चंद्र व नक्षत्रें यावांचून २ मनोहरपणा. ३ तुङ्या पायांच्या नलांच्या किरणांची पंक्ति, ४ संसार. ५ मेथ.

#### <del>ᡣ</del>ᠦᢛᡓᢛᠼᢛᡓᢛᡓᠲᢛᠽᢛᡓᢛᡓᢛᢛᠴᢛᢛᡓᢛᢛᢛᢛᢛᢛᢛᢛ

# महावीर चरित्र.



श्री परमणूज्य आचार्य शांतिसागर महाराज दिगंवर जैन सापृ सामायिक करीन आहेत. [८.९.१.1.

的是公司的的的人的公司的的的公司

# ॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः 🖔

# श्रीअसगमहाकविविरचित

# वर्द्धमानचरितम्।

# ॥ मंगलाचरणं॥

× श्रियं त्रिलोकीतिलकायमानामात्यंतिकीं ज्ञातसमस्ततत्त्वां ॥ उपागतं सन्मतिसुज्ज्वलोक्तिं वंदे जिनेंद्रं हतमोहतन्द्रम् ॥ १॥

१ जिनें जीवादिक संपूर्ण तत्त्वांना जाणिलें आहे व जी जैलोक्यालां तिलन्मपाणे आहे अशा कथींही नाश न पावणाऱ्या अनंत लक्ष्मीला जे प्राप्त झाले आहेत त्या श्रीसन्मति जिनेश्वरास मी मन वचन व शरीर शुद्ध करून नमस्कार कारितों. श्रीसन्मति जिनेश्वर निर्दोष असा हितकर उपदेश भन्यांना देतात. ते स्वतः मोहरूपी गुंगीनें रहित झालेले आहेत व भन्यांच्याही मोहरूपी गुंगीचा ते नाश करितात.

भावार्थः — लक्ष्मी दोन प्रकारची आहे. एक अंतरंग लक्ष्मी व दुसरी वाहिरंग लक्ष्मी. अनंत ज्ञान, अनंत ज्ञाक्ति, अनंतसुख व अनंतदर्शन ही अंतरंग लक्ष्मी होय. आणि समवसरण, आठ महाप्रातिहार्ये यास वहिरंग लक्ष्मी

> ×नास्तिकत्वपरहि।रः शिष्ठाचारप्रपालनम् ॥ पुण्यावाप्तिश्च निर्विद्यं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात् ॥

अर्थात् ने आस्तिक आहेत—ने स्वर्ग, नरक आदि परछोक व त्याची प्राप्ति करून देण्यास कारणभूत अशीं कर्ने व कर्मानी रहित आत्मा व त्याचे अनंतज्ञानादिक गुण यांना मानतात—ते आपल्या कार्यात विघ्न आणणाच्या अतरायकर्माची विघ्न आणणारी ज्ञाक्ति क्षीण व्हावी ह्यणून कार्याच्या प्रार्भी मंगलाचरण करीत असतात. नरी मगलाचरण मन आणि शरीर याचे द्वाराही होतें अर्थात् मनात परमदेवाचें चिंतन केल्यानें व त्यास हात नोडून नमन केल्यानेंही होतें. तथापि पुढें उत्पन्न होणारे शिष्ट पुरुपानीं देखींल मंगलाचर-णाची परिपाटी चालू ठेवावी या हेतूनेंही मंगलाचरण करतात. या मगलाचरणाने पुण्यप्राप्ति होते व कार्य निर्विद्य समाप्त होतें न्हणून हें वर्द्धमान चरित्र रचण्याच्या प्रार्भी शिष्टाचाराचें पालन करणाच्या श्रीअसग महाकवींनीं श्रीमहावीर तीर्थकरांच्या गुणाचे स्मरण करून कृतज्ञता प्रगट केली आहे.

स्मणतात. अंतरंग लक्ष्मी ही आत्म्याचे स्वरूप असल्यामुळे तीच मुख्य होय व या अंतरंग श्रीमध्यें ही अनंतज्ञानलक्ष्मी ही अधिक प्रधान आहे कारण या लक्ष्मीन्या हारें भगवान सन्मति (वद्धमान) जिनेश्वरांनी अनंत भव्यांचा उद्धार केला आहे. या ज्ञानलक्ष्मीच्या द्वारें पभूनी संपूर्ण पटार्थीचे रवरूप त्यांच्या भूत. भविष्यत्, वर्तमानकाली होणाच्या सर्व पर्यायांसह जाणलें आहे. ही ढोन प्रकारची लक्ष्मी सर्वोत्कृष्ट असल्यामुले त्रिलोकाला भूषणरूप झाली आहे. प्रभूच्या विकाणी हितो-पदेशकता आहे. त्यांनी केलेला हितोपदेश कुमार्गापासून भव्यांना परावृत्त करून सन्मार्गात—जैनधर्मात रिथर करितो. भगवान मोहराहित होते म्हणून दीतरागत्व या गुणानेंही भूषित होते. अर्थात् सर्वज्ञपणा, हितोपदेशकपणा, व रागद्देपराहित असणे या तीन गुणांनी ते युक्त आहेत म्हणून परमदेव आहेत. यास्तव श्रीअसग महाकवीनी ग्रंथ प्रारंभी त्यांना वंदन केलें आहे. तसंच याच प्रभूचे या ग्रंथांत किववर्याने चित्र विणेलें आहे म्हणून देखील रतवनपुरःसर त्यांना वंदन करणें, हें योग्य आहे. सध्यां याच प्रभूचें तीथ चाल् आहे.

दत्तार्घमप्यात्महितरनर्धं मुक्तिश्रियो मौक्तिकहारभूतं ॥ रत्नत्रयं नौमि परं पवित्रं तत्त्वैकपात्रं दुरितच्छिदस्त्रं ॥ २॥ मुदुस्तरानादिदुरंतदुःख्याहावकीणींरुभवाणवौघात् ॥ दक्षा समुद्धतुमशेषभव्यान् जयत्यजय्या जिनशासनश्रीः॥ ३॥

२ मी त्या उत्कृष्ट व पवित्र अशा रत्नाञ्चाला रतिवतो. हें रत्नञ्चय पापांचा नाश करण्यास श्रह्मासारखें आहे व मोक्षरूपी लक्ष्मीच्या गळ्यांतील मोत्यांचा हार आहे. हे तत्वपात्र आहे व आत्मिहताची इच्छा करणाऱ्या भव्यांनीं याची किमत केलेली असूनही अमूल्य आहे. अर्थात किमत रिहत आहे. येथे विरोपाभास आहे. त्याचा पिन्हार यापमाणे:—रत्नत्रय आत्मिहित करणाऱ्यांकहन दत्तार्य आहे अर्थात् पूज्य आहे. व म्हणूनच ते अमूल्य आहे. या रत्नत्रयाचा आश्रय करणारे भव्यजीव मुक्तिलक्ष्मीच्या गळ्यांतले हार वनतात.अर्थात् त्यांना मोक्ष प्राप्त होतो. जमें दृष वगैरे पिण्यासाठीं पाहाची आवश्यकता असते तसे तत्त्वस्वरूपाचे पान करण्यासाठीं म्हणजे तें जाण-ण्यासाठीं हे रत्नत्रय पाहासारखें आहे. जसे शत्रूचें छेदन जल्लाच्या द्वारें करता येतें तसे कर्मरूपी शत्रूचे छेदन करण्यासाठी हें रत्नत्रय एक अहितीय शक्त आहे. यारतव या उत्कृष्ट रत्नत्रयास—सम्यव्र्जन, सम्यज्ञान व सम्यक्चारित यांस मी स्तावितों.

३ हा संसारक्षी समुद्र तक्त जाण्यास कठिण आहे व फार मोठा अस-ल्यामुळें याचा पार—दुसरा किनारा दिसत नाहीं. यामध्यें दुःखक्ष्पी मगर वगैरे क्रूर जलचर प्राणी भरलेले आहेत. अशा या समुद्राच्या प्रवाहापासून सर्व भव्यांना वर काढण्यास ही जिनशासन लक्ष्मी समर्थ आहे व हिला अन्य मिथ्यावादी जिंकू शकत नाहींत. यास्तव ही जिनशासनलक्ष्मी नेहमी विजयी असो.

भावार्थ:—जिनागमाचा आश्रय केला असतां अनादिकालाचा जीवांच्या मागें लागलेला संसार नष्ट होता व त्यांना मोक्षाची प्राप्ति होते. यास्तव हा जिनागम नेहमीं या त्रैलोक्यांत विजयी होवो. संसाराला समुद्राचें रूपक दिलें आहे. समुद्र तरून जाण्यास अशक्य असतो. संसारही जिनागमाशिवाय तरून जाता येत नाहीं. समुद्र मोठा असल्यामुळें त्याचा किनारा दिसत नाहीं. जिनागमाचा आश्रय न केला तर संसारसमुद्राच्या दुसऱ्या किनाऱ्याचें दर्शन होणें अशक्य आहे. समुद्रांत मगर,मासे वगैरे क्रूर जलचर असतात. संसार समुद्रांतही मानासिक, शारीरिक व आकास्मिक अशीं तीन प्रकारचीं दुःखे हेच मगर मत्स्यादि क्रूर जलचर जीव आहेत. अशा संसार समुद्रांतृन भव्यांचा उद्धार जिनशासन लक्ष्मीच करिते म्हणून ती नेहमी जयवंत असो.

गणाधिषेरुक्तमुदारबोधैः क तत्पुराणं जडधीः क चाहम्॥
मनोजवैर्वारिनिधिं खोँद्रैः पारं गतं गच्छिति किं मथूरः॥ ४॥
तथापि पुण्यास्रवहेतुभूतिमित्यात्मशक्त्या चिरतं प्रवक्तं ॥
श्रीवर्धमानस्य समुद्यतोऽहं फलार्थिनां नास्ति हिं दुष्करेच्छा॥५॥
नापेक्षतेऽर्थापचयं न कष्टं न वृक्तभंगं भुवि नापशब्दं ॥
मूढीकृतः सन्रसिकत्ववृक्त्या किवश्च वेश्यार्पितमानसश्च ॥ ६॥
मूढीकृतः सन्रसिकत्ववृक्त्या किश्च वेश्यार्पितमानसश्च ॥ ६॥
दीपेऽथ जंबूदूमचारुचिन्हे श्रीभारतं क्षेत्रमपाच्यमस्ति ॥
जिनेंद्रधर्मामृतवृष्टिसेकैर्सक्तमाल्हादितभव्यसस्यम् ॥ ७॥
तत्र स्वकान्त्या विजितान्यदेशो देशोऽस्ति पूर्वीपपदेन युक्तः॥
दिवौकसोऽपि स्पृहयंति यत्र प्रसृतये स्वर्गकृतावताराः॥ ८॥

४-५ उत्कृष्ट द्वादशांगश्रुतशानाचे धारक अशा गानिमादि गणधरांनीं सांगितलेले श्रीमहावीर जिनाचे पुराण कोणीकडे व मंदवुद्धीचा मी कोणीकडे ? भनाप्रमाणें तीत्र वेगाला धारण करणारा पिक्षराज गरुड समुद्राच्या दुसऱ्या किनान्याला जसा जातो तसा मोर जाऊ शकतो काय ? तथापि हे भगवंताचे चित्र पुण्यकर्माच्या प्राप्तीला कारण आहे म्हणून यथाशाक्ति या चिरत्राचे वर्णन करण्यास भी (असग महाकावि) उद्युक्त झालों आहे. वरोवर आहे की, जो फलेच्छु आहे त्याच्या मनांत हें कार्य दुष्कर आहे, मला करतां येणार नाहीं असे वाटन नाहीं. फलप्राप्तिविषयीं तीत्र लालसा असल्या छे त्याचे भयत्न सतत चालूं होतात व तो आपणास इष्ट असे फल प्राप्त करून घेतो.

६ ज्यानें आपलें मन वेश्येला अर्पण केलें आहे असा मनुष्य आपल्या धनाचा अपन्यय होत आहे इकडे लक्ष्य देत नाहीं. कष्टांची पर्वा वालगीत नाहीं, अपकीतिं झाली तरी तिकडे ध्यान देत नाहीं, व आपल्या ब्रह्मचर्याच्या नाजाची कालजी वालगीत नाहीं. केवल तिच्या रिसक आचरणानें तो मृह वनलेला असतो. त्याप्रमाणें कावि देखील रिसकस्वभावानें मृह झालेला असतो महणून तो अर्थाच्या हानीकडे पाहात नाहीं, छंदोभंगाकडे लक्ष्य देत नाहीं. अपशब्दांची पर्वा ठेवीत नाहीं व काल्यरचना करीत असतांना होणाच्या बुद्धीच्या वलेशाकडे पाहात नाहीं. यास्तव व्यभिचारी मनुष्य व कि वरोवरीचे आहेत.

भावार्थ:—चरित्रवर्णन करीत असतां छंडोभंग, अपगव्ड, योग्य विषय वर्णन न करणें या गोष्टी घडनील त्यावदल रसिकांनीं क्षमा करावी, तिकडे ध्यान देंऊं नये, असा अभिप्राय कवींनें व्यक्त केला आहे.

## कथाप्रारंभ

७ जंबृष्टक्षाच्या सुंदर चिन्हानें चिन्हित झालेल्या या जंबृष्ट्रीपाच्या टाक्षण भागांत वैभवपूर्ण असें भारत नांवाचें क्षेत्र आहे. या क्षेत्रांत जिनधर्मरूपी अमृताच्या दृष्टीनें भव्यजीवरूपी धान्य नेहमी प्रफाद्धिन झालें आहे. जमें शेनात पाऊस पडण्यानें धान्यें टवटवीत दिस् लागतात. तसें या भारत क्षेत्रांत जिनधर्मरूपी अमृताच्या दृष्टीनें भव्य जीवरूपी धान्यास फार आनंद होतो.

८ या भारत क्षेत्रांत आपल्या सौंदर्यानें इतर देशांना ज्यानें जिक्तिं आहे असा ' पूर्व देश ' नांवाचा देश आहे. या देशांत जन्म वेण्यामाटी देव देखील स्वर्गीहृन खालीं येण्याची इच्छा करितात. रत्नाकरेर्यःसमतीतसंख्येरलंकतो दान्तवनैश्च रम्यैः॥
अक्रष्टपच्यान्यनवग्रहाणि क्षेत्रेश्च सस्यानि सदा वहाद्धः॥९॥
पुंड्रेश्चवाटैर्निचितोपशल्याः कुल्याजलैः पूरितशालिवपाः॥
तांब्लवर्छापरिणद्धपूगद्रुमान्वितोद्यानैवनश्च रम्याः॥ १०॥
अध्यासिता गोधनभृतिमद्भिः कुटुंबिभिः कुंभसहस्रधान्यैः॥
प्रामाः समग्रानिगमाश्च यत्र स्वनाथचितामणयो विभान्ति॥११॥
( युग्मं )

जलोष्ट्रता बुध्यत किच्छिकानां तुलाघटीयंत्रिविकीर्णकूलाः ॥ वहांति यत्रामृतसारसाम्यं नीलोत्पलैर्वासितमंबु नद्यः ॥ १२ ॥ सरोभिरुन्मीलितपद्मनेत्रैर्निरीक्ष्यमाणः कृपयाध्वाखिनः ॥ आहूयते पातुमिवांब यस्मिन्हंसस्वनैः पांथगणस्तृषार्तः ॥१३ ॥ तत्रास्ति पुण्यात्मकृताधिवासा पुरी सुराणां नगरीव रम्या ॥ श्वेतातपत्राकृतिनामधेया श्वेतातपत्रस्य सदा निवासा ॥१४॥ अभ्रंकषान्तर्गतनीलरिसम्बभीनुसंमर्दनशंकयैव ॥

ॐकरैःसहस्रैःसहितोऽपि यस्याः प्राकारमारोहति नैव भानुः॥१५॥

९ जो पूर्वदेश रत्नांच्या असंख्यात खाणींनी व जेथे पुष्कळ हत्ती आहेत अशा रमणीय वनांनीं शोभत आहे. न नांगरतां जेथे धान्य पिकतें व पाऊस कमी झाला असतांही ज्यांत पुष्कळ धान्य उत्पन्न होतें अशा शेतांनीं या देशाला नेहमीं शोभा प्राप्त झाली आहे. १०-११ या देशांतील गांवाच्या सीमेवर उसांचे पुष्कळ मळे आहेत व पाटाच्या पाण्यांनीं साळींचीं शेंतें नेहमीं भरलेलीं असतात. या गांवांतील वगीचे ज्यांच्यावर नागवेली चढलेल्या आहेत अशा सुपारीच्या झाडांनीं युक्त असल्यामुळें गांवांना त्यामुळें फारच शोभा आली आहे. ११ या पूर्व देशांतील सर्व शहरें व गांवें या देशाच्या राजाला चिंतामणि रत्नाप्रमाणें इष्ट पदार्थीची प्राप्ति करून देतात. शहरांत व गांवांत गहणारे लोक गाई, यन, व इतर ऐश्वर्य यांनीं संपन्न असून त्यांच्या घरी हजारों कुंभप्रमाण धान्य नहमीं शिल्डक

अतत्रास्ति राजनगरी जगित प्रासिद्धा यत्सालनीलमणिदीवितिरुद्धमार्ग ॥

राहुभ्रमेण विवशस्तराणिःसहस्तैः पार्टेयुंतोऽपि न हि लघयानि म्म साल ॥१२॥ जनि नीय-धरचपूकाव्ये प्रथमल्बं ॥ समानार्थकस्रोकः ॥

राहात असे. १२ या देशांतील नद्या निल्या कपलांच्या सुगंधानें सुगंधित झालेंले व अमृताच्या साराप्रमाणें अतिशय मधुर असें पाणी नेहमी धारण करीत असत. १३ या देशांत मार्गथ्रमाने खिन्न झालेला, तहानेने पीडिलेला, असा वाटसरांचा समुदाय आपल्या कमलरूपी नेत्रांनी पाहून सरोवरे हंसपक्षांच्या ज्ञांनीं त्यांना दर्यार्द्र होऊन जणू पाणी पिण्यास बोलाबीत आहेत. १४ या देशांत देवांच्या नगरीप्रमाणें सुंदर, पुण्यवान लोकांनी यज्ञवजलेली, राजांचे निवासर्थान असलेली अशी श्वेतातपत्रा नांवाची राजधानी आहे. १५ मेघापर्यंत उंच गेलेल्या तटाला असलेल्या नीलमण्याच्या किरणांना जणु राहू समजून तो आपले मईन करील या भीतीन सूर्य हजारों करांनी—हातांनीं अधीत किरणांनी युक्त अमृनही या नगरीच्या तटावर चहत नाही.

आवार्धः —या नगराचा तट फारच उंच होता.

आभाति वाताहतवृर्णमाना कांतांवरा कादलपत्रनीला।।
यदंब्रखातस्य तरंगपिक्तः संचारिकाचाद्रिपरंपरेव॥ १६॥
विराजिता द्वारघनप्रवेशिवनिर्ममायासितलोकलक्षः॥
या गोपुरैक्षिक्रतक्रटकोटिक्षणध्वजीभृतसिताभ्रमंगेः॥ १०॥
अधिष्ठता कोटिसहस्ररतेः श्रुतान्वितः श्रावकधर्मसक्तः
विमुक्तमायेरमदैरुद्दिः स्वदारसंतोषपरैर्वणिरिभः॥ १८॥
पूजाहितानर्ध्विचित्ररत्नपूगप्रभाजालनिममदेहा॥
इंद्रायुषेः क्लप्तपटावृतेव यत्राहमार्गे जनता विभाति॥ १९॥
संरोपितेंद्विरकर्णपूरा कुञ्चस्थनीलांशुकलापवासा॥
कूटान्तरपान्तविलम्बमानशुभाभमालालंलितोत्तरीया॥ २०॥
आक्रदकिन्नजवर्दकेशी विलोलहेमांबुजदामवाहुः॥
समग्रचामिकरकुंभपीनस्तनांचिता चारुगवाक्षनेत्रा॥ २१॥
संक्रतद्वारमुखी समन्ताद्ध्यासिताशांबुजिनीविताना॥

अलंकृतद्वारमुखी समन्तादध्यासिताशांवुजिनीविताना ॥ मिध्यादृशामप्यभिवीक्षणेच्छां जिनालयश्रीःप्रतनोति यस्यां ॥२२॥

१६ वायृच्या आघातानें उसळ्न जिनें आकाशाचे आक्रमण केलें आहे अशी, व केळीच्या पानाप्रमाणे निळसर असलेली या गहराच्या खंदकाची तरंगपंक्ति संचार करणाऱ्या नील पर्वताच्या पंक्तिप्रमाणें शोभते.१७या शहराला अनेक वेशी आहेत. यांच्या द्वारांत प्रवेश करतांना व तेथून वाहेर पडतांना फार गर्डी असल्यामुळें हजारो लोकांना फार अडचण भासत असे. या वेशींच्या अतिशय उच अशा अनेक शिखरांच्या अग्रभागावर क्षणपर्यंत पांढरे हग विश्रांति घेण्या-कारीतां येऊन वसत असत तेव्हां ते पताकाप्रमाणें दिसत असत. अज्ञा वेजींनीं या शहराची शोभा वाढली होती. १८-२२ या शहरांतील जिनमंदिरें मिथ्या दृष्टि लोकांच्या देखील मनांत पाहण्याची इच्छा उत्पन्न करीत असत. त्यांचे अनुपम सौंदर्य होतें. येथे श्रावकधमीमध्यें आसक्त, शास्ताभ्यासी, हजारो कोटि रत्नांचे स्वामी, निष्कपटी, गर्वरहित, उदार—दानग्रूर, रवस्त्रीयध्येंच संतुष्ट असलेलें असे श्रीमंत व्यापारी पूजनासाठी येत असत. या जिनमंदिराच्या सज्जावर चढलेले श्रावकलोक पूजेसाठी आणिलेल्या अमूल्य व नानामकारच्या रत्नपुंजांच्या कांतिसमूहानें त्यांचे देह व्याप्त झाल्यामुळें इद्रेधनुष्यांनीं बनविलेल्या वस्त्रांनीं वेष्टिल्याप्रमाणें शोभतातः पारावत—अर्थात् राबुतरें व निळीं कमळे हींच जिचे कर्णफूल आहेत, भिंतीमध्यें वसविलेख्या नीलरत्नांचा किरणसमूहच जिचे वस्त्र आहे, शिखरांच्या अंतरालभागी लोंवणारी पांढच्या मेघांची पांक्तिच जिचें पांघरण्याचें सुंदर बस्न आहे, वर वसलेल्या योरांचे पंख हेन निचे केन आहेत, हलणाऱ्या सुवर्णकमलांच्या माला ह्याच जिचे बाहु आहेत, जी पूर्ण सुवर्णकुंभरूपे। कार्टन स्तनांनी शोभत आहे, सुंदर खिडक्या बाच जिच रमणीय नेत्र आहेत, तोरणानें अलंकृत झालेला दरवाजा हाच जिचे मुख आहे अशी ही जिनालयांची शोभा एखाद्या सुंदर स्त्रीप्रमाणें शोभते. या जिनमंदिरांच्या दरच्या भागांत सर्व बाजूनें चांदवा लावलेला असून त्यांत कमलांच्या वेर्लाची वेलवुट्टी काढलेली आहे. असें अप्रतिम सौंदर्य यांचे असल्यामुळे मिथ्यात्वी लाकही यांची शोभा पाइण्यास येत असत.

यत्सौधकुड्येषु विलंबमानानितस्ततो नीलमहामयृखान् ॥
श्रहीतुमायाान्ति मुहुर्भयूर्यः कृष्णोरगास्वादनलोलचित्ताः ॥२३॥
विनिर्मलस्फाटिकरत्नभूमौ संक्रान्तनारीवदनानियत्र ॥
अभ्येति मृंगः कमलाभिलाषी भ्रान्तात्मनो नास्त्यथवा विवेकः २४
× यस्यां गृहालिंदकभागभाजां हिरन्मणीनां किरणप्ररोहैः ॥

<sup>×</sup> यस्यामनर्धनृषमादिरदेहलीपु, गारुत्मतस्यगणा बहु बिचता. प्राक् ॥ दृष्ट्वापि कोमलतृणानि न संचरन्ति लीमंटहासबवन्तानि चरन्ति नानि ॥ १७॥ इति जीवधरचपृकाव्ये प्रथमन्ते ॥

प्राग्वंचिता वालम्रेगाश्वरन्ति तच्छंक्रयानाप्रगतां च दूर्वा २५ अयोह्हसत्कुंडलपद्मरागच्छायावतंसारुणिताननेंदुः ॥ प्रसाद्यते किं कुपितेति कांता प्रियेण कामाकुलितो हि मूढः।२६।

॰ यत्रांबराच्छस्फाटिकाश्मवेश्मप्रोत्तुंगशृंगास्थंतचारुरामाः । नभागता ह्यप्सरसः किमेता इति क्षणं पश्यति पौरलोकः।२०। यस्यां गवाक्षांतरसंप्रवेशात्संकान्तवालातपचकवाला ॥ विराजते कुंकमचर्चितेव निकेतनाभ्यंतररत्नभूमिः ॥ २८॥ दृष्ट्वा स्फुटं स्फाटिकभित्तिभागे पुरः स्थितस्वप्रतिर्विवकानि ॥ विपक्षशंकाकुललोलचित्ताः कुष्यंति यत्र प्रमदाः प्रियेभ्यः॥२९॥

२३ या शहरांतील राजवाड्याच्या मिंतीवर सर्वत्न लोंवणाच्या नीलरतनां च्या किरणांना कृष्ण सर्प समजून त्यांना खाण्याविषयीं ज्यांचें चित्त उत्सुक झालें आहे अशा मयूरी (लांडोरी) त्यांना पकडण्याविषयी वारंवार येतात. २४ स्वच्छ रफटिकरत्नांच्या जिमनीत ख्लियांची प्रतिविंवित झालेलीं तोंडें पाहून हीं कमलें आहेत अशा समजुतीने सुंग्यांचा समुदाय त्यांच्याकडे धावत जातो. वरोवर च आहे की, ज्यांना भ्रान्ति उत्पन्न झाली आहे त्यांना विवेक कसा असू शकेल ६५ जेथे घराच्या जोत्याला पांचरत्ने लिवली असल्यामुळं त्यांतून निघणाच्या किरणांक्ररांनी प्रथमतः फसविले गेलेले हिरणांशिशु पुढें टाकलेली हरळी देखील पांचरत्नांच्या संशयाने खात नसत. २६ जेथे शोभणाच्या कुंडलांतिल पञ्चराममण्यांच्या कांतीने सुंदर व लालभडक दिसत आहे मुखचंद्र जिचा अशी खी तिच्या पतीकडून ती रागावली आहे असे समजून प्रसन्न केली जाते व वरोवरच आहे कीं कामुक प्रनुष्य कामाकुल बनला ह्मणजे मूर्ख होतो. २७ आकाशा प्रमाणें रवच्छ अशा स्फटिकमण्यांनीं वांघलेल्या घरांच्या उंच गचीवर जमा रााहिलेल्या सुंदर

श्रियता विभाति नगरी गरीयसी धुरि यत रग्यसुटतीमुखानु जम् ।।
 कुरुविटकुडलविभाविभावित प्रविल्लोक्य कोपामिव मन्यते जन ॥ २९ ॥
 इति जीवधरचपूकाव्ये पष्ठलम्बे ॥

स्फुरत्तुपाराशुमरीचिजालैविनिन्हुता स्फाटिकसौधपक्तीः ।।
 आरुह्यनार्थ क्षणदासु यत्र नभोगता देव्य इव व्यराजन् ।। ४३ ॥
 शिशुपालवधे तृतीयसर्गे ॥

स्त्रिया ह्या आकाशांत अप्तराच उमा राहिल्या आहेत काय असे समजून लोकांकडून क्षणपंचित पाहिल्या जात असत २८ खिडकींतून प्रवेश करून घरांतील रतन
भूमीवर सूर्याच कोमल किरणसमूह पडत असत व जमीनींशीं त्यांचे मिश्रण
झाल्यामुळें ती रत्नभूमि त्यावेळीं केशरानें माखल्याप्रमाणें लालभडक दिसत असे.
२९ स्फटिकाच्या मितीमध्यें आपल्यापुढें आपलेंच प्रतिविंव पाहून तेथील स्त्रियांप्या मनांत आपल्या सवतीविपयीं शंका उत्पन्न होत असे तेव्हां त्या आपल्या
पतीवर रागावत असत.

भावार्थः—आपल्या प्रतिविंबाला पाहून आपली सवतच येथे एकांतस्थानीं

श्राला आहे असे क्षियांना वादून त्या पतीवर क्रुद्ध होत असत.
प्रासादशृंगाणि समेत्य मेघा यस्यां मयूरा मदयंत्यकाले ॥
तिच्चत्ररत्नांशुकलापमालासंपादिताखंडलचापखंडाः ॥ ३० ॥
विभाति यस्यां विशिखा जनानामितस्ततः संचरतामजसं ॥
अन्योन्यसंघट्टविशीणिहारमुक्ताफलैस्तारिकतैकदेशाः ॥ ३१ ॥
सृजंति रात्राविष यत्र वाप्यः स्फुरक्तटीरत्नमरीचिभाभिः ॥
दिनश्रियं कोककुदुंविनीनां वियोगशोकापनिनीषयेव ॥ ३२ ॥
चंद्रोदय चंद्रमणिप्रणद्धसौधात्रभूमिश्रमनिर्गतानि ॥

आदाय तोयानि घनीकृतांगा यथार्थतां यत्र घनाः प्रयान्ति।।३॥ यस्यां निशीथे गृहदीर्घिकाणां भ्राम्यन्ति भृंगाःकुमुदोदरेषु ॥ चंद्रांशुभिर्जर्जरितांधकारलेशा इवामोदितदिङ्मुखेषु ॥ ३४ ॥ यस्यां गवाक्षांतरसंप्रविष्टां ज्योत्स्नां सुधाफेनसितां प्रदोषे ॥ दुग्धेच्छया स्वादयति प्रहृष्टो मार्जारपोतो मणिकुट्टमेषु ॥ ३५ ॥ सर्वर्तवोऽलंकृतसर्ववृक्षाः सदाधितिष्टांति वनानि यस्यां ॥ सर्वर्तवोऽलंकृतसर्ववृक्षाः सदाधितिष्टांति वनानि यस्यां ॥ लतागृहान्तर्गतदंपतीनां विलाससौंदर्यदिवृक्षयेव ॥ ३६ ॥ अथेश्वरो विश्वजनीनवृत्तिस्तस्याः पुरोऽभृत्पुरुहृतभूतिः ॥ प्रामंदिशब्दान्वितवर्धनाख्यो विख्यातवंशो रिपुवंशदावः ॥ ३७ ॥

तेथील राजवाडचांच्या शिखरावर मेघ येऊन पावसाला नसतांही मोरांना जन्मत्त किर्णसमूहांनी किरणसमूहांनी त्या मेघामध्यें पुष्कल इंद्रधनुष्यें तत्पन्न होतात.

तारपर्यः —इंद्रधनुष्यासहित मेघ दिसल्यामुळें मोर उन्मत्त वनून नृत्य करीत असत.

३१ या शहरांत रस्त्यांतुन छोक नेहमीं फिरत असतांना एकमेकांच्या धक्तयाने त्यांच्या गळ्यांतील हार तुटून मोत्यें रस्यावर विखरत असत त्यावेळीं ते रस्ते ज्यामध्यें नक्षत्ने उगवळीं आहेत आशा आकाशाच्या भागाप्रमाणे शोभत असत. ३२ चक्रवाकींच्या विरहापासून उत्पन्न झालेला शोक नाहींसा करण्याच्या इच्छेने जणु काय येथील विाहरी रात्रीं देखिल तटाला लावलेल्या रत्नांच्या चमकणाऱ्या किरणसमूहांनीं दिवसांची शोभा उत्पन्न करितात. चक्रवाकपक्षाचें जोडपें रात्रीं वियुक्त होत असतें परंतु विहिरींच्या तटाला लावलेल्या रत्नांच्या प्रकाशानें रात्रीं देखील त्या जोडप्याला दिवसाचा भास झाल्यामुळें तें येथें कधीही वियुक्त होत नसे. ३३ चंद्राचा उदय झाला असतां चद्रकांतमण्यांनीं वांधलेल्या वाड्यांच्या गचीपासून पाणी पाझरून पन्हाळ्यांच्या वाटें वाहेर येत असतां तें घेऊन ज्यांचें शरीर मोटें वनलें आहे असे. भेघ 'घन 'या नांवाला सार्थक करतात. घन या शब्दाचा पुष्ट असा अर्थ होतो मेघही पुष्ट असतात म्हणून त्यांचे घन हें नांव सार्थक झाले आहे. ३४ या शहरांत घरांनील विहिरीमध्यें ज्यांनी दिशांची तोडें सुगंधित केली आहेत अशा कम्लांच्या मध्यभागांतून विहार करणारे भ्रुंग्यांचे समुदाय अर्घ रात्रीं चंद्राच्या किरणांनीं जर्ज़र झालेले अंधाराचे तुकडे जणु इकडे तिकडे फिरतात असे भासू लागनात.

तारपर्य—कमलावरून फिरणारे भ्रंगे अर्धरात्री फिरणाऱ्या अंधकाराच्या तुकड्या प्रमाणें लोकांना वाटत असत.

३५ रात्रींच्या प्रारंभीं चंद्राचे अमृताच्या फेसा प्रमाणें स्वच्छ असलेले किरण खिडक्यांच्या द्वारें रत्नखचित जिमनीवर पडलेले पाहून हें दृधच सांडलें आहे असे वाटून मांजराचे पिलं आनंदित होऊन त्यांना चाटीत असे ३६ सर्व द्वक्षांना सुशोभित करणारे असे सहाही ऋतु लतागृहांत क्रीडा करण्यासाठी आलेल्या दंपतीचे सौद्र्य व विलास पाहण्याच्या इच्छेनें जणुं काय या शहरांतील वगीचांत नेहमीं निवास करीत आहेत. ३७ अशा या सुंदर शहरांत नंदिवर्धन या नांवाचा राजा राज्य करीत असे हा प्रख्यात वंशांत उत्पन्न झाला होता व शत्रूक्षी वेळ्चे वन जाळण्यास अग्निप्रमाणे होता. याचे

इंद्रापमाणें ऐश्वर्य होतें. व सर्वीचें कल्याण करण्याचा स्वभाव याच्या ठिकाणीं वास करीत असे.

प्रतापभानोरुदयाद्रिरिंदुःकलाकलापस्य समग्रकांतिः॥ पुष्पोद्गमो यो विनयद्वमस्य जातस्थितरंबुधिरंबुजाक्षः॥ ३८॥ यस्मिन्महात्मृन्यमलस्वभावे नरेंद्रविद्या सकलाः प्रतिष्ठां॥ अवाप्य रेजुर्घनरोधमुक्तेर्दिनव्यपाये नभसीव ताराः ॥ ३९ ॥ निसर्गशत्रूनिष योऽभ्युषेतानार्द्धांतरात्मा नृपतिर्वभार ॥ और्वानलस्य प्रविज्भमाणान् ज्वालासमूहानिव वारिराशिः॥ ४०॥ यो वांछितानेकफलपस्तिं भूत्ये प्रजानां नयकल्पवृक्षं॥ प्रज्ञां बुसेकेन निनाय वृद्धि परोपकाराय सतां हि चेष्टा ॥ ४१ ॥ अलंकतारोषमहीतलेन प्रोत्फुलकुंदद्यतिनापि यस्य ॥ तदद्भुतं शत्रुवधूमुखेन्दोर्भलीमसत्वं यशसा कृतं यत् ॥ ४२ ॥ तस्यायं कान्तेरधिदेवतेव वेलेव लावण्यमहार्णवस्य ॥ मूर्ता जयश्रीरिव पुष्पकेतोरासीत्रिया वीरवतीति नाम्ना ॥ ४३ ॥ **%** विद्यु हतेवाभिनवां बुवा हं चूत हुमं नूतन मंजरीव ॥ स्फ्रत्यभवामलपद्मरागं विभूषयामास तमायताक्षी ॥ ४४ ॥

३८ कमलाप्रमाणें सुंदर नेजा ज्याचे आहेत असा हा नंदिवर्धन राजा पराक्रमरूपी सूर्याला उदयपर्वताप्रमाणें होता. पूर्ण कांतियुक्त चढ़ जसा सर्व कलांनीं युक्त असतो तसे हा सुंदर राजा सर्व कलाकी शल्यांनीं युक्त होता. विनयरूपी द्वक्ष पछिवत होण्यास वसंत ऋतुप्रमाणें होता. समुद्र जसा मर्यादेनें राहतो तसा हा रवतः मर्यादा पाळ्न प्रजेला मर्यादेचें उल्लंघन करू देत नसे. ३९ दिवस मावळला असतां व मेघांचें आवरणही नसतां स्वच्छ आकाशांत नक्षचें। जशीं चमकतात तसे निमेल स्वभावी व महात्मा अशा या राजाच्या ठिकाणी सर्व राजविद्यांना

तस्य सत्यंघरस्यासीत्कान्ता कान्त्याघिदेवता ॥
 वेळा ळावण्यपाथोघेविंश्चता विजयाख्यया ॥ २६ ॥
सौदामिनीव जळद नवमजरीव च्तद्भम कुमुमसपदिवाद्यमास ॥
 ज्योत्स्नेव चंद्रमृसमच्छविभेव सूर्य त भूमिपाळकमभूषयदायताक्षी ॥ २७॥
 जीवधरचंपूकाव्ये प्रथमळग्वे ॥

राहावयास स्थान मिळाल्यामुळें त्या फार शोभू लागल्या. ४० पाण्याच्या विषुल संग्रहामुळे शीतल व ओला असलेला असा समुद्र जसें वडवा अग्नीच्या ज्वाला समूहांस आपल्या पोटांत राहावयास स्थान देतो तसें हा दयाई राजा स्वभावतः वैर धारण करणाच्या गजांचें ते शरण आल्यामुळें रक्षण करितो. अर्थात त्यांचें राज्य त्यांना परत देऊन त्यांच्यावर दया करितो. ४१ प्रजेला तिच्या अनेक इच्छित फलांची उत्पत्ति व्हावी म्हणून व तिचें ऐश्वर्य वाढावें म्हणून आपलें बुद्धिक्पी पाणी नीतिक्पी कल्पटक्षाला घालून ह्या राजानें त्याला पुष्कल वाढिविलें. वरोवरच आहे कीं, सत्पुरुषांची सर्व कृत्यें लोककल्याणासाठीच असतात.

भावार्थ:—या राजापासून प्रजेला सुख मिळ्न तिची संपत्ती वाढली. ४२ या राजाच्या कीर्तीची कान्ति विकसित झालेल्या कुंद्पुप्पाप्रमाणे होती व तिनें या पृथ्वीमंडलाला फार सुशोभित केलें होतें. तथापि तिनें शत्रूंच्या स्त्रियां-च्या मुखचंद्राला मळकट करून सोडलें हें मात्र आश्चर्याला उत्पन्न करणारें होते.

४३-४४ या नंदिवर्धन राजाच्या पत्नीचे नांव वीरवती असे होतें. ही राणी कांतीची जणु मुख्य देवता होती. लावण्यरूपी समुद्राची जणु सीमा होती व काम देवाची जणु मूर्तिमंत विजयलक्ष्मी होती. जसें विजेनें नवीन मेघाला शोभा येते, आम्रमंजरीनें [ मोहोरानें ] जसा आम्रद्ध मुंटर दिसतो, पसरणारी कांति जशी पद्मरागमण्याच्या सौदर्यात भर टाकते, तसें जिचे डोळे विशाल आहेत अशा या राणीनें राजाला रवतःच्या योगानें अधिक शोभा आणिली होती.

तौ दंपती स्वगुणाधिवासावन्योन्ययोग्यौ विधिवन्नियोज्य ॥ विरेण नूनं विधिनापि दृष्टं सृष्टं फलं तत्प्रथमं कथंचित् ॥ ४५ ॥ प्रबुद्धपद्माक्ररसेव्यपादं जगत्प्रवीणं क्षितिपः स तस्यां ॥ उत्पादयामास सुतं यथाकं प्राच्यां प्रतापानुगतं प्रभातः ॥ ४६ ॥ तज्जन्मकाले विमलं नमोऽसूहिग्भिः समं सूरिप सानुरागा ॥ स्वयं विमुक्तानि च वंधनानि मंदं ववौ गंधवहः सुगंधिः ॥ ४७ ॥ जिनंद्रपूजां महतीं विधाय चक्रे नरेंद्रो दशमेऽन्हि स्नोः ॥ सर्वप्रजामानसनंदनत्वादर्थानुगां नंदन इत्यभिष्याम् ॥ ४८ ॥ बाल्येऽपि योऽभ्यस्तसमस्तविद्यो ज्याघातरेखांकितसत्प्रकोष्टः ॥ वैधव्यदीक्षां रिपुसुंदर्शणां प्रदातुमाचार्यपदं प्रपेदे ॥ ४९ ॥

पण्यांगनाजनकटाक्षशरेकलक्ष्यं ॥
कामस्य जीवनरसायनमप्यमूर्तेः ॥
उद्दामरागरससागरसाररत्नं ॥
लीलानिर्धि तमथ यौवनमाससाद ॥५०॥
उद्दिद्यमाननवयौवनलव्धरंध्र—॥
मप्यन्यभूमिपतिभिर्विजितं न जातु॥
एकोप्यनेकविधचेष्टितमप्यलक्ष्य—॥
मंतःस्थितं रिपुबलं स जिगायधीरः ॥५१॥

४५ हे ढोघे पितपत्नी सर्व सद्धुणांचे माहेरघर होते व एकमेकांना अनुरूप होते. अर्थात् पित पत्नीला साजेसा होता व पत्नीही पतीला साजेशी होती. या ढोघांची योजना विधिपूर्वक ब्रह्मदेवानेंही परस्पराशीं करून देऊन निश्चयांने कांहीं दिवसांनीं आपल्या या सृष्टींचे पिहलें फळ कसे तरी त्यांने पाहिलें.

भावार्थः—वीरमती राणीला कांहीं दिवसांनीं गर्भ राहून पहिला मुलगा झाला.

४६ प्रतापाने अनुसरलेल्या, ज्गाला जागृत करणाऱ्या, विकसित झालेल्या कमल-समूहाकडून ज्याचे किरण सेविले जातात अशा सूर्याला प्रातःकाल जसा पूर्व दिशेषध्यें उत्पन्न करितो तसें आनंदित झालेली लक्ष्मी आपल्या हातांनीं ज्याचे पाय चुरीत आहे अज्ञा जगत्प्रकाञ्चक व पराक्रमयुक्त पुत्राला या नंदिवर्धन राजाने आपल्या दीर-वती राणीमध्यें उत्पन्न केलें. ४७ जेव्हां राजाला मुलगा झाला तेव्हां आकाश स्वच्छ झाले, सर्व दिशासह पृथ्वी प्रेमयुक्त झाली—प्रसन्न -रमणीय दिसूं ला-गली. कैद्यांच्या बेड्या आपोआप गळ्न पहल्या व सुगंध वायु मंद यंदे वाहूं लागला. ४८ राजानें दहान्या दिवशीं जिनश्वराची फार मोठी पूजा केली व मुलगा सर्व प्रजांच्या अंतःकरणाला आनंदित करणारा असल्यामुळे त्याचें 'नंदन' असें सार्थक नांव ठेविलें. ४९ या राजपुत्राने वाल्यावस्थेतच सर्व विद्यांचें अध्य यन केलें. याचें दृढ मणगट धनुष्याच्या दोरीचा वारंवार आघात झाल्यामुळें घ-ट्यानें युक्त झाले होतें. अर्थात् धनुर्विद्येत यानें असाधारण पावीण्य मिलविलें होतें. शत्रूंच्या स्त्रियांनां वैधव्यदीक्षा देण्यासाठीं याने आचार्य पटवी प्राप्त करून घेतली होती अर्थात् हजारों शत्रूंना यानें युद्धांत परलोकीं पाटविलें होतें. ५० शरीरराहित अशाही मदनाला जीवनदान देण्यास रसायनासारखें असलेलें, वे-श्यांच्या कटाक्षरूप बाणांचें लक्ष्यस्थान असलेलें, उद्दाम श्रृंगाररसरूपी समुद्राचे

उत्कृष्ट रत्न व लीलांचा निधि असलेलें असें तारुण्य या राजकुमाराला प्राप्त झाले. ५१ उत्पन्न होणाऱ्या नवीन तारण्याच्या द्वारें संधि प्राप्त करून घेऊन ज्यांनी मनांत प्रवेश केला आहे. ज्यांना अन्य राजे जिंकण्यास कर्यांही समर्थ झाले नाहींत, जे नानाविध अकार्ये करावयास लावितात अजा काम, क्रोध, मद, हर्ष व मान या वाहेर न दिसणाऱ्या सहा शत्रूंना निर्विकार मनाच्या राजपुताने एकट्याने जिंकिले होते. कामादिक विकारांनी मोठमोट्याचे फार कल्याण केलें आहे. वाह्य जत्रूंना जिंकण फार सोर्पे आहे. परंतु हे अंतरंग जत्रु अद्देश असून फार वलवान आहेत. यांनी सर्व जगाला वश केलें आहे. अशा या शत्रूंना या नंदन राजपुत्राने जिंकलें होतें. अन्येद्यरात्मसमवार्द्धेतराजपुत्रै ॥ रन्यैश्र मूलतनयैःसहितो जगाम॥ स कीडितुं पितुरवाप्य परामनुज्ञां ॥ क्रीडावनं कृतकभूधरराजितान्तं ॥ ५२ ॥ झंकारितेऽलिविरुतैर्मलयानिलेन॥ प्रेंखालिते कुसुमसौर,भवासितान्ते **॥** तस्मिन्वने सरसचारुफले विहत्य॥ संत्रप्तिंद्रियगणेन च तस्य तेषां ॥ ५३ ॥ तस्मिन्नशोकतरुचारुतले विकुंथा-॥ वासीनमुच्चविम्लस्फाटकाश्मपटे ॥ पुंजीकृतात्मयश्सीव मुनिं जिताक्ष-॥ मैक्षिष्ट शिष्टचरितं श्रुतसागराख्यं ॥ ५४॥ प्रागेव तं प्रमुदितः प्रणतोत्तमांग ॥ व्यार्लिगितक्षितितलः प्रणनाम दूरात् पश्चात्समेत्य निजहस्तसरोरुहाभ्याम् ॥ अभ्यर्च्य तस्य चरणावभवत्कृतार्थः ॥ ५५ ॥ संविश्य तं मुनिपतिं मुकुलीकृतात्र-॥ हस्तांबुजो विदितसंसृतिफल्गुभावः॥

उलंध्य भीमभवसागरमीश! जीवः॥
सिद्धिं कथं वजित तत्कथयेत्यपृच्छत्॥ ५६॥
पृष्टः स तेन मुनिरेवमुवाच वाचं॥
यावन्ममायमिति चैष वृथा प्रयासः॥
तावत्कृतान्तमुखमस्य हि तद्व्यपाया—॥
दात्मात्मभावमाधगम्य स याति सिद्धिम्॥५०॥
तस्माद्धिनिर्गतमसौ मुनिन्तनार्का—॥
ज्ज्योतिः परं सक्लवस्तुगतावभासं॥
मिथ्यांधकारपरिभेदि समेत्य तत्त्वं॥
पद्माकरः स्वसमये सहसा व्यबुद्ध ॥ ५८॥

५२ एके दिवशीं हा नंदन राजपुत्र आपल्या वरोवर वाढलेल्या इतर राज-पुत्रांना व मधान वॅगरेच्या पुत्रांना वरोवर घेऊन पित्याच्या आज्ञेनें ज्याचा प्रदेश कृतिमपर्वतानें शोभत आहे अशा वगीचांत क्रीडा करण्यासाठीं गेला. ५३ वगी-चामध्ये भुंगे गुंजारव करीत होते. मलय पर्वताकडून वाहात येत असलेल्या वा-ऱ्यानें झाडें डुलत होतीं. फुलांच्या सुवासानें तो सर्व उद्यानप्रदेश भरून गेला होता. झाडें सरस व सुंदर फळांनीं लकडलेलीं होती अशा या बगीचांत विहार करण्यानें त्या राजपुत्राची व त्याच्या मित्रांचीं इंद्रियें तृप्त झालीं. ५४ बगीचांत अशोक द्रक्षाच्या खालीं निर्जन्तुक अशा निर्मल स्फटिकाच्या शिलेवर जणु काय स्वतःच्या निर्मेल यशःपुंजावर श्रुतसागर नांवाचे निरातिचार चारित्राचे धारक जितंदिय मुनि वसले होते. ते राजपुत्राच्या दृष्टीस पडले. ५५ दृष्टीस पड-ल्यावरोवर दुरूनच नम्र झालेल्या मस्तकानें ज्यानें भूमीस स्पर्श केला आहे अशा या राजपुत्राने आनंदित होऊन वंदन केलें. व नंतर जवल येऊन आपल्या दोन हस्तकमलांनीं त्यानें त्यांचें पूजन करून स्वतःस कृतार्थ मानिलें. अर्थात् मुनिपूजन करण्यापासून त्याला फार आनंद वाटू लागला. ५६ ज्याला संसारा-च्या नि:सारपणाचें ज्ञान झालें आहे, ज्यानें आपले दोन हात कमलाच्या कली-सारखे केले आहेत अशा त्या नंदन राजपुतानें मुनीश्वराच्या जवल वसून हे मुनिराज! भयंकर संसारसमुद्राचें उछंघन करून हा जीव कोणत्या उपायांनें मो-क्षास जातो असा प्रश्न विचारला. ५७ याप्रमाणें विचारल्यावर मुनिराज म्हणाले

हे राजपुत्रा! जोपर्यंत पुत्र, मित्र, वायको वगैरे पटार्थ माझे आहेत असा न्यर्थ आग्रह जीव धारण कारितो तोंपर्यंत याची मृत्युमुखांत्न सुटका होत नाहीं. अर्थात् तोंपर्यंतच याचें संसारांत परिश्रमण होतें. व जेन्हां त्याची ही ममत्ववृद्धि नाहीं- श्री होते तेन्हां त्याच्या स्वस्वरूपाचा त्याला लाभ होऊन मोक्षप्राप्ति होते. ५८ न्या प्रमाणें अंधःकाराचा नाश करणार, सर्व वस्तूंना प्रकाशित करणारे अशा वाल सूर्याच्या किरणांचा लाभ होऊन कमलसमृह प्रफुलित होतो त्याप्रमाणें पिथ्या- श्रद्धान रूपी अंधाराचा नाश करणारे, सगळ्या जीवादिक वस्तूंचें स्वरूप स्पष्ट टाखऊन देणारे असे मुनिसूर्यापासून निघालेले तत्वज्ञानरूपी अपूर्व किरणप्राप्त करून येऊन हे राजपुत्ररूपी कमल योग्यवेळी प्रवुद्ध-विकसित झाले अर्थात् राजपुत्राला आत्म- जान झालें.

आरोपितव्रतगणाभरणाभिरामो ॥

भक्त्या युनिं चिरमुपास्य नरेंद्रपुत्रः ॥
उत्थाय सादरमुपेत्य कृतप्रणामो ॥
गेहं ययौ मुनिगुणानगणयन्गुणज्ञः ॥५९॥
लमे गुरौ शुभदिने वसुवृष्टिपूर्वे सामंतमंत्रितलवर्गगणेन सार्द्ध ॥
कृत्वाभिषेकमतुलं परया विभूत्या तस्मै दिदेश युवराजपदं नरेंद्रः॥६०।
आगर्भवासदिवसात्त्रभृति स्वसेवा-॥
संसक्तराजस्रुतकार्पिटकस्वमौलान्॥
अात्मातिरिक्तविभवानकरोत्कुमारः॥
कोशो हि कल्पतरुरेव सति प्रयुक्तः॥६१॥
एकोप्यनेकविधरत्नकरान्गृहीत्वा॥
राजात्मजः स विषयान्श्रितिपालदत्तान्॥

रेजे भवव्यसनसंतातिबीजहेतून-॥

विश्राणितं सुवि न केनचिदात्मनस्तत्॥

नन्यानसाधुविषयान्विषयान्विहाय ॥६२॥

यन्नास्ति वस्तु सकलार्थिजनस्य तेन॥

मन्ये महाद्रुतिमिदं यदिवद्यमानं ॥
स्वस्याप्यदायि तदनेन भयं रिपुभ्यः ॥६३॥
सौंदर्ययोवननवोदयराजलक्ष्म्यः॥
प्राप्यापि निर्मलमितं मदहेतवोऽपि ॥
शक्तिनं मदियतुं क्षणमप्यदारं॥
शक्तिनं न तु विकारकरं हि किंचित॥६४॥
अभ्यचयन जिनगृहान्परया स अक्त्या।
श्रृण्वन जिनद्रचितानि महामुनिभ्यः॥
चिनवन्त्रतानि विधिवन्नयति स्म कालं॥
धर्मानुरागमतयो हि भवंति भव्याः॥ ६५॥

या गुणज्ञ राजपुत्रानें या द्वानिवर्याजवळ व्रतरूपी अलंकार धारण केले त्यामुळें तो फार मनोहर दिसूं लागला. बराच वेळ म्रानिवर्याची जपासना करून व उठून त्यांच्याजवळ जाऊन त्यानें पुनः नमस्कार केळा व मुनीश्वरांच्या गुणांचा मनांत विचार करीत तो आपल्या घरीं गेला. ६० राजानें ग्रुभक्यीं, शुभादिनीं, श्रेष्ठ पुष्यनक्षत्र असतां ग्रुभवारीं सरदार, मंत्री व इतर अधिकारी वर्ग यांच्यासह अतिशय थाटानें नंदनराजपुत्राचा अपूर्व अभिषेक करून त्याला युवराज पदवी दिकी. ६१ गर्भीत आलेल्या दिवसापासून जे या राजपुत्राची सेवा करीत होते अशा राजपुत्रांना, खुषपस्कन्यांना व इतर ग्रुख्य अधिकान्यांना या राजपुत्रानें स्वतः पेक्षां अधिक वैभवशाली केलें. वरोवरच आहे कीं, सज्जनाविषयीं दुःख सहन करण्याचा प्रसंग आला तर तो कल्पद्यक्षासारखा विपुल सुखालाच देणारा होतां. ६२ संसारदु:खांच्या परंपरेला कारण असलेल्या व दुर्जन ज्यांचे सेवन करितात अज्ञा परस्त्री वगैरे अन्य भोग्य पदार्थीचा त्याग करून या युवराजानें इतर राजांनीं अर्पण केलेल्या अनेक भोग्य विषयांचा व खंडणीच्या स्वरूपानें दिलेल्या रत्नांचा स्वीकार केला त्यामुळें तो फार शोभू लागला. ६३ या भूतलावर जी वस्तु आपल्याजवळ नसते ती वस्तु याचकवर्गीना आजपर्यंत कोणी दिली नाहीं व कोणाला देतां आली नाहीं. परंतु मला हे फार आश्चर्यकारक-वाटतं कीं, या युवराजानें स्वतः जवल नसलेली भीति नांवाची वरत शत्रुवर्गाला देऊन टाकली.

भावार्थ-आजपर्यत जितके टानशूर होक झाले त्यांनी आपल्याजवल असलेली वस्तूच फक्त देखन टाकली कारण नसलेल्या वस्तूंचे दान देणें संभवत वर्द्ध वरि०३ नसतें. परंतु उपर्युक्त प्रकारानें नसलेल्या वस्तूंचें कसें टान संभवतें हें कविवर्यानें चातुर्याने दाखिवले आहे. युवराजापासून त्याच्या शत्रूना फार भीति वाटत असे हा अभिपाय या श्लोकांत सांगितला आहे.

६४ गर्व वाहिविण्यास कारण असलेलें सौंदर्य, तारुण्य, नवीन प्राप्त झालेली उद्यातावस्था व राज्यलक्ष्मी हे पद्धि युवराजाजवल मुवलक असूनही ते त्या महात्म्याला मदोन्मत्त करण्यास समर्थ झाले नाहीत. वरोवर आहे की, ज्यांचा अग्त्मा रागद्वेपादि विकारांनी रहित असतो त्यांना वाह्य मोहक वस्तु विकार उत्पन्न करूं जकत नाहीं. ६५ हा युवराज उत्कृष्ट भक्तीनें जिनमंदिरांची पूजा करीत असे. महामुनी-पामून तीर्थकरांची चरित्रें अवण करीत असे. अनेक व्रतांचें योग्य विधीनें आचरण करीत असे. याप्रमाणें तो काल व्यतीत करीत असे. वरोवरच आहे की भव्य—धार्मिक लोकांची चुद्धि धर्मावर प्रेम करणारीच असते.

उदवान्स परिवृद्धो महात्मनां न रागतः पितुरुपरोधतो वशी ॥ निजिश्रिया विजितसुरांगनाकृतिं प्रियंक्ररां मनसिशयेकवागुरां।६६। व्रतानि सम्यक्त्वपुरःसराणि पत्युःप्रसादात्समवाप्य सापि॥ धर्मामृतं भूरि पपौ प्रियाणां सदानुकूला हि भवंति नार्यः॥ ६७॥

परा संपत्कांतेर्विनयजलराशोर्विधुकला॥

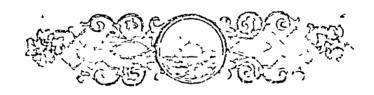
वयस्या लज्जाया जयकदिलका पुष्पधनुषः॥ नतांगी तं वश्यं पतिमकृत सा साधनिरता॥ न किं वा संधत्ते भुवि गुणगणानामुपनयः॥६८॥

\* इत्यसगर्भविकृतौ श्रीवर्द्धमानचरिते महाकाव्ये नंदनसंभवो नाम प्रथमः संगः। \*

६६ सत्पुरुपांचा नायक व जिताद्रिय अज्ञा या राजपुत्रानें पित्याच्या आग्रहानें प्रियंकरा नांवाच्या एका राजकन्येशी लग्न लाविलें. लग्न करून घेण्यांत स्वत ला
याला तिनकी उन्सुकता वाटत नव्हती. या प्रियंकरा राजकन्येने आपल्या सौदर्यानें
व ऐत्वर्यानें देवांगनांना जिंकिले होते. व ही कामदेवाच्या जाळ्याप्रमाणें होती.
६७ या प्रियंकरा युवराजीनेही युवराजाच्या कृपेनें सम्यक्त्वासाहित वृतें धारण
केली. व न्याच्यापासून हिला पुष्कळ धर्मामृत प्यावयास मिळ् लागलें. वरोवर आहे कीं ज्या पतिव्रता तिया असतात त्या नहमी पतिशीं अनुकृत्र असतान. ६८ ही
प्रियंकरा कोनिचा उत्कृष्ट खिजना होती. धिनयहमी समुद्राला भरती आणण्याम
चंद्राच्या कलेश्माणे होती. ही लक्किची सखी व मदनाची जयपनाका होती. पति- व्रतेच्या आचारानें युक्त अशा या नतांगीनें युवराजाला वश केंले. वरोवरच आहे कीं गुणसमूहांची उन्नति कोणतें कार्य करूं शकत नाहीं.

तारपर्यः—ज्याच्या ठिकाणीं सर्व सद्भुण प्राप्त झाले आहेत त्याला सर्व वश होतात. प्रियंकरेला युवराज वश झाला कारण तिन्या ठिकाणी तसेंच उत्तम सद्भुण होते.

या प्रमाणें श्री असगकाविकृत वर्धमानचारित महाकाव्यांतील नंदन राज पुत्नाच्या उत्पत्तीचे वर्णन करणारा पहिला सर्ग समाप्त झाला. ॥ १॥



## हितीयः सर्गः।

अथात्मजे विश्वगुणैकमाजने नरेश्वरो राज्यधुरां निधाय सः॥ तुतोप निर्श्चिततया पियासखः पितुः सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्तिः ॥१॥ कदाचिदुसुंगसृगेंद्रविष्टरे निविष्टमालोक्य तमीश्वरं विशां ॥ ननंद लोकः सकलः सराजकः खुखाय केपां न निरीक्षण प्रभोः।श असक्तमिच्छाधिकदानसंपदा मनोरथानर्थिजनस्य पूरयन्॥ अवाप साम्यं सुमनोभिरन्वितो महीपतिर्जंगमकल्पभूरुहः ॥ ३॥ संतां प्रियः कांचनकृटकोटिषु ज्वलज्जपालोहितरत्नरिमिभः॥ जिनालयान्पल्लवितांवरद्रमानकारयद्धर्मधना हि साधवः ॥ ४ ॥ कपोलमूलस्रुतदानलोलुपदिरेफमालासितवर्णचामरैः॥ स पित्रिये प्रायतमत्तदांति भिः प्रिया न केपां भवि भूरिदानिनः॥५॥ करान्गृहीत्वा परचक्रभूभृताममात्यमुख्यान्समुपागतान्स्वयं॥ अनामयप्रश्नपुरःसरं विभुः स संवभाषे प्रभवे हि वत्सलाः ॥ ६॥ × चतुःपयोराशिपयोधरिश्रयं नियम्य रक्षायतरिशमना घनं ॥ उपस्तुतां सन्नयवत्सलालनैर्दुदोह गां रत्नपयांसि गोपकः ॥ ७॥

१ यानंतर संपूर्ण सहुणांना अद्वितीय आश्रय असलेल्या आपल्या नंदन नांवाच्या मुलावर नदिवर्धन राजा सर्व राज्यभार टाक्न्न आपण निश्चित होऊन आपल्या पत्नीसिहत—वीरवर्ती राणीसिहित आनंदानें राहू लागला. वरोवरच आहे की, जो सुपुत्र असतो तो नेहमीं आपल्या पित्याला अनुक्लच असतो. अर्थात् आपल्या अनुक्लल आचरणानें वापाच्या अंतःकरणाला आनंदित करीत असतो. २ कोणे एके वेळीं नंदिर्वधन राजाला उंच अशा सिंहासनावर वसलेला पाहून इतर राजगणासह सर्व मजाजनांना फार आनंद झाला. वरोवरच आहे की, आपल्या राजाचें दर्शन कोणाला सुखदायक होत नाहीं दरें १ ३ नेहमी याचक जनांना त्यांच्या इच्छेणेक्षां अधिक संपत्ति देखन त्यांच्या मनोरथांना तृप्तकरणारा हा नंदिर्वधन राजा देवासारखे असलेल्या विद्वानांनीं वेष्टित होऊन चालत्या बोलत्या कल्पहक्षाच्या तृल्वेन्ला पावला.

× पर्यावरी भूतचतु ममुद्रा जुगोप गोरप उरामिवार्थाम ॥

भावर्थ:—कल्परक्ष देवांनीं विष्टित असती तसा हा राजा नेहमीं वि-द्वानांनीं वेढलेला होता. कल्परक्ष इच्छिलेला पदार्थच देती पण हा राजा इच्छेपेक्षांही अधिक दान देत असे. कल्परक्ष रथावर असती व हा जंगम होता एवढेंच यामध्यें अंतर होतें.

४ सत्पुरुषांना पिय असलेल्या या राजानें अनेक जिनमंदिरें बांधाविलीं होतीं. त्यांचीं शिखेंर सोन्यानें वनविछेलीं असून त्यांत जास्वंदीच्या फुलाप्रमाणें लाल व चमकणारी पद्मरागरतें वसविलीं होती. त्यांच्या लाल भडक किरणांनीं तीं जिनमंदिरें आकाशांत लाल पानांनीं युक्त असे हे कल्परक्षच आहेत काय अशीं भासत असत. हीं जिनमंदिरें निर्माण करविण्यांत राजानें फार पैसे खर्च केले होते. बरोबरच आहे कीं, धार्मिक लोक धर्मालाच धन समजतात. धनाला धन समजत नाहींत. अर्थात् धनापेक्षां त्यांना धर्मच अधिक पिय असतो. ५ ज्यांच्या गंडस्थ-ळाच्या मूलभागापासून मद वाहात असल्यामुळें ज्यांच्यावर भुंग्याचे थवे बसले आहेत व ज्यांच्या कानाजवळ पांढऱ्या चवऱ्या वांधलेल्या आहेत अशा नजराणा ह्मणून राजांनीं अर्पण केलेल्या हत्तींना पाहून या राजाला फार आनंद होत असे. वरोवरच आहे कीं, जे मोठे दानी आहेत ते कोणास वरें आवडत नाहींत. येथें दानी शद्धाचे दोन अर्थ आहेत. दानी ह्मणें हत्ती. दान हमणें पदनल तं ज्यांना आहे अर्थीत ज्यांच्या गडस्थळांतून मद वाहतो ते दानी होत. व दुसरा अर्थ दानी—दान देणारे. ६ स्वतः कर घेऊन आलेल्या परदेशी राजांच्या मुख्य मधान मंडळीस हा राजा कुशल प्रश्नपृत्रेक मधुर भापण करीत असे. त्यांना मर्भ स्थळीं टोचणारें भाषण बालत नसे. बरोबरच आहे कीं, जे मोडे लोक असतात ते नेहमीं आपल्यापेक्षां लहान असलेल्यावर प्रीति करीत असतात. ७ चार समुद्र हेच जिचे स्तन आहेत, रक्षण करणें हीच कोणी लांव दोरी ृतिने जिला वांधून जिचें नियमन केलें आहे, उत्तम, नीतिरूपी वासराच्या लालन पालनानें जिला पान्हा फुटला आहे अशा या पृथ्वीरूपी गाईपासून या राजारूपी गवळ्यानें नाना प्रकारचीं रत्नेंरूपी दूध काढिलें. या श्लोकांतील गोपक या शद्वाचे दोन अर्थ आ-हेत. गो-पृथ्वी व गाय पक-पालन करणारा अर्थात् राजा व गवली.

स पक्ष्मलाक्षं लिलतभु सस्मयं स्मिताभिरामाधरपलवं मिथः ॥
प्रियाननं नोपरराम वीक्षितुं मनोहरे वस्तुनि को न रज्यते । ८॥
इति त्रिवर्गं मितमानुपाजयन् यथायथं प्राज्यसुखैकंसाधनं ॥
अभैकदा हर्म्यतले समुत्थिते स्थितः क्षितीशः प्रियया तया युतः॥

नसःपयोधेरिव फेनमंडलं विचित्रकृटं धवला अमेक्षत ॥ १०॥ सविस्मयं प्रयत एव तत्क्षणादद् असअं गगने व्यलीयत॥ वपुर्वयोजीवितरूपसंपदामनित्यतां तस्य निद्श्यद्यथा॥ ११॥ असूत्तदाश्रस्य विनाशविश्रमाहिरक्तिचेत्रो निजराज्यसंसिद् ॥ क्षणाद्धरन्या तरला बहुच्छला समस्तवस्तु स्थितिरिवेत्य सः ॥१२॥ अचित्यच्चैवमनात्यव्स्तुषु प्रसक्तिमभ्येत्युपयोगतृष्णया॥ हुरंतहुः स्वे भवस्वज्ञपंजरे तयैव जंतुः सततं नियम्यते ॥ १३॥ इदं च पुंसां अवकोटिदुर्छभं नुजन्म जन्मां चिमज्जताय ॥ खुदुर्लमा देशकुलादयस्त्या सवंति तेभ्यो घिपणा हितैपिणी ॥१४॥ ८ राणीचे डोळे टाट पायण्यांनीं युक्त होते. व खुवया सुंदर होत्या डोळे कटाक्ष-युक्त असल्यामुळं तिची मनांतील कामाकुलता व्यक्त होत होती. मंद हंसण्यान कोवळ्या पानाप्रमाण लाल असे तिचे औठ मोठे मनाहर दिसत होते. या सर्व सामग्रीने युक्त असलेलें राणीचें तोंड एकांत विकाणी वारंवार पाहून देखील गजाची तृप्ति होत नसे. वरोवरच आहे कीं, चित्ताकर्षक वस्तूमध्यें कोण वरं आसक्त होत नाही. ९ सांसारिक उत्तम सुखांचे साधन अगा धर्म, अर्थ व काम या तीन पुरुपार्थाची यथायोग्य प्राप्ति करून येऊन या बुद्धिमान व सत्पुरुपा-विषयी मनांत मत्सरभाव न धरणाऱ्या राजानें पुष्कळ वर्षे आनंदांत घालविलीं. १० एके दिवशीं फार उंच अगा आपल्या वाड्याच्या गचीवर वीरवर्ता राणीसह राजा वसला असतां त्याला आकाशरूपी समुद्राचा जणु हा फेसांचा समृद्रच असा नानामकारच्या शिखरांनी युक्त असलेला पांडरा मेच दिसला. ११ राना आश्चर्यचाकित होऊन पाहात असतां तो मोटा मेय लाकरच आकागांत वित्रव्न नाहींसा झाला, तो नाहींसा होत असतांना गरीर, तारण्य, जगण, सौंदर्थ, व संपत्ती हे पदार्थ आनेत्य आहेत अमा जणू त्याने उपदेश केला अस राजाला वाटलें. १२ त्या मेत्राचा नाश झालेला पाहृन सर्व वस्तूंची स्थिनी थोडा बेळपर्यत रमणीय डिसते परंतु त्यांचा नाग फार छोकर होतो. या वस्तुंची माप्ति करून येनाना जीवाला पुष्कळ लासही भोगावा लागनो असा विचार करून राजा आपल्या राज्यसंपत्तीविषयी विरक्त झाला. १३ आत्म्यापासून वास्तविक भिन असलेल्या वस्तुमध्ये हा आत्मा उपभोग घेण्याच्या इच्छेने आसक्त हातो. व त्यामुळेंच अत्यंत ्दुःख देणाऱ्या या संसाररूपी तरवारीच्या पिंजऱ्यामध्ये हा कायमचा अडकतो. १४ संसारक्षी लयुटांत — जन्ममर्णक्षी समुद्रांत बुडन

असणाऱ्या या जीवांना कोट्यवानि जन्मांतही प्राप्त न होणागा असा मनुष्यजन्म

कदाचित प्राप्त होतो. इतका तो दुर्लभ आहे. तो प्राप्त झाला तरी उत्तम देश, उत्तम कुल, सुदर श्रीर, आरोग्य, जिनधर्म यांची प्राप्ति होणें फार कठिण आहे. या सर्वाची प्राप्ति हाण्यापेक्षांही आत्मकल्याण करणारी बुद्धि जीवाला प्राप्त होणें फार कठिण आहे.

सावार्थः – समुद्रामध्यें आपल्या हातांत्न पडलेलें रत्न मिलणें जितकें किंछण आहे तितकेच मनुष्यजन्म मिलणे किंछण आहे. मनुष्यजन्माचीं प्राप्ति झाली तरी योग्य—धर्माचरण करण्यास योग्य—अजा क्षेत्नांत जन्म होणे हे धनिकामध्यें उदार दानी मनुष्य मिलण्याप्रमाणे किंछण आहे. मलेच्छ क्षेत्नांत उत्पाची झाली तर हां आत्मा चारित्रा धारण करण्यास अयोग्य होतो. विद्वान असून परोपकारिता असणे हें जरों दुर्लभ आहे. तसें उत्तम कुलांत जन्मणे दुर्लभ होय. नीच कुलांत जन्म झाल्यास संयमदीक्षा धारण करण्यास तो योग्य होत नाही. या प्रमाणे रत्नत्राय प्राप्त करून घेण्यास योग्य सामग्री उत्तरोत्तार दुर्लभ आहे. ही सर्व सामग्री मिलाली तरी आत्यकल्याण करणारी द्वाद्ध अर्थात् रत्नत्रायाची प्राप्ति होणे हे सर्व गुण प्राप्त झाले तरी कृतज्ञता गुण मिलाले जसे किंछण आहे. यास्तव जगांत रत्नत्रय प्राप्त होणे हें सर्वीत आतिज्ञय किंछण आहे.

अनादिमिध्यात्वगदातुरात्मने हितापि सहृष्टिसुघा न रोचते ॥ अनाप्तत्वैकरुचिः स केवलं कृतांतरक्षोवदनं विगाह्यते ॥ १५॥ अदूरभव्यो विषयेषु निःस्पृहो विमुच्य सर्वं द्विविधं परिण्रहष् ॥ उपात्तरत्वत्रयसूरिसूषणो जिन्द्रदक्षां सजते विद्यक्तये ॥ १६॥

इतीदमात्मैक्हितं सुनिश्चितं॥

धुवं विजानन्तिप तृष्णया यया।। खलीकृतस्तामधुना क्षिपाम्यहं॥

समूलमुन्मूल्य लतामिव द्विपः ॥ १७ ॥

इति प्रयुःपत्रजनाभिलाषुकस्ततेऽवतीयों ज्ञातहर्स्य पृष्ठतः ॥ सभागृहे पूर्वनिविष्टविष्टरे क्षणं निविश्येवसुवाच नंदनं ॥ १८॥ त्वमेव वत्स ! प्रतिपन्नवत्सलः पदे विसूतरासि स्वसूयुजां ॥

निजानुरक्तप्रकृतिदिनिश्रयो नवोदयं भारकरमंतरेण कः॥ १९॥ प्राजनुरागं सततं वितन्वतः समुक्तिं बूळ्जनस्य कुर्वतः॥

परेषु विश्वासमगच्छतः स्फुटं मयोपदेश्यं किमितम्तवापरं ॥ २० ॥

## अतो निघाय त्विय राज्यमूर्जितं विनिर्जिताराविदमन्यदुर्धरं ॥ तपोवनं पावनमभ्यपेक्षतस्तनूज ! मा गाः प्रतिक्लतां मम॥ २१॥

१५ हा जीव अनादिकालापासून मिथ्यात्वरूपी रोगानें पीडित झाला अ सल्यामुळे सम्यग्दर्शनरूपी अमृत हितकारक असूनही याला आवडेनासे झालें आहे. श्रीजिनश्वरांनीं सांगितलेल्या जीवादिक तत्वामध्यें हा आत्मा श्रद्धान ठेवित नाही याला इतर मिथ्यातत्वामध्यें श्रद्धान करणें आवडते. अर्थात् श्रीजिनानी सांगि-तलेल्या आत्मस्वरूपांत श्रद्धान करणे सोडून या जीवाने संसारवर्धक इतत्वामध्ये शद्धान केल्यामुळे याला यमरूपी राक्षसाच्या मुखांत नेहमी प्वेश करावा लागत आहे. अर्थात् याचे जन्म मरण सुटेनासें झालें आहे. १६ जो निकट भन्य आहे अर्थात् ज्याला थोडक्याच भवांनी सोक्षप्राप्ति होणार आहे असा हा आत्मा स्ती वंगेरे भोग्य पढार्थाविपयों पूर्ण निारिच्छ वनतो. दोन प्रकारच्या सर्व परिग्रहांचा-धनधान्यादि वाह्य व हास्य, रित वगैरे नड नेकिपाय, मिथ्यात्व आणि क्रोधादिक कपाय या अंतरंग परिग्रहांचा पूर्ण त्याग करितो. रत्नत्रयरूपी अलंकाराचा स्वी-कार करितो व मोक्षलाभ व्हावा स्हणून जिनदीक्षा घेतो. १७ आत्माहित क्सें करून घ्यावें हैं मला निश्चयाने माहित असूनही आत्महिताच्या कार्यात तृष्णेने अडथळा उत्पन्न केला आहे. यास्तव हत्ती जसा अडथळा उत्पन्न करणा-च्या वेलीला समूल उपडून टाकितो त्याप्रमाणें या तृष्णेला मी मूलापासून उपडून तिचा क्षय करीन. १८ या प्रमाण राजाच्या अंतः करणांत दीक्षा घेण्याची इच्छा झाली व तो राजवाङ्याच्या गचीवरून खाली उतरून सभागृहांत पूर्वीच ठेविले-ल्या सिंहासनावर येऊन वसला व नंदन युवराजाला याप्रमाण वोलला १९ '' हे वत्सा, तूं आश्रितावर प्रेम करणारा आहेस. व सर्व ऐश्वर्याचा आधार आ-हेस. जसें नवीन उगवलेल्या सूर्याशिवाय दुसरा कोणताही ग्रह दिवसलक्ष्मीला आपल्यावर अनुरक्त करू शकत नाही तसे तुझ्या शिवाय सर्व राजेलोकांना कोणीही आपल्यावर अनुरक्त करू शकत नाही. २० हे वत्सा, तूं प्रजेला नहर्मी स्वतःविपयी अतिशय अनुरक्त करीत आहेस. व आपल्या मधान, सेना वंगरेची नेउमी उन्नति करीत आहेस व शत्रुवर तिल्मालही विश्वास देवीत नाहीस यास्तव मी तुला या गोष्टी विपयी अविक काय सांगृ ? ते न सांगतांच योग्य रीतीने वा-गत आहेस. २१ यास्तव ज्याने शत्रूंना जिंकिले आहे अशा तुजवर इतर वाहुं गकणार नार्टान असा हा राज्यभार मी ठेवीत आहे. हे वत्सा! मला पवित्र अशा तपोवनास जाण्याची-जिनदीक्षा घेण्याची इच्छा झाली आहे. याम्तव तृं या गोष्टीत माझ्या प्रतिकृत होऊ नकोस

इतीरितां भूपतिना सुमुञ्जणा निशस्य वाचं वचने विचश्रणः॥ क्षणं विचित्यवमुवाच नंदनः प्रणामपूर्व प्रणतारिमंडलः॥ २२॥ अनात्मनीनेति विचार्य धीमता नरेंद्रलक्षीरियमुज्झ्यते त्वया ॥ असंमतां ते वद तात! तामहं कथं प्रपद्येऽद्य विरोधिनीं मम ॥२३। अवैषि किं त्वत्क्रमसेवया विना मुहूर्तमप्यासितुमक्षमं न मां।। स्वजन्महेतावरविंदबांधवे गतेऽपि किं तिष्ठति वासरः क्षणम् ।२४। यथा पथि श्रेयसि वर्तते सुतस्तथा पिता शास्ति तमात्मवत्सलम्॥ त्वयोपदिष्टो नरकांधकूपकप्रवेशमार्गोऽयमनर्गलः कथं ॥ २५ ॥ प्रणम्य याचेऽहममोघदायकं भवन्तमाशु प्रणतार्त्तिहारिणं॥ त्वया समं निष्क्रमणं ममापरं न कार्यमार्येति सजोषमास्थितः॥२६॥ इति स्थितं निष्क्रमणैकनिश्चये सुतं विनिश्चित्य विपश्चितां वरः॥ अवोचदेवं द्विजमौक्तिकावलीस्फुरत्प्रभाराजिविराजिताधरः ॥२७॥ त्वया विना राज्यमपेतनायकं कुलक्रमायातिमदं विनश्याति ॥ नं विद्यते चेद्यदि गोत्रसंततिः किमात्मजेभ्यः स्पृहयन्ति साधवः॥२८॥ पित्रर्वचो यद्यपि साध्वसाध वा तदेव कृत्यं तनयस्य नापरं॥ इति स्थितां नीतिमवेयुषोऽपि ते किमन्यथा संप्रति वर्तते मतिः॥२९॥ मुतं गृहीत्वा व्रजता तपोवनं कुलस्थितिस्तेन विनाशितत्ययं ॥ जनापवादो मम पुत्र! जायते ततो गृहे तिष्ठ दिनानि कानिचित्॥३०॥ इतीरियत्वा तनयस्य मूर्घनि स्वयं पिता स्वं मुकुटं न्यविक्षत ॥ विचित्ररत्नस्फुरदार्चिषां चेयैर्विनिर्मिताखंडलचापमंडलं ॥ ३१॥

२२ याप्रमाणें मुमुक्ष अशा या नंदिवर्धन राजाने केलेले भाषण ऐक ज्यानें श्रुमंडलाला नम्र केले आहे व जो वोलण्यांत निषुण आहे अशा नंदन युवराजान क्षणपर्यंत विचार करून नमरकारपूर्वक पुढें लिहिल्याप्रमाण भाषण केलें. "अहां वावा, ही राज्यलक्ष्मी आत्म्याचें हित करणार्ग नाहीं असे समज्जन आपण निचा त्याग करण्यास उद्युक्त झालात. आपणास ती अयोग्य वाटत आहे. मग मलाही ती जर तशीच वाटत आहे तर तिचा मी आज कसा वर स्वीकार कर्लं ? सांगा. २४ आपल्या चरणसेवेशिवाय मी एक क्षणपर्यत तरी राहुं शकेन अर्से आपणास वाटतें काय ? आपल्या जन्माला कारण असलेला मूर्य अस्ताला गेला असनां दिवस त्याच्या मागे एक क्षणभर देखिल राहतो काय ? २५ ज्या उपायानें मुलगा कल्याणमार्गीत प्रदृत्त होईल तोच उपाय पिता सांगत असनो. यास्तव वर्षः वरिः 4

आपला आवडता मुलगा असलेल्या मला नरकरूपी अंधकूपांत टाकून देणारा हा अयोग्य मार्ग कसाँ सांगता ? २६ अहो वावा. जे आपणास नमस्कार करितात त्यांचे आपण शीघ्र दुःख दूर करता. जे आपली याचना करितात त्यांना इच्छित पदार्थ देऊन आपण तृप्त करिता. यास्तव हे पूज्य पिताजी, मीही आपल्या वरोवर दीक्षाच घेणार. या शिवाय दुसरें काम मी करेणार नाहीं". असे वोलन तो स्तब्ध वसला. २७ आपल्या मुलाचा आपणावरोवर दीक्षा घेण्याचा दृढनिश्चय पाहृन दंतमौक्तिक समृहापासून निघालेल्या कांतिससूहान ज्याचा ओट शोभत आहे असा तो विद्वच्छेष्ठ राजा पुढें ै लिहिल्यापमाणे बोल्हें लागला. २८ "हे बत्सा, वंगपरपरेने चालत आलेलें हें राज्य आज नायकरहित होऊन विनाश पावेल. वंशपरपरा चालू ठेवणें अयोग्य असते तर सन्पुरुपांनीं पुत्रांची इच्छाच केही नसती. २९ वापाचें वचन अर्थात् आजा योग्य असो अथवा अयोग्य असो मुलांनी त्याचे पालन करणें हें त्यांचे कर्तव्य आहे. अशी नीति तुला माहीत आहे. असे असतांही या वेळीं तुझी बुद्धि अशी उछटी कशी झाली? वाळा! तपोवनाला जाणाऱ्या राजाने आपल्या मुलालाही आपल्या वरोवर नेलं व आपली कुलपरंपरा नष्ट करून टाकि-ली अशी अकीर्ती माझी चोहीकडे प्रायद्ध होईल यारतव कांही दिवसपर्यत तं यरामध्येच राहृन गृहस्थधर्मांचे पालन कर. ३१ यात्रमाणे भाषण करून गजाने आपल्या मुलाच्या डोक्यावर आपला राजगुकुर टेविला. त्यावेळी मुक्कटांत असले-ल्या नानाप्रकाराच्या रत्नांच्या कांनिसमृहानें आकाशामध्यें इंद्रधनुष्याची शोभा उत्पन्न झाली होती.

तथोत्तमांगस्थितहस्तकुड्मलानुवाच भूपानिति मंत्रिभिः समं॥
यता मयायं भवतां महात्मनां करे करन्यास इवार्पितः सुतः॥३॥
कलत्रमित्रस्थिरवंधुवांधवान्यथावदाष्ट्च्य विनिर्ययो गृहात्॥
अणं तदाऋंदरवानुसारिणीं धियं च हिष्टं च पुरो निवेशयन॥३॥
नृपेः समं पंचशतेः स पंचमीं गतिं यियासुः पिहितास्रवांतिके॥
पपद्य दीक्षामनवद्यचेष्टितामचेष्टताष्टोद्ध्तकर्मणां जय ॥ ३०॥
यते गुरा श्रेयमि तिह्योगजं विपादमामाद्य तताम नंदनः॥
तथावगच्छन्नपि संस्तांभितं मनां वियोगे हि वुवाऽपि खिद्यत॥३०॥
अमात्यसामंतमनाभिनंहितः पितुवियाग्व्यित्तं व्यनाद्यत्।॥
कथाभिरन्यरि तं महीपितं महीयमां को न सुवाय चप्टन॥३६॥
उदाजहारित सभा नमीश्वरं विपादसुनसुच्य नरेह! संप्रति॥

प्रजाः ससाश्वासय नाथ! वर्जिताः शुचो वशः कापुरुषो न धीरधीः ३७ पुरेव सर्वः क्षितिपाल! वासरिक्षयाकलापः क्रियतां यथेच्छया ॥ इति प्रभौ शोकवशे त्विय स्थिते सचेतनाः के सुखमासते परे १३८। पतिं विशामित्यनुशिष्य सा सभा विसार्जिता तेन गृहानुपाययो ॥ विषाद सुन्मुच्य चकार नंदनः क्रियां यथोक्तां सकलार्थनंदनः॥३९॥ अहोभिरल्पेश्य नृतनेश्वरो धियैव खेदेन विना गरीयसा ॥ ग्रणानुरक्तामकरोद्धरावधं भयावनम्रामिप शञ्चसंहतिम् ॥ ४०॥ तद द्वतं नो तसुपत्य सूभृतं चलापि लक्ष्मीस्त्वचलत्वमाप यत् ॥ इदं तु चित्रं सकले महीतले स्थिरापि कीर्तिर्भमतीति सन्ततं । ४१।

३२ त्यावेळीं नमस्कार करण्यासाठीं आपले हात कमलाच्या कळीसारखे करून ज्यांनीं स्वमरतकावर टोविले आहेत अशा राजांना नंदिवर्धन राजानें मंज्या-सह यात्रमाणे सांगितलं:-''हे नृप हो। आपण सज्जन आहात. आपल्या हातांत ही माझी पुतरूपी ठेन भी ठेऊन आज दीक्षा घेण्यासाठी जाणार आहे. करितां आपण या ठेवीचे चांगलें रक्षण करा.'' ३३ एक क्षणपर्यंत रडण्याच्या स्वराकडे वललेल्या आपल्या बुद्धीला व दृष्टीला आपल्या ध्येयाकडे लाऊन मन दृढ करून राजातें पत्नी, मित्र, आपल्या वंशांतील भाऊ, चुलता वगैरे मंडली आणि वांधव, सोयरे मंडळी यांची परवानगी घेऊन घराच्या वाहेर प्रयाण केले. ३४ पचमगति मोक्षास जाण्याची इच्छा ज्यास आहे अशा या राजानें पांचशें अन्य राजासह पिहितास्रव म्रानिजवळ दक्षिा घेतली व जानावरणादिक आट कर्मीचा नाश करण्यासाठीं तो निर्दोष महात्रतादि २८ मूलगुण, ८४ लाख उत्तर गुणांचें पालन करू लागला. ३५ आत्मकल्याणासाठीं आपले वडील निघून गेले म्हणून, नंदन राजाला, त्यांच्या विरहापासून फार खिन्नता बाद लागली. तो सनांत फार कृष्टी झाला. जरी त्याला संसाराचें स्वरूप पूर्ण माहीत होतें तरी पित्याच्या अमृत्य गुणांचें वारंवार स्मरण होत असल्यामुळे त्याला फार दुःख झाले. वरोवरचे आहे कीं, सज्जनांचा वियोग झाला असतां विद्वानासही दुःख नाटत असतेच. ३६ अमात्य, सरदार व बंधु यांनीं पित्याच्या वियोगाने खिन्न झालेल्या राजाला अनेक तन्हेच्या कथा सांगून त्याच। शोक कमी करण्याचा प्रयत्न केला. वरोवरच आहे कीं, महापुरुषांच्या सुखासाठीं कोण वरे प्रयत्न करीत नाही? मोठ्या लोकांना सुख व्हावें म्हणून सर्वच झटत असतात. अमात्यादिकांच्या समेनें विनंती केली की, " महाराज! आतां आपण शोक सोडून द्या. या नाथरहित आलेल्या प्रजाजनांना धीर द्या. महाराज! अधीर प्रकृतीचे लोक शोकवश होतात. आपणासारख्या धीर बुद्धीच्या लोकांनीं शोकवश होऊं नये. ३८ महाराज! आतां आपण पूर्वीप्रमाणेच

आपल्या इच्छेने सर्व राज्यकारभार पाहणे वरेंगरे दैनिक कर्तव्ये करण्यास सुरू करा. हे नृपेश्वरा! आपण असे शोकयुक्त होऊन वसल्यावर कोणत्या सचेतन प्राण्याला मुखानें राहतां येईल वरे?" ३९ याप्रमाणें मनुष्याचा नाथ असलेल्या या राजाला उपदेश केल्यानंतर राजानें सभा विसर्जित केली. तेव्हां सर्व लोक आपल्या घरी गेले. सर्व याचकांच्या इच्छा तृप्त करणाऱ्या नंटन राजाने शोकत्याग केला व पूर्वीप्रमाणें राजकार्ये करण्याला पारंभ केला. यांड्याच दिवसांनी या नवीन राजाने मोठ्या खेदावांचून-अनायासं आपल्या शुद्धि चातुर्यानं सर्व पृथ्वीरूपी स्त्रीहा आपल्या गुणावर लुब्ध केलें व शत्रूसमृहासही भीति दाखऊन नम्र केलें. ४० या राजाचा आश्रय मिळाल्यामुळें चंचल अशी ही राजलक्ष्मी निश्चल झाली याच्यांत आम्हांस कांहीं आश्चर्य वाटत नाहीं. परंतु या राजाची रिधर अशी ही कीर्ती चोहिकडे भटकू लागली. सगळ्या जगांत संचार करूं लागली. हें मात्र फार मोठें आश्चर्य आहे. राजाची कीर्ति सर्वत पसरली असा येथें अभिप्राय समजावा. अनुनसत्वेन विमत्सरात्मना गुणैः शरच्चंद्रमराचिहारिभिः॥ न केवलं तेन सनाभिमंडलं प्रसाधितं शत्रुकुलं च लीलया॥ ४२॥ इति स्वराकित्रयसारसंपदा क्षितीश्वरे कल्पलतीकृते क्षितौ॥ दिने दिने राज्यसुखं वितन्वति न्यधत्त गर्भे प्रमदाय तात्रिया॥४३॥ असूत कालेन ततः मुतं सती प्रियंकरा प्रीतिकरं महीपतेः॥ अभिरव्यया नंद इतीह विश्वतं मनोहरं चूतलतेव पलवं ॥४४॥ विवर्धयन् ज्ञातिकुसुद्धतीसुदं प्रसारयञ्जु ज्वलकांतिचं दिकां॥ कलाकलापाधिगमाय केवलं दिने दिनेऽवर्धत बालचंद्रमाः॥ ४५॥ अथोच्छ्नसन्तूतन्पुष्पप्छवानुपायनी ऋत्य तमी अरे मुदा ॥ दिदृक्षयागत्य सुदूरतो मृधुः पर्िश्रमं नेतुमिवावसदनं ॥४६॥ पुराणपत्राण्यपनीय दूरतो विधूननैर्दक्षिणमातरिश्वनः॥ अलंचकारांकुरकोरकादिभिर्वनं मधुर्मत्तमधुत्रताकुलं ॥ १७॥ अपीषदुचन्मुकुलांकुरांकितं परीत्य चूतं भ्रमराः सिपेविरे॥ वदान्यमेष्यद्धनसपदां पदं सुदक्षिणं वंधुमिवार्थिवांधवाः॥ ४८॥ निरंतरं कुड्मलकोरकोत्करान्स्वमूलतो विभदशोकपादपः॥ मृगेक्षणानां चरणांबुजाहतः प्रहृष्टरोमेव जनरहस्यत ॥ ४९॥ स्वभुक्तशेषं विरहार्दितात्मनां निकृत्य मांसं मदनोग्ररक्षसा ॥ पलाशशाखिप्रसवच्छलेन वा निरंतरं शोपियतुं न्यधारयत् ॥५०।।

४२ नंदनराजाचें सामर्थ्य पुष्कळ होतें. गुणांचा चाहता असल्यामुळं याच्या हि-काणीं मत्सरभाव नव्हता. याने शरद्ऋनूच्या चंद्रकिरणाप्रमाणे मनाहर अञा भाषस्या गुणांनीं फक्त आपल्या वंधुवर्गीनीच लीलेन प्रसाधिन केलं-अलंकृत केलं असें नाहीं:तर जनूसमृहासही प्रसाधित केलें अर्थीत् जिक्तिं. ४४ प्रभुजाक्ति— सवीवर द्रारा वसविणे, मंत्रशक्ति—आपले विचार गुप्त टेवृन अन्यराजांचे वि-चार जाणून घेणें, व उत्साह शक्ति—सैन्याची चांगळी व्यवस्था टें अन राज्य वा-दविण्याची इच्छा असर्णे, अशा तीन शक्तिरूपी उत्कृष्ट संपर्नाने या राजाने पृ-ध्वीला कल्पलता चनविलं होतें। अधीत तिच्यापासून त्याला इच्छित पदार्थाची प्राप्ति अनायासें होत होती. अज्ञा रीतीनें हा राजा राज्य करीत असतां. प्रजाज-नांना फार सुख मिळू लागलें. पुढें कांईां दिवसांनीं राणी त्रियंकरेनें राजान्या दृषीकरितां गर्भ धारण केला. ४४ योग्यवेळीं पनिव्रता त्रियंकरा राणीने आस्रलता नशी कोमल सुंदर पहुचाला प्रसवते त्याप्रमाणे राजाला आनंददायक अगा मुलाला जन्म दिला. याचें नांव नद असें टेविलें गेलें. ४५ जसा हितीयचा चंट्र कमिलनींना आनंदित—प्रफुलित करतो, आपली उज्ज्वल कांति चोहोकडे पसारितो व एक एक कला प्राप्त करून येण्यासाठीं दगरोज वादनो तसा हा बालकरूपी चंद्र आपच्या बांधवरूपी कमलांना आनंदिन करूं लागला. आपली सुंदर देहकांति चोहोकडे फेकू लागला व नाना प्रकारच्या कलाकोगल्याचे ज्ञान करून घेण्यासाठीं दररोज बाह् लागला. ४६ यानंतर एके वेळी आनंदाने जणू आपल्या प्रभूला—राजाला पाहण्याच्या इच्छेनेंच विकासिन झालेलीं फुले व कोमल पार्ने नजराणा करण्यासाठीं दुरून वसंत ऋतु आला. व येजन आपला यकवा नाईांसा करण्याकरिनां राजाच्या वर्गीचामध्यें न्याने मुक्काम केला. ४७ वसंन ऋत्ने दाभणदिशेच्या वाऱ्याला चाहवून झाडांचीं सर्व जुनीं पाने काहृन दृर फेक्न दिलीं. वगीचाला नवीन उगवणाऱ्या कळ्यांनी आणि कोमल पानांनी अर्छेकृत केलें व उन्मत्त झालेल्या सुंग्यांच्या झंडींनी भरून टाकिलें. ४८ थोडें थोंडें उत्पन्न झालेल्या मोहरांनीं व कोमल पह्नवांनीं आम्रहक्ष युक्त झालेला पाहन त्याचा सुग्यांनीं आश्रय केला वरोवरच आहे कीं, ज्याला विपुल संपत्ति प्राप्त होणारी आहे अशा दानी व सरळ मनुप्याला त्याचे मनलवी वंधु येगीत असनातच. ४९ बुंध्यापासून शॅंड्यापयेत मिटलेल्या कळयांच्या समृहांना थारण करणारा-अशोक दक्ष हरिणाप्रमाण ज्यांचे डोळे आहेत अशा मुंदर स्त्रियांच्या चरणकम-लःच्या ताडनाने ज्याला जणु सर्व अंगभर गहारे आले आहेन असा 'होकांकट्रन पाहिला गेला. अर्थात् अशोक दुक्षाला सुंदर वियांनी लनाप्रहार केला असती तो फुलनो अशी कविशसिद्धि आहे. त्वियांच्या पाटमहागर्ने आनंदित होइन

जण तो रोमांचयुक्त झाला असें किवनें येथें वार्णलें आहे. ५० महनरूपी उग्र राक्षसानें विरहाने पीडित झालेल्या स्त्रीपुरुपांचे मांस काट्टन खाले व उरलेलें मांस पळसाच्या झाडांना आलेल्या फुलांच्या मिपानें वाळविण्यासाठी येथे टाट पसरून जणु टेविले आहे!

भावार्थ-वसंत ऋतुमध्यें पळसांच्या झाडाला फुलें येत असतान. त्यांना पाहन विरही लोकांना पीडा होन असते त्यामुळे त्यांचे मांस सुकूं लागलें-विलासिनीवकसरोरुहासवप्रपायिनं केसरमेत्य पुष्पितं॥ तुतोप क्जन्मधुपायिनां कुलं प्रियाः समानव्यसना हि देहिनां॥५१॥ अन्तयत्कोकिलपुष्करध्वनिः प्रयुक्तमृंगस्वनगीतशोभिते॥ वनांतरंगे स्मरवंधिनाटकं लताङ्गना दक्षिणवातनर्तकः॥ ५२॥ हिमक्षतां वीक्य समस्तपद्मिनीमिति ऋधा प्रोज्झितदक्षिणायनः॥ रविविधास्याञ्चव तस्य निग्रहं हिमालयस्याभिसुखं न्यवर्तत॥५३॥ ×समन्वितोऽप्युज्ज्वलवर्णशोभया न कार्णकारो लभते स्म सौरभं। तथा हि लोके सकले न दृश्यते समाश्रयः कोऽपि समस्तसंपदां। ५४। अनन्यसाधारण सौरभान्वितं दधानमप्युज्ज्वलपुष्पसंपदं ॥ न चंपकं भृंगगणाः सिपेविरे कथं सुगंधे मलिनात्मनां रतिः ॥५५॥ सरोरुहिण्या शिशिरात्यये चिरात्कथं चिदासादितपूर्वसंपदा ॥ वसंतंलक्ष्मीमिभवीक्षित्रं मुदा महोत्पलं चुक्षरिवोदमील्यत ॥५६॥ अदृष्टपूर्वामिव पूर्ववल्यां विद्याय कौंदीलतिकां मधुत्रताः॥ प्रपेदिरे पुष्पितमाधवीलतां चला हि लोके मथुपायिनां रितः।५७। हिमव्यपायादिशदां सुखावहां कुमुद्रतीनां कुमुदाकर्षियः॥ प्रसारयामास निशासु चंद्रिकां मनोभुवः कीर्तिमिवोर्जितिश्रयः ५८ स्वसोरभामोदितसर्वदिङ्मुखं समं मधुश्रीर्मधुपांगनागणः॥ स्वयं सिपेव तिलकं मनोरमं विशेषकीकर्त्तमिवेच्छयात्मनः॥५९॥

× दीप:— र्राप्यक्तिं मनि कार्षातार दुनोति निर्वेयतय सम्मेन ॥ कार्येण सामायितीर गुणाना परा मुस्ति विस्तरः अतृतिः ॥२८॥ रुप्यसंगीर्याः जगद्रशीकर्तुमलं मनोभुवा प्रयोजितं चूर्णिमवौषधेः परेः॥
मनोज्ञगंधिस्थितिदक्षिणानिलस्ततान संतानकपुष्पजं रजः ॥६०॥
निवृत्य गच्छ स्वगृहं प्रियस्त्रियः सदा स्मरन् किं श्रियसे स्मरान्युधा ॥
इतीव निर्मर्सयति स्म कोकिलः स्वकूजितैरध्वगमध्वचूतगः॥६१॥
इति प्रशुल्लडुमराजिराजितं वनं समन्ताद्वनपालको अमन् ॥
तदेकदेशे सुनिम्जिताविधं प्रतिष्ठितं प्रौष्ठिलमेक्षत प्रसुं ॥ ६२॥
प्रणस्य सक्त्या परया महासुनिं जगाम वेगाद्यनपालकः पुरीं ॥
तदीयमस्यागमनं महीपतेरभीष्टमावेद्यितुं मधोरिष ॥ ६३॥

५१ विलासिनीच्या मुखकमलांतील आरावाचें- मद्याचें पान करून नागके सर हुन फुलांनी युक्त बाला असतां, गुंजारव करणारा सुंग्यांचा समुदाय त्याच्या कटे ये उन आनंदित झाला. वरोवरच आहे कीं, समान व्यसन सेवन करणारे जे असनान ते एकमेकांचे प्रियमित्र ननतात. सुंदर स्त्रियांनी आपल्या तोंडांत दारू थरुने तिची चूळ नागकेंसर दृक्षावर टाकिली असतां त्याला फुलें येतात. यारतव हा दृक्ष 'मधुप' आहे. मधुप-दारू पिणारा असा या शब्दाचा अर्थ आहे. व भुंगेही मधुप आहेत अर्थात् तेही फुळांतीळ मकरंदाचे पान करितात. मक्रंदाळा म्यु म्हणतान् यास्तव मधुपत्व उभयतांमध्ये समान असल्यामुळे हे नागकेसर व र्धुंगे परस्पगंचे मित्र आहेत असे कवि स्हणतात. ५२ या वगीचाच्या सध्यभागीं कोकिलपक्षी रूपी मृदंगाचा ध्वनि व भुंग्याचा गुंजारव हेंच गायन यांनीं युक्त होऊन दक्षिणेकइन बाहणारा वाग हाच कोणी नर्तक त्यानें शृंगाररसानें युक्त अशा नाटकाची रचना करून वेळीरूपी नृत्य करणाऱ्या स्त्रीला नाचित्रे. ५३ संपूर्ण कमिलनींचा वर्फानें-थंडीनें नाश केला आहे असे पाहून रागानें सूर्यानें दक्षिणायनाचा त्याग केला व वर्फाचा जण सूड उगविण्याकरितां तो हिमालयाच्या सम्मुख जाण्यासाठीं निघाला. अर्थात् वसंत ऋतुमध्यें सूर्य उत्तरायण होतो. ५४ पांगाऱ्यांची फुळं सुंदर रंगानें मनोहर दिसत होती परंतु त्यामध्यें सुगंधाचा लेगही नव्हता. वरोवरच आहे की, सर्व जगामध्ये कोणतीही व्याक्ति सर्व तन्हेच्या संप-त्तीचा आश्रय होत नाहीं. अर्थात् कांहीं तरी न्यूनता असतेच. ५५ चंपक हक्षानें इतरामध्ये न आढंळ्न येणाऱ्या सुगंधाने युक्त अशी पुष्पसंपत्ति धारण केळी होती परंतु त्या द्वक्षांचा भ्रंग्यांनीं आश्रय केला नाही. बरोवरच आहे कीं, जे मालिन असतात ते उत्कृष्ट गंधानं युक्त असलेल्यावर प्रेम करीत नाहीत. ५६ शिशिर ऋतूचा नाज्ञ झाल्यावर पुष्कळ दिवसांनीं जिला आपली पूर्व संपत्ती मिळाली आहे अशा कमलाच्या वेलीनें आनंदानें वसंत लक्ष्मीची शोभा पाहण्यासाठीं नेत्रा-प्रमाणें असलेलीं आपलीं कमले पगट केली. अर्थात् वसंतऋतूचे वेलीं तल्यांत

कमलें उत्पन्न झालीं. ५७ जणूं पूर्वी न पाहिलेली असा प्रथम िय असलेल्या कुंदलतेला सोइन मुंग्यांनी पुणांनी लकडलेल्या मागच्याच्या वेलीचा आश्रय घतला. वरोवरच आहे जगांत जे मधुपान करणारे आहेत त्यांची प्रीति चंचलच असणार. अर्थात मकरंट पिऊन उन्मत्त झालेले मुंग पूर्व वेलीवर कसचे राह् शकतात. जेथ त्यांना मकरंट आढलन येतो तिकडेच ते वलतात. पूर्वी जिचा आश्रय घतला होता तिला जणूं पूर्वी कथीच पाहिलें नाही इतकें विसरून जातात. ५८ रात्रों विकास पावणाच्या कमलांना आवडता असलेल्या चंद्राने कमलिनीला सुख देणारी, थंडीचे दिवस अर्थात् शिकिर ऋतु नष्ट झाल्यामुळें अधिक स्वच्छ दिसणारी अर्थी चंद्रिका सर्वत्र पसरावयास सुरवात केली. रात्री पसरलेली ही चंद्रिका (चंद्र पक्ताश) ज्याची शोभा वाढली आहे अशा मदनाची जणू कीर्तिच आहे असे पाहणाच्यांना वाटत असे.

महाप्रतीहार्निवेदितागमः सदःस्थिताय प्रणतो महीभुजे ॥ न्यवेदयह शितपुष्पपछवैर्मधुं वचोभिश्च मुनींद्रमागतं॥ ६४॥ इतो निशम्योपवने स्थितं मुनिं महीमृदुत्थाय मृगेंद्रविष्टरात्॥ पद्मि सप्त प्रतिगम्य तां दिशं न्नाम् चूडामणिपीडिताव्निं ॥६५॥ धनं स्वनद्धाभरणैः समं तदा वितीर्य तस्मै वहु पारितोपिकं॥ अदापयत्ख्यातमुनीद्रवंदनाप्रयाणभेरीं नगरे नरेश्वरः॥ ६६॥ ५९ आपल्या सुनंधानें तिल्क दृक्षानें सब दिशांची तोंडे सुगंधित केली होती. यास्तव अंगा मनोहर तिलकृष्ठभाचा वसंतंशोभेने भ्रमगच्या समृहासह आपली शोभा वाहविण्याच्या इच्छेने जणु काय आपण होऊन आश्रय केला. अर्थात् कुंकुमतिलकानें जभी सुवासिनी खी अधिक शोभने तभी वसंतशोभा कुंकुमतिलका प्रमाण असलेल्या या तिलकट्टक्षानें गोभू लागली. ६० मनोहर सुगंधाला धारण करणाऱ्या ढक्षिणवायृने पारिजात इक्षाच्या पुष्पांचे रज कण सर्वत्र पसिन्त. जणु जगाला अधिक वज करण्यासाठी इतरांच्या हारें वजीकरण करणाऱ्या औपधांचा मदनानें प्रयोग केला आहे. ६१ रस्त्यावर असलेल्या आंव्याच्या वृक्षावर वसलेला कोकिल पक्षी 'हे वाटसरा, आतां परतृन घरी जा. त्रिय स्त्रीचें रमग्ण करून मदनाच्या तडाख्यांन सांपट्टन आपले प्राण व्यर्थ कां गमाविन आहेम असा अभिप्राय आपल्या गव्डांनीं व्यक्त करून तो वाटसगची जणु निर्भन्सना क्रगीत आहे. ६२ याप्रमाणे प्रफुल्लित झालेल्या हुझांच्या पंक्तीनी क्रोभ-णाऱ्या त्या वगीचांन सर्व वाजूनें वनपाल भ्रमण करीत अमनां न्याला वगीचाऱ्या एका प्रदेशांन वसलेले उन्कृष्ट अवधिजानी प्राप्टिल नांवाचे महामानि दिसले.

मुनीश्वरास माळ्यांने मोठ्या भक्तांने नमरकार केला व वगीचांत त्यांचे आणि वसंत ऋत्चेंहि आगमन झाले आहे ही गोष्ट नंदनमहाराजास कळविण्याकारितां तो वेगांने शहराकडे गेला. ६४ राजवाड्याकडे आल्यावर द्वारपालाने माळी वाहर आला आहे असे नंदन महाराजांना कळाविलें, तेव्हां त्याला आंत पाठव अशी आज्ञा केल्यावर माळी सभेंत आला आणि त्याने महाराजांना लवून नमस्कार केला व फुले आणि कोवळीं हक्षांचीं पाने पुढें ठेऊन वसंत ऋत्चें आगमन झालें आहें हे सुचिविलें व शब्दांनीं मुनीश्वरांचें आगमन झालें आहे हें कळाविलें. ६५ मुनीश्वरांचें वनामध्यें येणें झालें आहे हें माळ्याचें तोंहन ऐक्त नंदनमहाराज सिंहासनावरून उठले व सात पावलें पुढें जाऊन आपल्या चूडामणीचा जमीनीस स्पर्श करून त्यांनीं त्या दिशेला नमरकार केला.

तात्पर्यः — मुनीविषयीं राजाच्या मनांत अत्यंत भाक्ते असल्यामुळें त्यानें हा परोक्ष विनयाचा प्रकार केळा.

६६ त्यावेळीं राजानें पाळ्याला आपल्या अगावरील पुष्कल डागिन्यासह धन देखन आणखी इतर पुष्कल वक्षीस दिलें व अनिश्य प्रासिद्ध अज्ञा मुनी-श्वरांचें आगमन झालें आहे यात्तव सर्व प्रजाजगंनी त्यांना वंदन करण्यासाठीं चलावें असे दौंडीच्या द्वारें सूचित केलें. अर्थात शहरांत सर्व ठिकाणी दौंढी देवविली.

प्रतिस्वनापृरितसर्वदिङ्भुखं तद्यिमाकण्यं रवं समन्ततः ॥ जिनेन्द्रधमेश्रवणोत्सुकात्मना विनिर्ययौ पौरजनेन तत्क्षणं ॥६०॥ पुरःसरेरष्टनवैःपदातिभिः समन्वितं द्वारभुपेत्य वेगतः ॥ अभीष्टवाहानधिरुह्य राजकं प्रतीक्षयामास नरेंद्रनिर्गमम् ॥६८॥

६७ ज्याने सर्व दिशामध्य प्रतिध्वनि उत्पन्न केला आहे असा तो टौडीचा शब्द ऐक्न जिनेश्वराचा धर्म आतां मुनीश्वराच्या मुखांतून आपणास ऐकावयास मिळेल अशा उत्सुकतेने सर्व नगरवासी लोक तत्काल मुनिदर्शनासाठी निघाले. ६८ आठ नच पायदळ शिपायांना पुढे करून व आपणांस आवडते अशा वाह-नावर आरोहण करून अर्थान् हत्ती, धोडा, पालखी इत्यादिकावर वसून राजांचा समूह राजवाङ्याच्या द्वाराजवळ वेगाने आला व तो तेथे नंदन महाराजांची निघण्याची वाट पाहू लागला.

गृहीतनेपथ्यविलासविश्रमं परीतमंतःपुरमंगरक्षकैः॥ समन्ततो युग्यगतं दिनिर्ययो तदाज्ञया ज्ञाननिर्धि निरीक्षितुम्।६९। अर्थैरार्थिमनोरथान्सफलयन्नारुह्य मत्तद्विपं॥

तत्कालोचितवेपभृत् क्षितिभृतां त्रातैर्वतः सर्वतः ॥
भूपेंद्रो मुनिवंदनाय परगाऽयासीद्धनं संपदा ॥
हम्योग्रस्थित्चारुपौरविनतानेत्रोत्पलरिचतः॥७०॥

\* इत्यसगकृते वर्धमानकाच्ये ंद्नाभाक्तिगमनो नाम द्वितीयः सर्गः \*

६९ अंगरक्षकांनी युक्त असलेला, डागडागिन्यांनीं सजलेला. हावभावांनीं युक्त, असा अंतःपुरांतील स्त्रीसमूह दोसिल जानानिधि अशा मुनिवर्यास पाहण्यासाठीं महागाजांच्या आजेनें रथावर आरोहण करून निघाला. ७० नंदनमहाराज देखिल त्यावेळेला योग्य असा पोषास्त करून, याच-कांनें मनोर्थ धन दानाने तृप्त करून, व मत्त हत्तीवर आरोहण करून मुनिवंदनार्थ निघाले. त्यांच्या सभोवतीं पुष्कलसे राजे चालत होते. अशा मोठ्या थाटमाटाने ते निघाले. ज्यावेळीं महाराज बाहेर निघाले त्यावेळीं वाड्यांच्या गचीवर वसलेल्या शहरांतील सुंदर स्त्रियांनीं आपल्या नेत्रकमलांनीं त्यांची पूजा केली अर्थात त्यांना पाहून त्यांनीं आपणास धन्य मानिलें.

ज्यांत भाक्तिपूर्वक मुनिवंदनेसाठी केलेल्या गमनाचें वर्णन आहे असा हा असग महाकवि कृत वर्धमान चरित्रांतील दुसरा सर्ग संपला.



## तृतीयः सर्गः।

अथ प्राप मुनेस्तस्य निवासात्पावनं वनं ॥ नंदनो नंदनोद्यानसन्निमं शक्रसन्निमः॥१॥ परिरेभे तमभ्येत्य दूराद्रीकृतश्रमः॥ सुगंधिर्वंधवऋरिदक्षिणं दाक्षिणानिलः॥ २॥ द्रादवातरन्नागान्नगोत्तंगान्महीपतिः॥ विनयेन विना का श्रीरित्युक्तं व्यक्तयित्रव ॥ ३॥ अपनीतातपत्रादिराजचिन्होऽविशद्धनं ॥ . अपि त्यक्त्वा महीपालो भृत्यहस्तावलंबनं ॥ ४ ॥ रक्ताशोकतरोर्मूले निर्मले स्फटिकोपले ॥ आसीनं मुनिमैक्षिष्ट सर्द्धमस्येव मूर्धनि ॥ ५ ॥ किरीटकोटिविन्यस्तहस्तांभोरुहकुड्मलः॥ त्रिः परित्य महीपालः प्रणनाम महामुनिम् ॥ ६ ॥ स निविश्य तदाभ्यर्णभूतले भूभृतां विभुः॥ प्रांजिलः प्रणिपत्यवमवादीन्मुदितो मुनिम् ॥ ७ ॥ भगवन्भव्यसत्वानां निर्देतिः किं न जायते ॥ तव निर्धूतमोहस्य दर्शनाद्दर्शनादिव ॥ ८॥ अकामेनापि दृष्टयैव पूर्णकामः कथं कृतः ॥ नाथ ! त्वयाहमित्यस्मादिस्मयो नापरो मम ॥ ९ ॥ भव्यसत्वसमूहानामनुत्रहकरादहं ॥ भवतः श्रोतुमिच्छामि भवसंततिमात्मनः ॥ १० ॥ इत्युदाहृत्य वचनं तूष्णीभृते महीभुजे ॥ ततो यतिरुवाचैवं सकलावधिलोचनः ॥ ११॥ १ तदनंतर इंद्रेतुल्य असे नंदन महाराज त्या मुनीश्वराच्या निवासानें पवित्र

वनलेल्या नंदनवनासार्ख्या वगीचांत गेले. २ सुगंधयुक्त दक्षिणवायृनें दुरून

महाराजांचा श्रम नाहींसा केला व जवळ जाऊन उदार अशा महाराजांना वर्षु-प्रमाणें आर्छिंगन दिलें. महाराज दुरूनच पर्वताप्रमाणे उंच असलेल्या हत्तीवरून खालीं उतरले. स्वतःच्या खालीं उतरण्यानें त्यांनी विनयाच्या अभावीं संपत्ति असूनहीं तिचा काय उपयोग आहे.ही गोष्ट जणु स्पष्ट केली. ४ छत्र, चवऱ्या व-गैरे राजाचिन्हांचा त्यावेळी त्यांनी त्याग केला. एवढेच नव्हे तर नोकराच्या हा-ताचाही आधार घेतला नाहीं. अशा रीतीनें त्यांनी उचानांत प्रवेश केला. ५ तां-वड्या अशोक रक्षाच्या खालीं निर्मल स्फटिक मण्याच्या शिलेवर वसलेले मुनि महाराजांना जणुं उत्तम धर्माच्या मस्तकावर वसलेले आहेत असें दिसलें. ६ महाराजांनी आपले हात कमळाच्या कळीप्रमाणें करून ते मुकुटाच्या अग्रावर ठेविले व तीनदां मदक्षिणा करून त्यांनीं मुनीश्वरांना पंचांग नमस्कार केला. ७ राजांचे स्वामी असे ते नंदन महाराज मुनीश्वरांच्या जवळ जामेनीवर वसले व आपले हात जोहून नमस्कार करून पुढे लिहिल्याप्रमाणे मुनीश्वरांना ह्मणालं. ८ हे भगवंता ! आपण मोहाचा नाज्ञ केला आहे. सम्यग्दर्शनाप्रमाणे असलेल्या आपल्या द्रीनानें भव्य जीवांना मोक्षप्राप्ति होणार नाही काय? अवस्य होइलं. ९ हे नाथ ! आपण अकाम असून देखील मला पूर्णकाम कसे केलं याचे मला आश्चर्य वाटतें. याशिवाय मला दुसरें आश्चर्य वाटत नाही. अर्थात् आपण अकाम अहात ह्मणजे आपण कामविकाराने रहित आहात. व मला आपण पूर्णकाम केलें ह्मणजे माझ्या सर्व इच्छा पूर्ण केल्या. तसेच आपण अकाम ह्मणजे इच्छाराहित आहात. पण आपल्या आश्रयांन भक्तान्या सर्व इच्छा पूर्ण होतात असा या श्लो-काचा अभिप्राय आहे. १० हे नाथ! आपण सर्व भन्य प्राण्यावर अनुग्रह-उपकार करीत असता ह्मणून आपल्यापासून माझी पूर्वजन्मपरंपरा मी ऐकण्याची इच्छा करीत आहे. ११ याप्रमाणें नंदन महाराज भाषण करून थांवल्यावर सकलावधि-ज्ञानरूपी डोळा ज्यांना प्राप्त झाला आहे असे प्राष्टिल मुनीश्वर पुढें लिहिल्याप्रमाणे बोलं लागले.

यथावत्कथ्यमानानि मया जन्मांतराणि ते त्वमेकाग्रधिया व्यक्तं भव्यचूडामणे ! शृणु ॥ १२॥ अथेह भारते वास्ये कुलशैलसरोभवा ॥ विद्यते जान्हवी फेनैहंसन्तीवान्यानिम्नगाः॥ १३॥ अस्त्युत्तरतटे तस्या वराहो नाम पर्वतः॥ उहांव्य शिखरैव्योंम द्रष्टं नाकमिवाच्छितः॥ १२॥ १२ भव्यसमूहांत मस्तकावरील रत्नाप्रमाणें शोभणाव्या हे नंदन राजा! मी तुझें पूर्वजन्म जसे झाले आहेत तसें स्पष्टिरातींनें सांगावयास सुरवात करितों. तूं आपली बुद्धि स्थिर करून ऐक १३ या भरत क्षेत्रांत हिमवानपर्वतावरील पद्मनां-वाच्या सरोवरापासून गंगा नदी जत्पन्न झाली आहे. ती आपल्या फेसांनीं जणुं अन्य नद्यांना हसतच आहे अशी भासते. या नदीच्या उत्तर किनाव्यावर वराह नांवाचा पर्वत आहे. आपल्या शिखरांनीं त्यानें आकाशाचें उल्लंघन केलें असल्यामुळें जणुं स्वर्गाला पाहण्यासाठीं इतका उंच तो गेला असावा असें वाटू लागते.

अभवस्त्वं गिरौ तत्र त्रासितक्षीबकुंजरः॥ इतः प्रभृति राजेन्द्र ! मृगेंद्रो नवमे भवे ॥ १५॥ बालेंदुस्पर्दिदंष्ट्राग्रकरालितवृहन्मुखः ॥ दावानलिशिखापिँगभंगुरस्कंघकेसरः ॥ १६॥ कपिलभूधनुभीमो ज्वलदुल्कोपमेक्षणः॥ पूर्वानुवृत्तलांगूलपलवोच्छ्ततध्द्रजः ॥ १७ ॥ 🕟 प्रोत्तुंगपूर्वकायेन क्रामिशव नभस्तलं ॥ सांद्रचंद्रांशुसंपातप्रोच्छ्रसत्कुसुदच्छविः ॥ १८ ॥ तत्सानौ गर्जतो मेघांस्तर्जयन्गर्जितैः क्रुधा ॥ उत्फुत्योत्प्कुत्य वेगेन द्रावयन्नखरैः खरैः॥ १९ ॥ कुंजराननुकुंजाद्रिमनुधावन्प्रधावतः॥ इति तत्रावसत्स्वैरं चिरकालं गिरो हरिः॥ २०॥ अन्यदा वन्यनागेंद्रं हत्वा सिंहः श्रमातुरः अध्यशेत गुहावकं नगस्याहेतुहासवत् ॥ २१ ॥

१५ हे राजेंद्रा! या भवापासून मागील नवच्या भवांत तूं त्या पर्वतावर उन्मत्त हत्तींना दे माय घरणी ठाय असें घाटावयाम लावणारा सिंह झाला होतास १६ बालचंद्राशीं स्पर्धो करणाच्या दाढांच्या अग्रभागांनीं त्याचें मोठें तोंड फार भयंकर दिसत होतें. जंगलांत पेटलेल्या अग्रीच्या ज्वालापमाणें पिवलसर व चंचल अशा खांद्यावरच्या केसांनीं तो आधिक भयंकर दिसत असे. त्याच्या धनुष्याकृति व पिगट भ्रवयांनीं त्याच्या कूर आकृतींत क्रूरपणाची अधिक भर पडली होती.

आकाशांत्न पडणाच्या उज्ज्वल नक्षत्तसमूहाप्रमाणें त्याचे घारे डोळे होते. त्यानें आपलें शेंपूट पाठीवर वलविलें असल्यासूळें त्याचा शेंडा उंच केलेल्या पताकेप्रमाणें दिसत होता. त्याच्या शरीराचा पूर्वभाग उंच व विशाल असल्यासुळें तो आकाशावर आक्रमण करण्याची जण इच्छा करीत आहे असें पाठा असे. चंद्राचे दाट किरण पडण्यानें विकसित झालेल्या पांढच्या कमलाप्रमाणें त्याच्या शरीराची कांति होती. त्या पर्वतावर मेघ गर्जना करीत असतां कोधानें गर्जना करून त्यांची तो निर्मत्सना करीत असे. अर्थात मेघांची गर्जना त्यास सहन होत नसे. त्यासुळें तो वारंवार उडी मारून वेगानें त्यांच्यावर झडप घालीत असे व त्यांना आपल्या तीक्ष्ण नखांच्या अग्रभागांनीं फाइन टाकीत असे. २० हत्ती धांवत सुटून जोंपर्यंत पर्वताच्या कोणत्या तरी लतांनीं च्याप्त झालेल्या जागेंत जाऊन घुसत नसत तोंपर्यंत त्यांचा तो सिंह पाटलाग करीत असे. याप्रमाणें तो सिंह त्या पर्वतावर फार दिवसपर्यंत स्वच्छंडानें राहिला होता. २१ कोण एक वेळी एका जंगली मोठ्या हत्तीला मार्ल्यासुळे त्याला फार श्रम झाले होते म्हणून तो थकून गहेच्या तोंडीं निजला होता. तेंच्हां तो पर्वताच्या निष्कारण हारयाप्रमाणे भासला.

आयातौ तं तथा सुप्तं पावनौ पवनाध्वना ॥ यती दृहशतुर्नाम्नामितकीर्त्यमितप्रभौ ॥ २२॥ अवतीर्य यती मुख्यावंबरादंवरेचरे। ॥ आसातां सप्तपणस्य मूले मणिशिलातले॥ १३॥ चारणौ हरिवोधाय सानुकंपावकंपनौ ॥ पेठतः कलकंठौ तौ प्राज्ञौ प्रज्ञिप्यूर्जिताम् ॥२४॥ ततस्तद्ध्विना ध्वस्तनैद्रतंद्रो मृगाधिपः॥ विद्वाय सहजं कौर्यमायिचित्तोऽभवत्क्षणात्॥ २५॥ निर्गत्य स्नस्तकणीयवालिधस्तद्वहामुखात्॥ भीपणाकृतिमुत्सृज्य भेजे सिंहस्तदं तिकं ॥ २६॥ अत्यंतशांतभावेन पुरो निविविशे तथोः॥ सन्मुखं तन्मुखालोकुप्रीतिविस्तारितेक्षणः॥ २७॥ आलोक्यामितकीर्तिस्तमित्यवादीदुदारधीः॥ अहो मृगेंद्र ! सन्मार्गमप्राप्येवं भवानभूत्॥ २८॥

नात्रैव केवलं नूनं सिंह! सिंहायितं त्वया॥
दुरंतानादिसंसारकांतारेऽप्यभयात्मना॥ २९॥
अनादिनिधनो जीवः परिणामी स्वक्रमेसुक्॥
कर्ता श्रीरमात्रोऽस्ति ज्ञानादिगुणलक्षणः॥ ३०॥

२२ आकाशमार्गानें येणारे पवित्र अशा अपितकीर्ति व अपितयभ या नांवाच्या दोघा मुनींनीं त्याला गुहेच्या तोडाजवल निजलेला पाहिंल. २२ चारणऋदि (आकाशांतून जिने गमन करतां येते अशी ऋद्भि) धारक असे ते दोंचे मुख्य मुनि आकाशांतुन उतरून सप्तपर्ण झाडाच्या खाली रत्निशिलेवर बसले. २४ त्या सिं-हाला पाहून त्यांच्या अंतःकरणांत दया उत्पन्न झाली ह्मणून न भीतां ते निपुण मुनि सिंह जागा व्हावा ह्मणून मधुर स्वरानें उत्कृष्ट प्रजाप्ति विद्येचें उचारण करू लागले. २५ त्यांचा तो ध्वनि ऐक्रन सिंहाची झोंप व आळस नाहींसे झाले. त्यानें आपल्या स्वाभाविक क्रूरपणाला रजा दिली व तत्काल तो आर्यचित्त-कोमल परिणामी बनला. २६ त्याने आपले शेंपूट कानाच्या अग्रभागावर ठेवून ादीलें व आपर्छा भयंकर मुद्रा सोडिङी व तो गुहेच्या तोंडापासून निघून त्या दोघा मुनी। श्वराजवळ प्राप्त झाला. २७ त्या ढोघा मुनींचें तोंड पाहिल्यावरोवर त्याच्या मनांत प्रेम उपजलें. व त्यामुळें त्याचे डोळे विरतृत झाले तो अत्यंत शांत होऊन व न्यांच्या मुखाकडे आपली निश्वल नजर लाऊन त्यांच्या पुढें वसला. २८ उदार बुद्धिच धारक अमितकीर्ति नांवाचे मुनि त्याला पाहून पुढें लिहिल्याप्रमाणे वोलले-'' हे मृगेंद्रा ! तुला आजपर्येत सन्मार्ग-जैनधर्म मिळाला नाही ह्मणून तुझी अशी अवरथा झाली आहे. २९ हे सिंहा ! तूं याच जन्मांत ही सिंहाची अवस्था धारण केली आहेस असें नाहीं तर दुःखे देणांच्या या अनादिकालापासून चालत आ-लेल्या संसारांत निर्भय अशा तुजकडून अनेक वेळां सिंहपणा धारण केला गेला आहे. हे सिंहा ! हा जीव अनादि निधन आहे अर्थात्मागें होता व पुढेंही राहील. याचा जीवपणा केव्हांही नष्ट होणार नाहीं. हा आत्मा परिणामी आहे अर्थात् याच्यामध्यें नेहमीं अनेक पर्याय उत्पन्न होतात. हा आत्मा जी पापपुण्ये करितो त्यांचें फल-सुख व दुःख यांचा हा उपभोग घेतो ह्मणून हा कर्ता व भोक्ता आहे याला या संसारांत शरीरनामकर्माच्या उदयाने जसे लहान किंवा मोट शरीर मिळतें तसा हा त्या शरीगंत लहान किंवा मोठ्या आकृतीचा होऊन हा राहता. याचें जान, दर्शन, सुख, चारित्र हीं लक्षणें आहेत. या गुणांनी हा इतर पुट्ट-लादि पदार्थापासून वेगळा करता येतो.

**%रागी वध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुंचित ॥** जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपादंधमोक्षयोः॥ ३१॥ अतो रागादिभिः सार्धं मिथ्यात्वविषमुत्सृज ॥ काललब्धादयो लभ्या नाप्तपूर्वी यतस्त्वया॥ ३२॥ मूलं वंधादिदोषस्य रागद्वेषाबुदाहृतौ ॥ तयोरुपचयेनैव सम्यक्तं च विहन्यते॥ ३३॥ त्वया रागादिदोषेयां भ्रान्ता जन्मपरंपरा ॥ सा सिंह! श्रूयतां श्रोत्रं पात्रीकृत्य गिरां मम ॥ ३४ ॥ द्वीपेऽस्मिन्नगरी पूर्वविदेहे युंडरीकिणी॥ सार्थवाहोऽभवत्तस्यां धर्मस्वामीति धार्मिकः॥ ३५॥ सार्थेन तस्य सार्थेन तेन सार्धं महामुनिः॥ ययौ सागरसेनाख्यो विख्यातस्तपसां निधिः ॥ ३६॥ एकदा दस्युवंदेन तस्मिन्सार्थे विल्लंठिते॥ शूरैर्मृतं गतं भीतैर्नरै रत्नपुरांतरे ॥ ३७ ॥ नार्या पुरूरवानामा कश्या मधुवने युतः॥ दहशे यतिना तेन दिङ्मूढेन वनेचरः ॥ ३८ ॥ स ऋरोऽपि मुनेर्वाक्यात्पुर्लिदो धर्ममग्रहीत्॥ अप्याकास्मकतः साधोः संयोगात्को न शाम्यति ॥ ३९ ॥ अतिदूरं समं गत्वा तेन प्रगुणवर्त्मानि ॥ दस्युना योजितो भक्त्या ययौ यतिरनाकुळं॥ ४०॥

३१ हा जीव रागद्वेष, मोह, अज्ञान वंगरेष्ट्या तावर्डात सांपट्टन ज्ञानावरणाटिक आठ कर्मानीं वांघला जातो. व जेव्हां या विकारापासून याची सुटका होते अर्थात् तो पूर्ण वीतराग-शुद्ध वनतो तेव्हां त्याला मोक्षलाभ होतो. तो कर्मापासून वेगला होतो. असा हा जिनेश्वरांनीं संक्षेपांन वंध व मोक्षाचा उपटेश केला आहे.

टीप-मध्यते मुच्यते जीव. सममी निर्मम कमात् ॥ -श्रीप्ज्यपादिवरिने इटीपदंदे ।

## अहिंसादीनि संरक्ष्य व्रतानि स चिरान्सृतः॥ सौधर्मे द्विसमुद्रायुरासीद्देवः पुरूरवाः॥ ४१॥ अणिमादिगुणोपेतस्तत्र दिन्यं सुखामृतं॥ पीत्वाप्यवातरत्राकात्पूर्वपुण्यक्षयात्ततः॥ ४२॥

३२ यास्तव हे सिंहा! तूं या रागद्वेषादि विकारासह मिथ्यास्वरूपी विषाचा त्याग कर व यांचा त्याग केलास ह्मणजे काललब्धि वगैरे निमित्तें जीं तुला पूर्वी कधीं ही प्राप्त झालीं नव्हतीं तीं प्राप्त होतील. अथीत् जैनधमीचा उपदेश, जातिस्मरण वगैरे कारण मिळ्न तुला सम्यग्दर्शनाचा लाभ होईल. ३३ कर्मीचा वंध होणें, त्यांचा उदय होऊन आत्म्याला सुखदुःखादि प्राप्त होणें या गोष्टीचें मूलकारण राग व द्वेष हेंच जिनेश्वरांनीं सांगितलें आहे. या रागद्वेषांचा अतिशय संग्रह झाला असतां जीवांचें सम्यक्त्व नष्ट होतें.३४हे सिंहा! रागादि दोषांनीं तुं युक्त झाल्यामुळें तुला संसारांत अनेक जन्मांत भ्रमण करावें लागलें आहे. हे सिंहा! त्या तुझ्या अनेक जन्माचें भी वर्णन करितों, तूं माझ्या वचनांचें ग्रहण कर-ण्यासाठी आपल्या कानाला पात्न कर अर्थीत् माझें भाषण ऐक.३५–३६ या जंबू-द्वीपांत पूर्वविदेह क्षेत्रामध्यें पुंडरीकिणी नांवाचे शहर आहे. तेथे धर्मस्वामी नांवाचा एक व्यापारी राहात असे. तो धार्मिक व व्यापाच्यांचा पुढारी होता. एके वेळीं पुष्कळ धन स्वतः जवळ घेऊन तो व्यापाऱ्यांचा पुढारी व्यापारासाठीं पुष्कळ व्यापाऱ्यासह निघाला असतां त्याचे वरोवर तपश्चरणांचा साठा असलेले प्रसिद्ध सागरसेन नांवाचे म्रुनिही निघाले. ३७ एके वेळीं चोरांनीं त्या व्यापाऱ्यांच्या समूहाला लुटलें. तेव्हां जे शूर लोक होते ते मारले गेले व स्यालेलीं माणसें जवल असलेल्या रत्नपुर शहराकडे पळ्न गेलीं. ३८ इकडे मुनिराज आतां आपण कोणत्या रस्त्याने जावें हें समजेनासे झाल्यामुळें गोंधळून गेळे व मधुवन नांवाच्या जंगलांत ते चुक्रन गेले. तेथें काशी नांवाच्या स्त्रीसह पुरूरवा नांवाच्या भिल्लाला त्यांनीं पाहिलें. ३९-४० पुरूरवा क्रूर होता तथापि मुनीश्वरांच्या उपदेशानें त्यानें जिनधमीचा स्वीकार केला. बरोवर आहे कीं, आकिसमक जरी सत्पुरुषाचा संयोग झाला तरी त्यापासून कोणाचें अंतःकरण शांत होत नाहीं वरें ? मुनिराजावरोवर तो पुरूरवा फार दूरपर्यंत गेला व त्याने त्यांना सरल वाटेवर आणून सोडिलें तेव्हां मुनीश्वर व्याकुलतेने रहित होत्साने पुढें निघृन गेले. ४१-४२ इकडे अहिंसादिक व्रतांचे पुरूरच्याने पुष्कल दिवसपर्यत रहाण केल व तो मरून सौधर्मस्वर्गात दोन सागर वर्षे आयुष्य ज्याचे होते असा देव झाला. तेथें त्याला आणिमादि आठ गुणांची प्राप्ति झाली व तेथें तो दिव्य सुखरूपी अमृताचें प्राश्चन करूं लागला. तदनंतर पुण्याचा क्षय झाल्यामुळें तो तेथून अवतरला.

भारतेऽस्मिन्पुरी ख्याता विनीतास्ति पुरां पतिः॥ स्वर्गसारमिवोच्चित्य स्वयं शक्रेण कल्पिता ॥ ४३॥ रत्नसालप्रभाजालै।र्नेरुद्धतिमिरागमा ॥ व्यर्थेंदियं हसंतीव या निशासु निशाकरं॥ ४४॥ हर्म्यात्रशिखरानद्धस्फुरन्नीलरुचां चयैः॥ आच्छाद्यते सहस्रांशुर्यत्रनीलघनौरिव ॥ ४५॥ निश्वाससौरभाकृष्टा वक्रांभोजेषे योपितां॥ यूनां यत्रेक्षणैः सार्द्धं निपतंति मदालिनः ॥ ४६ ॥ यत्र च प्रतिमायातरमणीलोललोचनाः॥ नीलोत्पलसरःकांतिं वहांति मणिभूमयः॥ ४७॥ सौधगोपानसीलमपद्मरागांशुमंडलैः॥ यत्राकालिकसंध्याभ्रविभ्रमो दिवि तन्यते ॥ ४८ ॥ यस्यां मरकतच्छायाच्छादिता हर्म्यमूर्धसु ॥ मयूरा न्यक्तिमायांति परं केकारवैः कलैः ॥ ४९ ॥ श्रीमांस्तीर्थकृतामाद्यः सार्वः सर्वग्रणास्पदः॥ वृषभो वृषसंपन्नो नगरीमध्यवास तां ॥ ५० ॥ यस्य गर्भावतारे भूरिंद्राचैनिंचितामरैः॥ वभार सकलां लक्ष्मीं स्वर्गलोकस्य तत्क्षणं ॥ ५१ ॥ दिव्यदुंदुभयो नेदुः प्रणनर्ताप्सरोगणः ॥ यस्मिन् जाते जहास द्यौः पतत्कुसुमवृष्टिभिः ॥५२॥ उत्पन्नमात्रमानंदाद्यं नीत्वा मेरुमूर्धनि ॥ स्नापयांचिकिरे देवाः शकाद्याः श्लीरवारिभिः॥ ५३॥

४३ या भरत क्षेत्रांत सर्व नगरांची स्वामिनी अशी विनीता नांवाची नगरी आहे. ही नगरी इंद्रानें रवर्गातील सर्व उत्कृष्ट पदार्थ एकत्र करून जणु बनविले-की होती. ४४ या नगरीचा तट रत्नांनीं बनाविला होता. त्यामुळे त्यांच्या कांति. समूहाने अंधकाराचें आगमन होऊं शकत नसे. म्हणून राह्रीं व्यर्थ उगवलेल्या चंद्राला ही नगरी जणु हसत होती. ४५ येथील वाड्यावर असलेल्या शिखरावर वसाविलेख्या नील रत्नांच्या कांतिसमूहाने सूर्य निल्या मेघांनीं जणु काय आ-च्छादिला जात असे. ४६-४७ स्त्रियांच्या श्वासोङ्घासाच्या सुगंवाला छुब्ध होऊन आलेले उन्मत्त भुंगे तरुणांच्या नेत्रासह स्त्रियांच्या मुखावर पडत असत. या नगरींत ज्यामध्यें सुंदर स्त्रियांचे डोळे प्रतिविंबित झाले आहेत अशा रत्नांच्या भूमि निळ्या कमळांनीं युक्त असलेल्या सरोवराच्या शोभेला धारण करितात. ४८ राजवाड्यांच्या सज्जावर वसविलेल्या पक्षरागमण्याच्या किरण मंडलाने या नगरीगध्यें संध्याकाळची वेळ झाळी नसतांही आकाशांत संध्याकाळच्या मेघांची शोभा उत्पन्न केली जात असे. ४९ या नगरींत वाड्यांच्या शिखरावर असलेले मोर पांच रत्नांच्या कांतीनें आच्छादित झाल्यामुळे लोकांना दिसत नव्हते पण ते जेव्हां मधुर शब्द करीत असत त्यावेळीं त्यांच्या केकांनीं लोक त्यांना ओळखं शकत. ५० अशा न्या नगरींमध्यें लक्ष्मीसंपन्न, सर्व तीर्थकारापैकीं पहिले, सर्वाचे हित करणारे, व सर्व सद्धुणांचे माहेरघर असलेले, धर्मसंपन्न असे आदि-तीर्थकर राज्य करीत असत. ५१ श्री आदिनाथ तीर्थकर जेव्हां मरुद्वी मातेच्या गर्भात आले तेव्हां सर्व इंद्रादि देव या भूमिवर आले होते. त्यावेळीं या भूमीनें थोडा वेळपर्यंत रवर्गाच्या पूर्ण शोभेला धारण केलें होतें. स्वर्गातील सर्वच देव या भूमीवर आल्यामुळें ही भूमी त्यावेळीं पूर्ण स्वर्गमय झाली असे लोकांना वाटलें. ५२-५३ जेव्हां प्रभूंचा जन्म झाला तेव्हां पडत असलेल्या पुष्पदृष्टीच्या मिषाने आकाश जणु हंसू लागले. अप्सरांच्या समुदायानें नृत्य केले व आकाशांत स्वर्गीय नगाऱ्यांचा गंभीर नाद होऊं लागला. यसु उत्पन्न झाल्यावरोवर त्यांना इंद्रादिकांनी मेरु पर्वताच्या मस्तकावर नेलें व तेथें क्षीर समुद्राच्या पाण्यांनीं त्यांनीं प्रभूला स्नान घातलें.

मतिश्रुतावधिज्ञानैः सहोत्पन्नैर्यतः स्वयं ॥
व्यबुद्ध सिद्धिसन्मार्गं यः स्वयंभूरभूत्ततः ॥ ५४ ॥
पद्कर्मजीवनोपायैः सिन्नशुज्याकुलाः प्रजाः ॥
येन कल्पद्रुमापाये कल्पवृक्षायितं पुनः ॥ ५५ ॥

आसित्तस्यात्मजो नाम्ना भरतो भारतावनेः॥ पाता चक्रभृतामाद्यः प्राज्य माम्राज्यसाजितः॥ ५६॥ चतुर्दशमहारत्नसंपत्संपादितोन्नतैः

आसन्यस्यालये नित्यं निधयो नवर्किकराः ॥ ५७ ॥ यस्य दिग्विजये भूरिसेनाभरनिपीडनम् ॥ असहन्ती धरा रेणुव्याजेनेवारुरोह खं॥ ५८॥ रेजिरे तच्चमूचारुनारीभिरवतांसिताः॥ वेलावनलतालीनां भंगं प्राप्यापि पलवाः ॥ ५९ ॥ अभोराशिः करानिंदोः पीत्वा पुनरिवोद्गिरन् ॥ दहशे सैनिकैर्यस्य तीरस्थैः फेनराशिभिः ॥ ६० ॥ यस्यालव्धरणारंभा वारिधौ वारिकुंजरैः॥ प्रत्युत्थितैर्भदामर्पात् क्रुधा युध्यंति दन्तिनः ॥ ६१ ॥ यं शशास स्फुरचकाश्रया दक्षिणवाहुना॥ षद्वंडमंडलां घात्रीं घात्रीशामादिपूरुषः ॥ ६२ ॥ तस्य प्रिया महादेवी त्रिजगच्चारुतावधिः॥ धारिणीति क्षितौ ख्याता बभूव गुणधारिणी ॥ ६३ ॥ तयोर्महात्मनोरासीत्स्वर्गादेत्य सुरः सुतः ॥

मरीचिरुदितादित्यमरीचीन् चेंद्यपन्रचा ॥ ६४ ॥
५४ प्रभु मितज्ञान, श्रुतज्ञान व अवधिज्ञान हीं तीन ज्ञानें वरोवर घेऊनच उत्पन्न झाले होते. व त्यांनी स्वतः मोक्षमार्गाचें स्वरूप जाणिलें होतें यास्तव ते
स्वयंभू होते. ५५ जीवनाच्या उपायाची माहिती नसल्यामुळे खिन्न झालेल्या
प्रजेला षट्कमीमध्यें—अर्थात् आसी, मिष, कृषि, वाणिज्य, विद्या व शिल्प वामध्यें
नियुक्त बेलें झणून कल्पद्यक्षांचा जरी त्यांवेळी अभाव झाला होता तरी प्रभूच
तेव्हां पुनः प्रजेला कल्पद्यक्षाप्रमाणें वाटूं लागले. ५६ प्रभु आदिनाथ त्यामीला
भरत या नांवाचा सर्व भरत क्षेत्राचे संरक्षण करणारा मुलगा होता. हा चक्रवर्ती
भध्यें पहिला चक्रवर्ती होता व उत्कृष्ट सार्वभीम राज्यानें अलंकृत झाला होता.
५७ या भरतत्वपतीनें चौदा दिव्य रत्नांच्या संपत्तीच्या प्राप्तीनें स्वतःची ऐहिन उन्नती

पूर्णतेस नेली होती. या चक्रवर्तीच्या घरीं नक प्रकारचे निधि नोकर होऊन राहिले होते अर्थात या निर्धापासून त्याला नाना प्रकारच्या वस्तूंची प्राप्ति होत असे. ५८ हा चऋवर्ती दिशांना जिंकण्यासाठीं निघाला तेव्हां याच्या पुष्कळ सैन्याच्या ओझ्यानें उत्पन्न झालेलें दु:ख पृथ्वीला सहन झालें नाहीं. ह्मणून जणु ती धुळीच्या मिषानें आकाशांत निघून गेल्यापमाणें वार्टूं लागलें. ५९ समुद्राच्या किनाऱ्यावर असंहेल्या जंगलांतील वेलींच्या समृहांची कोमल पानें भंग पाऊन देखील भरत चत्रवर्तीच्या सेनेतील स्त्रियांनीं आपल्या कर्णभूषणासाठीं त्यांचा उपयोग केला असल्यामुळें शोभू लागलीं. ६० समुद्राच्या किनाऱ्यावर पुष्कळ फेस जमलेला पाहून भरताच्या सैन्याला असे वाटलें कीं, चंद्राचे किरण प्रथमतः पिऊन हा समुद्र पुन: जणु ते ओकीत आहे. ६१ ज्यांना युद्ध करण्याचा प्रसंग आला नव्हता असे भरत चक्रवर्तीचे हत्ती समुद्रामध्ये वर उसळून आहेल्या पाणहत्तीशी मदानें नेफाम होऊन रागानें युद्ध कारितात. ६२–६४ राजसमृहांत प्रथम असलेला हा भरत चक्री स्फुरायमाण झालेल्या चक्राच्या शोभेनें अलंकृत झालेल्या आपल्या उजव्या हातानें सहा खंडांनीं युक्त असलेल्या या पृथ्वीचें राज्य करीत होता. या चक्रवर्ती च्या त्रिय पट्टराणीचे धारिणी असे नांव होतें. या राणीचे सौंदर्य इतकें उत्तम होतें कीं तसलें सौंदर्भ त्रैलोक्यांत कोठेंच आढळून येत नसे तिनें पुष्कळ सद्गु-णांना धारण केलें असल्यामुळेंही तिचें धारिणी हैं नांव सार्थक होतें. तो स्वर्गी तील देव पुरूरवा [जो पूर्वभवीं भिल्ल होता] तेथून अवतरून या उभयतांना मरीचि नांवाचा मुलंगा झाला. यानें आपल्या कांतीनें उगवलेल्या सूर्याच्या मरीचींना-किरणांना लिजित केले होतें.

लोकात कल हात.
लोकातिकामरेरेत्य बोधितेन स्वयंभुवा।।
स दीक्षां पुरुदेवेन मरीचिः सममग्रहीत्॥ ६५॥
दीनेन दुःसहास्तेन सेहिरे न परीषहाः।
नैर्ग्रन्थ्यं हि परं धत्ते धीरचित्तो न कातरः॥ ६६॥
प्रविहाय तपो जैनं संसारोन्मूलनक्षमं॥
स्वयं प्रवर्तयामास सांख्यं सांख्यावदां विभुः॥ ६७॥
नियुज्य कापथे तस्मिन्नन्यानप्यल्पमेधसः॥
मम्करी घोरामिध्यात्वादाचचार चिरं तपः॥ ६८॥
मृत्युमासाद्य कालेन मरीचिः क्रिटिलाशयः॥
निरुद्धाः पंचमे कल्पे कायक्लेशफलादभूत्॥ ६९॥

दशामनुभवन्दिव्यां दशांभीराशिराजितः॥ अवसत्सरनारीभिस्तत्र नेत्रार्द्धवीक्षितः॥ ७०॥ आससाद कृतान्तस्तं जीवितांते निरंकुशः॥ संमृतौ वर्तमानस्य कस्य मृत्युरगोचरः॥ ७१॥ पुरे कौलीयके जातः सर्वशास्त्रविशारदः॥ ७२॥ द्वजनमा कौशिको नाम कौसीचेन विवर्जितः॥ ७२॥ तस्य प्रणयिनी चासीत्कापिला कपिलोपमा॥ निसर्गमधुरालापा भर्तृपादैकदेवता॥ ७३॥ अजायत तयोः प्रेयानस्वर्गादेत्य सुतः सुरः॥ जनविन्मध्यादृशां चित्ते मेत्रीं मेत्रायणः परां॥ ७४॥ यारित्राज्यं तपो घोरमाचर्याचार्यतां गतः॥ अद्वानेति स प्रापे कृतान्तेन कृतान्तकृत्॥ ७५॥ कृद्वेनवित स प्रापे कृतान्तेन कृतान्तकृत्॥ ७५॥ इत्रावित्री त्यावेली प्रमान्ति व्यावेली प्रमानित्र व्यावेली प्रमान्ति व्यावेली प्रमान्ति व्यावेली प्रमानेति व्यावेली प्रमानित्र व्यावेली प्रमानित

द्रं छौकांतिक देवांनी येऊन श्री आदिनाथ प्रभूला संवोधन केलें.
अथीत त्यांचें वैराग्य दृढ होण्याकिरतां आपली संमती दर्शविली. त्यावेळी प्रभु
बरीवर मरीनीनेंही दीक्षा घेतली. ६६ परंतु सहन करण्यास कटीण अमे भूक.
तहान, थंडी, उष्णना वगैरे परीपहांना दीन असा तो मरीचि मुनि सहन करं शकला नाहीं. वरोवरच आहे कीं, ज्याचें चित्तांत धैर्य वास करीत आहे तोच निर्माथ लिंगाला—जिनदीक्षेला धारण करं शकतो. भित्रीं माणसे धाग्ण करण्यास समर्थ होत नाहीं. ६७ संसाराचा पूर्णपणें नाश करण्यास समर्थ असलेले जिनेश्वरांनीं सांगितलेले उपवास वंगरे वारा प्रकारचें तप न्यानें सोहन दिलें व अनेक प्रकारचे तर्क कुतर्क करणाऱ्यांचा गुरु अशा या मरीचीनें मांन्य-दिलें व अनेक प्रकारचे तर्क कुतर्क करणाऱ्यांचा गुरु अशा या मरीचीनें मांन्य-प्रताची स्थापना केली. \* ६८ या मरीचीनें या कुमार्गापट्यें इतर मंदहानी

<sup>%</sup> टीप—मराचिश्च गुरोनेष्ठा पग्तिइभ्यमान्यित ॥ मिश्यात्ववृद्धिमकरोट्पिसद्वातभाषितं ॥ ६१ ॥ तद्यक्तमभूद्योगज्ञास्त्र तंत्रं च काषित ॥ येनाय मोहिनो लोक मन्यस्तानपगटमुख ॥ ६२ ॥ महापुगणे १७ पर्याणे.

विवाय दर्शन मान्यं कुमारेण मरीनिना ॥ व्याप्यान निनाशिष्यस्य विविद्यय प्रीयमा ॥ ५० ॥ नर्भपरीक्षणमां अण्यादश्चारितने १८

लोकांनाही वळवन घेतलें. व तीत्र पिथ्यात्वकमीमुळें यानें पुष्कळ दिवसपर्यंत नप के हैं. ६९ कांहीं कालानें मरण पावन कुटिल विचाराचा तो मरीचि शरी-गलाच ज्यांत क्लेश दिले जातात, आत्मतत्वाची ज्यांत निर्मलता होत नाहीं अशा मिथ्यातपाने ब्रह्मस्वर्गामध्यं देव झाला. ७० तेथें याचे दहासागरोपम वर्षीचें आयुष्य होतं. देवांगना याच्याकडे अर्थे डोळे मिटवून प्रेमानें पाहात होत्या. अगा रीतीनें नो दिच्य अवस्थेचा अनुभव घेत तेथें राहिष्ठा. ७१ तेथेंही जेव्हां न्याचें आयुष्य संपलें तेव्हां ज्याला रोकतां येत नाहीं अशा मृत्यूनें त्याच्यावर दहा केला. वरोवरच आहे कीं, संसागंत असलेल्या कोणत्या पाण्याला मृत्यूनें ग्रासलें नाहीं वरें ? ७२ कीलीयक नगरांत सर्व शास्त्रांत पारंगत आळस ज्याला माहीत नाहीं असा काशिक नांवाचा ब्राह्मण राहत असे. ७३ त्याच्या पत्नीचें नांव कापिला होतें. ती जमद्यीची स्त्री जी रेणुका तिच्या सारखी होती. ती आपल्या पतीच्या पायांना देव मानणारी होती अर्थात् पतित्रता होती व स्वाभाविकपणेच सर्वीशीं ती मधुर वोलत असे. ७४-७५ या उभयतांना तो देव स्वर्गाहून येऊन मुलगा बाला. हा त्यांचा फार आवडता होता. याचें मैत्रायण असें नांव होतें. यानें गिथ्यात्वी लोकांच्या अंतःकरणांत स्वतः विषयीं मैत्री उत्पन्न केली अर्थात् याने पुष्कळ मिध्यात्वी लोकांना आपले अनुयायी वनविलें. पुढें याने दीक्षा चेतली व घोर मिथ्या तप करून आचार्य पदवी मिलविली. व गिथ्यातत्वांचा प्रचार केला व मिथ्याशास्त्रं रचिलीं। यामुळेंच जणु रागावलेला मृत्यु याच्याजवळ येऊन उभा राहिला अर्थात् कालान्तराने हा मरण पावला.

अमेयकान्तिसंपत्तिं दघानो दिविजो महान्॥
अभवत्प्रथमे स्वर्गे स्वर्गनारीमनोहरः॥ ७६॥
ज्वलन्मणिविमानांतमध्यास्य गीतमानसः॥
निविश्वत्रामरान्भोगान्निवेवार प्रियासरवः॥ ७७॥
तदपायभवामेयशोकाशानिहतो हदि॥
निपपात ततो नाकाद्दिसमुद्रायुषः क्षयात्॥ ७८॥
स्थूणाकारे पुरे सोभूद्धारद्वाजो दिजोत्तमः॥
यः शुद्धोभयपक्षाभ्यां राजितो राजहंसवत्॥ ७९॥
कुंदकुद्वलसत्कान्तिं हसन्ती दन्तशोभया॥
पुष्पदन्ताभवत्तस्य गृहिणी गृहभूषणा॥ ८०॥

अवतीर्य ततः पुत्रः पुष्पित्रस्तयोरभूत् ॥
अन्योन्यरक्तयोर्नित्यं मोहवीजप्ररोहवत् ॥ ८१ ॥
उपगम्य परित्राजामाश्रमं स्वर्गिलिप्सया ॥
बाल एव बलाद्दीक्षां जग्राह निरवग्रहः ॥ ८२ ॥
विरकालं तपस्तप्त्रा मृत्योर्दशमुपागतः ॥
ईशानेऽजिन गीर्वाणो द्विपारावारजीवितः ॥ ८३ ॥
पश्यन्नप्सरसां नृत्यं तिस्मिन्नास्ते मनोहरे ॥
कंदर्पविबुधातोद्यवाद्यगीतक्रमानुगं ॥ ८४ ॥
तं स्वर्गः पातयामास क्षीणे पुण्येऽपि निर्जरं ॥
आधोरणं दिनापाये श्यालुं मत्तदिन्तवत् ॥ ८५ ॥

७६-७७ तो मैत्रायण मिथ्या तापसी पहिल्या सौधर्म स्वर्गीत स्वर्गीय देवांगनांचें मनोहरण करणारा व पुष्कळ कांतीचा धारक असा मोठा ऋदिधारक देव होऊन जन्मला. तेथें प्रकाशमान रत्नांनीं वनलेल्या विमानामध्यें वसून देवां-गनासहित अतिशय आनंदित चित्तानें देवांना प्राप्त होणाऱ्या भोग्यपदार्थीचा उपभोग घेत सुखानें राहिला. ७८ जेव्हां त्याचें दोन सागरोपम वर्षीचें आयुष्य संपर्छे तेव्हां या सर्व भोगांना सोडून मला जावें लागणार ह्मणून तो फार गोक-युक्त झाला. या शोकरूपी वज्राचा याच्या हृद्यावर आघात झाल्यामुळं तो स्वर्गी-पासून खाली पडला. ७९ स्थूणाकार नांवाच्या शहरांत भारद्वाज नांवाचा उत्तम ब्राह्मण राहात असे. जसा राजहंस आपल्या दोन सुंदर व पांढऱ्या पंखानी शोभतो तसा हा ब्राह्मण माता व पिता यांच्या शुद्ध कुलानें शोभत होता. अर्थात् मातृपक्ष व पितृपक्ष हे दोन्हीं ही याचे शुद्ध होते. ह्मणून याला कुलीनपणाच्या दृष्टीनें चांगली शोभा आली होती. ८०-८१ आपल्या ढांतांच्या शोभेनें कुंद्रपुष्पांच्या कळ्यांच्या कांतीला इंसणारी, घराचें भूषण अशी पुष्पदन्ता नांवाची याची पत्नी होती. तो स्वर्गापासून खाली पडलेला देव नेहमीं एकमेकांवर अनुरक्त असलेल्या या उभयतांना मोहरूपी वीजाच्या अंकुराप्रमाणें पुत्र होऊन जन्मला. ८२ वाल-पणींच हा स्वर्गपाप्ती करून घ्यावी अजा इच्छेने मिथ्या तपस्व्याच्या आश्रमाकडे गेला व तेथें आईवापांची परवानगी नसतांहीं स्वच्छंदपणानें यानें पारिव्राजक दीक्षा घेतली. ८३ पुष्कळ दिवस तपश्चरण करून हा मृत्यूच्या स्वाधीन हो कन

ईंगान रत्रगीत टोन सागर वपें आयुष्याचा धारक देव होऊन जन्मला. ८४-८५ त्या मनोहर स्वर्गीत कंटर्प जातीच्या देवांनीं वाजाविलेलीं वाद्यें व गीत आणि ताल यांना अनुसरून होणारें अप्सरांचें सुंदर तृत्य पाहात तो देव सुखानें राहिला. जेव्हां त्याचें पुण्य श्रीण झालें तेव्हां पाजलेला हत्ती ज्याचे दिवस भरले आहेत अगा निजलेल्या महाताला आपल्या पाठीवरून जमें फेक्कन देतो तसें स्वर्गानें त्याला आपल्या स्थानापासून टाकून दिलें.

पुरे श्वतविकाख्यायामाभिभूतिर्दिजोऽमिचित् ॥ तद्भार्या गौतमी चासीद्युम्नयुतिरपांशुला ॥ ८६॥ उदपादि दिवश्युत्वा सूनुरिमसहस्तयोः॥ कपिलीकृतदिग्भागो विद्यदीप्रतनुद्यता ॥ ८७ ॥ पारित्राजमनुष्ठाय तपो निष्ठितजीवितः॥ सुरः सनत्कुमारेऽभूत्कल्पेऽनल्पश्रिया युतः॥ ८८॥ सप्तसागरसंख्यातमायुस्तस्यागमत्क्षयं ॥ निपीतिमव तद्धीक्ष्य व्याजेनाप्सरसां हशा॥ ८९॥ अस्तीह मन्दिरं नाम सानंदं भारते पुरं॥ मंदिराष्ट्रचलत्केतुमालामंदीकृतात्वं ॥ ९० ॥ गौतमोऽभूतपुरे तस्मिन् दिजः कुंदसमदिजः॥ कौशिकी कुशला गेहे गेहिनी चास्य वसमा ॥ ९१ ॥ दावानलिशिखाकल्पानल्पकेशैर्ज्वलिन्नव ॥ मिथ्यात्वेनापरेणासीत्सोऽशिमित्रस्तयोः सुतः ॥ ९२ ॥ गृहवासरतिं हित्वा तपस्यामाचरन्परां॥ परिव्राजकरूपेण चक्रे सिध्योपदेशनं ॥ ९३ ॥ पंचतां चिरकालेन कालेन प्राप्य दुर्मदः॥ कल्पे बभूव माहेन्द्रे माहेन्द्रप्रतिमः सुरः ॥ ९४ ॥ सप्तोद्धिसमं कालं तत्र स्थित्वा यथेच्छया॥ ततोऽच्यवत निःश्रीकः पादापाज्जीणपर्णवत् ॥ ९५ ॥

स्वस्तिमत्यां पुरि श्रीमान्सालंकायननामभाक् । द्विजन्माभूतिया चास्य मंदिरा गुणमंदिरा ॥ ९६ ॥ स्वर्गादेत्य तयोरासीदपत्यमनपत्ययोः ॥ वैनतेय इवाधारो भारद्वाजो द्विजिष्ठयः ॥ ९७ ॥ पारित्राजं तपस्तप्त्वा चिराद्गिलतजीवितः ॥ माहेन्द्रे महनीयश्रीः कल्पेऽनल्पामरोऽभवत् ॥ ९८ ॥ सस्पृहं दिव्यनारीभिरायतेर्घनपंक्तिभिः ॥ कर्णोत्पलैः कटाक्षेश्च सुमुदे तत्र ताहितः ॥ ९९ ॥ अनारतं रतं तासामन्वभूदान्वितः श्रिया ॥ सप्तसागरसंख्यातकालस्थितिसमेतया ॥ १०० ॥

८६-८७ खेताविका नांवाच्या शहरांत आग्नेभूति नांवाचा अग्निहोत्री ब्राह्मण राहात असे. त्याची गौतमी नांवाची स्त्री पतित्रता व लक्ष्मीप्रमाणें सुंदर होती. या उभयतांना तो देव स्वर्गापासून चऊन अग्निसह नांवाचा पुत्र झाला. याच्या गरीराची कांति विजेप्रमाणें तेजस्वी होती त्यापुळें यानें दिशांचे भाग पिंगट वर्णाचे केले. अर्थात् याच्या शरीराची कांति चोर्हाकडे पसरत असे. ८८ पारित्राजक तपश्चरण करून त्यानें आपलें आयुष्य समाप्त केलं. व तिसऱ्या सानत्कुमार स्वर्गात पुष्कळ ऐथ-र्याचा धारक असा तो देव वनला. ८९ तेथें देवांगनांच्या नेतांनी जणु प्यालेंगे-ल्यामुळें त्याचें तेथील सात सागराचे आयुष्य संपलें ९०-९२ या भारत क्षेत्रांत आनंदानें सहित असें मंदिर नांवाचे शहर आहे. येथील वाड्यांच्या गर्चावर हलणाच्या ध्वजपताकांनीं सूर्याचा प्रकाश मंद् केला होता. अशा त्या शहरात कुंद्पुप्पात्रमाणें ज्याची दंतपंक्ती आहे असा गौतम नांवाचा ब्राह्मण राहात असे. गृहकार्यामध्ये निपुण व गृहस्वामिनी अशी कौशिकी नांवाची आवहती पत्नी याला होती. या उभयतांना तो देव आग्नीमित्र नांवाचा मुलगा झाला. जंगलांत पेटलेल्या अमिन्या ज्वालाममाणें पिंगट वर्णाचे पुष्कल केस याच्या होकीवर असल्यामुळें हा आग्नीमेल दुसऱ्या गृहीत मिय्यात्वार्ने जणु जळत असें वाटत असे ९३ पुढे यानें गृहत्यांग केला, व पारिव्राजनक दीक्षा घेऊन हा तीव्र तपश्चरण करूं लागला. व मिथ्यात्वाचा सर्वीना उपदेश देत फिर लागला. ९४ पुढें पुष्कळ दिवसांनीं खोट्या गर्वाला घारण करणारा हा नपस्वी

मृत्यु पावला व चौथ्या स्वर्गामध्यें इंद्रतुल्य ऐश्वर्याचा देव होऊन जन्मला त्या स्वर्गात तो सात सागर वर्षे सुखानें साहिला तदनंतर आयुष्य संपल्यावर तो कांतिहीन होऊन झाडापासून जुनें पान जसें खालीं पडावें तसा तो स्वर्गापासून पतन पावला ९६-९७ स्वित्तमती शहरांत सालंकायन नांवाचा एक श्रीमत ब्राह्मण राहत असे याची गुणांचें घर असलेली मंदिरा नांवाची पत्नी होती तो देव स्वर्गीतृन येऊन पुत्ररहित असलेल्या या उभयतांस भारद्वाज नांवाचा मुलगा होऊन जन्मला हा ब्राह्मणांना फार पिय होता, जसा गरुड विष्णूला आधारभूत आहे तसा हा आपल्या मातापित्यांना आधार होता. ९८ एष्कल दिवसपर्यंत परित्राजक तप करून याचें या भवांतील आयुष्य संपल्यावर हा माहेंद्र स्वर्गात विपुल लक्ष्मीचा धारक मोठा देव होऊन जन्मला ९९ येथें ज्यांच्या पापण्या दाट आहेत अशा दीर्घ कटाक्षांनीं व कानावर ठेविलेल्या दीर्घ कमलांनीं कामेच्छेनें देवांगनांकडून ताडला गेलेला तो देव फार आनंद मानीत असे १०० लक्ष्मीसंपन्न अशा या देवानें त्यांच्या संभोग मुखांचा नेहमीं अनुभव घेतला अशा रीतीनें या स्वर्गसंपत्तीचा व मुखांचा सातसागर वर्षेपर्यत त्यानें उपभोग घेतला.

कलपृश्लस्य कंपेन म्लानमंदारमालया।
हिष्ठभांत्यादिभिश्चान्यैः स्चितः स्वर्गनिर्गमः ॥१०१॥
विललाप कृताकंदो मंदीभूततनुद्युतिः।
विषादिवधुरां हिष्टिमिष्टरामासु पातयन् ॥१०२॥
शांतपुण्यप्रदीपस्य चिंतासंतप्तचेतसः।
आशाचकं निराशस्य ममाद्य तिमिरावृतं ॥१०३॥
हा स्वर्ग! विभ्रमोपेतदिव्यनारी जनांचित!।
किं मां न घारयस्यार्त्तं निपतंतं निराश्रयं ॥१०४॥
शरणं कं प्रपद्येऽहं किं कृत्यं का गतिर्मम।
केनोपायेन वा खृत्युं वंचिष्यामि तत्वतः ॥१०५॥
सहजेन गतं कापि लावण्येनापि देहतः।
हा हा! पुण्यक्षये किं वा विश्लेपं नोपगच्छिति ॥१०६॥

प्रणयेन समाश्विष्य गाढं कंठे तनूदिर !। रुंद्धि वेगेन गात्रेभ्यो निर्यियास्त्रस्तिमान् ॥१००॥ कुर्वन्प्रलापमिति मानसदुःखभारसंप्रेरणादिव दिवः सहसा प्यात। कारुण्यबाष्पलुलिताक्षियुगेन दृष्टः कष्टं विधृत्य निजमुग्धवधूजनेन

ततोऽवतीर्यास्तिमतोरुपुण्यो मिथ्यात्वदाहज्वरविव्हलातमा । चिरं त्रसस्थावरयोनिमध्यमध्यास्त दुःखानि समश्चवानः ॥१०९॥ भ्रान्त्वा कुयोनिषु चिरात्कथमप्यवाप मानुष्यकं पुनिरहाद्भृतगाप-भारात्।

जीवस्तथा हि निजनिर्मितकर्मपाकान्नाभ्योति किं किभिह नोज्झित किं न धत्ते ॥११०॥

अस्याः पुरे भारतवास्यलक्ष्म्या लीलांबुजे राजगृहे दिजोऽभूत्। शांडिल्यपूर्वायननामधेयः पारासरी तस्य वधूश्च नाम्ना ॥१११॥

१०१ कल्पष्टक्षाच्या हलण्यानें व गळ्यांतील मंदार पुणांची माला सुकृत जाण्यानें, दृष्टिमध्यें भ्रम होण्यानें व इतर चिन्हांनीं त्याचें स्वर्गातून निघृत जाणें सूचित झालें. (देवांना जेव्हां त्याचे आयुष्य सहा माहिने उरतें तेव्हां अशी निन्हें होत असतात.) १०२ या चिन्हांनीं घावरून जाऊन तो देव मोळ्यानें रहन गोक करूं लागला. त्याच्या शरीराचें तेज त्यावेळीं फार कभी झालें व खिन दृष्टीनें तो आपल्या देवांगनाकडे पाहूं लागला. १०३ त्याचा पुण्यत्त्पी दिवा न्यावेळीं मालवळेला होता. त्याचें अंतःकरण चिंतारूपी संतापानें संतप्त झालें होतें. तो अगदीं निराश झाल्यामुळें त्याला सर्व दिशा अधकारानें व्याप्त झाल्या आहेन असे वाहं लागलें. १०४ तो याममाणें शोक कर्र लागला:—हे स्वर्गी तृं नानामकाग्च्या विलासांनीं युक्त अशा देवांगनांनीं भरलेला आहेत. मी दुःखी होऊन येथून पदन आहे. मला कोणी आधार देणारा दिसत नाहीं. यास्तव तृं मला यावेळीं यागण कर १०५ मी आतों कोणाला शगण जाऊं १ मी आतां काय कर्रः १ आता मला कोणनी गति माप्त होणार आहे १ कोणत्या उपायानें मृत्युला फसउन मी अमर होछं १ मान्या देहावरोवरच उत्पन्न झालेलें लावण्य आत कोटें गेलें तें समनव होछं १ मान्या देहावरोवरच उत्पन्न झालेलें लावण्य आत कोटें गेलें तें समनव

नाहीं. अरेरे ! पुण्याचा क्षय झाला असतां कोणती वस्तु आपल्यापासून दृर होत नाहीं बरें ? सर्व आवडत्या वरत पुण्याच्या अभावीं हातांत आलेल्याही नाहींशा होतात. १०७ हे कुशांगी प्रियतमे! प्रीतीने माझ्या कंठाला घट्ट मिठी मार व माझ्या शरीरांतून वेगानें जाऊं पाहात असलेल्या ह्या प्राणांना आवरून धर. १०८ दयेनें ज्यांच्या डोळ्यांत अश्रु उमे साहिलें आहेत अज्ञा त्याच्या स्त्रिया त्याला धरून मोठ्या दुःखाने पाहाँत असतां तो विलाप करीत करीत न्या स्वर्गीतून एकदम पतन पावला. जणु मानसिक दु:खाच्या ओझ्यानेंच तो ढकलला गेल्यामुळें स्वर्गापासून पडला असावा. १०९ तदनंतर ज्याच्या मोठ्या पुण्याचा अस्त झाला आहे व ज्याचा आत्मा मिथ्यात्वकर्मीदयरूपी दाहज्वरानें तळमळत आहे असा तो देव तेथून अवतरून त्रसस्थावर योनीमध्ये नानाप्रकारच्या दुःखाचा उपभोग घेत राहिला. ११० त्रसस्थावरादि कुयोनींत भ्रमण करून त्यानें पुनः मोठ्या कष्टोंने मनुष्य जन्म प्राप्त करून घेतला, पण या जन्मांतही त्याचें पापाचें ओझें फार मोठें होतें. बरोबरच आहे कीं, जीव स्वतः प्राप्त करून घेतलेल्या कर्मोदयानें कोणत्या अवस्थेला प्राप्त होत नाहीं? अथवा कोणत्या अवस्थेचा त्याग करीत नाहीं? अथवा कोणता पर्याय धारण करीत नाहीं वरें ? १११ या भारत वर्षरूपी लक्ष्मीच्या ऋडिकमलापमाणें सुंदर अशा, राजगृह नगरांत शांडिल्यायन नांवाचा ब्राह्मण होता व त्याच्या पत्नीचें पारासरी असे नांव होतें. भूत्वा तयोः स्थावर इत्याभिष्यां विभ्रत्मुतः स्थावरकर्ममुक्तः ॥ कृत्वा तपो मस्करिणां जगाम स ब्रह्मलोकं दशसागरायुः ॥११२॥ सहजमणिविभूषाक्षीममंदारमालामलयजरसरम्यं देहमासाद्य सद्यः॥ चिरगरमत तत्र स्फीतसंपत्समेतः सुरयुवतिपरितः पूर्णकामो निकामं ॥ ११२ ॥

## क्ष इत्यसगकृते श्रीवर्धमानकाव्ये मरीचिमनुष्यभवलामो नाम तृतीयः सर्गः श्री ॥३॥

११२ स्थावर नाम कर्माच्या उदयांतून सुटलेला तो जीव त्या उभय-तांना स्थावर या नांवाला धारण करणारा मुलगा झाला. पुढें त्यानें मिथ्या तपस्च्यांचें तपश्चरण करून ब्रह्म स्वरोची प्राप्ति करून घेनली. तेथें त सागर वर्षाचे आयुष्य होतें. ११३ या स्वर्गीत जन्मतःच नैस्मिनंक रन्नालंकामंनी सुंदर व पातळ अञा वस्त्रांनीं, कल्पद्यक्षाच्या माळांनी. आणि चंदन रमाने रमणीय असा देह त्याळा प्राप्त झाल्यावर तो देव विषुळ ऐ वर्षानें युक्त नेउन व देवांगनांनी वेष्टित होऊन ज्याच्या उच्छा पूर्ण झाल्या आहेन असा होत्याता त्या स्वर्गीत यथेच्छ फार काळपर्यंत रममाण झाला.

श्रमाणं असगमहाकविकृत या वर्षमानमहाकित्यामध्यं मर्गर्नाला स्थावर कर्मापासून सुटल्यानंतर पुनः मनुष्यभवलाभ झाला. या वर्णनाचा निगम सर्ग समाप्त झाला ॥ ३ ॥ श्र



अथ भारतवास्यभूतलेऽस्मिन्सुरलोकश्रियमुद्धहन्स्वकान्त्या॥ प्रथितो मगधारव्यया जनांतः सुकृतामस्ति निवासहेतुरेकः ॥१॥ सकरतेषु यत्र शालिवपाः कलमामोदहतालिनां समूहैः॥ शुकपातभयात्कृषीवलौषेः स्थगिता नीलपटैरिव व्यराजन् ॥ २ ॥ प्रतिबुद्धमहोत्पलोत्पलान्तर्विहरत्सारसहंसचकवाकैः॥ महिषीकळुषिक्ठतावतारैर्वरबंधैः परितः परीतमालः ॥ ३॥ निगमैर्वहदिक्षयंत्रगंत्रीचयचीत्कारविभिन्नकर्णरन्ध्रैः॥ परिपंजितसम्यकूटकोटीनिकटाळुंचिवृषीर्वभूषितो यः ॥ ४ ॥ कदलीफलखादनावसाने द्याचि पीत्वा नवनालिकेरतोयं॥ अधिशय्य नवप्रवालशय्यां पथिका यत्र विशश्रमुर्वनेषु ॥ ५ ॥ धरणीतलसर्वसारसंपत्पकराणां पदमस्ति तत्र रम्यं ॥ वरराजगृहेण राजमानं नगरं राजगृहाभिधां दधानं ॥ ६ ॥ उरुहर्म्यगवाक्षजालनियद्धनकालागरुधूपधूमजालैः ॥ युमणिद्युतयो विभिन्नवर्णा दिधरे यत्र चसूरुचर्मलीलां ॥ ७ ॥ प्रतिमागतशालपद्मरागद्यतिभिः पाटलितांबुरंबुखातः॥ नवविद्रमजालभिन्नवीचेः सरितां पत्युरुवाह यत्र कांतिं॥८॥

१ स्वर्ग जसा पुण्यवान छोकांचें राहण्याचे छिकाण आहे त्याप्रमाणें या भरतक्षेत्रांत स्वतः च्या कांतीनें रवर्ग छोकाची शोभा धारण करणारा व पुण्यवान छोकांचें निवासस्थान वनछेछा असा मगध नांवांचा प्रासिद्ध व अद्वितीय देश आहे. २ या देशांत सर्वऋतूमध्ये सार्ळींच्या सुगंधानें छुव्ध झाछेछे संग्याचे समूह सार्ळींच्या शेतांत येजन वसत असत तेव्हां तीं शेत पोपटांच्या समृहापामृन भ्यालेख्या शेतकच्यांनीं नीछवस्त्रांनीं जणु आच्छादून टाकिल्याप्रमाणें शोभन असन. ३ तळयामध्यें निळीं व पांदरी कमळे प्रफुद्धित झाछेर्छा असून त्यामध्ये सानस,

हंस व चक्रवाक पक्ष्यांचे समूह क्रीडा करीत असत. कोठें कोठें तळ्यांच्या घाटा-जवळ रेड्यांनीं पाणी सदूळ केलेलें असे. अशा उत्तम वांधांनीं युक्त असलेल्या तळयांनीं हा देश शोभत असे. ४ या देशांतील खंडेगांवांत सर्वत उसांचे पुष्कल चरक होते व पुष्कळ गाड्या होत्या त्यामुळें त्यांच्या चाकापासून व चरकापासून निवालेल्या आवाजानें लोकांच्या कानठाळ्या वसत असत. तसेंच या खेडेगांवांत एकत्र केलेल्या धान्यांच्या पुष्कळ राशी होत्या व त्यांच्या शिखरांना विर्दाणे करून टाकणारे वैलही तेथें असल्यामुळें अज्ञा खेड्यांनीं तो देश ज्ञोभत असे. ५ या देशांतील वगीच्यामध्ये केळी खाऊन तदनंतर स्वच्छ असे नारळांतलें पाणी पिऊन व नवीन कोवळया पानांच्या विछान्यावर निजून प्रवासी लोक आलेला थकवा दूर करीत असत. ६ अशा या देशांत पृथ्वीतलावरील सर्व उत्तम संपत्तीचें स्थान असलेलें राजगृह नांवाचें रमणीय नगर उत्कृष्ट अशा राजवाड्यानें शोभत असल्यामुळें 'राजगृह 'या यथार्थ नांवाला धारण करीत होतें. ७ या नगरांत श्रीमंताच्या वाड्यांच्या खिडकीतुन नेहमी कालागरु धूपाच। पुष्कळ धूर निघून तो सूर्योच्या किरणांत मिसळ्न जात असे तेव्हां तें किरण अनेक रंगाचे दिसत असल्यामुळें वाघाच्या चित्रविचित्र कातः ख्याप्रमाणें दिसत असत. ८ प्रतिविंवित झालेल्या तटाच्या पद्मरागमण्यांच्या कांतींनीं या नगराच्या खंदकाचें पाणी तांबुस झालें होतें त्यामुळें तो खंदक नवीन पोवळ्यांच्या कांतीनें ज्याच्या लाटा व्याप्त झाल्या आहेत अशा समुद्रांची शोभा धारण करीत असे.

उरुसीधतलस्थदंपतीनामतुलां कांतिमुद्धिय निनिमेषाः॥
अधुनाप्यतिविस्मयेन यस्मिन्विबुधा इत्यनुमन्यते नृलोकः॥ ९॥
सदनाम्रानिवद्धनीलभासां निवहैः संवलितैर्गमस्तिहस्तैः॥
विसृजित्तव सर्वतः कलंकं दहशे यत्र शशी निजं निशासु ॥१०॥
नृपतिर्जगित प्रतीतवंशो निजतेजोदवद्ग्धशत्रुवंशः॥
स्वयमर्थिगृहीतिविश्वभूतिर्नगरं तत्प्रशशास विश्वभृतिः॥ ११॥
नयचश्चरनृनसत्वशाली भजतां पूरियता मनोरथानां॥
विनयेकधनोर्जितो जितात्मा परमासीद्गुणसंपदां पदं यः॥ १२॥
अभवत्कमलेव योवनस्य त्रिजगत्कांतिरिवकनामुपेना॥
पदवीव मत्रित्रतस्य निद्धर्जियनी तस्य जनश्चरस्य जाया॥१३॥



घेतलंख्या जिनमालकाला स्वतःच्या मद्गधाने भुंग्यांच्या २ फमलाप्रमाणे कांतियुक्त असलेल्या आपत्या दांन हातानी इंट्राणीने उचलून आ तर्ण करणारा अज्ञा पेरावत हत्तीच्या खांद्यावर स्थापन करून आकाज्ञामागांने नेले शरीर धुभ आहे अनुसरलेख्या सीधमेंडाने शरत्कालच्या भेघाप्रमाणे ज्याचे

विजिताखिलभूतलो निधाय स्वहिते मंत्रिणि राज्यतंत्रचितां ॥

छगशावदृशा तया नरेन्द्रः सह सर्वतुख्यानि निर्विवेश ॥ १४ ॥
अवतिर्ध दिवस्तयोरुदारस्तनयः ख्यातनयो वभूव देवः ॥
अजहत्मकृतिं कृती स दिव्यां कुशलो विश्वकलासु विश्वनंदी॥१५॥
उपयांतमथैकदा विलोक्य प्रतिहारं जरसा परीतमूर्तिं ॥
इति चिंतयति स्म निश्चलाक्षः स्थितिमाङ्गीं नृपतिर्जुगुप्समानः॥१६॥

९ ज्या शहरांत अत्याश्चर्यानें मोठमोठ्या राजवाड्याच्या गचीवर वसलेल्या दंपतीचें अनुपम सौंदर्भ पाहून देव अद्यापि देखील निमेषरहित झालेले आहेत असें मनुष्य समजतात १० या शहरांतील घरांच्या गच्चीवर बसाविलेल्या इंद्रनील गण्यांच्या कांतिसमूहांनीं चंद्राचे किरण मिश्रित झाल्यामुळें जणुतो रात्नीच्या वेळीं आपल्या किरणरूपी हातांनीं आपल्या कलंकाचा सर्वत्र प्रसार करीत आहे असा लोकांना भासतो. ११ ज्याने आपल्या पराक्रमरूपी अग्रीने शत्रुरूपी वेळ्ंचा समुदाय जाळून टाकिला असा, जगत प्रसिद्ध वंशांत जन्मलेला विश्वभूति नांवाचा राजा या राजगृह शहरांत राज्य करीत असे. याचक लोक याची विश्वश्राति-सर्व संपात्ति याचना न करतां ग्रहण करीत असत म्हणून याचें विश्वभूति हें नांव सार्थक होतें १२ हा राजनीतिरूपी नेत्रांनी युक्त होता व यार्चे सामर्थ्य फार मोठें होतें. सेवा करणाऱ्यांचे गनोरथ हा पूर्ण करीत असे. विनयरूपी धनानें हा ऊर्जितावस्थेला पोहोंचला होता व जितेंद्रिय होता. उत्कृष्ट गुणरूपी संपत्तीचें हा उत्कृष्ट स्थान होता. १३ या राजाच्या पट्टगणीचें नांच जियनी असें होतें. ही राणी तारुण्याची जणु लक्ष्मी होती. त्रेलोक्याचें सौदर्य जणु तिच्या ठिकाणीं एक इस झालें होतें. पाति बत्याच्या सिद्धीचा ती जणु मार्ग होती. १४ सर्व पृथ्वीला जिक्तिलेल्या या राजानें राजाहितामध्ये दक्ष असलेल्या आपल्या एंड्यादर राज्य-कार्याच्या चितेचा भार टाकिला. व हारणवालकाप्रमाणे जिचे दीर्घ डोले आहेत अशा आपल्या राणीवरोवर सर्व ऋतूंच्या सुखांचा तो उपमोग घेऊं लागला. १५ या उभयतांना तो देव स्वर्गीतृन उतरून विश्वनंदी नांवाचा मुलगा झाला. या विश्वनंदीनें आपल्या दिव्य-स्वर्गीय-स्वभावाचा न्याग केला नाहीं. हा उदार, राजनीतींत निपुण व सर्व कलांमध्यें छुशल होता. १६ एके दिवर्शा वृद्धपगानें ज्याच्या शरीरावर पूर्ण तावा वसावेला आहे असा द्वारपाल आपल्याकडे येत असलेला राजानें पाहिला. आपली दृष्टि नियल करून प्राण्यांच्या शारीरिक

परिस्थितीविषयीं ज्याला तिटकारा उत्पन्ना झालेला आहं अशा या राजाने पुढें लिहिल्याप्रमाणे विचार केला.

वपुरस्य पुरा विवृत्य जुष्टं मुहुरुक्तेन यदंगनाजनेन ॥ बालेना पलितेन चाभिभूतं तदिदं संप्रति कस्य वा न शोच्यं ॥ १७॥

सकलेंद्रियशाक्तिसंपदायं जरसा विष्छुतया निराकृतोऽपि ॥ न जहाति तथापि जीविताशां खळु वृद्धस्य दिवर्द्धते हि मोहः॥१८॥ × अवनम्य प्रदेपदे शिरोधिं शिथिलं भूयुगलं निरुध्य दृष्ट्या ॥ पतितं नवयौवनं धरण्यामयमन्बेष्टुमिवेक्षते प्रयत्नात् ॥ १९ ॥ अथवा किमिहास्ति देहभाजां कुरालं जन्मवने विनष्टमार्गे ॥ अमतां सततं स्वकर्मपाकादिति निर्वेदमुपागमन्महीशः॥ २०॥ अवयन्परिपाकदुःखबीजं विजही राज्यसुखं तदा नरेंद्रः॥ विदिताखिलसंसृतिस्थितीनां महतां किं विषयेषु साक्तिरस्ति॥२१॥ धवलातपवारणस्य मूले विनिवेश्यावरजं विशारवभूतिं ॥ तनयं च निधाय यौवराज्ये व्यरुचित्रःस्पृहता सतां हि जुष्टा॥२२। उपगम्य चतुःशतैर्नरेन्द्रैः सहितः श्रीधरपाद्पद्ममूलं ॥ अजरामरतामुपैतुकामो जिनदीक्षां पृथिवीपतिः प्रपेदे ॥ २३ ॥ उपगम्य विनिर्जितारिजातं कृतषङ्घर्गजयं विशारवभूतिं ॥ अभिवृद्धिमियाय राजलक्ष्माः सततं कल्पलतेव कल्पवृक्षं ॥ २४ ॥

१७ के याचे शरीर पूर्वी स्त्रीजनांकडून मागें वळ्न वारंवार पाहिलें जात होतें तेंच त्याचें हें शरीर आतां सुरकुत्या व म्हातारपणानें जर्जर झालें आहे असें पाहून कोणास वरें वाईट वाटत नाही? १८ म्हातारपणानें याची सर्व इंद्रियशाक्ति-रूपी संपत्ती जर्जर होऊन गेलेली आहे. अशी हीन परिस्थिति याला प्राप्त झाली असतांही हा जगण्याची आशा सोड्रन देत नाही. वरांवरच आहे कीं, छद्ध माण-

टीपः—असभृत मंडनमगयष्टेर्नष्टं क मे यांवनरत्नमेतत् ॥ इतीव वृद्धो नतपूर्वकाय पर्यन्नधोऽघो भुवि वंश्रमीति ॥ धर्मशर्माभ्युद्यमहाकात्र्ये चतुर्य सर्गं सांचा मोह नियमाने वाढतच जातो. १९ हा द्वारपाल पावलो पावली आपली मान वांकवून व शिथिल झालेल्या भुवया वर चढवून प्रयत्नपूर्वक इकडे तिकडे नजर फेक्सन आपलें नूतन तारुण्य या पृथ्वीवर जणूं शोधीत आहे. अर्थात् आपलें गमावलेलें तारूण्य हुडकण्यासाठीं जण्ं हा वाकून तें शोधीत आहे. २० जेथें खरा भार्भ सांपडणे अशक्य झालें आहे अशा या संसाररूपी जंगलांत आपल्या कमींद्यास अनुसरून भटकणाऱ्या प्राणिमात्रांना खरें सुख कसें वरें मिळेल ? अर्थात मिळणार नाहीं. अशा रीतीच्या विचारांनीं विश्वभूति राजाला वैराग्य उत्पन्न झालें. २१ त्यावेळीं परिणामीं दुःखें उत्पन्न करण्यास कारण असल्रेल्या राज्याचा त्यानें त्याग केला. बरोवरच आहे कीं, संसाराचें पूर्ण स्वरूप ज्यांना माहीत झालें आहे अशा महात्म्यांना विषयसुखामध्यें आसाक्ति उत्पन्न होतें काय ? २२ शुभ्र छत्रांच्या खार्छी अर्थात् राजासिंहासनावर आपल्या धाकट्या भावाची-विशा-खभूतीची राजा विश्वभूतीनें रथापना केली. व आपल्या विश्वनंदी पुत्राला युवराज पदावर आरूढ केलें. बरोबरच आहे कीं, सत्पुरुषांनीं निःस्पृहता धारण केली म्हणजे तिला जास्ती शोभा येते. २३ तदनंतर विश्वभूति राजानें चारशें राजासह श्रीधर मुनीश्वरांच्या चरण कमलांचा आश्रय घेऊन म्हातारपणा व मृत्युराहत असे मोक्षसुख प्राप्त करून घेण्याच्या इच्छेने जिनदीक्षा धारण केली. २४ ज्याने शत्रुसमूह जिंकिला आहे व कामक्रोधादिक सहा अंतरंग शत्रूंना ज्यानें वश केलें आहे अशा विशासभूति राजाचा आश्रय घेऊन राजलक्ष्मी करपद्वक्षाच्या आश्र-यानें कल्पवल्ली जशी सतत द्राद्धिंगत होते तशी द्राद्धिंगत होऊं लागली. अधिकोऽपि नयेन वीरलक्ष्म्या युवराजो बलसंपदा पितृब्यं ॥ न विलंघयति स्म मेदिनीशं स्थितिमाकामति किं महानुमावः। २५॥ ऋतुभिः सकलैः सदा परीतं विरुवन्मत्तमधुत्रतान्यपुष्टं॥ वनमिंद्रवनाभिभाविशोभं युवराजः समकारयद्विचित्रं ॥२६॥ लिलेतेन विलासिनीजनेन व्यहरत्तत्र सह त्रिकालरम्ये। सहकारतले रतिदितीयं स्थितिमन्वेष्ट्रमिवादरादनङ्गं ॥२०॥ नारनाथपतेश्च लक्ष्मणायाः प्रियस्नुः प्रथमो विशाखनंदी। अभवन्नवयौवनेन मत्तो मदनेनापि निरंकुशः करीव ॥२८॥ स कदाचिदुदीध्य वीक्षणीयं युवराजस्य वनं मदेभगामी। जननीं प्रणिपत्य वार्जितान्नस्तदुपादाय दिशेति याचते स्म ॥२९॥

तनयाय वनं प्रदत्त्व राजन्यदि कार्यं मम जीविते तवास्ति। इति सा रहिस स्ववल्लभत्वादनुबंधेन नराधिपं वभाषे ॥३०॥ सहसा वचनेन वल्लभाया युवराजे स्वहितैकमानसेऽपि। अगमदिक्वतिं विशाखभूतिः प्रियजानेः स्वजनो हि वैरिवर्गः॥३१॥ अथ किं क्रणीयताकुलेन दुतमाहूय रहस्यमात्यवर्गं। तमुदंतमशेषमाचचक्षे क्षितिनाथेन तदुत्तरं च पृष्टं॥३२॥ विमलेत्रया दशैव राज्ञो नयहीनामवगम्य चित्तवृत्तिं। इति वाचमुदाजहार कीर्तिः शिरसा मंत्रिगणेन चोदितार्थः॥३३॥

२५ नीति, पराक्रमलक्ष्मी, व वलसंपात्त यांनीं युवराज विश्वनंदी हा आपला चुलता जो विशाखभूति राजा त्यापेक्षां अधिक असूनही त्यानें त्याचें उद्घंघन केलें नाहीं. वरोवरच आहे कीं सत्पुरुष मर्यादेचें उद्घंघन करितो काय ? २६ युवराजानें एक विचित्रा -आश्चर्यचिकत करून सोडणारा वगीचा करविला. या वगीचांत नेहमी सहाही ऋतूंची शोभा एकबटली होती. उन्मत्त भ्रंगे व कोकिल यांच्या मधुर आवाजानें हा युक्त होता. व इंद्राच्या नंदनवनाच्या शोभेचा यानें पराभव केला होता. २७ आम्रवृक्षाच्या खाली रतिदेवीने सहित असलेल्या मदनाला जणु शोधण्याकरितांच युवराज सुंदर अशा विलिसनी स्त्रियांसह सकालीं, टोन-पहरीं व संध्याकाळीं रमणीय अशा वगीचांत विहार करीत असे. २८ राजा विशारवभूति व राणी लक्ष्मणा या उभयतांचा अतिशय आवडता असा विशाख-नंदी नांवाचा पहिला वडील मुलगा होता; तो अंकुशरहित हत्तीप्रमाणें तारुण्य व कामविकारानें उन्मत्त झालेला होता. २९ हत्तीप्रमाणें ज्याची गाति आहे त्या विशाखनंदीनें एकेवेळीं युवराजाचा प्रेक्षणीय वगीचा पाहून आईकडे येऊन तिला नमस्कार केला व अन्नत्याग करून मला तो वगीचा दे अशी तिची तो विनंती कर्र लागला. ३० लक्ष्मणा राणीवर राजाचे अतिशय प्रेम होतें म्हणून लक्ष्मणा राणीन एकांत ठिकाणीं राजाला आग्रहानें असे म्हटलें 'महाराज ! जर माझ्या जगण्याची आपणास आवश्यकता असेल तर आपल्या मुलाला युवराजाचा वगीचा द्या ' ३१ आपल्या प्रियपत्नीचे भाषण ऐक्सन विजा-खभूति आपल्या हिताविषयी ज्याचे मनांत काळजी आहे अगा युवराजाविपयीही विकारयुक्त झाला. अर्थात् त्याच्याविषयीं राजाच्या मनांत द्वेप उत्पन्न झाला. वरोवरच आहे कीं ज्याला आपली वायकोच पिय आहे त्याला त्याचे सर्व संवधीं

लोक शत्रुसारखेच वाटतात. ३२ आनां काय ज़पाय करावा या विषयीं ज्याची चुित गोंधळून गेली आहे अशा राजांने तत्काल प्रधान मंडलींना वोलाविलं व त्यांना सगली हकीकत सांगून याविषयीं काय उपाय करावा हेंहि विचारिलं ३३ मंत्रिमंडलाकडून मरतक हालवून आपला अभिप्राय कलविण्याकरितां ज्याला सूचना दिली गेली अशा कीर्ति नांवाच्या प्रधानांने राजाच्या पापी नजरेनेंच त्याच्या अतःकरणांतील अन्याययुक्त आभिप्राय जाणून घेतला व पुढें लिहिल्या-प्रमाणें त्यांने भाषण केलें.

मनसा कियया च विश्वनंदी तव भूवछभ जातुंचिन्न हुए:। उपगम्य चरैरलक्ष्यचेष्टेबहुशोऽस्माभिरसी परीक्षितश्च ॥३४॥ प्रणतस्य समस्तमोलिवर्गेनियसंपादितविक्रमक्रमस्य ॥ यदि तस्य जिगीषुतास्ति राजन् किमसाध्यं सकले धरातलेऽपि॥३५॥ अनुकूलतमेऽपि सोदरस्य प्रियपुत्रे विमुख्त्वमभ्युपैति। भवतः स्थितिशालिनोऽपि बुद्धिधिगिमां वैरकृतां नरेंद्रलक्ष्मी॥३६॥ न विषं मरणस्य हेतुसूतं न तमो दृष्टिपथावृतिप्रवीणं । बहुदुःखकरं न चापि घोरं नरकं न्यायविदः कलत्रमाहुः ॥३७॥ नयमार्गविदांवरस्य युक्तं न तव स्त्रीहृदयेप्सितं विधातुं। असतां वचने प्रवर्तमानो विपदां याति हि पात्रतामवस्यं ॥३८॥ न ददाति वनं स याच्यमानो भवना तद्गतरम्यतानुरकः। अवलोक्य नाथ शुद्धबुद्धया ननु कस्याभिमते मतिर्न लुव्धा॥३९॥ अनवाप्य वनं प्रयासि कोपं प्रियया वाकशया प्रताड्यमानः। हरणाय हठात्प्रवर्तसे चेत्प्रतिपक्षस्य तदानपेध्य पक्षं ॥४०॥ स्थितिहीनमिति प्रतीतसत्वाः सकलास्त्वामपहाय राजमुख्याः। उपयांति तदा तमेव धीरं सुवि विख्यातनदा इवाम्बराशि ॥४१॥ विजितान्यनरेश्वरोऽपि राजन्युवराजस्य पुरो न भाषि उद्धे । कुमुदाकरवंधवदिनादौ किरतो रिमचयं सहसर्भः ॥१२॥ ३४ हे राजन् ! युवराज विश्वनंदीनं मनाने व कियेनंही आपल्याविपयीं कथीही दुष्टपणा धारण केला नाहीं. ज्यांच्या हालचाली गुप्त आहेत अशा हेरांनी व

अम्हीही त्याच्याकडे जाऊन त्याविष्यीं त्याची पुष्कळ मकारें परीक्षा केली आहे. ३५ सर्व मुख्य अधिकारी ज्याला नगस्कार करीत आहेत व ज्यानें योग्य नीतीला अनुसरून पराक्रम गुण प्राप्त करून घेतला आहे अशा या युवराजाच्या मनांत जयप्राप्ति करून घेण्याची इच्छा उद्भवली त्र सांगा वरे त्याला या भूतलावर कोणती गोष्ट असाव्य आहे ? ३६ युवराज आपल्याशीं अत्यंत अनुकूल आहे. पुनः तो आपल्या भावाचाच त्रियपुत्र आहे. कोणी परका नाहीं. असें असताही त्याच्याविषयीं आपण मर्यादेनें युक्त असनही आपली बुद्धि आज विरुद्ध झाली आहे म्हणून वैर उत्पन्न करणाऱ्या या राजलक्ष्मीचा आम्ही धिकार करितो. ३७ या जगांत विष हे मरणाला कारण नाहों व अंधार हा दृष्टि रोकण्यास निपुण नाहीं किंवा नरक देखिल तीव दुःखांचें कारण नाहीं. नीतीला जाणणारे विद्वान लोक स्नी हेंच विष आहे असें समजतात व तीच न्याय मार्गाला रोकणारी आहे व तिल्लाच नरक मानणें योग्य आहे. ३८ महाराज! आपण नीतिमागीला जाण-णाऱ्या लोकामध्यें श्रेष्ठ आहांत यास्तव स्त्रीच्या मनाला जी गोष्ट आवडते ती करणें अपिणास योग्य नाहीं. कारण दुष्टांच्या चोलण्याला अनुसरून जो वागतो तो अवश्य संकटाना पात्र होतो. ३९ युवराजार्चे मन वगीच्याच्या सींदर्याने मोहून गेलें आहे यास्तव या वगीचाची आपण मागणी केली तरी तो आपणास मिळणार नाहीं. महाराज आपण निर्मळ वुद्धीनें विचार करा म्हणजे आपणास आमर्चे म्हणणे योग्य वाटेल. अहो आवहत्या पदार्थावर कोणाची बुद्धि लुब्ध होत नाहीं वरें १ ४० आपणास वगीचा न मिळाल्यामुळें आपल्या त्रियतमेच्या भाषणरूपी चाबुकाच्या प्रहारांनीं आपण अवस्य ऋद्ध होऊन युवराजाच्या वाजूचा विचार न करितां वगीचा वल्रात्कारांने ताव्यांत घेण्याचा प्रयत्न करण्यास प्रवृत्त व्हाल नर ज्यांचें वल-शौर्य प्रसिद्ध आहे असे मुख्य मुख्य राजे आपण मर्यादेला तोडणारे आहांत असे समजून आपला त्याग करून प्रसिद्ध नद जसे समुद्राला जाऊन मिळतात त्याप्रमाणें त्या धीर गंभीर युवराजाला जाऊन मिळतील. अथवा निहतः स युद्धरंगे भवता दैववशेन वा कथंचित्। पिद्धाति जगुज्जनापवादो वहुले नक्तमिवांधकारराशिः ॥४३॥ अन्पेतनयं विपाकरम्यं वचनं कर्णरसायनं बुधानां। हितमित्यभिधाय मंत्रिमुख्ये विरते प्रत्यवदन्नराधिनाथः ॥११॥ इदमीहरामेव यत्प्रणीतं भवता ऋत्यविदा तदेव ऋत्यं। तद्पायमुदीरयार्थ येन क्षतहीनं तदवाप्यते सुखेन ॥४५॥

इति तद्रचनं निशम्य पत्युः पुनरूचे सचिवो विचारदक्षः।
तमुपायवरं वयं न विद्यः कुशलो यम्तदावाप्तये विपाके ॥१६॥
यदि वेतिस विधत्स्व तं स्वबुद्धया मतयो हि प्रतिपूरुषं विभिन्नाः॥
ननु कृत्यविधौ प्रमाणमीशः सचिवोऽपि स्वमतं प्रवक्तुमीशः॥१९०॥
इति वाचमुदीयं मंत्रिमुख्ये विरते मंत्रिगणान्विसर्ज्यं राजा।
मनसा स्वयमाकलय्य किंचित्तरसाह्य युवाधिपं बभाषे ॥१८॥
भवता विदितो न किं प्रतीतः प्रतिकृले पथि कामरूपनाथः।
मम वर्तत इत्यहं विहन्तुं दुतमभ्येमि तमाप्तपुत्र पश्चात् ॥१९॥
इति तद्धचनं निशम्य सम्यक् प्रणिपत्यवमुवाच विश्वनंदी।
मयि तिष्ठति कस्तव प्रयासः क्षितिप प्रेषय माममुं विजेष्ये ॥५१॥

४२ हे राजन्, जरी आपण इतर राजांना जिंकिलें आहे तथापि युद्धपसंगीं आपण युवराजाच्या पुढें शोभणार नाहीं. यास उदाहरण असे पाहा कीं, दिव-साच्या प्रारंभीं चोहोंकडे किरणसमूह पसरणाऱ्या सूर्याच्या पुढें चंद्र शोभतो काय? ४३ अथवा युद्धभूमीमध्ये दैवयोगाने आपण त्याला कसे तरी जरीं ठार मारलें तरी लोक आपल्या अपकीर्तीनें कृष्णपक्षांत अंधाराचा समूह जसा रात्रीला आच्छाद्न टाकितो त्याप्रमाणे जग आच्छाद्न टाकितील. ४४ नीतियुक्त, परि-णामीं रमणीय, विद्वान लोकांच्या कानाला रसायनासारखें असलेलें हितकर भाषण बोऌ्रन मुख्यमंत्री थांवल्यावर विशास्त्रभूति महाराज त्यास पुढें छिहिल्या-प्रमाणें वोलले. '' अहो प्रधानजी! योग्य कृत्यें जाणणाऱ्या आपणाकडून जें कांहीं सांगितलें गेलें तें तसेंच आहे अर्थात् योग्यच आहे परंतु हे आर्या! असा कांहीं निर्दोप उपाय सांगा कीं ज्या उपायानें कांहीं हानि न होतां तो वगीचा मिळूं शकेल. ४३ महाराजांचे भाषण ऐकून विचार करण्यांत निपुण अशा प्रधानजीनें पुनः महाराजांना म्हटलें कीं, "अहो महाराज! जो परिणामीं हितकर व वगीचाची माप्ति करून देण्यास कुशल आहे असा श्रेष्ठ उपाय आम्हास माहीत नाहीं. ४७ हे राजन्! जर आपल्याला योग्य उपाय माहीत आहे तर तो आपल्या बुद्धीच्या जोरा-वर अंमलांत आणा. कारण मत्येक पुरुषांची बुद्धि वेगवेगली असतें. तसेंच कार्य करेंग अथवा न करणें याविषयीं आपण समर्थ आहांत च प्रधान आपलें मत काय आहे तें सांगण्यामध्यें समर्थ आहे. अर्थात् आम्ही जें सांगितलें आहे त्या

प्रमाण वागणं न वागणं आपल्या स्वाधीन आहे परंतु आस्ही मात योग्य मार्ग दाखियणें हें आमर्चे कर्तव्य आहे." ४८ याप्रमाणें भाषण करून मुख्य मंत्री स्तव्य वसला. नंतर राजानें सर्व मंत्रिमंडलाला घरी जाण्यास सांगितले व मनानें कांडीं विचार करून तत्काल युवराजाला बोलाइन तो त्यास पुढें लिहिल्याप्रमाणे बोलला. ४९ "हे वत्सा! कामरूप देशाचा राजा माझ्याहन विरुद्ध अशा प्रार्गापध्य प्रवृत्त झालेला आहे हें तुला माहीत नाहीं काय ? यास्तव त्याचा नाश करण्यासाठीं मी शीघ्र जातों. तूं मार्ग या राज्याचें रक्षण कर" ५० याप्रमाणें राजांच थापण लक्ष-पूर्वक ऐक्न विश्वनंदी युवराजांने नमस्कार करून याप्रमाणे न्हटलें — 'हे राजन! मी असतां आपण हा प्रयास कां करितां? मला आपण पाठवृन द्या न्हणजे मी त्याला खात्रोंनें जिंकीन.

प्रतिपक्षमनाप्य मत्प्रतापो भुजयोरेव चिरं विलीयमानः॥ नरनाथ! न जातु वीक्षितो यः परमाविः कियतां त्वया स तत्र॥५१॥ इति गामभिधाय सावलेपां पुनरप्यानतपूर्वकायमीशः॥ विसर्सर्ज तमेव सोऽप्ययासीत्प्रविधायोपवनस्य चाभिरक्षां ॥ ५२॥ दिवसैरथ सम्मितैः स्वदेशं तरसातीत्य नयेन संगताभिः॥ पथि राजककोटिभिः परीतो रिपुदेशस्य समीपमाससाद ॥ ५३ ॥ प्रविश्वत्रय दूरतः सभांतं प्रतिहारेण सहान्यदा प्रतीतः॥ त्रणपट्टकवद्धसर्वदेहो युवराजा दहरो वनाधिरक्षः ॥ ५४ ॥ प्रणनाम निवेशितेन भूम्यां शिरसा नाथमनाथवत्सलं तः ॥ अभिसद्य च विष्टरोपविष्टं स्थितवांस्तित्रयदृष्टिदत्तदेशे ॥५५॥ क्षणमात्रमथोपविश्य पूर्व व्रणितेरेव निवेदितं शरीरैः ॥ पुनरुक्तमिवेश्वरेण पृष्टो निजगादागमनस्य कारणं सः ॥ ५६॥ नरनाथपतेरनुज्ञयास्मानवमत्योपवनं विशारवनंदी ॥ विगति सम भवत्प्रतापयोग्यं तदिष श्रीष्यिम यत्कृतं च रक्षेः॥५७॥ इति तेन निवेदितां विदित्वा वनवार्ता छिपतोऽपि विश्वनंदी ॥ अवधीरयति स्म धीरचित्तः कथया ताम्य छीछवान्येयव ॥ ५५॥ महतीमथ तस्य कारियत्वा महसा म्नानपुरम्परां सपया॥ विवभाविषपः स च प्रसादं पुनरासाद्य नमस्ययावनमः ॥५°॥

५१ हे राजन! शत्रूंच्या अभावीं माझा जो पराक्रम माझ्या दोन बाहूम-ध्येंच फार दिवसापासून विलीन होत आहे तो आपण कथीं पाहिला नाहीं. यारतव त्या माझ्या पराक्रमाला त्या शत्रूच्या ठिकाणी प्रगट होण्यास आपणाकडून अवरार दिला जावा. ५२ याप्रमाणें गर्वयुक्त भाषण करून पुनः आपल्या शरीर चा पूर्व भाग युवराजानें वांकविला अर्थात् त्यानें छवून राजाला नमस्कार केला. राजाने युवराजाचे विसर्जन केल्यावर तो जाण्यास निघाला व जातांना त्यानें वर्गीचाच्या रक्षणाची चांगली व्यवस्था केली. ५३ थोडक्या दिवसांनीं आपला देश शोघ्र ओलांइन मार्गामध्यें नीतिमार्गाला अनुसक्त येऊन मिळालेल्या अनेक राजांनीं युक्त होऊन युवराज शत्रूच्या देशाच्या जवळ येऊन पोहोंचछा. ५४ कोणे एके वेळीं दुरूनच द्वारपालासह सभैत प्रवेश करणारा, जखमांच्या पृष्ट्यांनीं ज्याचे देहाचे सर्व अवयव बांधळे आहेत असा, वनाचें रक्षण करणारा विश्वासू माळी युवराजानें पाहिला. ५५ माळ्याने आपलें मस्तक जमीनीवर टेकवून अनाथांत्रर प्रेम करणाऱ्या, सिहासनावर वसलेल्या युवराजाला नमस्कार केला. व जबळ जाऊन त्यानें आपल्या द्येच्या नजरेनें दाखिबळेल्या ठिकाणीं तो वसला. ५६ क्षणपर्यंत बसून नंतर प्रथमतःच जरी त्याच्या जखमी झालेल्या देहांनी-सर्व हकीकत सांगितली होती तथापि युवराजानें विचारल्यामुळें जणु पुनरुक्तिनमाणें त्यानें आपल्या यण्याच कारण सांगितलें. [ कसा अर्थात् शरीरांत झालेल्या जखमांनींच त्यानें आपला अभिमाय सांगितल्यासारखाच होतो परंतु युवराजानें विचारल्यावरून शद्धाचे द्वारें पुनः तोच अभिपाय त्यानें व्यक्त केल्याची मुळें एकच गोष्ट दोनदां सांगितल्याप्रमाणें येथें झालें आहे.] ५७-५८ हे युवराज ! महाराजांच्या आज्ञेनें आह्मांला न जुमानतां विशाखनदीनें वगीचांत प्रवेश केला परंतु वनाचें रक्षण करणाऱ्या लोकांनीं आपल्या पराक्रमाला शोभेल असें जें कार्य केलें तें देखील आपणास मागाहून ऐकावयास मिलेलच. याप्रमाणें वनपा-लाने सांगितलेली वर्गीचाची हकीकत जाणून विश्वनंदीला क्रोध आला परंतु तो धीर अंत:करणाचा असल्यामुळें लीलेनें इतर गोष्टी काढून त्या ह फीकतीकडे त्यानें दुर्लक्ष केलें. ५९ स्नानपूर्वक भोजन वगैरे देऊन त्याचा मोठा आदर सत्कार केला यामुळे युवराज शोभू लागला व पभूच्या कृपेचा लाभ झाल्यामुळें तो वनपालंही अति नम्न झाला त्यायुळें तोही फार शोभू लागला.

अथ तेन नयैः प्रतापशक्त्या परया च प्रवणिकृतः सपत्नः ॥ प्राणिपत्य करं वितीर्य सारं विनिवृत्यापि तदाज्ञया जगाम ॥६०॥

निरवर्तत वेगतो युवेशः सफलीकृत्य ततस्तदा तदाज्ञां॥ स्वपुरं प्रतिपूज्य राजलोकं विसृजन्नप्रतिमः प्रतिप्रयाणं ॥ ६१ ॥ अवलोकयति स्म स स्वदेशं तरसा प्राप्य पलायमानलोकं ॥ किमिदं कथयेति तेन पृष्टो निजगादेत्यनिरुद्धनामधेयः॥ ६२॥ परितोऽपि वनं विशाखनंदी तत्र तद्दुर्गतरं विधाय भीमं॥ भवता सह वांछतीश योद्धं नरनाथो युवयोः स तुल्यवृत्तिः ॥६३॥ तदवेत्य पलायते जनांतो इतमाशंक्य किमण्ययं भयेन॥ कथितं च मया यथा प्रवृत्तं तदिदं देव ! परं न वेझि किंचित्॥६४॥ इति तद्रचनेन विश्वनंदी स विचिन्त्येति जगाद धरिनादः॥ त्रपते मम यत्र चित्तवृत्तिस्तदुपादाय पुरः स्थितं च धात्रा॥ ६५॥ विनिवृत्य यदि प्रयामि पश्चादभयः कोऽपि निवर्तते न भृत्यः॥ यदि हान्म ततो जनापवादो वद किं कृत्यमकृत्यमप्यथैकं ॥६६॥ पुनरित्यधिपेन नोदितः सन्सचिवः स स्फुटामित्युदाजहार ॥ नरनाथ यथा च वीरलक्ष्मीर्विमुखी नैव भवेत्तदेव ऋत्यस् ॥ ६७ ॥ अभवद्रिमुखो भवाना तस्मिन्वनमाकर्ण्य हुतं पुरापि देव ॥ अपहृत्य च स त्वदीयमेव प्रसमं हंतुमपीहते भवन्तं ॥ ६८ ॥

६० तद्नंनर युक्ति प्रयुक्तीनी व उत्कृष्ट अशा पराक्रमाच्या जोरावर युवराजानें कामरूप देशाच्या राजाला वश केले. तेव्हां तो करभाग व उत्कृष्ट पदार्थ युवराजाला अर्पण करून व नमस्कार करून त्याच्या आज़ेनें परत निघृन गेला.६१-६३यानंतर राजाची आजा सफल करून युवराज आपल्या राजधानीक डे येण्यास निघाला. जे राजे याला मदत करण्यासाठी आले होते त्यांचा आटर सत्कार करून त्यांचें अनुपम अज्ञा या युवराजानें विसर्जन केलें व अनेक प्रयाणांनी तो आपल्या देशास शीघ्र जाऊन पोहोचला. परत आपले देशांत्न लोक पलत असलेले पाहून हें काय आहे सांग वरे १ असा प्रश्न त्यांनें आनिरुद्ध या नांगाच्या एका मनुष्यास केला. तेव्हां त्यांनें पुढे लिहिल्याप्रमाण हक्तिकत निवेदन केला तो महणाला, ''हे नाथ विशाखनंदी वर्गाचाच्या सभोवती भयंकर व मजबृत असा किला किला वांघृन आपणावरोवर युद्ध करण्याचा उच्छा करार्त आहे. परंतु विशाखन

भूति महाराज आपणा उभयतांविषयीं मध्यरथ हत्तीचे आहेत. ६४ ही सर्व हकीकत जाणून आपल्या देशांतील लोक आपलें कांहीं अनिष्ट होईल अशी शंका मनांत चेऊन भीतीने पळत सुटले आहेत. हे नाथ ! मला जेवहें माहीत होतें तेवहें भी है आपणांस सांगितलें. या शिवाय मला अधिक कांहीं माहीत नाहीं. " ६५ हें त्याचें भाषण ऐक्कन विश्वनंदीनें थोडा वेळ विचार करून गंभीर शब्दांनीं महटलें कीं, " जैं कार्य करण्याविषयीं माझे मन लाजते तेंच कार्य दैवाने माझ्यापुढें अत्णून ठेविलें आहे ६६ जर भी येथूनच परत जावें म्हणतों तर कोणताही निर्भय सेवक परतुं इच्छीत नाहीं. व विशाखनंदीला मी टार मारीन तर लोकामध्यें माझी अपकीर्ति झाल्यावांचून राहणार नाही. लेव्हां या दोन कार्यापैकीं भी कोणतें कार्य करू तें सांगा" ६७ याप्रपाणे युवराजानें प्रधानजीना विचारलें असतां प्रधा-नजींनी पुढें छिहिल्याममाणें स्पष्ट उत्तर दिछें. ते म्हणाळे कीं, ''हे प्रभो ? जेणे करून वीरलक्ष्मी विमुख होणार नाहीं असेच कार्य आपण करावे. ६८ हे नाथा!आपण विशाखनंदिनं वगीचाचे हरण केले हैं ऐक्रनहीं त्याविषयीं पूर्वी देखिल विमुख झाला नाहींत अर्थात् त्याच्या विषयीं आपल्या मनांत शीतीचा अभाव होऊन द्वेष उत्पन्न झाला नाहीं. परंतु आतां तर तुमच। वगीचा छुटून पुनः तुम्हालाच तो मारण्याचीही इच्छा करीत आहे.

इदमद्भुतमी हशेऽपि कोपो भवतस्तत्र न जायते कथं वा ॥
प्रतिकृलगंत भनाक्त लोके द्रुममत्युद्धतमापगारयोऽपि ॥ ६९ ॥
यदि च त्विय तस्य बंधुबद्धिः किम्रु न प्रेष्यतीति द्तमेकं ॥
विहितागिस च प्रयाति कोपं मिय भीत्या रचितांजले किमार्यः॥७०॥
कृतभूरिपराभवेऽपि शत्रो प्रतिलोमेन करोति पौरुषं यः ॥
प्रतिविवतमीक्षते स पश्चात्रिजनारीमुखद्पेणे कलंकं ॥ ७१ ॥
अयमेव पराक्रमस्य कालो भवतो मानवतामधीश्वरस्य ॥
कथितं च मया विचार्य कार्यं सहशं त्वद्धजयोरिदं न चान्यत्॥७०॥
इति विक्रमशालिनां मनोत्तं वचनं न्यायविदां च तस्य मत्वा ॥
अविलंबितमेव विश्वनंदी प्रययावभ्यरि दुर्गमुग्रकोपान् ॥ ७३ ॥
सेनामथ प्रमुदितां प्रधनागमस्य दूरे निविश्य सुभटैःसह केश्चिदेव ॥
दुर्गीवलोकनपदेन जगाम वेगासुद्धे निधाय हृदयं युवराजसिंहः।७०॥

प्रापत्तदप्रतिमसालमलंब्यखांतं नानाविधैः परिगतं परितोऽपि यंत्रैः॥ विख्यातशूरनिकुरंबकपाल्यमानं ॥ स्थानांतरोच्छ्रितासितध्वजवीजिताशं ॥ ७५ ॥ उत्खुत्य खातमचिरेण विलंब्य सालं । भने समं रिपुबलेन निशातखङ्गे ।

भर्म सम रिपुबलेन निशातखङ्गे। उत्पाटितेन सहसैव शिलामयेन।

स्तंभेन भाखुरकरो रिपुमापकोपात् ॥ ७६॥

६९ आम्हाला याविपयीं मोठे आश्चर्य हैं वाटतें की, अशी परिस्थिति असतांही आपणास विशाखनंदीविषयीं कोप कसा उत्पन्न होत नाहीं ? या जगांत नदीचा वेग देखील आपल्याला प्रतिकृत झालेल्या उद्धत झाडास मोडून टाकितो. हें उदाहरण आपण आपल्या दृष्टीपुढें ठेवा. ७० हे महाराज ! जर आपणाविपयी त्याच्या अंत करणांत बंधुबुद्धी जागृत आहे अशी जर आपली समजूत असेल तर " मी अपराध केला आहे व आपण रागावाल म्हणून मी आतां हात जोडले आहेत तरीही आपण माझ्यावर कां कोप करितां " असा आपला अभिपाय कळ-विणाऱ्या एखाद्या स्वतःच्या दृताला तो कां वरें पाठवीत नाहीं ? ज्या अर्थी तो दृतास पाठवीत नाहीं त्या अर्थी त्याच्याविषयी आपण आपल्या मनांतून वधु बुद्धि काढून टाकणे रास्त आहे. ७१ शत्रु आपली पुष्कळ प्रकारें मानहानि करीत असतांही - नेहमीं उलट वागत असतांही त्याच्यावर जो आपला पराक्रम गाजवीत नाही तो मनुष्य आपला पराभव झाल्यानंतर आपल्या स्त्रियांच्या मुख-रूपी दर्पणांत प्रतिविंवित झालेला रवत.च्या तोडाचा कलंक पाहतो असे महणाव-यास हरकत नाहीं. ७२ स्वाभिमानी पुरुषांचा प्रभु असलेल्या हे युवराजा! हाच आपला पराक्रम गाजाविण्याचा काल आहे. आपल्या दोन वाहूंना शोभण्यासारखें हें कार्यं मी विचार करून आपणास सांगितलें आहे. हेंच कार्य आपणास योग्य आहे. दुसरें नाहीं.'' ७३ याप्रमाणें प्रधानजीनें केलेंल हैं भाषण पराक्रमशाली मनुष्यांच्या मनाला आवडणारे व नीतिवेत्त्यांना पटणारे आहे असे जाणून विश्वनंदी युवराज तीव कुद्ध होऊन शीध्र अबूच्या किल्ल्यावर हल्ला करण्यासाटी निघाला. ७४ पुनः युद्ध करण्याचा प्रसग आल्यामुळें आनंदित झालेल्या सेनेला दूर ठेऊन थोडेसे वीरपुरुष वरोवर घेऊन किञ्चा पाहण्याच्या मिपाने परंतु युद्ध कर्ण्याचा आभिप्राय हृद्यांत ठेऊन युवराज वेगानं निघाला. ७५ ज्याचा तट अपानिम आहे व ज्याचा

खंदक ओलांडण्यास अज्ञक्य आहे व ज्याच्या सर्व बाजूंनीं नानाप्रकारचीं यंतें बसविलीं आहेत, विख्यात झूर योद्धे ज्याचें संरक्षण करण्याकारितां सज्ज झाले आहेत व ठिकठिकाणीं रोवलेल्या उंच पांडच्या ध्वजांनीं जो दिशांना वारा घालीत आहे अशा किल्ल्याजवळ युवराज आला. ७६ युवराजानें खंदक ओलां इन तटहीं ओलांडला व शत्रुसैन्याचा फन्ना पाडीत असतां त्याची तरवार तुटली. परंतु लागलीच एक दगडी खांव उपडून त्यानें हातांत घेतला त्यामुळें त्याचा हात शोभूं लागला. असा पराक्रम गाजवीत तो ऋद्ध होऊन शत्रूवर-विशाखनंदीवर धावला.

आयांतमंतकनिभं तमुदग्रसत्व॥ मालोक्य वेपशुगृहीतसमस्तगात्रः॥ तस्थौ कपित्थतरुमेत्य विशाखनंदी ॥ मंदीकृतद्यति वहन्वदनं भयेन ॥ ७७ ॥ तरिंमस्तराविप समं स्वमनोरथेन ॥ प्रोन्मूलिते महति तेन महाबलेन ॥ सत्रासरावरचिताञ्जलिना प्रपेदे॥ भीत्या नमन्नशरणः शरणं तमेव 11901 पादानतं तमवलोक्य विहीनसत्वं ॥ सन्नीडमाप सहसा प्रविहाय कोपं। नृनं भयावनतचेतास शात्रवेऽपि ॥ प्रख्यातपौरुपानिधिः स्वयमेति लज्जां ॥७९॥ मुर्घानमानतमुदस्य तदा तदीयं पर्यस्तरत्नमुकुटं स करद्रयेन। तस्मे ददावभयमूजितसाहसानां युक्तं तदेव महतां शरणागतेषु॥८०॥

> कृत्वाहमीहशमनात्मसमं कथं वा ॥ स्थास्यामि तस्य पुरतोऽत्र विशाखभूतेः॥ इत्याकलय्य दृदयेन गृहीतलज्जो ॥ 'राज्यं विहाय तपसे निरगादगारात्॥८१॥

यांतं तदा चरितमचरितुं यतीनां॥
रोर्डुं शशाक समुपेत्य न तं पितृव्यः॥
पादानतोऽपि सकलैः सह वंधवर्गैः॥
किंवा महान्व्यवसितादिनिवृत्य याति॥०२॥
उहाँव्य मंत्रिवचनं विहितं पुरा यतस्मात्तदानुशयमाप्य नरेश्वरोऽपि॥
लोकापवादचिकतः स्वसुते स तस्मिन्॥
लक्ष्मीं निधाय सकलां तदनु प्रतस्थे॥०३॥

गत्वा महीपतिभिराशु समं सहसैः संभूतपादयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना। दीक्षां विरेजतुरुभाविप तौ गृहीत्वा पुंसां तपो नन विभूपणमेकमेव८४ ७७ यमानमाणं भासणारा व मचंड शक्तीचा धारक अशा विश्वनंदी पुवरा-

जाला येत असलेला पाहुन विशाखनंदीन्या सर्व अंगाला कांपरें सुटलें. भीतीन त्याच्या तोडावरची काति सुकून गेली अर्थात् मंद बाली. व नो कवटाच्या बाडा-कडे येऊन त्यावर चहुन वसला. ७८ परंतु सामर्थ्याली अशा युवरामान विशा-खनंदीच्या सर्व भावी आशासह तें मोठें कंवठाचे झाडही उपहन टाकिलें. त्यामुळे 'माझें रक्षण कर' असे भीतीचे शब्द उचारीत हात जोहून दुसरा कोणी रक्षक न दिसल्यामुळें तो युवराजालाच नमरकार करून शरण गेला. ७९ शक्तिहीन असा विशाखनंदी आपरंपा पायांस नमस्कार करीत आहे हे पाहुन युवराजाला लाज बाटूं छागछी. त्यांने तत्काल आपला राग सोडला. वरीवरचे आहे की प्रख्यात पराक्रभाचे निधि असे पुरुष शत्रु मनामध्येही नम्र झाला असतां लजायुक्त होतात. अर्थात् तो आपणास शरण आला है अयोग्य झालें असे त्यांना नाट्टं लागतें. ८० ज्याचा रत्नांचा मुकुट ढिला झाला आहे अशा त्या विशाखनंदींचे आपल्या पाया-वर नम्र झालेलें मस्तक युवराजानें आपल्या दोन हांतांनी वर केलें व त्याला अभयदान दिलें. उत्कृष्ट साहस करणारे सत्पुरुप शरण आलेल्यांना अभयदान देत असतात हें योग्यच आहे. ८१ युवराजाला अमें वाटू लागलें की, "मी हें रवतःला न शोभणारे कृत्य केलं. भी आतां या विशाखशूतिपुढें कसा उभा राह्"या प्रमाणें विचार उत्पन्न हों उन तो मनांत खजील झाला. व राज्याचा त्याग करून तप-श्चरण करण्यासाठी तो घराच्या बाहेर पडला. ८२ यतीच्या महाव्रतांचे आचरण कर-ण्यासाठी जात असल्हेल्या युवराजाकडे त्याचा चुलता अर्थात् विजासंभूति राजा

आला व तो आपत्या सर्व संबंधि जनांसह त्याच्या पाया पहून त्याला अडिविण्याचा प्रयत्न करूं लागेला पण त्याला त्या कामांत यश आलें नाहीं. वरोवरच आहे कीं, सत्युरुष आपल्या मनांत ठरिविलेल्या कार्यापासून कथीं परावृत्त होतात काय १८३ विशाखभूतीनें मंत्र्याच्या भाषणाचा अव्हेर करून कें कार्य केलें त्यापासून त्याला आतां पश्चात्ताप झाला. त्याला लोकापवादापासून भय वाहूं लागलें. यारतव त्यानें आपली राजलक्ष्मी आपल्या पुलावर-विशाखनंदीवर ठेविली. युवराजाचे मागें तोही दीक्षा घेण्यास निघाला. ८४ हजार राजांसह राजा विशाखभूति संभूत मुनिकडे गेला व त्यांच्या दोन पायांना मस्तकानें त्यानें नमस्कार केला. चुलता व पुतण्या या दोघांनींही दीक्षा घेनली यामुळें ते दोघे फार शोभू लागले. खरोखर पुरुषांचें भूषण तपश्चरण करणे हेंच होय. यानेंच त्यांना शोभा येतें.

कृतवा तपश्चिरतरं स विशाखभूतिः ॥ सोद्धा परीषहगणानथ दुनिवारान् ॥ हित्वा त्रिशल्यमनघं दशमं समापत्॥

द्रचष्टाम्बिधिस्थितिमनलपसुखं तु कल्पं ॥ ८५ ॥ अथावगम्याशु विशाखनंदिनं विवर्जितं दैवपराक्रमकमैः॥ विजित्य युद्धे समुपाददे श्रियं पुरेण दायादमहिपितिः समं ॥८६॥ आत्मंभिरत्वादपहाय मानं तमेव दूतिक्रियया सिपेवे ॥ महिपितिः प्रागयमित्यशंकं निर्दिश्यमानोऽपि जनांगुलीभिः॥८७॥ अथेकदात्युश्रतपोविसूतिमीसोपवासेन कृशीकृतांगः ॥ प्रोत्तंगहर्म्यां मथुरां स्वकाले विवेश भिक्षां प्रति विश्वनंदी॥ ८८॥ शृंगप्रहारेण पशोःपतंतं रथ्यामुखं साधुमसाधुवृत्तः ॥ जहास तं वीक्ष्य विशाखनंदी वारांगनासौधतलाधिरुढः ॥ ८९॥

तस्वा श्रंगप्रहारेण पतितं विश्वनंदन । अहासीह्रिटमणमुनुवेंश्यासीवनले स्थित ॥४२॥ प्रहासात्तस्व सोत्सेकाच्चुकुवे मुनिना भृश ॥ तेनाकारी निदान च प्रायन्तद्वपिष्टिप्सया ॥४२॥ स निवृत्त्य ततो गत्वा हित्वा तनुतरातनु । महद्धिवि बुधो जज्ञे महागुक्रे तप. फलान्॥४४॥ इति असग कवि कृते शातिपुराणे अष्टम सर्गे॥

<sup>\*</sup> टीप:—काले माममुपोप्य स्वे विशत मयुरापुरी ॥ तं मध्यान्हदुधा गृष्टिघटोध्नी प्राहरत्पयि ॥ ४१ ॥

जगाद चेति क्व गतं बलं ते विजित्य सेनां सकलां सदुर्गां ॥ उन्मूलितो येन शिलाविशालः स्तंभः किपत्थश्च पुरा तदद्य ॥९०॥ आकर्ण्य तस्य वचनं प्रविलोक्य तं च ॥ क्षान्ति विहाय विनिवृत्य तथैव गत्वा ॥

कृत्वा निदानममुचन्मुनिरात्मदेहं कोपो हि कारणमनर्थपरंपरायाः ९१ ततो महाशुक्रमवाप्य कल्पं महेन्द्रकल्पास्निदशो वभृव ॥ सपोडशांभोनिधिसम्मितायुद्धिव्याङ्गनालोकनलालसाक्षः॥९२॥

८५ विशाखभूति मुनिराजांनीं पुष्कळ दिवसपर्यंत तपश्चरण करून रोक-ण्यास अशक्य असे भूक, तहानः थंडी, उष्ण वैगेरे वावीस परीपह सहन केले. मायाश्चर (कपट) मिथ्यात्वश्चर आणि निदानश्चर (यला पुँहं नानापकार्चे भोग्य पदार्थ भोगावयास मिळावेत, मी इंद्र व्हावा, चऋवर्ती व्हावा इत्यादि संसा-रपरिवर्धक इच्छा ) या तीन शल्यांचा त्याग केला. त्यामुळे आयुष्य संपल्यावर ते जेथें सोळा सागर वर्षाचे आयुष्य असून विपुल सुख मिळते अशा दहाच्या महाशुक्र स्वर्गात उत्पन्न झाले. ८३ इकडे विशाखनंदी हा दैव व पराक्रम यांनी रहित आहे हें जाणून त्याचा भाउबंद असंलल्या एका राजानें त्याला युद्धामध्ये शीघ्र जिंकिलें व राजगृह शहरावरोवर त्याच्या राजलक्ष्मीचा त्यानें स्वीकार केला. ८७ विशाखनंदीला आपले पोट कसें भरावे एवढेच माहीत होतें म्हणून अभिमान सोडून त्यानें त्याच राजाची नोकरी धरली. एकाचा निरोप दुसऱ्यास सांगण्याचा उद्योग करूं लागला अर्थात तो दृत वनला. लोक त्याला पाहुन हा मनुष्य पूर्वी या शहराचा राजा होता असें त्याचेकडे बोट करून निःशक त्याच्या विषयी अजाण माणसाला सांगत असत. पण याविषयीं त्याला कांहींच दुःख वाटत नसे. ८७ एके दिवशीं तीव्रतपश्चरणाचें वैभवाला धारण करणारे, एक महिन्याच्या **उपवासानें** ज्यांचें शरिर कुश झाले आहे असे विश्वनंदि ग्रानिराज श्रीमंतांच्या उंच उंच वाड्यांनी शोभत असलेल्या मथुरा शहरांत आहार घेण्याच्या वेळीं अर्थात दिवसा दहा वाजतां आले. ८९ त्यावेळीं त्यांना एका गछीच्या तोडाशीं रस्त्यावर एका गायीच्या शिगांचा धका लागला. त्यामुळे ते पडत असतां वेक्येच्या माडीवर वसलेल्या दुराचरणी विज्ञाखनंदीनें त्यांना पाहिले व हंसून म्हटले की, " ज्या सामध्यीने तूं पूर्वी सर्व सैन्य व किल्ला जिकलास आणि मोठा दगडी खांव उपहून कवठाचें झाडही उपहून टाकिलेस तें तुझ सामर्थ्य आज

कोंडें गेलें ? "९१ त्याचें तें भाषण ऐक्तन व त्याला पाहून सुनिराजांनीं क्षमाभाव सोडून दिला. आहार न घेतां ते तसेंच परतून निधून गेले व अन्तीं त्यांनीं निदान बांधून अर्थात् या विशाखनंदीचा पुढच्या जन्मी धी अवश्य सूड घेईन असा निश्चय करून देहत्याग केला. चरोबरच आहे कीं क्रोध हा अनेक प्रकारच्या अनर्थाचें कारण आहे ५२ हे विश्वनंदि सुनिराज महाशुक्त नांवाच्या दहाव्या स्वर्गात इंद्राप्रमाणें महाशुद्धिधारक असा देव होऊन जन्मले. या देवाचें तेथें सोला सागर प्रमाण आयुष्य होतें. सुंदर देवांगनांचें रूप पाहण्यांन याचे नेत्र नेहमी उत्सुक असत.

विचित्रमणिरिशमिर्नाटीलेताखिलाशासुखं। शर्गांकिरणांकुरद्यतिहरं विमानोत्तमं। अनेकशिखरावलीतटिनवद्धश्रभ्यजं। समग्रसुखंसपदां पदमधिष्ठतः पिप्रिये॥९३॥ श्रित्वा जैनं वतमनुपमं लक्ष्मणायास्तनूजो। हट्ट्वा व्योग्नि प्रचुरविभवं खेचराणामधीशम्। वांछन्भोगानकृत कृपणो दुर्निदानं तपःस्थः। कल्पं प्राप्तस्तमपि वपुपः क्षेशतः सद्वतेश्व॥ ९४॥ इत्यसगकविकृते श्रीवर्धमानचरिते विश्वनंदिनिदानो नाम चतुर्थः सर्यः॥ ४॥

९३ नाना प्रकारच्या रत्नांच्या कांतींनीं ज्यानें सर्व दिशांचीं तोडें व्याप्त केली आहेत अर्थात् ज्याची रत्नकांति सर्व दिशांत पसरली आहे, जे चंद्रिकरणांची कांति हरण करिते, ज्याला अनेक शिखरें असून ज्याच्या-वर पांढच्या ध्वजा वसविलेल्या शाहेत व जें संपूर्ण सुखसंपत्तीचें रयान आहे, अशा विमानांत राहणारा तो विश्वनंदीचा जीय देव फार आनंदित झाला.

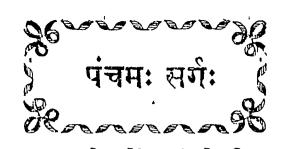
९४ विज्ञास्वभूति व लक्ष्मणा राणीचा दीन पुत्र विशासनंदी यानें जिनेश्वराचें त्रत अर्थात् जिनदीक्षा धारण केली. एके वेलीं आकाशांत एक्जल ऐश्वर्याचा धारक असा एक विद्याधरांचा राजा जात होता त्याला यानें पाहिलें।

## ( 98 )

तेव्हां याच्या सारखी भोगसंपात्ति मला प्राप्त व्हावी असे याने निद्दान वांधिलें. तपश्चरणांत निमग्न राहून उत्तम त्रतांनी व शारीरिक क्लेगांनी याने त्याच दहाव्या स्वर्गाची प्राप्ति करून घेतली.

याप्रमाणें असगकविविग्चित श्रीवर्धमानचरितांतील विश्वनंदीच्या निदानाचें वर्णन करणारा चौथा सर्ग संपला ॥ ४॥





द्वीपेऽथ जंबूमति भारताख्ये वर्षे महीश्रो विजयार्द्धनामा। समुन्नतानेकसुकूटरिमश्वेतीकृताशेषनभःस्थलोऽस्ति ॥१॥ यत्रामलस्पाटिककूटकोटिस्थिता विलोक्यात्मवधूः खगेन्द्राः। साम्येन मूढा विबुधांगनानां प्रयांति केल्यां सहसा व्यतीत्य ॥२॥ ® यत्पादनीलांशमहाप्रभाभिर्मृगेंद्रशावो बहु विप्रलब्धः । गुहामुखं शंकिमनाश्चिरेण विवेश सत्यासु गुहासु नैव ॥३॥ यः सानुदेशस्थितपद्मरागमरीचिमालारुणितांतिरक्षः। संशोभते नित्यमनंततेजाः संध्याघनो वा नितरां मनोज्ञः ॥थ॥ ० यत्सानुदेशप्रतिर्विबितं स्वं निरीक्ष्य वन्यद्धिरदो मदांधः। समेत्य वेगेन रदप्रहारैर्हिनस्ति को वा मदिनां विवेकः ॥५॥ विपानलोद्रेककरालभोगा यास्मन्थुजंगाः परितो भ्रमन्तः। गरुन्मणिस्फीतमरीचिजालसंस्पर्शतस्यक्तविषा भवन्ति ॥६॥ श्रेण्यामपाच्यामलकाभिधाना पुरी धरायास्तिलकायमाना । तत्रोत्सवातोद्यसुगीतनादैरापूरिता भात्यमरावतीव ॥७॥ १ या जंबूद्वीपांतील भारत क्षेत्रांत विजयाध नांवाचा पर्वत आहे. त्याने अतिशय उंच अशा आपल्या अनेक शिखरांच्या किरणांनीं सर्व आकाश पदेशाला

सत्मानुनीलमणिटीप्तिपरपराभिः पचाननस्य दिश्चित्व बहु विप्रलब्धा ।
 सत्येऽपि कटरम्ख्रे परिशंकमाना निश्चित्य गर्जनकृतध्वानिमिर्विशांति ॥८॥

रवं वीक्ष्य वन्यद्विरदो नितने यस्य निम्नित ।
 समेत्य दनैस्त हान्ति मादिना का विवोक्तिता ॥९॥
 भीवधरचंप्वा तृतीयलम्बे इमी समानार्थको श्ठोको ।
 भिन विलोक्य निनमुज्ज्वलस्तिमित्तौ कोबात्प्रतिद्विप इतीह ददी प्रहारं ॥
 तद्भग्रदीर्घदशनः पुनरेव तोपा—छीलालस स्पृशिति पत्र्य गन प्रियेति ।
 धर्मशर्मिस्युद्ये वाय समानार्थकः श्ठोको दशमस्गं ॥

पांढरें केलें आहे. २ या पर्वताच्या निर्मल स्फाटिक पापाणांनीं वनलेल्या जिखराच्या अग्रभागावर आरूढ झालेल्या स्वतःच्या स्त्रियांना पाहून विच्राधर लोक देवांग-नांच्या सादृश्याने आंत होतात व कीडेच्या वेळी त्यांना सहसा ओळांइन जातात. ३ या पर्वताच्या पायथ्याला असलेल्या नीलमेण्यांच्या पुण्कळ प्रकाशानें सिंहाचे बचे पुष्कळ वेळां फसत असत. त्यागुळं घुँहें गुहा असतांही त्यांना येथे गुहेचे तोड आहे की नाहीं अभी शंका येत असे व वन्याच वेळाने ने गुहत भिरत असत. नीलरत्नांचा प्रकाश कृष्णवर्णाचा असतो यामुळें तो सर्वत्र पसर्ल्यामुळें सिंहाच्या पिलांना गुहांची तोडें दिसत नसत म्हणून ते संशययुक्त होत असत. ४ शिखरावर असलेल्या पद्मरागरत्नांच्या किरणसमृहांनं सर्व आकाशाला ज्यांनं लालभडक केलं आहे व ज्याचें तेज कधीही नष्ट होत नाहीं असा तो विजयाद्ध पर्वत संध्याकाळच्या लाल मेघाप्रमाणे अतिशय सुंदर दिसतो. ५ या पर्वताच्या कड्यामध्ये आपलें पडलेलें मतिबिंव पाहृन मदाने उन्मत्त वनलेला रानटी इत्ती वेगानें येऊन त्या प्रतिविवाला हा आपला प्रतिपक्षी आहे असें. समजून टांनांनी महार करितो. वरोवर आहे कीं, जे उन्भत्त आहेत त्यांना विवेक कराा असणार ? ६ विषरूपी अग्निच्या उत्कटतेने ज्यांचे शरीर फार भयमद दिसते असे सर्प त्या पर्वतावर सर्वत्र फिरत असत. परंतु गारुड मण्याच्या पसरहेल्या किरणसगृहाच्या रपर्शानें ते तत्काल निर्दिप होन असत. गारुड माणे सर्पाचे विष नाहीस करितात. हे मणि तेथे पुष्कळ असल्यामुळें विपारी सपेही निार्वेप सपीप्रमाणें तेथिल लोकांना वाटन असत. ७ या विजयांघ पर्वताच्या टाक्षण श्रेणीमध्ये पृथ्वीला सौभाग्य-तिलकापमाणें शोभा आणणारी अलका नांवाची नगरी आहे. ही उत्सव व गाणें वजावण यांच्या जञ्दांनीं नेहमी भरलेली असल्यामुळे इंद्राच्या अगरावती नांवा-च्या नगरीप्रपाणें शोभते.

महाशया घरितरा गभीरा सत्वाधिका सत्पुरुपाव्धितुल्या। प्रधीयसी यत्परिखा चकास्ति अंगप्रचारैः परिपूरिताशा॥ ८॥ क्षि सालो विशालः स्फुरदंशुजालः परेरभेद्यो निरवद्यपृर्तिः। सतीजनोरःस्थलस्थलसाम्यरूपपयोधरालीढसदम्बरश्रीः॥ ९॥

टीप—चत्मालगाला ग्हुग्वद्यागाला पर्यावग्योह्नमदम्बरश्री ॥
 वस्त्रस्थिति प्रभद्याननामा मनी नर्राहार्ति च निर्नगणा ॥ १४ ॥

यद्गोपुराग्रस्थितसालभंजीकोट्यंतरप्रांतमुपेत्य सम्यक् ।

० विलीयमाना शरदभ्रमाला सदुत्तरीयद्युतिराविभाति ॥ १० ॥

मंदोनिलोछासितसीधनद्धध्वजोत्करैनीकभुवः समंतात् ।

उद्घीकृतात्मीयकरैः स्वशोभामाद्र्य संदर्शयतीव निष्यं ॥ ११ ॥

श्र प्रसिद्धमानेन विरोधवर्जिना प्रमिण्वते यद्धणिजो निकामं ।

सत्तार्किका वा सदसद्विचाराद्धस्तुप्रयत्नाद्विष्ठ यतः स्ववाचा॥१२॥

८या नगरीचा मोठा खदक स्वतः च्या उसळणाऱ्या छाटांनीं दिशांना भरून टाकीत असून सत्पुरुप व समुद्र या उभयतामपाणें, शोभत आहे. कारण हा खंदक सत्पुरुप व समुद्र याप्रमाणें महाशय, धीर, गंभीर आणि सत्वाधिक आहे. जसे सत्पुरुष महाश्य-असतो अर्थात् उत्तम अभिप्रायाला धारण करितो. व समुद्र महाज्ञय – मोठेपणाला धारण करितो. त्याप्रमाणें हा खंदक ही महाशय होता अर्थात् फार मोठा होता. जसे समुद्र व सत्पुरूप धीर आणि गंभीर असतात त्याप्रमाणं हा खंदक दोखिल धीर-स्थिर व गभीर-खोल होता. सत्पुरुप जसा अधिक सत्वधारक--पराक्रम धारक असतो त्याप्रमाणें समुद्र व खंदकही अधिक सत्वधारक-अार्थात मगर मासे वगैरे जलचर प्राण्यांना धारण करणारे असतात. ९ या नगरीचा विशाल तट पतिव्रता खीच्या वक्षःस्थलापमाणें लोकांना भासतो. पतित्रतेचें वक्षःरथल जसें अन्य पुरुषाकडून स्पर्शिलें जाणें अज्ञक्य असतें च निर्दोप आणि सुंदर असतें त्याममाणें हा तटही शत्रुकडून अभेद्य-छिद्र वगैरेंनी रहित आहे व चमकणाऱ्या किरणांनी युक्त आहे. पतिव्रतेचे वक्षःस्थल जरें पयोधराछीढसदंबरश्री असतें अर्थात् दोन स्तनांनीं व उत्तम वस्त्रांनी आच्छादित असतें त्याप्रमाणें हा तटही पयोधरांनीं—-मेघांनीं चुंबित झालेल्या आकार्शाची शोभा धारण करणारा होता. १० या अलकानगरीच्या वेशीच्या

० यद्गे।पुराप्रमूत्राममाणिपुत्री विराजते ॥ घृतमूक्ष्मदुक्रूलेव शारदाबुदमालया ॥ १५ ॥ जी. च. काव्ये तृतीयलवे समानार्थकाविमी स्होकी ।

<sup>\*</sup> प्रसिद्धेनाविरुद्धेन मानेनान्याभिचारिणा ॥ वाणजस्तार्किकाश्चापि यत्र वस्तु प्रभिण्वते ॥ १४२ ॥ समानार्थकोऽय न्होकः चद्रंप्रभकाव्ये द्वितीयसर्गे ॥

जिखरावर असलेल्या पुतलीच्या वरच्या अवयवावर येऊन तेथें चिकटणारी शरत्कालच्या पांढच्या मेघांची पांक्ति उत्तम अज्ञा पांघरण्याच्या वस्नाची शोभा धारण करिते. ११ मंद् वाच्यानें हलणाच्या अज्ञा राजवाड्यांच्या व जिनमंदिरांच्या पताकारूपी आपल्या उंच केलेल्या हातांनी ही अलकानगरी स्वर्गभूमीला वोलाऊन तिला आपली जोभा जणु नित्य दाखवीत आहे अज्ञी शोभते. १२ ज्यामध्यें विरोध दोप येत नाहीं अज्ञा प्राप्तिद्ध पत्यक्षादि प्रणाणांनी योग्यायोग्य विचार करून उत्तम तर्केज लोक जस निर्दोष वरतुंचें ग्रहण करितात व नियमित निर्दोष वचनांनीं तिच्या रवरूपाचा निश्चय करितात. त्यापमाणें या नगरीतील व्यापारी लोक धान्यादिक पदार्थाच्या योग्यायोग्यतेचा विचार करून ज्यामध्यें विरोध येणार नाहीं अज्ञा प्राप्तिद्ध पापानी व वजनांनी त्या धान्याची मोजणी करितात व उत्तम तार्किकापमाणें आपल्या श्वास्त्राचा गागचा पुरुचा विचार करून पयोग कारितात.

यत्राकुलीनाः सततं हि तारा दोषाभिलाषाः पुनरेव घ्रकाः ।
सहत्तमंगोऽपि न गद्यकाव्ये रोधः परेषां मुजनस्य चाक्षे ॥ १३ ॥
दंडो ध्वजे सन्मुरजेषु वंधो वरांगनानां विक्ररेषु मंगः ।
सत्यंजरेष्वेव सदा विरोधो गतावहीनां कृटिलदःयोगः ॥ १४ ॥
तस्याः पतिधैर्यधनः खगेंद्रो महेंद्रलीलो विविधर्षिराशिः ।
विद्यावलिप्तोन्नतचारुचेता महाप्रभावोऽय मश्रूरकंटः ॥ १५ ॥
सुरक्तसर्वप्रकृतिः प्रतापी नित्योदयोऽपास्ततमःप्रचारः ।
पद्माकरेशो जगदेकदीपो विभाति यो भास्करवत्सदार्च्यः ॥ १६ ॥

१३ या नगरीत नक्षत्रसमृहच फक्त नेहमी अकुलीन होता. इतर कोणताही पतुःय अकुलीन-नीच कुलांत जन्मलेला नव्हता. नक्षत्रें अकुलीन-अर्थात
कुं—पृथ्वी लीन—चिकटलेली अर्था नव्हती. ती आकाशांत होती महणून तीच
फक्त अकुलीन होती. या नगरींत धुयडच दोपाभिलापी होते. इतर दोपाभिलापीदोपांची इन्छा करणारे नव्हते. आपण दोपी व्हावें अमे तेथे कोणामही वाटत

टीप:—भग कतेषु नारीणा न त्रतेषु तपिना ॥ विरोगः पंजरेप्वेव न मन मु महात्मनां ॥ इति नव्यमकाव्ये द्वितीयमगं समानार्यकः स्टोकः॥

नसे. दोपा झणजे रात्न, आभिलाप झणजे तिची इच्छा करणें अथीत घुवडाला नेहमीं रात्रच असावी, दिवस असू नये असें वाटत असतें. या नगरीत सहृत्ताभग गद्य कान्यांतच असे. लोकांच्या ठिकाणी सहूत—उत्तम व्रतें त्यांचा भंग—नाश हा नव्हता. लोक आपल्या अहिसादि उत्तम व्रतांचा कधींही नाश करीत नसत. गद्य काव्यांतच सहुत्तभंग अर्थात् उत्तम अशा शार्दृलविक्रीडित, वसंततिलक वगैरे रुत्तांचा—छंदाचा अभाव होता. या नगरींत शत्रूनाच रोध होता अर्थात् त्यांनाच अडकऊन टेवीत असत. इतरांना रोध नव्हता. तसेंच सज्जनांचा इंद्रिया-मर्ध्येच रोध—प्रातिबंध होता. अर्थात् सज्जन आपर्छी इंद्रियें ताब्यांत टेवीत असत. १४ या नगरींत ध्वजाच्या ठिकाणींच दंड होता इतरांना दंड होत नव्हता. बंध मृदं-गामध्येच होता.अर्थात् कातड्याच्या वाद्यांनीं मृदंग आवळून बांधला जात असे तेथील लोकांना वंध नव्हता. भंग-भांग हा स्त्रियांच्या धस्तकावरील केशांतच होता. तेथें भंग-नाज्ञ नव्हता उत्तम पिंजऱ्यामध्यें विरोध-वि-पक्षी त्यांना रोध -अडकविणे हें होतें. लोकामध्ये विरोध-द्वेष नव्हता. सर्पाच्या चालण्याच्या पद्धतींतच कुटिल्रत्व-योग वांकडेपणाचा संबंध होता. तेथील लोकांच्या ठिकाणी कुटिलत्वयोग-कपटप-णाचा संवंध नव्हता. १५ या नगरीचा मयूरकंठ या नांवाचा विचाधर राजा होता, हा राजा धैर्यरूपी धनानें युक्त होता. इंद्राप्रमाणें क्रीडा करणारा व अनेक प्रकारच्या ऐश्वर्याचा स्वामी होता. अनेक तव्हेच्या विद्यांनीं याचें गन सुसंरक्रत झालें असून ते उदार होतें. हा राजा मोटा प्रभा वशाली होता. १६ हा श्रेष्ठ पुरुषांना पूजनीय होता. सर्व प्रजाजनांची त्याच्यावर मीति होती. नेहमीं याचा उदय असे अर्थात हा नेहमीं उन्नतावस्थेनें युक्त होता व अज्ञानरूपी अंधकाराचा नाश करणारा असल्यामुळे नेहमीं उदय पात्रणारा, व अंधकाराचा नाश करणारा आणि उदय काली आपल्या लाल प्रकाशानें सर्व सष्टीला आरक्त करणाऱ्या सूर्याप्रमाणे शोभत होता. सूर्य जसा पञ्चाकरेश-कमलसमूहांचा पति व जगाचा आद्वितीय दीप असतो त्याप्रमाणे हा राजाही पन्नाकरेश अर्थात् सपत्ति समूहाचा अथिपति व जगाला अपूर्व दिव्यासा-रखा होता. दिव्याप्रमाणें हा लोकांना सन्मार्ग दाखवीत असे.

अपास्तपद्मा कमलेव कांतिर्गृहीतमूर्तिः स्वयमागतेव । रितःस्मरस्येव बसूव देवी मनोहरांगी कनकादिमाला ॥१७॥ जंघामृदुत्वेन हता नितांतं विसारतां सत्कदली प्रयाता । पयोधराभ्यां विजितं च यस्या मालूरमास्ते कठिनं वनांते ॥१८॥ × नेत्रोत्पलाभ्यामनवाप्य यस्या नीलोत्पलं सत्परिसूयमानं।
सरस्यगाघे पतितं प्रगत्य निकारसंतापनिरीषयेव ॥१९॥
यद्धकसंस्थामनवाप्य शोभां शशी समन्रोऽपि कलंकितोऽभूत्।
प्रामित्रमातंगगतेस्तु तस्याः केनोपमानं समुपैति कांतिः ॥२०॥
तस्यामभूत्प्रीतिरनन्ययोग्या खगेशिनः सद्गुणभूषितायां।
कलानिधौ निर्मलशीलवत्यां मनोहरे को न हि सिक्तिमेति॥२१॥
दिवः पतियोऽथ विशाखनंदी वभूव पुत्रः कमनीयमृत्योः।
सद्भारतार्द्धस्य पतिं प्रहृष्टः सांवत्सरस्तं सहसा दिदेश॥२०॥
कांतापि यद्भमहाभरेण महाजिगीपामकृत त्रिलोक्यां।
दिवाकरे याप्युपरि प्रयाते कृष्यत्त्यरं स्मारुणिकाननाक्षी॥२३॥
देहीतिशब्देन विवार्जिता भूरकारि राज्ञा सुतजन्मकाले।
सानंदवादित्रसुगीतनादैः शब्दात्मकं व्योमतलं समस्तं ॥२४॥

१७ या मयूरकंड विद्याघर राजाची मनोहर अवयवांना धारण करणारी कनकमाला नांवाची मुख्य राणी होती. ही कमलामध्यें निवास करणे जिंन सोहन दिलें आहे अशा लक्ष्मीप्रमाणे, किंवा सौदर्याने आपले स्वरूप लोकांना टाखवांवें म्हणून तें शरीर धारण करून आले आहे अशी अथवा ही मदनाची स्त्री जणू रित आहे अशी शोभत असे. १८ या राणीच्या मांडचाच्या मृदुपणाने पराजित झालेंली कुंदर केली निःसार झाली. व हिच्या दोन रतनांच्या द्वारे जिंकले गेलेले किंवण वेलाचे फल वनांन जाऊन राहूं लागले. १९ या राणीच्या सुंदर नेत्रहणी कमलाची कांति माम न झाल्यामुळें स्वत चा पराभव झाला असें समजणारे नीलक मल पराभवाचें दुःख नाहींसें करण्याकरितां अगाध सरोवरामध्ये जाऊन पडलें. २० या राणीच्या मुखावर असलेली शोभा स्वत ला मिलाली नाहीं म्हणून पूर्ण देखील चंद्र कलंकयुक्त झाला ज्याच्या गंडस्थलांतून मद वाहान आहे अशा मत्त हत्तीप्रमाणें जिची गित आहे अशा या राणीची कांति कोणत्या पटार्थांच्या हारें

<sup>×</sup> विलुप्तशोभानि विलोचनोत्पर्छ सितेतराण्यवुरुहाणि योपिनाम् । मरुचलद्वीचिनि यत्र शीतले लुठान्त तापादिव दीर्घिकाजले ॥३६॥ चद्रप्रभचरितकान्य प्रथमसेर्ग ममानार्थक अहोक, ॥

उपित केही जाईल. अर्थात् या राणीचें अंगसींद्य अनुपम होतें. २१ सद्गुणांनीं शोभणारी, निर्मल पितवता, गुणानें युक्त असलेली, गायन वादन वगैरे
अनेक कलांनीं पिरिपूर्ण असलेली अशा या राणीच्या ठिकाणीं राजाचें असाधारण
प्रेम होतें. वरोवरच आहे कीं, पनोहर पदार्थामध्यें कोण आसक्त होत नाहीं बरें ?
२२ दहाव्या स्वर्गीत देव होळन जन्मलेला तो विशाखनंदी सुंदर शरीर धारण
करणाच्या या राजा राणींना पुत्त होऊन जन्मला. त्याच्या जन्मकालीं ज्योतिषीनें
हा अध्या भरत क्षेत्राचा पित होईल असें आनंदित होऊन सांगितलें.२२ ज्याच्या
गभीच्या ओक्यानें भारावलेली ही राणी त्यावेलीं तैलोक्याला जिंकण्याची इच्छा
करीत होती व सूर्य वरून जात असतां त्याच्यावरही ही राणी डोले व तोंह
लाल वरून कुद्ध होत असे. २४ मयूरकंट राजानें या पुत्राच्या जन्मकालीं पृथ्वी।
'देहि' या शब्दानें रहित केली. अर्थात् याचक लोकांना इतकें दान दिलें कीं, त्यांनीं। 'देहि' महणजे दे असें म्हणण्याचें सोइन दिलें. तसेंच त्यावेलीं आनंदवायांच्या
शब्दांनीं व मंगल गाण्यांच्या शब्दांनीं सर्व आकाश शब्दमय झालें.

विधाय पूजां महतीं जिनानामनुज्ञया गोत्रमहत्तराणां। तेजस्विनः खेचरपुंगवोऽसौ चकार सुनोईयकंधराख्यां ॥ २५ ॥ पद्माप्रियः कोमलशुद्धपादो नेत्रोत्पलानंदकरो जनानां। कलाकलापं समवाप्नुवानो दिने दिनेऽवर्धत बालचंद्रमाः ॥ २६ ॥ अन्ये युरादाय सिताक्षसूत्रं पर्यंकमास्थाय गुहोदरस्थः। ध्यानं न यावद्विततान सम्यक् विद्यागणस्तावदभूत्तदग्रे ॥ २७ ॥ कृतार्थतामेत्य सुराचलस्य जिनालयान्सानुगतान्त्रणम्य । प्रदक्षिणीकृत्य च पांडुकाख्यां शिलां प्रपूज्येत्य गृहं विवेश ॥२८॥ चकं सहसारमगोघशाकिं दंडं सरवड्डं सितमातपत्रं। प्रापाधिपत्यं भरतार्घलक्ष्म्याः पुण्योदयात्साध्यमहो न किं स्यात्॥२९॥ अष्टासहस्राणि षडाहतानि नितंबिनीनां ललितस्मितानां। वभू बुरत्यंतमनोहराणां प्रोत्तुंगपीनस्तनराजितानाम् ॥ ३० ॥ स संयुतः षोडशभिः सहसैर्महीभुजामुन्नतसाहसानां । विद्याप्रभावप्रथितोन्नतानां चकार राज्यं करदीकृताशः॥ ३१॥

अय भारतेऽस्ति विषयोऽत्र वहन्धुरमाभिधां सुरिनवाससमः। विविधोऽपि कांतिनिवहो जगतः स्वयमेकतांगत इवाप्रतिमः॥३२॥ सरसाः समुन्नतत्या सहिताः स्वयमार्थिभिः परिगृहीतफलाः। अभवन्नधःकृतसमस्तजनास्तरवोऽपि यत्र सह सत्पुरुषैः॥ ३३॥ अटवीषु यत्र सरसां सरसेर्निलिनीदलैः पिहिततीरजलं। सहसा पपौ न तृषितापि मृगी गरुडोपलस्थलविमूढमतिः॥ ३४॥

२५ वंशांतील दुद्ध माणसांच्या संमतीने विद्याधरांमध्ये श्रेष्ठ अशा या राजानें जिनेश्वरांची मोठी पूजा करून तेजांचा साठा असलेल्या या गुलांच ' हयकंवर ' असं नांव टेविले. अर्थात् ' अश्वग्रीव ' असं नांव टेविले. २६ जमा वालचंद्र लक्षीचा आपडता असतो, कोमल व निर्मल किर-णांनी युक्त असतो व कमलांना आनदित करितो व कला समूहांना प्राप्त करून घेऊन दररोज बाहत जातो तसा हा बालकरूपी चंद्र लक्ष्मीचा आवहता, कोमल व निर्मल पायांनीं शोभणारा, लोकांच्या नेत्ररूपी कमलांना आनंदित करणारा व अनेक तप्हेच्या कलांची प्राप्ति करून घेणारा होत्साता दररोज बाहुं लागला. २७ एके दिवशीं पांहरी जपमाळा घेऊन व गुहेमध्यें पद्मासनानें वसून चांगल्या रीतीनें ध्यान करावयाला सुरवात करणार तोंच सर्व विद्यांचा समुदाय त्याच्या पुढें उभा गाहिला. २८ विद्यांच्या माप्तीनें कृतार्थ होऊन तो मेरुपर्वताच्या शिख-रावर असलेल्या जिनमंदिरांना नियरकार करून व पांडुकाशिलेला प्रदक्षिणा देऊन व तिचें पूजन करून आपल्या घर्। आला. २९ या हयग्रीवाली ज्याला हजार आरे आहेत असें चक्र, निष्फळ न होणारे शाक्ति नांवाचे आयुधः दंडरतन, खड़-रत्न व पांउरे छत्र ही रत्नें प्राप्त झालीं. व अर्थ्या भरत क्षेत्राच्या लक्ष्मीचें प्रभुत्व प्राप्त झाले. वरोवरच आहे कीं, पुण्याच्या उढयानें या जगांत कोणती गोष्ट साध्य होत नाहीं वरे ? ३० ज्या उंच व कठिन रतनांनी शोभतात, ज्यांचे हंसणें फार मधुर आहे अशा अहेचाळीस हजार अत्यंत मनोहर सिया याला होत्या. ३१ विद्यांच्या प्रभावानें के प्रासिद्ध अजा उन्नतीयत पोहोचले आहेत व जे अतिगय साहसी आहेत अगा सोळा हजार राजांनी युक्त होऊन व सर्व दिशांना कर द्यावयास भाग पाइन हा हयकंत्रर अर्ध चक्रवर्ती राज्य करूं लागला.

३२ या भरतक्षेत्रांत रवर्गासाग्या सुंदर सुग्मा या नांवाचा एक देश आहे. नानापकारचें जगाचे सौद्र्य जणु एकत्र होऊन हा अनुषम देश उत्पन्न झाला आहे असें याला पाहणाऱ्यांस वाटत असे. ३३ जसें सत्पुरूप प्रीतियुक्त, उन्नतीनें साहत व स्वतः याचक लोक ज्यांच्यापासून इच्छित पदार्थ घेतात असे व सर्व लोकांना खालीं करणारे अर्थात् सर्व लोकांमध्यें आपली श्रेष्टता कायम ठेवणारे असे असतात त्याप्रमाणें येथील दृक्ष दोखिल सत्पुरूपाप्रमाणें सरस, उंचीनें सहित व ज्यांचीं फलें सर्व लोक स्वतःच ग्रहण करितात असें व सर्वाना आपल्या छायेखालीं आश्रय देणारे असे होते. ३४ या देशांतील जंगलांमध्यें सरोवरांच्या किनाऱ्यांचें पाणी सरस अशा कमलपतांनीं आच्छादिलेलें असल्यामुळें हैं गरुड-मण्यांनीं वनलेलें रथल आहे अशी जिला खांति झाली आहे अशी हरिणी तहानेनें युक्त होऊन देखील एकदम तें पाणी पीत नसे.

सुपयोधराः सपुरलोलद्दशः सकलाश्च यत्र तनुवीविभुजाः। अपि लोकसेवितानितंबभुनः सरिदंगना बसुरपंकतया ॥ ३५ ॥ अन्पेतपुष्पफलचारुकुजैनिंचितैः सुधाधवलसौधचयैः। निगमैः समुज्ज्वलिनवासिजनैरधरीचकार च कुरूनिप यः॥ ३६॥ पुरमस्ति पोदन।मिति प्रथितं पृथु तत्र वैब्रधसमूह चितं । अधरीकृतान्यनगरं स्वरुचा नभसोऽवतीर्णामेव शक्रपदं ॥ ३७॥ रजनीषु यत्र सदनाप्रभुवो मणिदर्पणायलक्वो व्यरुवन् । प्रतिमागतैरुडुगणैः परितो नवमौक्तिकैरिव विकीर्णतलाः ॥ ३८॥ परिवारितो धवलवारिधरैर्बहुभूमिकः स्फटिकसौधचयः। सकलां द्वावुदितपक्षततेस्तुहिनाचलस्य अवि यत्र रुचिं ॥ ३९॥ सरसीषु यत्र च शिरीषनिभास्तटवद्धगारुडमणिद्यतयः। अतिसंद्धः समदहंसवधूर्नवशैवलाशनकुतूहलिनीः ॥ ४० ॥ सदनाग्रलमहरिनीलरुचां पटलेन सामिपिहितं दहशे। वपुरैंदवं युवातिभिः सहसा निशि यत्र राहुपरिदष्टमिव ॥ ४१ ॥ ललनामुखांबुरुहगंधवहो गृहदीधिकातनुतरङ्गभवः। भ्रमति सम यत्र पवनः सततं गणयन्निव ध्वजदुक्लपटाच् ॥ ४२ ॥ रविमंडलं विमलरत्नभुवि प्रतिविंबितं सपिदं सुग्धवधुं। तपनीयद्र्पणिधया द्वतीमवलोक्य यत्र च जहास सखी ॥ ४३ ॥

३५ या सुरम्य देशांतील सर्व नद्या व सर्व स्त्रिया समान शोभेला धारण करीत असत. तें याप्रमाणें — स्तिया सुपयोधरा - उत्तम स्तनांनीं युक्त होत्या व नद्या सु उत्तम-पयोधरा-पाण्याला धारण करणाऱ्या होत्या. स्त्रिया तनुवीचि भुजा:-अर्थात् कृश लहरीममाणें वाहंना धारण करीत असत व नचा वारीक लाटारूपी बाहु धारण करीत असत. स्त्रिया अपंकतया म्हणजे पापरहित असल्या मुळें छोकसेत्रितनितंत्रभुतः — त्यांच्या पतिकह्न ज्यांचे मध्यभाग उपभोगले गेले आहेत अशा होत्या व नचा अपंकतया-चिखलराहिन असल्यामुळें त्याही लोक सेवितनितंवसुव: म्हणजे लोकांकहून ज्यांचा तटभाग सेविला जात आहे अशा होत्या. ३६ सुंदर फुलें व फळें यांनी लकड़न गेलेल्या वृक्षांनीं, अमृताप्रमाणें शुभ्र असलेल्या श्रीमंतांच्या वाड्यांच्या समृहांनीं, व स्वरूपसुंदर अशा मनुष्यांनीं संदर दिसणाऱ्या हजारो गांवांनीं हा देश भरलेला होता. म्हणून अञा अपूर्व सींदर्याच्या हारें या देशानें देवकुरु व उत्तरकुरु या भोगभूमींनाही तुच्छ लेखलें होतें. ३७ या देशांत स्वतःच्या शाभेनें इतर शहरांना तुच्छ समजणारें असें पोदन-पुर नांवाचे राजधानींचे शहर जणु आकाशांतून इंद्राचे विवासस्थान-स्वर्गच येथे अवतर्छं आहे अशी भ्रांति उत्पन्न करणारें होतें. कारण हीं टोनहीं वैबुधसमृह-चित होतीं. अधीत् स्वर्ग देवसमृहांनीं भरलेला होता व हैं शहर वैवुधसमृहचित-विद्वान छोकांच्या समुहानें भरछेछा होता. ३८ या शहरांत वाड्यांचे वरचे भाग रत्नदर्पणाप्रमाणें निर्मल कांतीने युक्त होते. राह्मीं सर्व वाजूनीं प्रतिविवित झालेख्या नक्षत्रसमूहांनीं हे वरचे भाग नवीन मोत्यांच्या समूहांनी व्याप्त झाल्याममाणें शोभत असत.३९या शहरांत शुभ्र मेघांनीं वेढलेल्या व पुष्कळ मजल्यांनी युक्त अशा शुभ्र राजवाड्यांच्या समृहांनीं, ज्याला पंख फुटले आहेन अशा हिमालयाच्या संपूर्ण शोभेला या जगांत धारण केले. (पूर्वी पर्वतांना पंख होते पुढें तें इंद्रानें वजानें तोड्न टािकले अशी हिंदु लोकांच्या पुराणांत कथा आहे. तो अभिमाय घेऊन येथे उपयुक्त कल्पना केली आहे. ) ४० या शहरांतील तळ्यांच्या तटाला ळावळेल्या पांच रत्नांच्या शिरीष पुष्पात्रमाणें कोमळ व हिरव्यागार कांति पाहून हें नवीन शेवाळ आहे असे समजून तें खाण्यास उन्मत्त हंसी कौतुक्रयुक्त होऊन जात असत. परंतु खाण्याचा प्रयत्न करीत असतां त्यांची फसगत होत असे. ४१ या शहरांत वाट्याच्या गर्चीला लावलेल्या नीलरत्नांच्या कांतिसमृहाने अर्धे आच्छादिलें गेलेलें चंद्राचें विंव रात्रीं अकस्मात् पाहात असतां क्षियांना तें राहूनें ग्रासत्यानमाणें वाटत असें. ४२ ख्लियांच्या मुखकमलांत्न निघालेल्या सुगं-

धाला धारण करणारा व घरांतील विहीरींच्या कृश तरंगापासून उत्पन्न झालेला वारा या शहरांतील ध्वजांच्या रेशमी पतकांना मोजीत जणू वाहात असे. ४३ या शहरांत रत्नांनीं वनविलेल्या स्वच्छ जमीनींत पातिविंवित झालेलें सूर्यमंडल पाहृन हें सोन्याचें दर्पण आहे असें समजून, ते घेण्याचा प्रयत्न कर्णाच्या एका अज्ञान सीला वघृन तिची मैलीण हम्नं लागली.

समकारयन्न परिखावलयं न च यत्र शालमपि बाहुबली। प्रतिपक्षभीतिपिशुनेन सता किमनेन ऋत्यमिति मानधनः ॥ ४४॥ सक्लावनीशमुकुटाग्रमणीद्यतिमंजरीजटिलितांघियुगः । तदलंचकार पुरमप्रतिमो नृपतिः प्रजापतिरिति स्वगुणैः॥ ४५॥ महतां वरे सकलसत्वचयस्थितिराजिते प्रविमलात्मग्रणे। श्रियमाप यत्र कमलाप्यपरां वियाते स्थिता निशि कलेव विधोशा४६॥ स्थिरसंगतो विनयसारधनो नयवत्मीन स्थितविशुद्धमतिः। स्ववशीकृताक्षहृदयप्रसरो विरराज यः स्वयमपि प्रशमः॥ ४७॥ उरुपौरुपं रिपुषु साधुषु च प्रणयं प्रजासु च नयं विनयं। गुरुषु श्रियं च विनतेषु परां प्रथयां नभूव भुवि यः सततं ॥४८॥ प्रतिषद्य भूपातिरुभे शुद्धभे धतिसाधते इव गृहीततन् । ललने स्वकांतिविजिताप्सरसौ स जयावतीं सगवतीं च विभः॥४९॥ स्ववशं विनिन्यतुरनन्यसमे सममेव ते निजमनोज्ञतया। तमिलाधिनाथमरविंदलया अतदेवते स्वयमिव प्रगटे ॥ ५० ॥ स विशाखभूतिरवतीर्थं दिवस्तनयोऽजनि क्षितिपतेर्विजयः। स जयावतीप्रमदहेतुरभूत् भुवि यः पुरापि मगधाधिपतिः ॥५१॥ सकलः शशीव विमलं गगनं कुसुमोद्गमो महदिवोपवनं । भुवि विश्वतं श्रुतमिव प्रशमस्तदलंचकार स कुलं धवलः॥ ५२॥

४४ ज्याच्या बाहुमध्यें विपुल बल आहे अशा स्वाभिमानरूपी धन नेहमीं जबळ बाळगणाऱ्या राजानें या नगरीन्या सभोंवती खंदक व तट ही बनविला नाहीं. हे बनविले असतां शत्रूंची भीति मनांत आहे हें सूचित होतें. यास्तव यापासून

कोणता फायदा आहे असें त्यास वाटत होतें. ४५ संपूर्ण राजांच्या किरीटांच्या अग्रभागीं असळेल्या रत्नकांतीच्या समृहांनीं ज्याचे दोन पाय व्याप्त झाले आहेत अशा प्रजापति नांवाच्या अनुपम राजाने प्रजेचे पालन करणें, दुएांना शिक्षा देणें व शिष्टांवर अनुग्रह करणे या आपल्या गुणांनीं । मजापति । हें नांव सार्थक करन या शहराला अलंकुत केलें होतें. ४६ हा प्रजापति राजा सज्जनामध्यें श्रेष्ठ होता, संपूर्ण पाण्यांना त्यांच्या त्यांच्या मर्यादेंत याने टेविल होतें. याचे सर्व गुण फार निर्मळ होते. जशी आकाशांत राहणारी चंद्रकला चंद्राला शप्त करून अधिक शोभते त्यापमाणें या राजाचा आश्रय करून लक्ष्मीला अपूर्व शोभा आली होती. ४७ हा राजा धैर्यानें युक्त होता, विनयरूपी उत्कृष्ट धन याचे जवळ होतें, न्यायमार्गामध्यें याची बुद्धि नेहमीं तिथर राहात असे याने आपली इंद्रियें व मनाचे व्यापार वश केले होते. यामुळे हा राजा स्वतः प्रशमरूपच आहे असा शोभू लागला. अर्थात् हा शांततेचा अवतारच आहे असे लोकांना वाटत असे. ४८ या राजानें शत्रूवर पुष्कळ शौर्य गाजविलें होतें. हा सत्पुरुपावर फार प्रेम करितो अशी याची सर्वत प्रसिद्धी झाली होती. मजेला योग्य<sup>े</sup>न्याय देण्या मध्यें हा प्रासिद्ध झाला होता.विल्लाविपयीं विनयगुण दाखाविणे व नम्न झालेल्यांना विषुल संपात्त देणें याविषयी याची सर्वत प्रासीदि जाली होती. ४९ ज्यांनी आ-पल्या सींद्यीने देवांगनांना निंकिलें आहे अशा जयावती व मृगवती अशा दोन राण्या या राजाला होत्या. यांच्या योगें राजाला फार शोभा आली होती. धीरता व सज्जनता यांनीं शारीर धारण कहन था दोवा राण्याच्या रूपार्ने पृथ्वीवर जणु अवतार घेतला आहे असा यांना पाहून लोकांना भारा होत होता. ५० या टोवी राण्या स्वतः छहंमी व सरस्वती जगु प्रगट झाल्या आहेत अशा दिसत होत्या. लोकोत्तर अशा या दोर्घानी आपल्या सौदर्याने राजाला समान रीतीने वश केल होतें. ५१ जो पूर्वी मगध देशाचा राजा विशाखभूति म्हणून होता व नंतर जो तप करून दहाव्या महागुत्र रवर्गात देव झाला होता, तो या राजाला विजय या नांवाचा पुत्र होऊन जन्मला. हा जयावतीला ( आपल्या मातेला ) फार आनंदार्वे कारण झाला. ५२ जसा पूर्ण चंद्र निर्मळ आकाशाला सुशोभित करिनो, पुषांचा वहार वगीचाम जोभा आणतो, जांतता गुण उत्तम जास्त्रज्ञानाळा भूपित कारिनो त्याप्रमाणें शुभ्र वर्णाच्या या विजय राजपुत्रानें आपल्या वंशास शोभा आणिली.

अविन प्रसाधियतुमेव दिवस्तमथागतं मृगवती विवुधं । उदरेण निर्मलमलं प्रदधो प्रथमांवुविद्विमव शाक्तवधुः ॥५३॥

उदरस्थितस्य यशसेव युतं परिपांडुतामुपययौ वदनं । असहदिसोडुमिव तद्गुरुतां तनुतां तदीयमगमच्च वपुः ॥५४॥ समभूदरातिकमलालयया स्तनयोर्युगं सह सुनीलसुखं। ववृधे तर्दायमुद्रं च मुदा प्रतिवासरं सह समग्रभुवा ॥५५॥ अवलोक्य तां प्रथमगर्भवतीं द्धतीं निधानिभव सारमिलां। उदयाचलांतरितशीतकरं रजनीमिव क्षितिपतिर्भुमुदे ॥५६॥ कृतचारुदोहृद्विधिः क्रमतः समये सुतं मृगवती सुषुव। निलयं श्रियो विपुलगंधयुतं शरदीव पद्ममुक्कलं नलिनी ॥५७॥ अथ हृष्टिवृद्धिरुद्पादि तदा सकलेऽपि तत्र नगरे महती। परितश्च पंचविधरत्नमयी निपपात वृष्टिरमला नभसः ॥५८॥ अनवद्यवाद्यलयतालसमं प्रणनर्त वारवनिताभिरमा। नृपमंदिरेऽपि शिखिनां निवहः किमुतान्यदुत्सवनिविष्टमनाः॥५९॥ स्वयमाददे निजमनोऽभिमतं सहसा वनीपकजनने धनं। अपहाय लांछनमिलाधिपतेर्धवलातपत्रमितरत्सकलम् ॥६०॥ गणकस्त्रिकालविद्नुञ्चतनुः प्राथितो वर्तत इति दिग्वलये । स्फुटमादिदेश नृपतेः स्वसुतो भवितार्द्धचक्रधर एष इति ॥ ६१ ॥ स्वकुलोचितां जिनपतेर्महिमां महतीं विधाय दिधिना नृपतिः। अकरोत्रिष्टष्ट इति नाम मुदा तनयस्य तस्य दशमे दिवसे॥६२॥ शरदंबरद्युतिसुषा वपुषा स शनैः शनैः कठिनतासुपयन् । परिरक्षया नरपतेर्ववृधे जलधेरमूल्य इव नीलमणिः ॥ ६३ ॥

५३ जशी शिंप निर्मेल अशा पहिल्या थेंबाला धारण करिते त्याप्रमाणें पृथ्वी साध्य करण्याकरितांच रवर्ग लोकापासून आलेल्या अतिशय निर्मल अशा त्या देवाला—िध्यनंदिच्या आत्म्याला (जो दहान्या महाशुक्र स्वर्गीत होता.) मृगवती राणीने आपल्या उदरानें धारण केलें. अर्थात् तो देव या राणीच्या गर्भीत आला. ५४ उदरांत येऊन राहिलेल्या या देवाच्या कीर्तींनें जणु युक्त झालेंलें मृगवती राणीचें तोंड पांढरें फ़टफटित झालें. व गर्भीच्या महत्वाला जणु

सहन न करणारें तिचें शरीर त्यावेळीं कृश झालें. ५५ शत्रूच्या राजलक्ष्मीसह या राणीच्या दोन रतनाचे अग्रभाग नील वर्णाचे झाले. व तिचे पोट प्रतिदिवशीं सर्व पृथ्वीसह आनंदाने वाहूं लागलें. ५६ उत्कृष्ट रत्नादिकांच्या निधीला जन्नी पृथ्वी धारण करिते अथवा उद्याचलाच्या आड असलेल्या चंद्राला रात्रा जशी धारण करिते तसें प्रथमगर्भाला धार्ण करणाऱ्या मृगवती राणीला पाह्न राजा फार आनंदित झाला. ५७ जिचे सुंदर होहाळे पूर्ण केले आहेत अशा या मृगवती राणीनें शरदृतुमध्यें कमिलनी जशी अतिशय सुगंधित व लक्ष्मीचें निवासस्थान असलेल्या कमलाला प्रसवते तसे अतिशय मानी व लक्ष्मीचे घर असलेल्या अगा पुत्राला जन्म दिला. ५८ राजाला मुलगा झाला म्हणून त्या सर्व नगगंतील लोकांना फार आनंद झाला. व अकाशांत्न पांच प्रकारच्या निर्मल रत्नांची रृष्टि सर्व वाजूनीं होऊं लागली. ५९ राजवाड्यांत निर्दोष वाद्यांच्या टेक्पावर व थांवण्याच्या त्या त्या वेळीं वेश्यासह मोरांचा समूह देखिल आनंदानें वेहोप होऊन नृत्य करूं लागला. मग इतर लोक नृत्य करीत होते यांत आश्चर्य तें कोणतें? ६० राजाचे चिन्ह असलेल, अर्थीत ज्याने राजाला ओळखतां येतें असे राजाचिन्ह असलेलें श्वेतच्छत्र फक्त सोहून म्हणजे तें न घेतां याचक लोकांनीं आपल्याला आवडत्या अशा सर्व वस्तु निःशंकपणे राजाला न विचारतां घेतल्या. अर्थात् राजाने याचकांना पुष्कळ द्रव्य दिलें. ६१ सर्व दिशामध्ये प्रासिद्ध असलेला, गर्वराहित, भूत, भविष्य व वर्तमान जाणणारा अशा वसंत नांवाच्या ज्यांतीषीनं हा मुलगा खातीने अर्ध चक्रवतीं अर्थात् त्रिखंडाधीश होईल असे स्पष्टपणे राजाला सांगितलें. ६२ प्रजापति राजानें आपल्या कुलाला साजेल अशी जिनेश्वराची मोठी पूजा शास्त्रोक्त पद्धतीनें केळी व दहाच्या दिवशीं आनंदानें त्या मुलाचें त्रिपृष्ट असे नांव ठेविलें. ६३ जसा समुद्राचा अमूल्य असा नीलमाण हवंहवं वाद्न कठिनपणाला पावतो तसे शरतकालच्या नील आकाशाच्या शोभेला हुन्ण कर्णाऱ्या अशा शरीरानें कोमलपणा त्यागून दृढता धारण करणारा तो जिपृष्ट कुमार उत्तम रीतीनें रक्षण केल्याधुळं हळ्ं हळं वादू लागला.

सुतरामाशिश्वत कलाः सकलाः नृपविद्यया सममनन्यमितः। गुणसंग्रहे जगिति यत्नपरः शिशुरप्यहो भवित सत्पुरुपः॥ ६४॥ तमवाप्य योवनमवाप परां श्रियमत्य सोऽपि तदभृतसुभगः। प्रयमं प्रसृनमिव चूत्ततरुं स च संप्रपद्य समये तदिव॥ ६५॥ अतिमानुषं तमथ वर्माघरं जयगोमिनी प्रथमपप्रकटं। स्वयमालिलिंग मदनाकुलधीरिभसारिकेव हृदयाभिमतं ॥ ६६ ॥ अथ भूपतिः सुतयुगेन समं सह राजकेन च सभाभवने । मुखमेकदास्त हरिपीठतटे घटितारुणारमिकरणांकुरितेः ॥६७॥ परिकुड्मलीकृतकरांबुरुहः प्रणिपत्य देशसिन्वो विदितः। उपलब्धवागवसरप्रसरः क्षितिपं व्यजिज्ञपदिति प्रकटं ॥ ६८॥ अभिरक्षितामपि तवासिलताशितधारया धरणिनाथ ! धरां। परिबाधते मृगगणापिधतिर्वलवानहो जगति कमिरेषुः ॥६९॥ स्वयमेव किं हरिपदेन यमो जनतां हिनस्त्युत महान्सुरः। तव पूर्वशत्रुरथवा विद्यों न हि ताद्यी सृगपतेर्विकृतिः॥७०। सुतयोषितोऽप्यनभिवीक्ष्य भयात्प्रपलायितं सकलजानपदैः। तव शात्रवैरिव शरीरभृतां न हि जीवितादपरिमष्टतमं ॥७१॥ स निराम्य तस्य वचनेन तदा विषयव्यथामिति सृगेंद्रकृतां। नृपतिस्तताम हदये नितरां प्रदुनोत्यहो खलु जगद्व्यसनं ॥७२॥ दशनांशुमंडलिमेन किरन् हृद्यस्थितामिव कृपाममला । निजगाद धीररवरुद्धसभाभवनोदरं नरपतिर्वचनं ॥ ७३॥

६४ या त्रिपृष्टराजकुमारानें एकाग्रिचित्त होऊन राजित्व सर्व कलांचे विक्षण घेतलें. बरोवरच आहे कीं, या जगांत गुणांचा संग्रह करण्यांत एखादा बालकही जर तत्पर असला तर त्यासही सत्पुरुप म्हणावयास हरकत नार्टा. तात्पर्य हें कीं, वालपणी त्रिपृष्ट राजकुमारानें उपर्युक्त गुणाचा सग्रह केला म्हणून तो सत्पुरुप होता असें म्हणणे योग्य होतें. ६५ वसंतऋतुमध्यें पथमतः आम्रवृक्षाला मोहोर प्राप्त होऊन तो जसा शोभतो व आम्रवृक्ष मोहोर प्राप्त करून घेऊन लसा शोभूं लागतो. तसे या त्रिपृष्टाच्या आश्रयाने तारूण्याला फार शोभा आली व तारूण्यानें त्रिपृष्ट फार शोभूं लागला. असा उभयतामध्यें भूष्यभूषणभाव होता. ६६ जशी एखादी कामाकुल झालेली स्वैरिणी स्त्री संकेतस्थानी जाऊन आपल्या इच्छित पुरुपाला आलिंगन देतें तसे लोकोत्तर वलाला धारण करणाम, य चिल- खत धारण करण्यास योग्य अशा वयाचा झालेला या गजपुत्रास उन्हेंटिन

जयेलक्ष्मीने अपगढ रूपानें आलिंगन दिले. ६७ तद्नतर एके दिवशी वसवित्वया पद्मराग मण्यांच्या किरणांचे अंकुर ज्यांतून वाहेर निघत आहेत अगा सिंहासनावर समेत आपल्या दोन मुलांसहव सर्व ६ रढार मंडळीसह राजा सुखाने वसला होता. ६८ त्यावेळी त्या पांतांतल्या एका पासिद्ध प्रधानाने आपले हातरूपी कमलांस कळी प्रमाणं करून व नमर्कार करून बोलण्याची योग्य संधि प्राप्त झाल्यावर राजास पुढे लिहिल्याप्रमाणें स्पष्ट विनंति केली. "३९ हे पृथ्वीनाथ! आपल्या तरवारीच्या तोक्ष्ण धारेने या पृथ्वीचें चांगलें रक्ष्ण होत आहे व झाले आहे. परंतु एक वल-वान सिंह आपल्या प्रजेला फार जास देत आहे. अहो जगामध्ये कर्मरूपी गत्र फार वलवान आहे. ७० हे प्रभो ! यमच जणु स्वतः सिहाच्या मिपाने यजेना संहार करीत आहे ? अथवा कोणी महात् असूर हे कार्य करीत आहे ? किया आपल्या पूर्व जन्माचा शत्रु असलेला कोणी देव प्रजेला त्रास देत आहे ? हे कार्टा समजत नाहीं. वास्तविक इतके मोठें संहाराचे कार्य सिंहाकडून होणें जनय नाहीं. देशांतील लोकांना सिंहापासून इतकी भीति वाटू लागली आहे की, हे नाथ! आपले शत्रू जस वायका पोरांची पर्वा न वालगतां भीतीनें आपणापासन पळ्न जातात तसे वायका पोरांना न पाहतां आपण गेल्यावर त्यांची काय स्थिति होईल इकडे लक्ष्य न देतां ते पळ्न गेले आहेत. वरोवरच आहे की, जगामध्ये. आपल्या जीवितापेक्षां कोणतीही वस्तु अत्यंत आवडती नाही. " ७२ सिहापासून आपला देश किती पीडित झाला आहे याची हकीकत प्रधानजीच्या भाषणावरून ऐक-ण्यांत आल्याने राजाला मनांत फारच दुःख झालें. वरोवरच आहे कीं, संकट ही नेहमी जगाला दुःख करीत असतातच. ७३ दंतिकरणांच्या पंक्तीच्या गिपान जणु आपल्या हृदयांत असलेली निर्मल दया वाहेर प्रगट करणारा नो प्रजापित गजा आपल्या गंभीर शब्दांच्या हारे सभागृहाच्या सर्व यध्यभागाला व्याप्त करून पुँह

भुवि सस्यरक्षणविधौ विहितत्तृणमानुपोऽपि खृगभीतिकरः। अगमं ततोऽपि भृशमप्रभुतां करदीकृतासिळमहोभृदपि ॥ ७१ ॥ अविनाशयन्प्रतिभयं जगतो जगताधिपत्यमथ यः कुरुते। स वृथैव वित्रगतस्प्रपितवत्प्रविछोक्यते जनतया ननया ॥ ७८ ॥ मनुवंशजेऽपि सित भूमिपता समभूत् क्षितो प्रकटभीनिरिति । अयशस्तनोति सक्रछाः कुरुभः किमिदं न संप्रति हतेऽपि हरा। ७६।

लिहिन्याप्रमाणें होतुं लागला.

स जनांतमेक्षत मृगाधिपतेः प्रथयन्तमंतकिनभस्य गतिं।
इति गासुदीर्य रिचतभुकुटिं स्वयमुत्थितं हरिवधाय तदा ॥७०॥
पितरं निष्यं विजयावरजः स्मित्यूवमेवमवदादिनतः।
पश्चित्रहेऽपि भृवि तात! महान्यदि संभ्रमो भवति चेद्धवतः॥७०॥
प्रित्रीयते किमपरं तनयैर्वद माहरौस्तमपहाय पुरा।
तद्यक्तमार्य! तव यान्मिति क्षितिषं निगद्य विजयानुगतः॥७९॥
तद्यक्तमार्य! तव यान्मिति क्षितिषं निगद्य विजयानुगतः॥७९॥
तद्यक्तमार्य! तव यान्मिति क्षितिषं विगद्य विजयानुगतः॥७९॥
तद्यक्तमार्य! तव यान्मितं क्षितिषं मिगद्य विजयानुगतः॥०९॥
वद्यक्तमार्य! तव यान्मितं क्षितिषं मिगद्य विजयानुगतः॥ ८०॥
हत् । । नुपास्थिपरिपांहुरितं नगमेत्य रुद्रविवरे शियतं।
पटिर्वोधयदिमप्रहतै जिनीरवरिष स्गाधिपतिः॥ ८९॥
प्रति वोधजुंभणविभीमसुखः परिकेकराक्षमवलोक्य चलं।
उद्यात्प्रसार्य परिसुमतनुं स शनैः शनैर्विधत्पिंगसटः॥ ८२॥

७४ं ''शेतामध्यें घान्याचे संरक्षण करण्याकारितां गवताचा मनुष्य केलेला असतो व तो पश्चंना व पक्ष्यांना भय उत्पन्न करीत असतो. परंतु यो सर्व राजे लोकाना कर देणारे केलें आहे तथापि त्या गयताच्या माणसापेक्षांही प्रभुत्वहीन झालों आहे. ७५ जगाची भीति नाहींशी न करितां जो जगाचे रवामित्व-राज्य करितो तो नम्न झालेल्या लोकांकडून निःसार झालेल्या चित्रांतील राजाप्रमाणे पाढिला जातो. 'राजा प्रकृतिरजनात् ' जो प्रजेचे अनुरंजन करितों, अर्थात् तिला जो नेहमीं सुखी कारितो तो राजा होय. जो हैं आपले कर्नव्य वजावीत नाहीं तों चित्नांतील राजापमाणें व्यर्थ होय. ७६ हा राजा मनूंच्या वंशांत—भरत चक्रवर्तींच्या वंशांत उत्पन्न होऊनही जगांत उवड शेतीनें सर्व प्रजेला भीति उत्पन्न झाली आहे असा लोकापवाद सर्व देशामध्ये माझ्या अकीर्तीचा डंका वाजवीत आहे. यावेळीं तरी मी सिहाचा वध केला तरी माझी अकीती पसरावयाची थोडीच थांदणार आहे. " ७७ अशा रीतीचे भाषण करून व क्रोधार्ने आपल्या अवया वक्र वरून प्रजापाति महाराज सिंहाला टार मारण्याकारितां रवतः उठले असतां विजयबलिभद्राचा धाकटा वंधु त्रिपृष्ट हा नम्र होऊन व वापाचा निपेध करून —आपण सिंहवधार्थ जाणें योग्य नाही असें योलून पुढे लिहिल्याममाणें भाषण करूं लागला. ७८ '' अहो वावा,पशुवधासार्शही आपल्याला या जगांत एवढी

खटपट करावी लागत आहे तर आमच्यासारख्या मुलांनी या गोष्टी प्रथम कराव-याच्या नाहींत तर मग आन्ही करावयाचें तरी काय ? ७९ यास्तव अही वावा आपलें जाण योग्य नाई। आम्हीच हा कार्यासाठीं जातों. " असे बोलून नक नारायणापैकीं पहिला नारायण असलेला विजय राजपुताचा धाकटा वधु असा तो त्रिपृष्ट कुमार पहाराजांच्या आजेन सैन्यासह व विजयवलभद्रासह सिद्वयार्थ निवाला. ८० त्रिपृष्ट राजपुतानें यमाप्रमाणें भयंकर अञा सिंहानें उत्पन्न केलेल्या भयाण परिस्थितीचा चोनक तो प्रदेश पाहिला. या प्रदेशांत पुष्कळ मापसांचा नाज झालेला होता. हा प्रदेश नखांच्या अग्रभागांतून गळ्न पडलेल्या मनुष्यांच्या आतड्यांना पुनः ग्रहण करण्यासार्टा आकाशांत चिर्ट्या वालणाऱ्या गिथाडांनी भक्त गेला होता. ८१ टार मारलेल्या माणमांच्या हांडांनीं सर्वत्र पांढरा डिमणा-च्या त्या पर्वतावर येऊन त्रिपृष्ट कुमारानें तेथें रुंट अजा गुह्त निजलेल्या सिहास बाजविलेल्या वाद्यांच्या ध्वनीनीं द सैन्याच्या गलबल्याने जागें केलें. ८२ जागे झाल्यावर जांभयीनें ज्याचें तोंड भयंकर दिसत आहे अज्ञा त्या सिंहानें इकडे तिकडे दृष्टी फेंक्न जमलेलें सैन्य पाष्टिलं व आपल्या मानेवरील पित्रळ्या सटा हळू हळू हालवृन आणि आलसावलेलें किंवा बांकडे तिकडे झालेले आपलें गरीन पसरून तो उठून उभा राहिला.

अथ गर्जितैर्ध्वनयतः ककुभो विवृतास्यकंदरसुद्यतनोः।
गतभीरतिष्ठद्दिभंछंघयतो हिरिरेक एव पुरतः स हरेः॥ ८३॥
विनियम्य दक्षिणकरेण शिलाकिनौ तद्यचरणावदयं।
इतरं निवेश्य वदने स करं समपातयन्म्रगपतिं सहसा॥ ८४॥
स रुषा वमन्निव दवानिकणान्नयनद्वयेन नवरक्तभृता।
विफलीकृतोद्यमवलो वलिना विवशो सुमोह हिरिरेकपदे॥ ८५॥
मृगविद्धिपं नवमृणालियव प्रविदार्थ तस्य रुधिरेरवनेः।
शमयांचकार परितापचयं स तदा नवास्त्रभिरिवाम्ब्रधरः॥ ८६॥
निजसाहसेन महतापि महानुपयाति नूनमवनौ न सुदं।
यदनन्यवध्यमपि केसरिणं स निहत्य निर्वेकृतमास्त हिरः॥८७॥
अथ लीलया करयुगेण हिरः ससुद्दस्य कोटिकिशिलासुपिर।
प्रथयांवसूव निजविर्यचयं निक्पोऽथवा वलवतामवधेः॥ ८८॥

नगरं ततः प्रतिनिवृत्य ययौ जयकेतनैर्मुकुालेतार्ककरं । उपकर्णयिनिजयशः पृथुकैरिप गीयमानमनुरागपरैः ॥ ८९ ॥ कृतमंगलं सपिद राजकुलं विजयी प्रविश्य नरनावपितं । विजयानुजोऽनुविजयं शिरसा प्रणनाम चंचलशिखायणिना॥९०॥ परिरम्य सम्मद्भवाश्रुभृता नयनद्रयेन सुचिरं स पुरा । घनमालिलिंग तदनु स्वसुतौ भुजयोर्थुगेण पुनरुक्तमिव॥ ९१ ॥

८३ तदनंतर मुखरूपी गुहा उघडून आपल्या गर्जनांनी दिशांना प्रतिध्वनीनीं युक्त करून जोरानें हल्ला करणाऱ्या, प्रचंड शरीराचा धारक अशा त्या सिंहापुढें तो राजञ्जमार एकटाच भयरहित होऊन उथा राहिला. ८४ आपल्या उजन्या हाताने शिलेप्रमाणे कठिन असलेले त्या सिंहाचे दोन पाय निर्दयपणें दावृन धम्न व डाधा हात त्याच्या तोंडांत घाळून त्याला एकदम राजपुत्राने जिमनीवर आपटलें. ८५ नवीन रक्त धारण करणाऱ्या राजपुत्राने ज्याचे प्रयत्न व सामर्थ्य हे व्यर्थ केले आहत असा तो सिंह रागानें लाल दुंद झाला व आपल्या दोन डोळ्यांनीं जणु अशींचें रफुलिंग—िंठणग्या बाहेर टाकीत आहे असा भासूं लागला. परंतु राजपुलापुढे त्याचें कांहीं चालेनासे झाल्यामुळें तो विवश होऊन एकढम मूर्चिलत होऊन पडला. ८६ जसा नवीन मेघ आपल्या नवीन पाण्याच्या वृष्टीनें जमीनीची उष्णता नष्ट करून तिला शीतल वनिबतो तसे या राजपुत्राने सिंहाला कमलाच्या दांड्याप्रमाणे फाइन त्याच्या २क्तांनीं पृथ्वीचा संताप दूर केला. अर्थात् सिंहा-पासून होत असलेल्या दुःखांचा अंत सिंहाचा अंत करून केला. ८७ मोटे लोक स्वतः केलेल्या मोठ्या साहसानें देखिल खरोखर आनंद मानीत नाहींत. अर्थाद मी एक योटें कार्य केले असे त्यांना मुळीच वाटत नाही. राजपुत्रानें इतरांक इन वध करण्यास अशक्य अशा सिंहाला जरी यारलें तरी तो हिषत झाला नाहीं. तो निर्विकारच राहिला. ८८ नंतर या राजपुचानें लीलेने आपल्या दोन हातांनीं कोटिशिला वर उचलून आपलें अतुलवल सर्वत्र प्रसिद्ध केलें. कोटिशिला उचलेण हे वलनानू पुरुषांच्या वलाची कसोटी आहे. सामान्य माणसे कोटिशिला उचलूं शकत नाही. जो नारायण पद्वीचा धारक आहे तोच ती उचलूं शकतो. म्हणून ती वल जाणण्याची कसोटी आहे. ८९ आपल्या विजयपताकांनी नूर्याच्या किरणांना संकुचित करणारा व मीतियुक्त वालकांच्या हारेंही गायिलें गेलेलें आपलें यश ऐकणारा तो राजपुत परतून आपल्या शहराला आला. ९० तत्काल

मंगलकार्ये जेथें करण्यास सुरवात जालो आहे अगा या विजयी राजपुत्रानें आपलया विजय नांवाच्या वहील भावासह प्रदेश केला द विजयाने महाराजाना
नमस्कार केल्यानंतर चंचल चूहानजीने पुक्त असलेल्या आपल्या मन्तकाने
महाराजास त्यानें नमस्कार केला. ९१ प्रजापाते महाराजांनी प्रथमतः आनंदार्थनी
भरलेल्या आपल्या दोन डोल्यांनी आपल्या टोन हुलांना आलिएन नदनंतर
हुनः आपल्या डोन दाहुंनीं त्यांना हृढ आिहिशिले. या प्रकारे त्यांनी आपल्या
पुत्रांना आलिंगन देण्यांत जानु हुनकक्ति केली. अर्थात् आनंदाने वसाच वेलपर्यत
आपल्या मुलांना त्यांनीं पाहिले व ह्यातीशीं प्रश्चित हुनः त्यांना आलिंगले.

शिथिलीचकार परिरंभणतः स विरात्सतौ पुलकरद्धतनुः। तदनु इया पुनरिप प्रणतौ सन्मासितौ नृपतिपीठनटे ॥ ९२॥ परिपृच्छतःक्षितिपतेर्विजयेऽनुजविकमं वदति सत्यमपि। विनताननो निभृतमास्त हारेने दुदे गुणस्तुतिरहो महतां ॥९३॥ इति ञूपतिः सुतयुगेन समं परिरक्षया प्रमदयन्यरणीं। सकलां राशास शरादेंदुकलावियलं यशः प्रतिदिशं विकिरन्॥९४॥ अथैकदा कीतुकनिश्वलाक्षोदोवारिकः कांचनवेत्रहस्तः। धावद्यपेत्पावनिनाथमित्यं व्यजिज्ञपत्संभ्रमरुद्धवाक्यः॥९५॥ विहायसा कश्चिद्धपेत्य देव । द्वारि स्थितो विस्मयनीयसृतिः । तेजोमयो वीक्षितुमिच्छति त्यां प्रमाणसत्र त्यसिति व्यर्सीत् ॥९६॥ प्रवेशय द्राक्षुसुरवेत्यथाज्ञागवाप्य राज्ञो विनिदृत्य गत्वा। प्रावेशयत्तं सभया समीक्ष्य सिद्दस्मयोत्फुलदृशा विवृत्य ॥ ९.७ ॥ राजा समेत्यानतमादरेण स्वहस्तानिर्देष्टहिरण्यपीठे। अदूरवर्तिन्युपवेश्य किंचिडिआन्तमालोक्य तमावभाषे॥ ९०॥ सौम्याकृतिः 'कस्त्वसनन्यम् ।म्दः कस्मादिमां सृपिमुपागतोऽभि । किमर्थमायात इति क्षितीका स्वयं स पृष्टः पुनरेवसूचे ॥ ९९॥ अस्त्यत्र शैलो विजयार्वनामा नरेंद्र ! विद्यायरलोकवासः। श्रेणीह्येनोत्तरदक्षिणेन दिराजिता राजततुंगश्रृंगः॥ १००॥

९२ प्रजापति महाराजांच्या सर्व अंगभर आनंदानें गोपांच उमे राहिले. न्यांनी फार वेळपर्यत आलिंगन इसन मग आपल्या दोन धुलांना सोइन दिले. अतिशय नम्र झालेलीं ती दोन गुलं मंहाराजांच्या आंडोने यहाराजासह राजसिंहा-सनावर वसलीं. २३ महाराजांनीं हफीकत विचारल्यावर विजय वलियद्र त्यांना आपल्या धाक्रटचा भावाचा खग पगक्रम संगत असतांही विष्धु नारायणानें आपले गरतक नम्र करून रतव्यता धारण केली. वरोवरच आहे कीं, मोठ्या पुरुपांना आपल्या गुणांची स्ताते हर्पाळा वाग्ण होत नाहीं. ९४ याप्रमाणे आपल्या दोन मुलांसर संपूर्ण पृथ्नीचे रक्षण कक्षन प्रजापति महाराज तिला आल्हादित कर्गत राज्य करू लागले असतां त्यांचे चंद्राच्या कलेप्रमाणे गुभा यज सर्वजा पसरलें. ९५ एकेवेकी आधर्याने ज्याचे डोके स्थिर झाले आहेत व ज्याच्या हातांत सोन्याने महविलेली वेताची छडी आहे असा द्वारपाल घांवत घांवत महाराजाकडे आला व गडवर्डीने अडखळत भाषण वरून महाराजांना त्याने पुढे लिहिल्या-प्रमाण प्रस्तावना केली. अथीत त्याने अशी हशीकत सांगितली. ९६ ' हे प्रभी! कोणी एक मनुष्य आकाशमार्गाने येऊन राजवाड्या-या दरवाजाजवळ उभा राहिला आहे. त्याचे रवह्रप अध्यय उत्पन्न करणोरं आहे व अतिशय तेजस्वी आहे. महाराजांचे दर्शन ध्यावे अशी त्याची इंछा आहे. यारतव आपळी आजा प्रमाण आहे. अर्थात् आपली आज्ञा अमल्यास त्यास आंन चेळन चेतो. '' अस बोह्रन नो थांबला, ९७ "हे सुपुखा! त्याला लोकर आंत पाठवन दे" अर्शा राजाची आज्ञा झाल्यावरोवर तो परतून गेला व आध्याने जिचे डोळे विकसित झाले 'आहेत अज्ञा सभेकडून चळन पारण्याला योग्य अज्ञा त्या यनुष्याला त्याने पाट-तून दिलें. ९८ त्या मनुष्याने सभेत प्रदेश करून महाराजांना नमस्कार केला. महाराजांनीं आपल्या हाताने दाखिनलेल्या जनलन्या आसनावर तो वसला. त्याचा थक्कवा थोडा दुर झालेला पाहन महाराज त्यास याप्रमाणे वोलले. ९९ '' ज्याची समानता इतर टिकाणी ओढळत नाही अंगा सौन्य आकागचा तूं दोण आहेस ? या पडेगांत तृ कोट्टन आलेला आहेस व तुझें येण्याचे काय कारण आहे?" असा महाराजांनी प्रक्ष केल्यावर तो एन: एटं लिहिल्याप्रमाणे बोलं लागला.१००" अहो महाराज! या भरत क्षेत्रांन विद्याधर लोक जेवं राहतान असा विजयार्घ नावाचा पर्वत आहे. दक्षिण श्रेणी न उत्तर देगी यानी हा फार शोनन . आहे व याला चांदीची उंच शिखंर आहेत.

श्रेणीमपाचीं रथनूणुराख्यं पुरं समाध्यास्य महेंद्रलीलः । नमश्रराणां ज्वलनादिरेकः पतिर्जटी नाम सुनिक तत्र ॥ १०१ ॥ त्वदन्वयाद्यः प्रथमस्य सूनुर्महात्मनां वाह्वळी जिनानां। निपीडिय दोभ्याँ अरतेश्वरं यो सुमोच लक्ष्म्या सह हेलयैव ॥१०२॥ अलंकरोतींदुकरावदातं नमेः कुलं कच्छन्यात्मजस्य। नसश्चरणामधिपोऽपि राजन्पितृष्वसुस्ते तनयो नयज्ञः॥ १०३॥ अतोऽस्मदीशः कुशली भवन्तं दूरस्थितोऽपींदुरिवाम्बराशिं। अनामयं प्रच्छति मन्मुखेन प्रेम्णा समाश्ठिष्य पुराणवंधुं ॥१०४॥ सुतोऽर्ककीर्तिः क्षपितारिकीर्तिः स्वयंप्रभा तस्य सुता दितीया। देवी च पादद्धितयं प्रणारेशम्यर्चयंतीश ! तवार्चनीयं ॥ १०५॥ अथ कल्पलतामिवैकपुष्पां सदशां कामफलोन्पुखीमुपेतां। तनयामवलोक्य तत्समानं न वरं मंत्रिविलोचनोऽप्यपश्यत्॥१०६॥ कुशलं सकले निमित्ततंत्रे विहितप्रत्ययमाप्तमाप्तमानं । उपगम्य रहस्यमात्यमुख्यैः सह संभिन्नमवोचदेवसीशः॥ १०७॥ सद्याः सुद्याः स्वयंत्रभायाः पतिरस्माभिरवेक्षितो न कश्चित्। अवलोक्य दिव्यच्छ्रपा तं ननु मत्कृत्यविधौ भवान्प्रमाणं ॥१०८॥ इत्युक्तवा विरतवति स्वकार्यनीजं संभिन्नः खचरपताववोचादित्यं। त्वरकृत्यं शृणु विदितं मया सुनींद्रादायुष्मन्नविद्दशः पुरायथावत् 11 308 11

अस्मिन्प्रतीहि सरते भेरतशवंशे राजा प्रजापितरुदारयथार्थनामा। तस्यात्मजौ विजयिनौ विजयत्रिपृष्टावाद्यावमानुपवलौ वलवासु-देवौ॥ ११०॥

१०१ जो इंद्राप्रमाणें क्रीडा करीत असतो असा विद्याधरांचा प्रभु ज्वलनजटी नांवाचा राजा त्या विजयार्थ पर्वतावर रथन् पुर गहरामध्ये राहून दक्षिणक्षेणींचे रक्षण करीत आहे. हे राजन्! तुझ्या वंशांतील पहिला पुरुप हा महासत्एरुप अशा चोवीस तीर्थकरापैकी पहिल्या तीर्थकराचा आदिनाथ स्वामीचा सत्पुत्र होता. यारे सहज आपच्या दोन वाहुंनी भरतेश्वर अर्थात् भरतचक्रवर्तीला पीडित करून गज्यलक्ष्मीसह त्याचा त्याग केला. १०३ हे राजन् हा ज्वलनज विद्यायरराजाही कच्छ नांवाच्या

राजाचा युलगा जो नामि त्याच्या चंद्र किरणाप्रमाणें निर्मल अशा वंशाला अलंकृत करीत आहे.हे पभी ! हा नीतिज्ञ राजा पूर्व परपरेनें तुझ्या वापाच्या बहिणीचा मुलगा आहे. अर्थात् तुझा आतेगाऊ आहे. १०४ ज्याप्रमाणे दूर असळेळाही चंद्र आपळा जुना संबंधी असळेल्या समुद्रास पेमानें अलिंगन देतो त्यापमाणें पूर्वपरंपरेने बंधु अस-लेख्या आपणास हा सक्तुशल राजा प्रेमाने अलिंगून माझ्या गुखाने आपलें आरोग्य अर्थात् कुशल् वर्तमान विचारीत आहे. १०५ या उवलनजटीला शत्रूंची कीर्ति नष्ट करणांग अर्ककीर्ति नांवाचा मुलगा आहे व स्वयंप्रभा नांबाची दुस्री मुलगी आहे. व या राजाची राणी वायुवेगा नांवाची आहे. हे राजन्! हे सर्व आपल्या पूज्य चरणांची नगस्कारांनीं पूजा करीत आहेत.अर्थात् आपल्या चरणांना त्यांनीं माश्या मुखाने अनेक नमस्कार सांगितले आहेत. १०६ नंतर एके दिवशीं कल्पलतेप्रमाण अद्वितीय पुष्पाला धारण करणारी व कामविकार रूपी फल उत्पन्न होण्याच्या अवस्थेला पोहोंचलेली अर्थात् तरुण झालेली अशा आपल्या मुलीस-स्वयंप्रभेस पाइन तिला शोभणारा असा वर सचिषरूपी डोळ्यांनीं राजा युक्त असूनही त्याला आहळून येईना. १०७ तदनंतर सर्व निमित्त शालामध्ये प्रवीण, हित करणाप्या जिनेंद्राप्तमाणे प्रमाणयुक्त व ज्यानें सांगितलेल्या गोष्टी अनुभवास येत असल्यामुळे विश्वासपात्र अशा संभित्र नांवाच्या निमित्त ज्ञान्याकडे आपल्या मुख्य भंत्र्यासह येऊन एकांतरयानीं ब्वलनजटी राजाने याप्रमाणें विचारलें. १०८ "हे प्रभो, संदर नेत्रांना धारण करणाऱ्या आमच्या स्वयंप्रभेला साजेल असा वर बोधण्याचा आसी पुष्कळ मयत्न केला परंतु तो आहळून आला नाहीं. यारतव हे निामित्रज्ञा! आपल्या दिव्यनेत्रोंने अर्थात् आपल्या लोकोत्तर ज्ञानाने त्यांचें अवलोक्षन कर माझ्या या कार्यीत तूंच प्रमाण आहेस; विश्वास पात्र आहेस. " १०९ याप्रमाणें आपल्या कार्याचें कारण सांपुन ज्वलनजरी विद्याधर राजा थांबला असतां तो संभिन्न नांवाचा निमित्तज्ञानी राजाला ह्यणाला कीं "हेराजन्! तुझ्या या कार्याविपयीची हकीकत मी पूर्वी एका अवधिज्ञानरूपी नेजाचे धारक मुनिवरापासून यथार्थ ऐकिली होती. ती सोंगतो ऐक." ११०" या भरत क्षेत्रांत भरतचक्रवर्तीच्या वंशांत उदार गुणांचा व सार्थक नांवाचा प्रजापति या नांवाचा राजा आहे असे जाण. त्याला अमानुष शक्तींचे धारक व निजयशाली असे विजय विशिष्ट या नांवांचे दोन पुत्र आहेत.
हे दोंघे वलदेव व वासुदेव अर्थात् नारायण व वलभद्र या पदवींचे धारक आहेत. विजय हा वलदेव पदवीचा धारक आहे व त्रिपृष्ट हा नारायण पदवीचा धारक आहे.

रिपुस्त्रिपृष्टस्य पुरा भवेऽभवत् विशाखनंदीत्ययमश्वकंधरः । ततः प्रहत्याहवदुर्भदं रणे नभश्चरेद्रं भवितार्द्धचक्रभृत् ॥१११॥

तस्मादेतत्वेचरावाससारं कन्यारत्नं वासुदेवाय देयं। निःसंदेहं तत्प्रसादादुदीचीं प्राप्य श्रेणीं यास्यसि त्वं च वृद्धिम्।।११२॥ इत्यादेशादवितथगिरस्तस्य कार्तातिकस्य । ध्वस्ताशंकं ज्वलनजिटना प्रेषितं विद्धि दूतं॥ मामिन्द्राख्यं घटियतुमिदं देव कल्याणकार्यं। कायाभिज्ञं स्थिरतरिया त्वत्सकाशं प्रकाशं ॥११३॥ श्रीमानागमनस्य कारणमिति व्यक्तं निवेद्य स्थितं। भ्वांगस्षृष्टसमस्तभूपणगणिरभयच्ये तं भूपतिः॥ मत्यानामाचिरादगोचरत्या तस्यैव हस्ते पुनः। संदेशं खचराधिपस्य मुदितः सप्राभृतं प्राहिणोत् ॥११४॥ क्षोणीनाथं प्रणम्य श्रथमुकुटतर्टीकोटिविन्यस्तहस्तः। सोत्कान्विद्याधराणां पतिमनातीचिरादानय द्रष्टुमस्मान् ॥ इत्युक्तवा तेन मुक्तो गगनतलमगादिन्दुरिन्दीवराभं। सद्यो विद्योरुसंपद्धिहितमधिवसन्राजमानं विमानं ॥११५॥

इति श्रीअसगभूपऋते श्रीवर्द्धमःनचरिते त्रिपृष्टसंभवो नाम पंचमः सर्गः ॥ ५॥

१११ या त्रिपृष्ट राजकुमाराचा पूर्वजन्मी विशासनंदी नांवाचा शत्रु होता; तोच आतां अखग्रीव नांवाचा विद्याधराधिपति अर्धचक्रवर्ती होऊन जन्मला आहे युद्धाविपयी ज्याला दुरभिमान उत्पन्न झाला आहे अशा या अखग्रीवाला ठार मारून हा तिपृष्ट राजकुमार अर्धचक्रवर्ती होणार आहे. ११२ यान्तव या विद्याधर भूमीत है सारु हे कन्यारत्न हे राजन्! तूं त्या कुमाराला अर्पण कर म्हणजे त्याच्या कृपेने तुला खात्रीने उत्तर श्रेणीचे आधिपत्य—राज्य फिळेल व तुझी उत्तरोत्तर उत्रतीच होत जाईल." ११३ ज्याचे भाषण सत्य आहे अशा निमित्तज्ञान्याच्या आहेने ज्वलनजटी नृपालाने निःशंक होऊन हें कल्याणकार्य-विवाहकार्य जुलाविण्यासाटी हे राजन्! कार्याची माहिती असलेल्या मला चांगला विचार करून जयड रीतीने तुझ्याकडे पाटविले आहे. हे राजन्! माझें 'इंदु' अमें नांव आहे व मी दृत आहे असे समज. ११४ या प्रमाणे आपल्या येण्याचे काम्ण जयड करून तो टक्ट नांवाचा द्व राजध्य वसला. नंतर लक्ष्मी संपन्न प्रजापति

राजानें आपल्या अंगावरील सर्व अलंबार देऊन त्याचा सत्कार केला. व भूमि-गोचरी मनुष्यांना विद्याधरांच्या निवासरथानीं जाऊन लेकिर निरोप सांगता येन नसल्यानें त्याच दूताच्या हातीं विद्याधरेद्र जो जवलनजटी त्याच्या करितां निरोप व नजराणा मोठ्या आनंदानें प्रजापित राजानें अपण केला. व त्याला पाठऊन दिलें. ११५ व पाठवितांना त्याला हें सांगितलें कीं. 'विद्याधराचा राजा अशा त्या जवलनजटीला पाहण्याविषयीं आह्मांला फार उत्कंटा लागून राहिली आहे; म्हणून त्याला शीघ्र आण असे बोलून राजानें त्याला जाण्यास परवानगी दिली. त्या दूतानें देखिल दिला झालेल्या धुकुटाच्या पुढच्या भागावर आपले हात ठेऊन महाराजांना नमरकार केला व तत्काल विद्यांच्या मोठ्या सामध्यीनें बनाविलेल्या सुंदर विमानांत वसून नील कमलाप्रमाणें ज्याचा वर्ण आहे अशा आकाश मार्गाने विजयार्द्यपर्वताकडे निघून गेला.

याप्रमाणें असगनृप रचित या वर्द्धमान चिरतांतील त्रिपृष्टाच्या उत्पत्तीचें वर्णन करणारा हा पांचवा सर्ग संपलाः



यातेषु केषुचिदहःस्वथ खेचरेंद्रमागत्य वाह्यवनमेकदिने प्रशरते। अध्यासितं सह वलेन निशम्य सौम्याद्रष्टुं सुदा तसुदियाय विशामधीशः॥ १॥

एकेन साधुजनतां प्रति दक्षिणेन वामेन वैरिनिवहे च परेण गच्छन्। दोभ्यामिवोन्नतधनांसविराजिताभ्यां ताभ्यामराजत समं क्षितिपः सताभ्यां॥ २॥

आरूढवाहगतिवेगविलोलहारस्फारांशुचक्रधवलीकृतदिग्विभागैः। ख्यातान्वयैः पथि निजप्रतिविंवकैर्वा राजन्यकेरनुगतो वनमाप स्परः॥३॥

विद्याप्रभावरिचताङ्कृतसौधक्रटकोटिस्थितां बरचरीजनलोलनेत्रेः। प्रत्युत्थितेन सहसा सह खेचरेशा प्रीतिप्रसारितदृशा दृशं नरेंद्रः।श यानात्ससंभ्रमसुभाववतीय दूरादासन्नचारुभटदत्तकरावलंगे। अन्योन्यसन्सुख्यभीयतुरुत्सुको तो पाद्द्रयेन धरणीं धरणीप्रनायो

गाढोपगूहनसुधासिललेन सिक्तः संबंधचंद्नतरुः सममेव ताभ्यां। जीणोंऽपि सन्नव इवांकुरितो विरेजे केयूरकोटिमणिरिक्मिभिनिम-पद्धिः॥ ६॥

तस्यार्ककीर्तिरवनीश्वरनायकम्य दृरानतेन शिर्मा चरणा वर्दे । पित्रा तदानभिहितोऽपि कटाक्षपातिनैमर्गिको हि महतां विनयो महत्सु ॥ ७ ॥ लक्षीप्रतापवलशोर्थमतिश्रुताद्येलीकाधिकाविप समीवजय त्रिपृष्टी। प्रीत्या प्रणेषतुरुभौ खचराधिपं तं स्तब्धो महान्गुरुजने न गुणा-धिकोऽपि॥८॥

कित्येक दिवस गेल्यानंतर एका सुमुहूर्ताच्या दिवशीं विद्याधर राजा ज्वल-नजर्रा वरोवर सैन्य घेऊन पोदनपुराच्या बाहेरील वगीचांत येऊन राहिला आहे ही गोष्ट एका सौस्य स्वभावाच्या मनुष्यानें येऊन प्रजापति महाराजांना सांगितली. तेव्हां महाराज आनंदानें त्याला पाहण्यास निघाले .अर्थात् त्याला भेटण्यास नियाले. २ उंच व वलकट अशा दोन खांद्यांनीं युक्त असलेल्या उजन्या व डान्या वाहममाणे शोभणाऱ्या आपरया दोन मुलांना बरोबर घेऊन जाणारे प्रजापति महाराज फार शोभू लागले. महाराजांचा उजवा वाहु साधुजनाविषयीं सरळ होता अर्थात् त्यांच्यावर तो अनुग्रह करीत असे. व त्यांचा डावा वाहु वैशेजनाविषयीं नेर्व्मां वामच राहात असे अर्थात् प्रतिक्लच राहत असे. याचप्रगाणें विजय व त्निपृष्ट या उथयतांचा स्वभाव ऋषानें महाराजांच्या उजन्या व डान्या बाहूप्रमाणें होता म्हणून हे दोचे महाराजांच्या दोन बाहूप्रमाणें शोभत असत ३७त्तम घोड्यावर आरोहण करून मासिद्ध वंशांतील सरदार मंडलीही महाराजासह वाह्य बनाकडे निघाली. त्यावेळीं सर्व सरदार लोक मार्गीमध्यें जात असतांना लोकांना हीं महाराजाची दुसरीं प्रतिविवेंच जगु आहेत असे वाटू छागछे. कारण ते घोड्या-वरून जात असतां वेगानें त्यांच्या गळ्यांतील हार हालून त्यांच्या किरण सम्-हांनी सर्व दिशांचे भाग पांढ-या प्रकाशानें न्याप्त झाले होते. या सरदारांचा थाट माटही बहाराजा प्रमाणेच असल्यामुळें लोकांना ही महाराजांचीं प्रातिविवें असतील असे वाटणे साहाजिक आहे. ४ विद्यांचे प्रभावानें वनविलेल्या राजवा-ड्यांच्या गचीच्या पुढच्या भागावर वसलेख्या विद्याधर स्त्रियांच्या चंचलनेत्रासह उठलेला व प्रीतीनें ज्याचे डोळे विस्तृत झाले आहेत अशा विद्याधराधिपति ज्वल-नजटी राजानें एकदम प्रजापति महाराजांना पाहिले. अर्थात् विद्याधर स्त्रियानीं व ज्वलनजटोनें महाराजास पाहिलें. ५ त्यावेळी दोघेही राजे अर्थात पृथ्वीपति, प्रजापति व विजयार्द्धपर्वताचा अधिपति ज्वलनजटी हे दोघेही दुरूनच आप-आपल्या वाहनावरून खालीं उतरले. तदनंतर ज्यांना उत्तम शूर पुरुपांनीं आप-ल्या हाताचा आश्रय दिला आहे असे होत्साते ते दोघे मोठ्या उत्सुकतेनें पाद-चारी वनून एकमेकांच्या सन्धुख आले. ६ त्या उभयतांनीं गाढ आर्लिंगनरूपी

अमृत जलानें सिंचिलेला त्यांचा संबंधरूपी चंदन दृक्ष जरी फार जुना झाला होता तरी तो पुनः स्फुरण पावणाच्या वाहुभूपणाच्या रत्निकरणांनीं नवीन पालवी फुटल्याप्रमाणें शोभू लागला. ७ ज्वलनजटीनें कटाक्षांच्या द्वारेंही सुच- विलें नसतां अर्ककीर्ती राजपुतानें दुरूनच नम्र झालेल्या मस्तकानें राजाधिराज प्रजापित महाराजांच्या दोन चरणास वंदन केलें. वरोवर आहे की, मोल्या लोकांचा पूज्य माणसाविषयीं रवाभाविकच विनय असतो. ८ लक्ष्मी, पराक्रम, वल, तेजस्वीपणा, बुद्धि, शासज्ञान या गुणांनी विजय व त्रिपृष्ठ हे जरी लोकोचर होते तरी या उभयतांनीं विद्याध ांचा राजा अञ्चा ज्वलनजटीला एकदम नमस्कार केला. वरोवरच आहे कीं, महापुरूप गुणांनी गुरुजनांपेक्षां अधिक असले तरी ते त्यांच्यापुढें नम्रताच धानण करतात. अर्थात् सत्पुरूप गुणश्रेष्ठ असतांही वयानें अधिक माणसाञीं विनयानेंच वागतात.

आिंग्य तुंगतरदेहमनंगकलं तावर्ककीर्तिममलं प्रथिताककीर्ति । प्रीतौ बमूबतुरुभाविप भूरिशोभौ केपां तनोति न मुदं प्रियवंध संगः॥९॥

ज्ञात्वा तयोविवदिषामय भूतधात्रीधात्रीधरप्रमुखयोर्भुखविश्रमेण । प्रयान्प्रजापतिनराधिपतेरमात्यः प्रोवाच वाचिमिति कालविदो हि दक्षाः॥ १०॥

सम्यक्प्रसन्नमधुनाकुलदेवताभिः पक्वं शुभैश्च भवतोःसफलं च जन्म। छिन्नापि पूर्वपुरुपाचिरता स्वतेयं येनात्मनैव पुनरंकुरिता लतेव। ११। त्वांदेव! निष्प्रतिघमात्मसमं दुरापमन्यैः प्रजापितरभूद्धवनस्य मान्यः। कृष्णस्य केवलमिव प्रतिपद्य योगी प्राप्तं पदं क्वमनुत्तरमप्यनेन॥१२॥ इत्यं तदा निगदतःसचिवस्य वाक्यमाक्षिप्य खेचरपितः स्वयमेवभूचे। अभ्यर्चयन्विकचकुंददलेरिवान्तर्वाग्देवतां दशनरिमिभिरंदुगौरैः ॥ १३॥

ईट्टग्वचो मतिमतां वर ! मा वदस्त्विमिध्वाकवो निमकुलस्य चिरंतनेशाः। आराध्य कच्छतनयो यदहींद्रदत्तां वैद्याधरीं श्रियमशिश्रयदादिदेवं।। १४॥

आज्ञामनादरसमुन्नीमतांतवामभूमंजरीविलसनेकपदेन दत्तां। सज्जस्ततोऽस्य च विधातुमयं जनोऽपि पूर्वक्रमो ननु सतामविर्लः धनीयः॥१५॥

संभाष्य ताविति महीपतिखेचराणां नाथौ पुरा प्राणिधिना विधि-

स्फीतां विवाहमहिमां सुतयोर्विधातुमभ्युद्यतौ विविशतुर्गृहसुत्प-ताकम् ॥ १६॥

९ विपुल सौंदर्यधारक असे विजय व त्रिपृष्ट हे दोघे राजपुत्रही ज्याची कीर्ति सूर्याप्रमाणें उज्ज्वल आहे, जो अघिक उंच शरीराचा, मदनाप्रमाणें सुंदर व निर्दोप आहे अशा अर्ककीर्नीला आलिंगून आनंदित झाले. वरीवरच आहे वीं, आवहत्या संवंधी जनांचा सहवास कोणास आनंदित करीत नाहीं वरें ? सर्वीस आनंदित करितोच. १० पृथ्वीपति प्रजापति महाराज आणि विजयार्द्ध पर्वताचा अधिपति ज्वलनजटी यांच्या मुखायरील आकृतीनें त्यांच्या मनांत भाषण करण्याची इच्छा आहे असं जाणून प्रजापति महाराजांचा आवडता मंत्री पुढें जिहिल्याप्रमाणे बोळ् लागला. वरोवर आहे कीं, हुशार माणसें योग्य कालाला जाणणारीं अप्ततात. ११ ''आज कुल देवता चांगल्या प्रसन्न झाल्या,आज शुभकर्षे उदयास आलीं व आज उभयतांचा जन्म सफल झाला. पूर्व पुरुपांचा संबंध जो वव्याच कालापासून तुटला होता तो आज तुटलेल्या वेलीपमाणें पुनः अंक्ररयुक्त ञाला आहे. १२ ज्याप्रपाणे एखादा योगी-मुनि प्रतिपक्षरहितः इतरांना प्राप्त हावेयास कठिण असें, आत्मस्वरूप असलेलें केवलज्ञान माप्त करून घेऊन त्रैलोक्य वंद्य होतो व सर्वोत्कृष्ट अविनाशी असे मोक्षस्थान प्राप्त करून घेतो त्याचपपाणे हे प्रभो । प्रभापति महाराज प्रतिपक्षरहित, अन्य जन दुर्लभ, आपल्या बरोवरीच्या अशा आपल्या आश्रयानें जगन्मान्य झाले आहेत व स्थिर आणि उत्कृष्ट अगी प्रतिष्ठा त्यांना लामली आहे." १३ यापमाणे भाषण करणाऱ्या मंड्याचे बोलले मध्येंच थांववृत विद्यावरांचा राजा ज्वलनजटी हा कुंद्पुष्पांच्या दलामपाणें

असलेल्या चंद्रनिर्मल डांतांच्या किरणांनीं हृद्यांत असलेल्या वाग्डेवतेची-सरस्व-तीची जणू पूजा करणारा असा होत्साता स्वतः याप्रमाणे वोलं लागला १४ "हे विद्वच्छ्रेष्ठा ! तूं असें वोॡं नकोस. इक्ष्वाक्चवंशीय राजे नामेक्कुलाचे फार प्राचीन कालापासून मालक होन आले आहेत. कच्छ राजाचा पुत्र जो नमिकुमार न्याने श्रीआदि भगवंताची आराधना करून धरणेद्रानें दिलेल्या विद्याधराच्या लक्ष्मीचा स्वीकार केला आहे. अर्थात् आमच्या कुलांतील प्राचीन मुख्य पुरुपानें इक्ष्याकु-कुलोत्पन आदि तीर्थिकराची सेवा करूनच विद्याधर पद प्राप्त करून चेतरं आहे. ह्मणून आह्मी या वंशाचे पिढीजाट सेवक आहोत. १५ सहज जिचा शेवटचा भाग दर आला आहे अशा सुवईरूपी मंजरीन्या दिलासरूपी निमित्ताने वेलेल्या या महाराजांच्या आहेला अनुसल्न हा भी देखील नेहमी कार्य करण्याम तयार राहीन. अर्थात् आपळी आजा मानणें माझे कर्तव्यच आहे कारण सन्पुरुप आपल्या वंशपरंपरेची पद्धती उछंघीत नाहींत. १६ यात्रमाणें भाषण करून भृगोचरीराजे व विद्याधर यांचे स्वामी जसे ते दोघेजण ज्याची तयारी ब्रह्मदेवानें-६ण्यकर्मानें आधीच करून टेविली आहे अगा आपल्या मुलगा व गुलगी यांच्या रमणीय विवाहाचा उत्सव करण्यासाठी उद्युक्त होऊन पताका, तोरणे यांनी सुशांभिन अज्ञा आपल्या घरीं गेले.

प्रत्यालयं प्रहतमंगलत्यंशंखमृत्यापितव्यजिवतानकृतांथकारं ।
प्राग्द्रारदेशिविनिवेशितशातकुंभकुंभाष्रदत्तसुकुमारप्रवारोहं ।।१०॥
मृत्यन्पदालस्वधूजनवक्ष रद्यव्यासक्तकामुक्रविलोचनमत्तभूंगम ।
रंगावली वरिवेतोज्ज्वलपद्यारागेंपंखत्प्रभापटलप्रकृतितांनिरक्षं॥१०॥
स्वारणाचतुरचारणवंदिद्दंकोलाहलप्रतिनिनादितसर्वदिक्षं ।
आसीत्पर्परिवस्तिम्तिनीपयेव रम्यं पुरं ख्वरनं निविद्दं वनं च १९ स्मिन्नद्त्तिद्वसेऽथ जिनेद्रपृजां पूर्वं विधाय जिनमंदिरमंद्रगंत्र ।
स्विध्यास्तक्मलामिव ख्वांद्रःपुत्रीं दिद्श विधिना पुरुषात्मायस्थ केयुरहारकटकोज्ज्वलकुंडलाव्यः समान्य राजक्मवोपमदादिन्।।
कन्यापदानदहनेन समं महिष्या चिनामगुद्रगत्रदामिवंशकतुः। ।
इत्यं प्रदाय ननुजां विजयागुजाय प्रीति प्रामृत्यया व्याराशिनायः।

एष्यन्महाभ्युदयवैभवभाजनेन संबंधमेत्य महता सह को न तुष्येत्।२२ श्रुत्वाथ खेचरपतेर्दुहितुःपदानं भूगोचराय विदितात्मचरेण नीतं। सद्यञ्चकोप गगनेचरचक्रवतीं सिंहो यथा नवपयोधरधीरनादं।२३। कोपेन पछवितभीषणदृष्टिपतिरंगारसंचयमिवाविकरन्सभायां। इत्थं जगाद वितताशानिधोरनादः प्रस्वेदवारिकणिकास्तबकावतंसः ॥ २४॥

हे खचराःश्रुतिमदं न तु किं भवद्भिर्यत्कर्म तेन विहितं खचराधमेन। युप्माञ्जरचृणमिव प्रविलंघ्य दत्तं कन्याललाम मनुजाय जगत्प्रधानं २५

१७ त्यावेळीं पोदनपुर शहरांत व विद्याधगंनीं जेथें मुक्काम केला होता त्या वगीचामध्यें प्रत्येकाचे घरीं मंगल वाद्यें व शंख वाजूं लागले. ध्वज व चांदेव लावण्यानें तेथें अधार झाला होता. घरांच्या पुढच्या दारावर सुवर्णाचे कुंभ टेविले होते व त्यांच्या मुखावर सातूंच्या कोमल अंकुरांची स्थापना केली होती. १८ तारुण्यमदानें आळशी वनलेल्या स्त्रिया प्रत्येकाच्या घरीं नृत्य करीत असतां त्योच्या मुखरूपी कमलांवर कामुक जनांचे डोळेरूपी उन्मत्त सुंगे आसक्त होत असत. प्रत्येकाच्या घरीं गंगोळी काढलेली असून त्यांत उज्ज्वल पद्मरागमणि वराविलेले असल्यामुळें त्यांच्या पसरलेल्या कांतिसमूहानें आकाशाला जणु लाल कांगल पालवी फुटली आहे असा भास होत होता. १९ उच्चारण करण्यांत निपुण असलेले चारण लोक व वंदीलोकांच्या स्तुतिपाठांनीं जेथें सर्व दिशा प्रति-ध्वनींनीं गुक्त झालेल्या आहेत; असें तें सुंदर पोदनपुर शहर व विद्याधरांचें रमणीय वन हीं एकमेकांच्या ऐश्वर्याला जिंकण्याची जणुं इच्छा करीत आहेत अशीं भासू लागलीं. २० याप्रमाणें दोन्ही ठिकाणीं खूप शोभा झाल्यावर संभिन्न निमित्ताज्ञान्याने काइन दिलेल्या दिवशीं प्रथम जिनमंदिर व मेरपर्वतावर जिनेश्व रांची पूजा करून विद्याधरराजा ज्वलनजटीने शास्त्रोक्त पद्धरीने कपलवनागध्ये राहणें जिनें सोडलें आहे अशा लक्ष्मीप्रमाणें सुंदर असलेली आपली रवयंप्रभा कन्या तिपृष्ट कुमाराला अर्पण केली. २१ बाहुभूपणें, हार, कडीं, सुंदर कुंढलें वगेरे अलंकार राजे लोकांना अर्पण करून ज्यानें संपूर्ण शत्रु नष्ट केले आहेत असा नामिकुलांत ध्वजासारखा भासणारा ज्वलनजटी आपल्या राणीसह कन्याप्रदानरूपी नौकेच्या द्वारें चितारूपी समुद्र तरून गला.

२२ याममाणें विजयवलभद्राच्या धाकट्या वं वृला आपली कन्या अर्पण करून विद्याधरांचा राजा फार संतुष्ट झाला. पुढें ज्यांना उन्नतियुक्त ऐश्वर्य प्राप्त होणार आहे अग्रा मोट्या छोकांशीं आपछा संबुंध झाला असतां काणास वरें आनंद होत नाहीं ? सर्वीसच होतो. २३ विद्याधरराजा ज्वलनजटीर्ने आपली कन्या भूगोचरी राजाला दिली अग्नी हकीकत आपल्या प्रसिद्ध हेराने आणिलेली ऐकृन विद्याधरांचा चक्रवर्ती अश्वग्रीव प्रतिनारायण नवीन मेघांच्या गंभीर ध्वनीला ऐक्रुन जसा सिंह रागावतो तसा तत्काल रागावला. २४ कोपार्ने लाल भडक झालेल्या आपल्या भयंकर नेलकटाक्षांनी तो सभेमध्ये विस्तवांची जणु दृष्टि करीत आहे असा भासू लागला. घामाच्या पाण्याच्या वारीक कणांनीं त्यांचे शरीर शोभू लागलें. विजेच्या कडकडाटापमाणें ज्याचा भयंकर ध्विन पसरला असा तो अर्धचक्रवर्ती याममाणे बोलूं छागछा. २५ " हे विद्याधरानों! त्या अधम ंबचरानें अर्थात् विद्याधरानें जें काम केलें तें तुझी ऐाक्रेलें नाही काप ? तुझा सर्व विद्याधरांना जीर्ण गवतताप्रागाणें तुच्छ मानून-तुमचें उहुंचन करून त्याने बैलोक्यांत अद्वितीय रूपवती सर्व कन्यामध्यं सीभाग्यतिलकाष्ट्रमाणं शोभणाग े कन्या स्वयं प्रभा एका मनुष्याला दिली आहे. ही गोष्ट तुझी ऐकिली नाई। काय? अर्थात् आतांच ऐकिली आहे.

इत्याहतं प्रतिमुखं वचनेन तस्य प्रक्षोभघूर्णितमुवाह सदःसमस्तं। लीलां प्रसादिवरहादिवलोकनीयां कल्पांतकालपवनक्षभितां इराशेः।। २६॥

अग्रेसरः स्थितिमतामाविलंघनीयां विभ्रत्समुन्नतिमनन्यभवोरुमतः कोपात्प्रकंपितजगज्जनताक्षयाय आलेयरौल इव नीलस्यश्रवाल ॥ २०॥

चित्रांगदो निहतशात्रवशोणितेन चित्रां गदां परिमृशहृदगात्करेण वामेन वेगचितांगदपद्मरागछायापदान्मिपितकोपदवानलेन १२०। भ्रूभंगभंगुरमुखः परिवाटलाक्षः प्रस्वेदवारिलकोर्णकपोलमुलः । दोलायितोचाततनुः स्फुरिताथराऽभुद्धीमः म्वयं मदिम कापवद्भ-कापः ॥ २२ ॥ विद्यावित्रम्हदयः शरणातुराणां दत्तागयः प्रतिभये सित नीलकंठः। उच्चैर्जहास ककुभां विवराणि कोपात्पध्वानयन्कहकहध्वानिभिर्ग-भीरैः॥ ३०॥

स्वेदाईनिर्मलतनुप्रातिविंगितेन कृद्धेन संसदि गतेन जनेन तेन । आसीदनेकिमव हंतुमरीन्विकुर्वन्विद्याबलेन बलमाजिरसेन सेनः।। ३१॥

कोधोद्धतःसमदशात्रवदंतिदंतप्राप्ताभिधातविपुलव्रणममहारं। वक्षःस्थलं विपुलमुत्पुलकं करेण वामेतरेण परिघः परितो ममार्ज ॥ ३२॥

निर्व्याजपौरुषवराकितवैरिवर्गो विद्याविभृतिजनितोन्नतिरुन्नतांसः। उवीं जघान कुपितो हरिकंघरांकः कर्णोत्पलेन चलितालिकुला-कुलेन ॥ ३३ ॥

२६ प्रत्येकाच्या मुखाकडे वळ्न अश्वग्रीवानें यापमाणें भाषण केलें. त्याच्या भाषणानें ताडित झालेल्या लोकावर वराच परिणाम झाला. सगळ्या सभेत प्रसन्नतेचा अभाव झाला व कल्पांतकालाच्या वाऱ्यानें समुद्र खवळला असतां जसा तो भयंकर होतो, त्याच्याकडे त्यावेळीं पाहणेंही शक्य नसते नशी सभा अगदीं क्षुब्ध होऊन गेली. २७ कोपानें जगाला कंपित करणारा नीलरथ सर्व भूमिगोचरी मनुष्यांचा क्षय करण्यासाठीं निघाला असतां तो हिमा उयपर्वताप्रमाणें शोभूं लागला. हिमालय जसा स्थिरपर्वतामध्यें अग्रेसर-मुख्य आहे तसा हाही स्थितिमान छोकांमध्यें-मर्यादेचें रक्षण करणाऱ्या लोकांमध्यें अग्रेसर-पुढारी आहे. हिमालय उल्लंघन करतां न येणाऱ्या समुन्नतिला-उंचीला धारण करितो. व हा नीलरथही उल्लंघन न करतां येईल अशा समुन्नतिला-वैभवाला धारण करीत आहे. हिमालय अनन्य-भवोरुसत्व अर्थात् इतर ठिकाणीं न आढळ्न येणाऱ्या अपूर्व पाण्यांना धारण करितो तसा हा विद्याधरही अनन्यभवोक्सत्व होता अर्थात् त्याच्या विकाणीं इतरांच्या विकाणीं न आढळून येणारें असे मोठें सामर्थ्य होतें. २८ ठार मारलेख्या शत्रूंच्या रक्ताने चित्रित झालेख्या गदेला डाव्या हाताने धरून चित्रांगद सभेंत उठून उभा राहिला व डाव्या हातानें ती फिरऊ

लागला. फिरविण्याच्या वेगानें रथानापासून खालीं सरकलेल्या वाहु भूषणांतील पद्मरागमण्यांच्या कांतीच्या मिपानें जणु त्याचा हात कोपरूपी वडवाग्नीनें युक्त झाल्याप्रमाणें शोभू लागला. २९ भीम नांवाचा विद्याप्टर राजा अश्वग्रीवाचे भाषण ऐक्न सुवया वाकट्या झाल्यामुळे ज्यांच मुख वांकडें झालें आहे असा झाला. त्याचे डोळे लाल झाले, घामाच्या धेवांनीं गालांच्या जवळचा प्रदेश व्यापून गेला. त्याचें उंच व घिष्पाड शरीर झोक्याप्रमाणे हालूं लागलें, ओठ थरथर कांपू लागले. त्याला फार तीव्र कोप आला. त्यामुळे सभेत जणु तो साक्षात् कोपापमाणें भासू लागला. ३० ज्याचे हृदय विद्यांच्या पाप्तीने गर्वयुक्त झालें आहे, शत्रूपासून भय उत्पन्न झालें असतां शरण नसल्यामुळें भयाकुल झालेल्या लोकांना जो अभगदान देतो असा नीलकंड नांवाचा एक राजा गंभीर अशा कहकहाट ध्वनींनीं दिशांच्या विवरांना प्रतिध्वनियुक्त करून कोपानें मोठ्यानें हंसू लागला. ३१ घामाने ओले झालेल्या ज्याच्या निर्मल देहामध्यें समेंतील सर्व कुद्ध झालेल्या लोकांचें प्रतिविंद पढले आहे असा सेन नांवाचा एक विद्यापर <sup>राजा</sup> युद्धवेमानें शत्रूंना ठार मारण्यासाठीं विद्येच्या सामर्थ्यानें जणु ज्यानें विधुल सैन्य तयार केलें आहे असा दिसू लागला. ३२ शत्रूच्या उन्मत्त हत्तीच्या दन्तप्रहारामुळें झालेल्या मोठ्या जखमेंत बुडालेल्या मोत्याच्या हारानें युक्त व ज्याच्यावर शहारे आले आहेत असें स्वतःचें मोठें चंद्र वक्षःरथल क्रुद्ध झालेला परिच नांवाचा राजा आपल्या उजन्या हातानें सर्व वार्जुनीं चोळ् लागला. ३३ स्वाभाविक पराक्रमानें ज्यानें शत्रूसमूहास वश केलें आहे, विष्या व ऐव्वर्य यांच्या द्वारें ज्यानें प्रजाननांना उन्नातावस्थेला पोहोचिवलें आहे, ज्याचे खांदे उंच आहेत अशा अश्वग्रीव अर्धचक्रवर्तीनें क्रुद्ध होऊन चंचल झालेल्या भ्रमरसमृहानें युक्त असलेलें कानावरील कमलानें जमीनीवर आवात केले.

भूरिप्रतापपरिवृरितसर्वदिकः पञ्चाकरार्पितजगत्प्रणतात्रपादः । कोपाञ्जनक्षयमिन प्रथयन्विवर्णस्तूर्ण दिवाकर इवैप दिवाकरोऽ-भूत् ॥ ३४ ॥

ज्याघातजेः किणकणैःस्यपुटाग्रहस्तो हस्तद्रयेन मथितारिकुलाः चलेन ।

संचूर्णयन्नुरिस हारलतां न चके स्त्राविशेषमपि संसदि कामदेवः योद्धं दिषा सह वियत्प्रविगाहमानौ सभ्येर्धतौ कथमपीश्वरवृज्ञ उत्वातधौतक्रवालक्रम्शेहमारोहभास्रित्दक्षिणबाहुदंडौ। ३६। कालान्तराद्धिगतावसरोऽप्यनेन नांगीकृतोऽहमिति रुष्ट इवास्त। दूरादंकपननृपस्य यथार्थनाम्नः कुप्यत्यहो सदिस चंचलधीर्न धीर।

॥ ३७॥

आस्फालिता रभसनिर्दयदृष्टकांतदन्तच्छदेन बलिनाशानिविक्रमेण। क्रुद्धेन दक्षिणकरेण रसा ररास स्फीतांबरं रणरणायितभूषणेन।३८। इत्युद्धतः सदिस धूमशिखो जगाद व्यात्ताननप्रसृतधूमविधूमिताशः

आलोक्य कोपपरिपाटलितेक्षणाभ्यां नीराजयिवव सभामभिमानशाली ॥ ३९॥ आज्ञापयाश्वगल ! तिष्ठसि किं वृथैव प्रज्ञा सतां परिभवे सति निर्व्यपेक्षा। वामेन किं करतलेन धरामशेषामुद्धत्य चक्रघर ! वारिनिधौ क्षिपामि ॥ ४० ॥

३४ जसा दिवाकर-सूर्य आपल्या पुष्कळ कडक उन्हानें सर्व दिशांना भरून टाकितो व जग ज्यांना नमरकार करितें असे आपले किरण कमल-समृहावर टाकितो त्याप्रमाणे भूरिप्रतापपरिपृरितसर्वदिकः अर्थात् अतिशय पराक्रमानें सर्व दिशा भरून टाकणारा, व पद्माकरार्पितजगत्मणताग्र पाद: अर्थात् जग ज्याला नमस्कार कारेते असा, ज्याचे पाय लक्ष्मी हाताने चुरीत आहे असा हा दिवाकर रागान लाल भडक होऊन जणु जगाचा बीघ्र क्षय करणारा असा होत्साता दिवाकर झाला अर्थात् सूर्यासारखा झाला. ३५ धनुष्याच्या दोरीच्या आघातानें उत्पन्ना झालेल्या लहानना अनेक घट्टचांनी ज्याच्या हाताचे तळवे उंच सखल झाले आहेत अशा सभेंत

वसछेल्या कामदेव नांवाच्या विद्याधर राजानें शत्रूरूपी कुछाचछपर्वतांचा चुराडा करणाऱ्या आपल्या दोन हातांनीं आपल्या वक्षःस्थछावर असछेल्या रत्नमाछेचा चुरा करून तिचें सूत देखिछ वाकी ठेविलें नाहीं.

दे६ म्यानांतून वाहेर काढलेख्या तेजस्वी तरवारीच्या किरणरूपी खगवलेख्या अंकुरांनीं ज्यांचे उजवे वाहुदंड तेजस्वी दिसतात असे ईश्वर व वज्रदंष्ट्र नांवाचे दोन विद्याधर राजे शत्र्वशीं लढण्यासाठीं आकाशमागांनें जात असतां त्यांना समेंत असलेख्या इतर विद्याधर राजांनीं मोठ्या कष्टानें भरून ठेविलें. ३७ पुष्कल दिवसांनीं आज मला याच्या ठिकाणीं उत्पन्न व्हावयास संधि मिलाली असतांही यानें माझा स्वीकार केला नाहीं स्मणून जणु रुसल्याप्रमाणें अकंपन या यथार्थ नांवाला धारण करणाऱ्या या अकंपन राजापासून कोप दृर झाला. वरोवरच आहे कीं, सभेमध्यें चंचल बुद्धीचीं माणर्से तेव्हांच रागावतात. पण धीर मनुष्य शांत असतो. हा अकंपन राजा स्थिरबुद्धीचा असल्यामुळें खरोखरच अकंपन होता सम्पून त्यानें आपलें मन कोधाविष्ट होऊं दिलें नाहीं. ३८ ज्याचा शनीसारखा पराक्रम आहे. ज्यानें वेगानें निर्दय होऊन आपला सुंदर ओठ चावला आहे, अशा वालि राजानें ज्याचीं भूषणे वाजत आहेत अशा आपल्या उजव्या हातानें जमीनीवर जोरानें पहार केले. त्यावेळीं जमीन शद्धयुक्त झाली व तिच्या प्रतिध्वनीनें आकाश भरून गेलें.

३९ उघडलेल्या मुखांत्न निघालेल्या धुरानें ज्यानें दिशा न्याप्त करून टाकिल्या आहेत असा अभिमानशाली उद्धट धूमशिख नांवाचा विद्याधर राजा सभेला पाहून कोपानें आरक्त झालेल्या आपल्या दोन डोळ्यांनीं जणु तिची आरती करणारा होत्साता अश्वग्रीव राजाला याप्रमाणें बोल्ला सभेमध्यें त्यानें चोहोंकडे आपले लालभडक डीळे वळवून पाहिलें तेव्हां तो जणु सभेची आरती करीत आहे असा लोकांना भासू लागला. ४० हे अश्वग्रीव राजा! यावेळेस व्यर्थ गण्य कां वसतोस १ दुष्ट लोकांकडून पराभव होण्याची वेळ आली असतां बुद्धि अपेक्षारहित असावी अर्थात् कोणाची जरूर न वाळगतां दुष्टांचा नाग करण्याचा प्रयत्न करावा. त्यावेळीं स्वस्थ वस्ं नये. मला आज्ञा कर. डाव्या हातानें भूमिगोचरी लोकांचा सगळा प्रदेश हे चक्रधरा! उचल्चन समुद्रांत फेक्नन देऊं काय?

लोकाधिकां निमकुलप्रवरस्य पुत्रीं कंठे कृतामसहशा मनुजैन तेन। को वा सहत्यसहनो न विधेर्मनीषी हुष्ट्रा शुनो गल इवोज्ज्वलरत्नमालां ॥ ४१ ॥ एतेषु कश्चिदपि यः खचराधिपेषु भ्रूविभ्रमेण भवताभिहितः स एव । आकस्मिकं निमकुलप्रलयं विधत्ते काकेषु नाथ मनुजेषु च तस्य कास्था ॥ ४२ ॥ कुछे यमे त्विय च जीवति कः क्षणं वा लोके प्रसिद्धमिति वाक्यमिदं न जानन्। इत्थं विरोधमकरोत्स कथं पुनस्ते सीदत्यहो मतिमतां मतिरप्यभावे ॥ ४३ ॥ अत्रात्मबंधुनिवहैः सह नागपारौर्बद्ध्वा वधूवरयुगं सहसानयामः । इत्युत्थिताननुनयन्खचरान्कथंचित् मंत्री निवार्य हयकंधरिमत्यवादीत् ॥ ४४ ॥ निष्कारणं किमिति कुप्यसि नाथ! बुद्धियाता कते सकलनीतिपथप्रवीणा। कोपान्न शत्रुरपरोऽस्ति शरीरभाजां लोकद्रयेऽपि विपदां ननु हेतुभूतः ॥ ४५ ॥ तृष्णां विवर्धयति धैर्यमपाकरोति प्रज्ञां विनाशयति संजनयत्यवाच्यं । संतापयेत्स्ववपुरिंद्रियवर्गमुगः पित्राज्वरम्तिनिधिः पुरुषस्य कापः ॥ ४६ ॥ रागं हशोर्वपुषि कंपमनेकरूपं चित्ते विवेकरहितानि विचिंतितानि ।

पुंसाममार्गगमनं श्रमदुःखजातं

कोपः करोति सहसा मदिरा मदश्च ॥ ४७ ॥ यः कुप्यति प्रतिपदं भुवि निर्निमित्त-

माप्तोऽपि नेच्छति जनः सह तेन सख्यं। मंदानिलोछसितपुष्पभरानतोऽपि

किं सेन्यते विषतरुम्धुपत्रजेन ॥ ४८ ॥ आलंबनः प्रतिभये सति मान्भाजां वंशोन्नतः प्रथितसारगुणैविशुद्धः । श्रीमानसाधुपरिवारतिरोहितात्मा

प्रामानसञ्चनस्यासारमञ्जालमा प्राप्नोति मानद ! कलंकमसिश्च सद्यः ॥ ४९ ॥

४१ निमक्क होतील श्रेष्ठ विद्याधराची - ज्वलन जटीची कन्या स्वयंप्रभा ही लोकोत्तर सुदरी आहे. परंतु अशा अनुपम सुंदर कन्येला त्या क्षुद्र मनुष्यानें अर्थात् त्रिपृष्टानें आपल्या गळ्यांत धारण केलें आहे. हें कुऱ्यानें आपल्या गळ्यांत उज्ज्वल रत्नमाला धारण करण्यासारखें झाले आहे. विधात्याचें हें अयोग्य कृत्य कोणता बुद्धिमान मनुष्य सहन करू शकतो वरें <sup>१</sup> अर्थात् त्या क्षुद्र मनुष्यापामुन ही अनुषम कन्या हिरावृन आणिली पाहिजेच. ४२ हा सर्व विद्याधरांचा समृह येथे वसला आहे यापेकी आपण सुवईच्या संकेतानें ज्या कोणालाही आजा द्याल तो एकदम नमिकुलाचा सत्यनाग करण्यास समर्थ आहे. मग हे प्रभो ! कावळ्यासारखे हीनवल मनुष्यांची त्याला काय किंमत आहे ? ४३ यम अथवा आपण रागावला असतां या जगांत कोण जगण्यास समर्थ आहे? अजी जी आपल्याविपर्यी हे पभो ! ह्मण प्रसिद्ध आहे, ती माहीत न झाल्यामुळें ज्वलनजटीनें असर्ले अयोग्य कार्य केलें आहे. अर्थात् आपल्याणी विरोध केला आहे. हें शक्य नाहीं, अयवा बुद्धिमान लोकांचीही बुद्धि विनाशकाल समीप आला असतां नाग पावतें असें ह्मणावयास हर्कत नाही. ४४ यास्तव या सभेत वराम आणि चत्रुस त्यांच्या आप्तनानलगासह नागपाशांनीं बद्ध करून आसी एकदम आणतो असे ह्मणून तसें करण्यासाठी उठलेल्या विद्याधगांना अखग्रीवाच्या मंत्र्याने प्रार्थना वैगरं करून यांविवलें. तो अखग्रीवाला पुरे

लिहिल्याप्रमाणें वालं लागला. ४५ '' हे प्रमो, आपण व्यर्थ कां बरें कुछ होत आहांत ? हे नाथा, सर्व नीतिमार्गामध्य प्रवीण असलेली आपली बुद्धि आज कोठें गेली ? महागज! संसारी जीवांना कोपाहून दुसरा शत्रु नाहीं. हा कोपरूपी शत्रु या लोकीं व परलोकीही खात्रीनें विपत्तीलाच कारण आहे. ४६ पित्तज्वर आला असतां ज्या गोष्टी घड़न येतात त्या गोष्टी कोपापासूनही घट्टन येतात ह्मणून तो पित्तज्वराचा प्रतिनिधि आहे असे स्मणतां येतं. पित्तज्वरानें तहान वाढतें, धैय नष्ट होतें, बुद्धीचा नाश होता व न बोलण्यायोग्य देखिल गोष्ट मनुष्य बोल्र्न जातो. हा उग्र मनुष्याची इंद्रियें व शरीर यामध्ये दाह उत्पन्न करितो. याच गोष्टी कापाच्या-ह्रागेंही अवश्य घडून यतात. ४७ कोप आणि दारुची धुंदी यापासून समानच कार्ये घडून येतात. तीं अशीं:— डोळे लाल होतात, शरीर अनेक प्रकार कंप पावतें, मनामध्यें विवेकरहित नाना प्रकारचे विचार येतात, वाइंट मार्गानें गमन होतें व श्रम झाल्यानें दुःख उत्पन्न होतें. या गोष्ठीं या कोपानें व टारून्या धुंदीनें एकटंम प्राप्त होतात. ४८ जो भनुष्य पावलोपावलीं विनाकारण रागावतो, जगामध्ये आप्तनातलग देखिलही त्याच्याशीं मैत्री करूं इच्छित नाहीत. यास उदाहरण अमें पहा कीं, मंद वाऱ्यानें हालणाऱ्या पुप्पसमूहाच्या भारानें लवलेलाही विषदृक्ष मुंग्यांच्या समृहांकडून सेविला जानो काय ? केव्हांही नाहीं. ४९ भय उत्पन्न झालें असतां स्वाभिमानी पुरुपांना आश्रय देणारा, उत्तम कुलामध्यें जन्मून उन्नतावरथेला पोहोंचलेला, प्रसिद्ध अजा उत्कृष्ट्र सत्य, औदार्य वगैरे गुणांनीं विशुद्ध झालेला, संपत्तिमान् मनुष्य दुष्ट परिवाराकडून त्याचे स्वरूप झाकले गेलें असतां तो कलंकयुक्तं होतो. अर्थात् जगांत त्याची अपकीर्ति होते. तरवारीचें दुष्ट पुरुषांनीं घेरलेल्या श्रीगंत मनुष्यांशी असेच साम्य आहे. तें यापाणै: — शत्रूपास्न भय उत्पन्न झार्छे असता स्वाभिमानी माणसांना तरवार आधारभूत आहे. तिच्या योगान भय नाहींसे कन्तां येतं. मध्ये तिला वांक जाल्यामुळे ती उन्नात दिसते. मसिद्ध उत्कृष्ट गुण तीक्ष्णता वगरे असतात. आणि ती अतिशय स्वच्छ असते. नाताल अराष्ट्र अन पार नाता वर्ग नाताल जाता है। जाताल अराज अराज व क्रांतियुक्त असल्यामुळें चमकते. परंतु तिच्यावरचें म्यान खराव असेल तर तिचे स्वरूप झांकून जाते; अर्थात् ती गंत्रते, तिची धार कमी होते अज्ञा गीतीनें जशी ती कलंक युक्त होते तसेंच शत्रूंचा अभिमान तोहून टाकणाऱ्या हे चक्रवतीं अश्वत्रीवा! दुष्ट पुरुषाच्या महदामाने तुझे खरें स्वरूप झांक्रन तुला तत्काल कलक लामेल.

रक्षापरा समिभगंछितकार्यसिद्धेः

सिद्धांजनैक्गुलिका तिमिरस्य दृष्टेः।

लक्ष्मीलतावलयवर्धनवारिधारा

क्षांतिः सतामभिमता भुवि केन नास्तु॥ ५०॥

न श्रेयसे भवति विक्रमशालिनोऽपि कापः परेष्वतिबलस्य समुन्नतेषु ।

अंभोधरान्समभिलंध्य सृगाधिराजा

निष्कारण स्वयमुपैति न किं प्रयासम् ॥ ५१ ॥

युक्तात्मपक्ष्वलगर्वितयैव मूढः

स्वस्येतरस्य च समीक्ष्य न शक्तिसारं ॥

उद्यञ्जिगीषुरभिवन्हि पतत्पतंगप्राप्यां दशामनुभवत्यचिरादचित्यां ॥ ५२ ॥

तुल्ये रिपो जगति दैवपराक्रमाभ्यां

सिंधः प्रभोर्गमहितो नयशास्त्रविद्धिः ।

अभ्युन्नतो भवति पूज्यतमश्च ताभ्यां

हीनोऽपि सन्मतिमतां सहसा न दंख्यः ॥ ५३ ॥

अंतर्मदं करिपतेरिव बृंहितानि

प्रातःकरा इव दिनेश पुर्दायमानं ।

लोकाधिपत्यमपि भावे विनांतरार्यं अल्यापयन्ति पुरुपस्य विचेष्टितानि ॥ ५४ ॥

यस्तादृशं मृग्पूर्तं यृगराज-

राजकोटीवल नवमृणालिमवांगुलिमः।

स्वरं व्यदारयद्यैककरण द्घे येनातपत्रीमव कोटिशिला व्युद्स्य ॥ ५५ ॥ यं च रवयं ज्वलनजरग्रागस्य विद्वात् कन्याप्रदानविविधूर्वसुणास्त धीरः । तेजोनिधिः स कथमद्य तवाभियोध्यो यातव्य इत्यपि वदासि वद त्रिरुष्ठः ॥ ५६॥ चक्रिथ्या परिगतोऽहिमिति

स्वकीये गर्व पृथा मनिम मानद! माक्टपास्त्वं। किं वा विमृहमनसामजितोंद्रियाणां

गंपत्सुखाय सुचिरं परिणामकाले ॥ ५७ ॥

५० हे प्रभो, क्षमा ही इन्छित कार्यान्या सिद्धीचे रक्षण करणारी आहे. दर्शनोन्ड निमिररोग काइन टाफण्यास जसे ि छांजन समर्थ असतें त्याप्रमाणें सम्यम्दर्भनांत दोपाचा प्रवेश झाल्यास तो काट्रन टाफण्यास ही क्षमा सिद्धांजन गुटिकेमनाणें आहे. संपत्तीरूपी लतेची बाढ होण्यास ही पाण्याच्या धारेप्रमाणे आहे. दी क्षमा सत्पृह्यांना गान्य असल्यामुळे कोपास वे मान्य होणार नाहीं ? सर्वाम मान्य होईन. ५१ पराक्रमयुक्त व यक्तिगाली अरा मनुष्यांनीही ने उन्नतावर्थेला पोहोचले आहेत अशावर कोप करूं नये. कारण तो त्यांच्या कल्याणाला कारण होत नाही. यास उदाहरण असे पहा कीं, मेघांना पकडण्या-साठी निंह पुष्कळ उड्या माग्तो; परतु तो व्यर्थ श्रमच पावतो. तसे समर्थ माणसायर कोप केल्याने विकामशाली पाणरणमही अहिनःशिवाय दुसर्थे फळ मिळन नाही. ५२ म्वत ची माज्च योग्य आहे व तिचेंच पुष्कळ सामध्ये आहे अर्शा ज्याला घर्षेड उत्पन्न झाली आहे तो मनुष्य खगेखर स्वतःच्या व इतगंच्या शक्तीचें महत्व जाणीत राहीं असे ह्मणावें जागते। जनूना अविचागने जिंपण्यास तयार झालेला तो गर्वयुक्त मनुष्य लौकरच अग्निकड थारून त्यावर उडी मारणाऱ्या पतंगाला जी अवस्था प्राप्त होते त्या अचित्य अवस्थेची प्राप्ति करून निचा अनुभव घेतो. ५३ हे राज्य, जो अत्रु सुदैव व पराव्रम यानी आपल्या लोडीचा आहे त्याच्याशीं राजानें संयीच करावा असे नीतिज्ञ ठोक ह्मणतात. हीन मनुष्य देखिल देव व पराक्रमाच्या जारावर उन्नत व पूज्य वनतो. यारतव हीन मनुष्यासही बुद्धिपान लोकानी विचार न करितां दह नये.

५४ जर्से हत्तीच्या बारंबार होणाऱ्या गर्जना त्याच्या आंत उत्पन्न झालेल्या उन्मत्तपणाच्या सूचक आहेत. पातःकाळीं नुकर्तेच वाहेर पडलेलें सूर्याकिण जसे उदित होणाऱ्या सूर्याचे ज्ञान करून देतात त्याप्रमाणे पुरुषाचे पराक्रम त्याला पुढे विघ्नराहित जगार्चे साम्राज्य मिळेल म्चक असतात. ५%-५६ जो सिंह अनेक सिंहांचा स्वामि व कोट्याविध सिंहापेक्षांही अधिक बलवान होता; त्यालाही ज्याने सहज आपल्या बोटानी कोमल वमलांच्या दांड्यापमाणें फाडून टाकिलें व ज्यानें एका हातानें छत्राप्रमाणें कोटि शिले ठा उचलून आपल्या मस्तकावर धारण केलें व रवतः विद्वान ज्वलनज्ञीनें जाऊन आपली कन्या देऊन ज्याची उपासना केली; त्या धीर तेजांचा साठा अशा त्रिपृष्ट कुमाराबरोवर आज तुत्सी लढण्यास कर्से योग्य आहात व त्याच्यावर आज चालून जाणें तरी कर्से योग्य आहे ? हे पभी आपण विचार करून सांगा बरें १ ५७ शत्रुंची अभिमान नष्ट करणाच्या हे अश्वप्रीवा, मी चक्रवर्तीच्या लक्ष्मीने युक्त आहे असा मनांत व्यर्थ गर्व धारण करू नकोस. कारण असें की, ज्यांचें पन मोहित झालें आहे व ज्यांनीं आपर्छी इंद्रियें ताब्यांत ठेविली नाहीत अज्ञांची संपत्ति पुष्कळ दिवस टिकत नाहीं च परिणामीं सुखकरही होत नाही पाराव आपण युद्धाच्या भानगडींत पडूं नये.

तस्मान कार्यमभियानमनात्मनानमेतत्तव प्रतिनरेश्वरमीश्वरस्य। इत्यं निगद्य सचिवः परिणामपृथ्यं

तूष्णीं बभूव मतिमान्न हि वक्त्यकार्य ॥ ५८ ॥ तत्वावलोकन करेर्जगदेकदिप्रीर्घमेद्यतेरिव मयूरवचयेरुळ्कः । वाक्येः स तस्य तमसि प्रतिबद्धबुद्धिदुष्टः प्रबोधमगमन्न तुरंगकंठः ५९ दुःशिक्षितरनवलोकितकार्यपाकैः कै श्चित्समेत्य निजवुद्धिवलाविष्ठिष उत्तेजितः सचिवमित्यवदत्स कोपाद्भू भंगभंगुरिततुंगललाटपटः ६० नोपेक्षते परिणतावथ पथ्यमिच्छन्नल्पीयसीमपि रिपोरिभवृद्धिमिद्धां

<sup>\*</sup> टिप्पणी:— उपेक्षितः क्षीणवलोऽपि शत्रु प्रमाददोपात्पुरुपेर्मदावै ॥ सान्योऽपि भृत्वा प्रथम ततोऽसावसान्यता न्याधिरिव प्रयाति ॥ समानार्थकोऽय स्टोकः ॥

अरवंतको ननु भवत्यचिरादरातिः काले गदश्च सहसा परिवर्द्धमानः॥ ६१॥

पद्माकरं समवलंब्य स राजहंसः पक्षान्वितोऽपि कुरुते भुवि न प्रतिष्ठां। एकत्र शत्रुजलदेऽपि ननु स्वकाले

गर्जत्युपात्तनिशितासितिङ्कराले ॥ ६२ ॥

भूरिप्रतापसहितैरविभिन्नदेहैस्तेजोमयैरगणितैः सहितः सहायैः। उद्यन्न साध्यति किं भुवनं जिगीषु—

र्भास्वान्करैरिव गृहीतसमस्तिदिकैः ॥ ६३॥

दानांबुसेकसुरभीकृतगंडभित्तीन्संचारिणोंऽजनगिरीनिव तुंगकायास्।

हन्त्यूर्जितः शयुसमानकराननेकान् – कस्योपदेशमधिगम्य गजानगजारिः । ६४॥

इत्थं हरिश्मश्रुमुदारबोधं प्रमाणभूतं प्रविलंध्य वाग्भिः॥ स्वातंत्र्यमत्यंतमवाप कोपादाधोरणं मत्त इव द्विपेन्द्रः॥ ६५॥

५८ यास्तव हे राजन्! त्रिपृष्ट नरपाहावर आपण चालून जाऊं नये. हें आपल्याल। हितकर होणार नाहीं. 'याप्रमाणें, मंत्र्याने ज्याचा परिणाम हितकर आहे असें भाषण करून मौन धारण केलें. वरोवरच आहे की, सुज्ञ मनुष्य अयोग्य कार्य करण्यास सांगत नसतो. ५९ जसे सूर्याचें कि णसमूह सत्य पदार्थ दाखिवणारे, जगांत अद्वितीय कांति धारण करणारे असे असूनिह अधारांवरच ज्याच्या बुद्धिचें पेम जडलें आहे असें घुवह त्यापासून पदार्थीना जाणूं शकत नाहीं. अधारांतच त्याची बुद्धि चालत असते त्याप्रमाणें खरी परिस्थिति दाखवन दंणाच्या उपदेशानें अध्यशीवाची बुद्धि विकाणावर आली नाहीं. कारण त्याची बुद्धि अज्ञानांधकाराने ग्रस्त झाली होती. ६०-६१ स्वतः च्या बुद्धिसामर्थ्याचा ज्याला गर्व आला आहे व भुवया वर चढविल्यामुलें ज्याचें उच कपाल आच्यांनीं व्याप्त झालें अशा त्या अक्ष्यीवाला कुशिक्षित व पुढील परिणामाकडे

लक्ष न देणाच्या अशा लोकांनीं उत्तेजन दिल्यामुळें तो पुढें लिहिल्याप्रमाणे कुंद्ध होऊन बोलूं लागला. " ज्याला आपला शेवट चांगला व्हावा असे वाटतें असा मनुष्य शत्रूची परिणाम करणारी अल्प देखिल उन्नित सहन करूं शकत नाहीं. अर्थात् तिच्याि प्रयी उपेक्षा धारण करीत नाही त्याची उन्नित हाणून पाडण्याचा तो प्रयत्न करितो. उपेक्षा केली तर योग्यकालीं सहसा उन्नतावरथेला पोहोचलेला शत्रु व रोग हे शीघ्र परिणामीं दुःख देणारे होतात. ६२ मेचरूपी शत्रु योग्यकालीं तीक्ष्ण विद्युन् रूपी तरवार हातांत येऊन गर्जना करूं लागला असतां प्रशान्वित - पंखांनीं युक्त अमूनही राजहंम कमलवनाचा आश्रय करूनहि या जगांत स्थिरत प्राप्त करून येऊं शकत नाहीं. तसें शत्रुरूपी मेच विजेसात्त्वी तीक्ष्ण चमरणारी तरवार हातांत येऊन योग्यकालीं गर्जना करूं लागला असतां आपल्या वाज्ञ्च्या राजांनीं युक्त व लक्ष्मीच्या हाताचा आश्रय येतलेला असतां आपल्या वाज्ञ्च्या राजांनीं युक्त व लक्ष्मीच्या हाताचा आश्रय येतलेला असाहि एखादा विल्रष्ट श्रेष्ठ राजा या मृतलावर स्थिर राहूं शकत नाहीं. त्याचेंहि आसन हलमळतें.

६३ पुष्कळ तीक्ष्ण प्रकाशाने युक्त, सूर्यापामून अभिन्न देहाला धारण करणारे तेजस्वी, अगणित. सर्व दिशामध्ये पसरलेले व सहायक अशा रवतःच्या किरणांच्या मदतीने उगवणारा सूर्य सगळ्या भृतलाला जिंकीत नाहीं काय ? तो जसें हे जग जिंकितो त्याप्रमाणें अतिशय पराक्रमी, तेजस्वी, सर्व दिशांना प्राप्ता कक्षा घेण्यास समर्थ अशा आपल्या जणु हाताप्रमाणें स्वतःपासून अभिन्न देहाचे असलेल्या अगणित वीर पुरुषांच्या सहाय्यानें दिग्विजय करण्याची इच्छा करणारा राजा हें जगत जिंकीत नाहीं काय ?

६४ मदजरु नेहमी वाहत असल्यामुळें ज्यांचें गंहस्थळ सुगंधित झालें आहे, जे जणु संचार करणारा अंजनिगरीच आहे असे भासतान, ज्यांच्या सोंडी अजगरापमाणें लट्ट आहेत अजा लट्ट शरीराचे धारक हत्तींना बलिष्ट मिंह कोणाच्या उपदेशानें मारीत असतो काय ? अर्थात् हत्तीचा नाश करणें हे जमे सिंह आपलें कर्तव्य समजतो तसें मी मार्झे कर्तव्य समज्जन त्रिष्ट्राशी युद्ध करणारच व त्याला ठार मारणार! ६५ याममाणें प्रमाण मूत-। श्वास पात्र व महाजानी अजा हरिष्ठमश्च मंत्र्याचें आपल्या भाषणानें अक्षग्रीवानें उल्लयन केलें व जसा उन्मत्त झालेला हत्ती महाताला न जुमानता अत्यंत स्त्रच्छंदीपणानें वागतो तसें अर्थचक्रवर्ती अत्यंत स्त्रच्छंदीनें वागं लागला.

उत्तस्थावथ विलंघ्य सद्यो दुर्वारस्तुरगगलः प्रतीतसत्वः । कछोलैरिव जलिधर्युगांतकाले आच्छन्नो गगनतलं बलैरसंख्यैः ६६ प्रतिलोममारुतविकंपितध्वजां ध्वजिनीं निवेश्य रुचितोपकार्यके। तृणकाष्ठतोयसुलभे नगे स्थितः प्रतिपालयनाथ परान्परैक्षत ॥६०॥ इति स्फुटं तुरगगलस्य चेष्टितं निरंकुशं सदासे चरेण धीमता। उदीरितं ज्वलनजटी निशम्य तत्प्रजापितं सिवनयमित्यवोचत ६८ रौप्ये गिरौ धनदरक्षितादिग्विभागे नानासमृद्धिरलकानगरी रराज । यस्यां वभूव विभवेन मयूरकंठनीलांजनातनुरुहोश्वगलोऽईचकी ६९ अश्वश्रीवे दुर्निवारोरुवीर्ये संभूयान्यैः खेचरैरुत्थितेऽस्मिन्। यत्कर्तव्यं तद्रहस्यात्मनीनैः सभ्यैः सार्धं कार्यमालोचयामः ॥७०॥ ज्वलनजिटनः श्रुत्वा वाणीमिति क्षितिनायके। सचिवपि।तिं भूयो भूयो विदृत्य विपश्यति ॥ स्वयमुदचलिचत्तं ज्ञात्वा तदा परिषत्प्रमो-

> इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचिरते अश्वश्रीवसभाक्षोमा नाम षष्टः सर्गः ॥ ६॥

रवसररामावृत्तिर्नृणां फलं मतिसंपदः॥ ७१॥

६६ ज्याच्या सामर्थ्याची सर्वत्र प्रसिद्धि झाली आहे, व रोकण्यास अगक्य अशा अश्वग्रीवानें जसे समुद्र कल्पांतकालीं आपल्या असंख्य लहरींनी आकाशांस ओलांडून त्यास भक्त टाकितो त्याप्रमाणें आपल्या असंख्यात सैन्यासह तत्काल प्रयाण केलें वे त्याच्या द्वारें त्याने आकाश भरून टाकिलें.

६७ उलट वाऱ्यानें जिच्या ध्वना हालत आहेत अगा सेनेला नेथे गवत, लाकडें व पाणी विपुल आहे अगा पर्वतावर त्याने आणुन ठेविल व या पर्वतावर राहण्यासाठी पुष्कल राहुंट्या, तंव वंगरेची व्यवस्था केली होती. अज्ञा ठिकाणीं अतिजय ईर्षेने जत्रूंची वाट पाहात तो अश्वग्रीव अर्थचकी राहिला

६८ याप्रमाणें अश्वग्रीवाच्या स्वच्छंदपर्साची हकीकत वृद्धिमान अशा एका द्नाने समेंत येऊन सांगितली. ती ऐक्न ज्वलनजटीनें मोठ्या विनयाने प्रजापतिला पुढे लिहिल्याप्रमाणें सांगितली.

६९ ' विजयार्थ पर्वतावर कुवेरानें जिचें रक्षण केलें आहे अशा उत्तर दिशेच्या एका भागांत अनेक संपत्तीनें समृद्ध असे अलका नांवाचें नगर शोभत आहे. या नगनांत मयूर्कंट अर्थात् नीलकंट विचाधर राजा व त्याची राणी नीलांजना उक्त कनकमाला यांचा अश्वग्रीव नांवाचा मुलगा अर्थचक्रवर्ती आहे व तो या नगरीचें पालन करीत आहे.

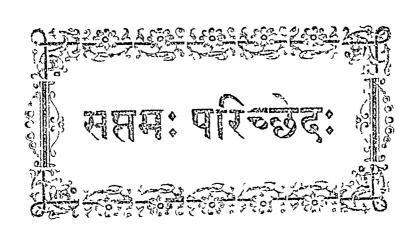
७० अश्वग्रीवाचा पराक्रम गोकण्यास अशक्य आहे व पुष्कळ विद्यायर राजांना एकत्र करून आपणांवरावर लढण्यास तो तयार झाला आहे. याकरितां यावेळीं आपण काय केले पाहिजे याचा एकांत स्थानी हितकर अशा मंत्रीमंडलाला आपल्यावरोवर येकन विचार करूं या."

७१ ज्वलनजटी राजाचें हें भाषण ऐक्न राजा प्रजापर्तानें आपल्या मंत्रीमंडलाकडे वळ्न पाहिन्छें. तेव्हां महाराजांचा अभिप्राय प्रधान मंडलीच्या ध्यानांत येऊन पुढील कार्याचा विचार करण्यासाठीं ती उठली. वरोवर आहे कीं, योग्य वेल जाणून वागणे हेंच मनुष्यांना प्राप्त झालेल्या बुद्धि हपी संपत्तीचें फल आहे.

याप्रमाणें असग महाकिन्कृत श्रोवर्धमान चिन्तांतील अखग्रीवाच्या सभेच्या क्षोभाचें दर्णन करणाग सहावा सर्ग सपन्नाः



॥ हर्तण क्षरणामा 'या तेरायत हस्तिज्या मांत्रायर स्थापन करून आक्रायामानि नेले



अथ मंत्रविदासुपव्हरे गणमाह्य स खेचराधिपः। उभयं विजयेन संगतो निजगादेति वचः प्रजापतिः ॥ १ ॥ भवतामनुभावतो हि नः सकला संपद्युत्समीहिता। ऋतुभिस्तरवो विना स्वयं न तु पौष्पीं श्रियमुद्रहन्ति किं ? ॥ श। निजमुग्धतया समन्वितान्विधुराद्रक्षति नः समतिनः। पृथुकान् जननीव नो मितः कुराला कृत्यविधौ च वत्सला ॥ २॥ गुणिनां भवति प्रसंगतो गुणहीनोऽपि गुणी धरातले। सुरभीकुरुतेऽय कर्पर सिल्छं पाटलपुष्पवासितं॥ ४॥ अविचितितमप्ययत्नतः स्वयमुत्पादयति प्रयोजनं । विधिरेकपदे निरंकुशः कुशलं वाऽकुशलं च देहिनां ॥ ५॥ वलवान्हगदंघरःपरं सहसा चक्रघरः मगुत्थितः॥ अपरैः सह खेचरेश्वरेवंदनास्मान्प्रति कोऽस्य सवयः ?॥६॥ इति वाक्यसुदीर्य सूपती िरते दर्शितसूरिकारणं। सिवेंवैः परिवोक्षितो दुहुर्वचनं सुश्रुत इत्यवोचत ॥ ७ ॥ अवबोधविधौ विशुद्धतां वयगाप्ता सवतः प्रमादनः। अपि नाम जडात्मकाः सदा भुवि पद्मा इव निगमदीधिनः॥८॥ समुपेत्य निसर्गतः शुचिं ननु यिकिचिद्पि प्रकाशन ॥ तुहिनद्यतिविवसंश्रितो मलिनोऽपि प्रतिभागने नृगः॥ १.॥

## उपयाति जडोऽपि पाटवं सहसोपन्नविशेषतः परं । करवालगतः पयालवः करिणां किं न भिनत्ति मस्तकं ?॥१०॥

१ अश्वग्रीवानें क्षुच्य होऊन युद्धाची तयारी केली आहे असे एका द्तानें सांगितल्यानंतर विजयवलभद्र व ज्वलनजटी विद्याधर राजासह प्रजापित महाराजांनीं आपल्या व ज्वलनजटी विद्याधर राजाच्या प्रधान मंदलीय एकांत स्थानीं वोलाऊन घेतलें व ते पुढें लिहिल्याप्रमाणें बोलूं लागले.

र "अहो मंत्रिगणांनो तुमच्या प्रभावांनेंच आह्राला इच्छित संपत्ति प्राप्त झाली आहे. बरोबरच आहे कीं, वसंतादिक ऋतूंचा आश्रय येतल्या बांचून दृश पुष्पांची शोभा धारण करतात काय ? अर्थात् ऋतूंच्या आश्रयानेंच ते पानें, फुलें व फलें यांनीं शोभूं लागतात. ३ जसें प्रमेल व मुलांचें संगोपन करण्यांत चतुर अशी माता अज बालकांचें सर्व रीतीनें संकटापासून रक्षण करिते, तसें हे मंत्रिगणहो ! साम, दाम, दंह व भेट या नीतीमध्यें कुगल अमलेली आपली बुद्धि प्रेमानें अज अशा आमचें सर्वप्रकारें संकटापासून रक्षण करीत असते. ४ गुणी पुरुषांच्या सहवासानें गुणहीन मनुष्यही गुणी बनतो. याम उटाहरण असे कीं, पाहळीच्या फुलांनीं सुगंधित शालें पाणी ज्या महत्र्यांत असतें त्यालाही तें सुगंधित बनवितें.

५ स्वच्छंद्पणाने वागणारे दैव प्राण्यांच्या ध्यानीं पनीं नसतांहि त्यांचें कन्याण किंवा अक्त्याणाचें कार्य स्वतः प्रयत्नावांचून एकदम उत्पन्न करीत असते. ६ वलवान अश्वग्रीव चक्रवर्ती त्याचा आसी कांही अपराध केला नसतांहि इतर विद्याधर राजांना वरोवर घेऊन आमच्याक्षी युद्ध करण्यास उटला आहे. हें न्याचें करणें सत्य नीतीला धरून आहे काय ? सांगा वरें ? " ७ याप्रमाणें आणखी पुष्कलक्षीं कारणें दास्तवृन प्रजापित महाराजांनीं आपले भाषण संपवित्यानतर मंत्रिपंदलाकइन वारवार पाहिला गेलेला सुश्रुत नांवाचा सचिव पुढें लिहिन्याप्रमाणें वोलं लागला.

८ " हे राजग ! आर्क्षा आपत्याच चरणकृषेने ज्ञानामध्ये निर्मलता-चतुरना प्राप्त करून यनली आहे. जमें जलात्मक-पाण्यामध्ये असलेली ' अर्थात् जडात्मक-ज्ञानहीन कमळें सूर्यापासून विकास पावतात त्यापमाणें जडात्मक-अज्ञानी असे आधी आपल्या कृपेनेच चतुर झाळों आहोतं.

९ स्वाभाविकपणें निर्मल व कांतिमंपन्न पदार्थाच्या आश्रयानें कांति प्रित पदार्थिह प्रकाशं लागतो. तोहि प्रकाशयुक्त दिमतो. याम उदाहरण असें कीं, पिलन असाहि हरिण थह किरणांनीं युक्त अशा चंद्राच्या आश्रयानें प्रकाशयुक्त दिसं लागतो तसें आह्मीहि जानी अशा आपल्या आश्रयानें प्रकाशयुक्त हिसं लागतो तसें आह्मीहि जानी अशा आपल्या आश्रयानें जानयुक्त झालों आहोंत. १० अज पनुष्य उपाधिविशेषानें अर्थात् विद्वानांच्या सहवासानें नियुणपणाला प्राप्त होतो. तरवारीच्या आश्रयानें तिखा दिलें यें पाणी हत्तीचें गंहस्थल फोडूं शकत नाहीं काय ? अर्थात् तरवारीच्या सहवासानें तरवारीचें पाणी हत्तीची गंहर्थलें फोडण्यास सम्बि होतें. त्याप्रपाणें विद्वान् अशा आपल्या सहवासानें आह्मी विद्वान् यनलें आहोत.

भवतामिष वाग्मिनां पुरो यदहं विच्म तदस्य चापछं।
अधिकारपदस्य कोऽन्यथा गिंदतुं प्रारमते सचेतनः ? ॥११॥
त्रिभिरंव भवद्भिरू जितैर्नियशास्त्रं प्रतिमान्गितैर्भृतम् ।
भुवनं सचराचरं यथा पवनैरुक्ततसंहतात्मकैः ॥ १२ ॥
ननु सर्वविदोऽपि राजते न वचः श्रोतिर वोधवर्जिते ।
परिणेतिर नष्टलोचने सकलः किं नु कलत्रविश्रमः ॥ १३ ॥
पुरुषस्य परं विभूषणं परमार्थं श्रुतमेव नापरं ।
पश्मो विनयश्च तत्फलं प्रकटं नीतिविदः प्रचक्षते ॥ १२ ॥
शिनयप्रशमान्वतं सदा स्वयमेवोपनमंति साधवः ।
स च साधुसमागमो जगत्यनुरागं विद्धाति केवलं ॥ १५ ॥
अनुरागपरार्जितं जगत्सकलं किंकरतां प्रपद्यते ।
स्वयमेव महीपतेरतो विनयं च प्रशमं च मा सुनः ॥ १६ ॥

हरिणानि वेगशालिनो ननु गृण्हंति वने वनेचराः। निजगेयश्योन किं गुणः करते कस्य न कार्यगाननं ?॥१७॥ परुषाच्य मृदुः सुखानहः परिमत्युक्तमुपायबोदिभिः। परितापयति क्षितिं रिवनेनु निर्वापयति क्षपाकरः॥१८॥ सुवशीकरणं शरीरिणां प्रियवाक्यादपरं न विद्यते। मधुरं च रुवन् यथोचितं परपुष्टोऽपि जनस्य वल्लभः॥ १९॥

११ आपल्यासारख्या वयतृत्वज्ञालो पुरुपापुढे मी ज्या अथीं बोलावयास तयार झालो आहे त्या अथीं ही माजी अधिकारपटाची (मत्रिपटाची) चपलता आहे असे मी मानितों. नाहीं तर आपल्यापुढे कोणती ज्ञानयुक्त व्यक्ति वोच्चण्यास्य प्रारंभ करील वरे १ मला मंत्रित्वाचा अधिकार असल्यामुले आपल्यासारख्या विद्वानापुढे वोलणे भाग पहन आहे. वारतिक पाहिले तर आपणांपुढें वोलण्याची माझी योग्यता नाही. १२ ज्याप्रमाण मोठे व समृहरूपाने असलेल्या तीन वातवल्यांनी (घनोडाधि, घनतान व तनुवात) रथावर व जास प्राण्यांनी भरलेले हें जम धारण केले आहे त्याप्रमाण नवीन युक्त्यांनी युक्त अदा बुद्धीन जोभणाच्या वल्जाली अजा तुझा त्यांकडून अर्थात् ज्वलनज्ञी, आपण [प्रजापति महाराज] व विजयवलभद्र यांच्या कड्न हे नीतिशास्त्र कारण केले आहे. अर्थात् राजनीति तत्वं आपणाशिवाय इतरांना अधिक समजन नाहींत. १२ श्रोता जर अज्ञानी असेल तर त्याच्या पुढे सर्वशाचाहि उपदेश ज्ञोभत नाही. यास उटाहरण असे की, पाति जर आंधला असेल तर त्यांच्या सरल होंडे ज्ञतेतो काय १ अर्थात् तिचे हायभाय टाखविणे व्यर्थ आहे.

१४ आत्मकल्याण करणारें जान हेच एएपाचे उत्हृष्ट भूपण आहे. दुमरें नाहीं या जानाची जांतपणा व विनय ही प्रगट फळे आहेत अमें नीति जाणणारे विद्वान क्षणतात १५ जो विनय व ज्ञातपणानें युक्त आहे न्याला सन्प्रपिह नेहमी नमस्कार करितात. व सत्प्रपाचा समागम हा फक्त जगामध्यें सर्वत प्रमाग उत्पन्न करित असतो.

१६ या प्रेमभावानेंच सगळ्या जगाळा। जिंकिले असतां तें-आपोआपच राजाचा दास वन्न राहते. यास्तव हे राजन्! आपण विनय व प्रक्षम [ यापाचा पंद्रपणा ] यांचा त्याग करूं नये. १७ हरिण जरी अतिशय वेगाने धांवत असतात तथापि त्यांनाहि भिल्लांक वनामध्यें रवतःच्या गांयनगुणानें पकडतात. यारतव गुण करेणत्या मनुष्याचें इष्ट्रकार्य सिद्ध करून देत नाहींत वरें ? यास्तव गुण प्राप्त करून घेणें हे राजाचें मुख्य कर्तिच्य आहे. १८ कटोर भाषणापेक्षां मृदु भाषण हें अतिशय मुख देणारे अहे असे उपाय जाणणारें विद्वान ह्मणतात. यास उदाह ण असे कीं, अहे असे उपाय जाणणारें विद्वान ह्मणतात. यास उदाह ण असे कीं, पृथ्वीला सूर्य संतप्त करितो परंतु चंद्र तिला आपल्या शांत किरणानी पृथ्वीला सूर्य संतप्त करितो परंतु चंद्र तिला आपल्या शांत किरणानी आल्हादित करीत असतो. अर्थात् मधुर व मृदु भाषण हें लोकाना वश्च करिते. पण कटोर भाषण त्यांना शत्रु बनविते. १९ पिय भाषण हेंच करिते. पण कटोर भाषण त्यांना शत्रु बनविते. १९ पिय भाषण हेंच प्राण्यांना वश्च करण्याचें मुख्य कारण आहे. याशिवाय दुसऱ्या भाषणानें लाज्यांना वश्च करण्याचें मुख्य कारण आहे. याशिवाय दुसऱ्या भाषणानें लाज्यांना वश्च करण्याचें मुख्य कारण आहे. याशिवाय दुसऱ्या भाषणानें लाज्यांना वश्च करण्याचें मुख्य कारण आहे. याशिवाय दुसऱ्या भाषणानें लाज्यांना वश्च करण्याचें मुख्य कारण आहे. याशिवाय दुसऱ्या भाषणानें लाज्यांना त्यांना शिय झालेला आहे.

अशितं हृदयप्रवेशकं निरपेक्षं सकलार्थसायकं ।
विजयाय न सामतः परं मतमस्त्रं दघते क्षमामृतः ॥ २० ॥
कृपितस्य रिपोः प्रशांतये प्रथमं साम विधीयते हुँधेः ।
कतकेन विना प्रसन्नतां सिललं कर्दमितं प्रयाति किं ॥ २१ ॥
वचसा परुषेण वर्धते मृदुना शाम्यित कोप उद्धतः ।
पवनेन यथा दवानलो घनमुक्तेन च सूरिवारिणा ॥ २२ ॥
उपशाम्यित मार्दवेन यो निह शस्त्रं गुरु तत्र पात्यते ।
अहिते वद सामसाध्यके किमुपायैरितरैः प्रयोजनं १॥ २३ ॥
उपयाति न विकियां परः परिणामेऽपि च सान्त्वसाधितः ।
सिललेन तु भस्मसात्कृतो ज्वलनः प्रज्विति किमीहते १॥२४॥

विकृतिं भजते न जातुचित्कुपितस्यापि मनो महात्मनः। परितापियतुं न शक्यते सालिलं वारिनिधेस्तृणोल्कया ॥२५॥ नयवर्त्मानि यः सुनिश्चितं यतते तस्य न विद्यते रिपुः। ननु पथ्यभुजं किमामयः प्रभवत्यल्पमपि प्रवाधितुं १॥ २६॥ अयथाभिनिवोशितः फलं किमुपायः कुरुते समीहितं १। दिधभावमुपैति किं पयः सहसा न्यस्तमथामभाजने १॥ २७॥ मृदुनैव विभिद्यते क्रमात्परिपूर्णोऽपि रिपुः पुरःस्थितः। प्रतिवत्सरमापगारयः सकलं किं न भिनत्ति भूधरं १॥ २८॥

२० हे महाराज ! सामनीति नांबाचें हें शस्त्र तीक्ष्ण नसतांहि हृद्यांत तेन्हांच प्रवेश करितें. निरपेश असूनाहि संपूर्ण कार्ये सिद्ध करून देतें. या सामरूपी श्रक्कानेंच बिजय प्राप्त होतों. याश्चिवाय विजय प्राप्ति करून देणारें अधिक उत्तम दुसरें शक्त नाहीं. हाणूनच राज छोक हेंच शस्त्र धारण करीत असतात. २१ रागावछेल्या अत्रूढा शांत करण्यासाठीं विद्वान छोक प्रधमतः सामनीतीचा उपयोग करीत असतात. निवळीच्या वियांच्या चूर्णानिवाय गद्छ झाढे हें पाणी निर्मळ होतं झकते काय ! अर्थात् तें जसें त्याविवाय स्वच्छ होत नाहीं तसें सामोपचाराशिवाय शत्रु बच्च होत नाहीं हम्पून हांच उपाय उत्तम आहे. २२ तीक्ष्ण भाषणांनें कोप उद्धट बनून बाद् छागतों. परंतु मृदु भाषणांनें तो आंत होतों. यास उदाहरण असें पाहा कीं, बाच्यांनें जंगकांत अप्ती बेगानें पेट ग्रेतो परंतु मेघानें सोदकेल्या पुष्कळ पाण्याच्या हृष्टीनें तो बांत होतों. २३ जो अत्रु सामोपचारानेंच दवतो त्याच्यावर अस्त्रमहार करण्यांचें अर्थात् त्याच्याओं छढाई करण्याची कांहीं जरूगी नसतें. अत्रु जर सामोपचारानेंच वन्न होण्यासारखा असेक तर इतर उपायांची तेथें काय जरूरत आहे वरें ? २४ सामोपचारानें वन्न

<sup>\*</sup> टिप्पणी:-- मात्रो प्रकोषितस्यापि मनो नायाति विकिया ॥ न हि तापिबद्ध शक्य सागराम्भस्तृणोलकया ॥

केलेला अतु योग्यवेळीं हि विकृत होत नाहीं. पाण्याने भस्ममय केलेला अग्नि पुनः पेटण्याची इच्छा करील काय ? २५ जें सत्पुरूप असतात त्यांचें मन ते गगावले असतांहि विकाग्युक्त होत नाहीं. समुद्राचें पाणी गवताच्या ठिणगीनें तापविणें अवय असतें काय ?

२६ जो मनुष्य अथवा राजा नीतिमानीमध्यें निश्चक्रपणें राहत असती.
त्याका त्रत्रु जास देऊँ शकत नाहीं. यास उदाहरण असें कीं, नेहमीं
पथ्यसेवन करणाऱ्या मनुष्याला रोग थोडीशीं टोकिक पीका टेऊं शकत नाहीं.
त्याच्या रोगाचें सामध्ये चालूं अकत नाहीं, २७ ज्या टिकाणीं जो उपाय
योजावयास पाहिजे तेथें त्याची योजना न केकी तर त्यापासून इच्छित
पटार्थाची-फकाची प्राप्ति होऊं अकत नाहीं. जर आपण द्य कच्च्या भांक्यांत
टेविलें तर त्यांत तें दक्षाचें स्वरूपानें परिणमेल काय ? उसम पक्क्या
भांक्यांत टेवल्यानेंच तें न गळतां दही बनेल. २८ पुढें आलेका अत्रु
सामध्यांनें परिपूर्ण असला तरी कमा कमानें मृदु मृदु सामोपचारानेंच त्याचा
नाश करावा. प्रत्येक वर्षी नटीवेग पर्वताला फोडीत फोडीत एकादे वर्षी
त्याचें पूर्ण भेदन करितो त्याप्रपाणें अत्रुला सामोपचारानेंच जिंकांवें.

मृदुना सहितं सनातनं भुनि नेजोऽपि भवत्यसंशयं। दशयाथ निना सतैलया ननु निर्वाति न किं प्रदीपकः?॥९९॥ अत एव च तत्र सामतः प्रविधेयं कलयामि नापरं। ध्रुविमत्यभिधाय सुश्रुतो विररामान्यमतानि वेदितुं॥ ३०॥ अथ तस्य निशम्य भारतीं कुपितांतःकरणः परंतपः। विजयो विजयश्रियः पतिर्निजगादेति वचो विचक्षणः॥ ३१॥ पठितं न शुकोऽपि किं वदेदिभसंबंधविवर्जिताक्षरं ?। नयवित्स इधेः प्रशस्यते कुरुते यस्य वचोऽर्थसाधनं॥ ३२॥ परिकुप्यति यः सकारणं नितरां सोऽनुनयेन शाम्यति। अनिमित्तरुषः प्रतिक्रिया कियते केन नयेन कथ्यतां ?॥३३॥ अतिरोपवतो हितं प्रियं वचनं प्रत्युत कोपदीपकं। शिखितमतमे हि सपिपि प्रपतत्तोयमुपैति वन्हितां॥ ३४॥ अभिमानिनमाईचेतमं पुरुषं प्रव्हयति प्रियं वचः। ननु तिद्वपरीतचेष्टितः किम्रु साम्निति खलोऽनुक्लतां १॥३५॥ मृदुतामुपयाति वन्हिना खरतामेति जलेन चायसं। इति वरि निपीडितस्तथा विनिर्ति वाति खलो न चान्यथा॥३६॥ द्वयमेव विधीयते मतं द्वितये नीतिविदां महात्मनां। विनयो महति स्ववांधवे प्रतिपक्षे च पराक्रमो महान्॥ ३७॥ द्वयमेव खुखावहं परं पुरुष्ट्याभिमतं स्तामि। अभयत्वमरौ पुरःरियते वियनारीभृक्ष्टो च भीहता॥ ३८॥

व अही महाराज! जो शत्रु सकारण रागावती त्याची पुष्कळ प्रार्थना केली असतां तो शांतही होणें शक्य आहे. परंतु कारणावांचून रागावलेल्या शत्रूचा राग घालविण्याचा उपाय कोणता आहे सांगा पाहूं बरे ? ३४ अतिशय रागावलेल्या मनुष्याच्यापुढें केलेलें हितकर व प्रिय असें भाषण त्यास शांत करण्यास समर्थ न होतां तें उलट त्यास ज्यास्ती क्रुद्ध वनविण्यास सहायक होतें. अग्नीनें अतिशय कढत असलेख्या तुपांत पडणारें पाणी तुपाचा कढ शांत करण्यास कारण न होतां उलट अग्नि वनतें ३५ स्वाभिमानी पण दयाळ अंतःकरणाच्या मनुष्याला पिय भाषण नम्रं बनिवेतें. परंतु विरुद्ध स्वभावाचा दुष्ट मनुष्य सामोपचारानें अनुकूल होतो काय ? ३६ छोखंड अग्नीनें मृदु बनतें पण तेंच पाण्याचा संयोग झाला असतां कठिण होतें. याचप्रमाणें दुष्ट मनुष्य रात्रूंनीं त्रस्त झाला असतां नम्र होतो. दुसऱ्या उपायानें-सामोपचारानें नम्र होत नाहीं. ३७ नीतिज्ञ महापुरुप आपले हितकते वांधव व आपले शत्रु यांच्या ठिकाणीं ऋमानें दोन गोष्टी करतात. त्या ह्याः— आपर्छे हित करणाऱ्या मोठ्या वांधवाविषयीं ते विनय धारण करतात व शत्रूवर पराक्रम गाजवितात. याच दोन गोष्टी सत्पुरुपांना प्रिय असतात. ३८ शत्रु पुढें आला असतां निर्भय राहणें व आपल्या प्रिय स्त्रीनें आपल्या भुवया वांकड्या केल्या असतां भयभीत होणें याच दोन नोष्टी मनुष्यांना पसंत असान्यात असें सत्पुरुषांचेंही ह्मणणें आहे. अशा रीतीने वागणें हेंच मनुष्यांना सुखदायक आहे.

अपि नाम तृणं च दुर्वलं प्रतिकूलस्य न मातिरश्वनः ।
प्रणतिं प्रतिपद्यते वरं पुरुपात्तन्नमतः स्वयं रिप्रं ॥ ३९ ॥
गुरुतामुपयाति यन्धतः पुरुपस्तिद्विदितं मयाधना ।
ननु लाघवहेतुरर्थना न स्ते तिष्ठति सा मनागिप ॥ ४० ॥
सहसैव परं क्षमाधरो ननु लंगोऽपि जनेन लंघ्यते ।
न भवत्यथ कस्य वा सतः परिभूतेरिह कारणं क्षमा ॥ ४१ ॥
परमस्तमुपैति भानुमानिष तेजोविरहादिनात्यये ।
अत एव च धाम भासुरं न जहाति क्षणमप्युदारथीः ॥ ४२ ॥

उपगच्छिति सामिभः शमं महतो नैच निसर्गशात्रवः।
भजत च स तैः प्रचंडतां सिछिछैरौर्विशिखीव वारिधेः॥ ४३॥
अभिगर्जित तावढुद्धतो मदनिश्चेतनधीरनेकपः।
पुरतः प्रतिभीपणाकृतिं न हिरं यावदुदीक्षते रिषुं॥ ४४॥
असुहत्त्वविधाद्यपस्थितं अवि दुर्नामकमात्तविकियं।
समये मितमान्महोदयं सहसा च्छेदनमंतरेण कः॥ ४५॥
दिरदं विनिहन्ति केसरी स्वयमिन्वष्य च यः समंततः।
निजवासगुहासुपागतं स च तं सुंचित किं युगुत्सया॥ ४६॥
भवतां प्रविलंघ्य भारतीमविलंघ्यामिष किं ममानुजः।
न हिनिस्त तमश्वकंधरं कलभं गंधगजो यथार्गलां॥ ४७॥
अहमेव हि वेश्चि केवलं न विजानाति परोऽस्य पौरुषं।
अपि दैवममानुपाश्रयं भवतां मौनमतो विभूषणं॥ ४८॥

३९ गवत दुर्वल आहे; परंतु तेंही प्रतिकूल वाऱ्याशीं नम्रता धारण करीत नाही ह्मणून तें स्वतः रिपूला-शत्रूला पाहून नम्न होणाऱ्या पुरुपा-पेक्षां श्रेष्ट आहे असे मला वाटतें. ४० ज्या अर्था मेलेला पुरुष गुरु-त्वाला-मोटेपणाला प्राप्त होतो त्याअर्थी त्याचे कारण मला आज समजल आहे. इसकेपणाला कारण याचना ही आहे त्या अर्थी मला जर याचनाच करावयाची नाही तर मी हलकेपणा कां धारण करीन ? मी वजनदारपणाच धारण करीनः अञा हेतृनेच जणु त्याने वजनढारपणा धारण केळा असावा. अभिपाय हा की, टीनवृत्ति धारण करून शत्रृशी नम्रता धारण करणे हें मोटेपणाला शोभन नाही. ४१ जसें क्षमायर-पर्वत हा मोटा असला तरीही त्याला लोक सहज उल्लंघन जातात तस क्षमायर-क्षमा धारण करणारा राजा त्याच्या प्रजाजनाकह्नही उल्लंघिला जातो. अर्थात् प्रजा देखिल त्याची आजा मानीन नाहीं, इतर शत्रु वर्गरे कशी मानतील? यास्तव क्षमा कोणाच्या पराभवाला कारण होणार नाहीं वरें ? ४२ सूर्य देखिल मं याकार्झी आपन्या नेजाचा न्याग करतो स्वणून त्याला अस्ताला जाण भाग पटनें. ही पिन्धिति नित्य होळ्याचा दिसते त्वणूनच उदारबुद्धींचे न्येक एक अणपर्यतिह आपल्या तेजम्बीपणाचा त्याग करीत नाहींत ४३ मोट्या पुन्यांचा न्याभाविकपणें शत्रु अमलेला मनुष्य सामोपायाच्या

द्वारें कथींही शांत होत नाहीं. यास उदाहरण असें कीं, समुद्राचा शत्रू असलेला वडवानल समुद्रापासून पुष्कळ पाणी मिळत असताहि तो शांत न होतां प्रचंडताच धारण करीत असतो. ४४ मदानें ज्याची बुद्धि निर्विचार आली आहे असा उदात्त हत्ती जोपर्यंत भयंकर आकृतीचा सिंह दत्त ह्मणून पुढें येऊन उभा राहिलेला पाहात नाहीं तोपर्यतच गर्जना करीत असती. त्याप्रवाणें गर्वानें अविवेकी बनलेला अश्वग्रीवरूपी हत्ती त्रिपृष्टरूपी भयंकर सिंहाला आपल्यापुढें उभा राहिलेला पाहात नाहीं तापर्यंतच गर्जना करीत आहे. ४५ जो रात्र्तवाला प्राप्त झाला आहे, ज्याचें वाईट नांव आहे अर्थात् अश्वग्रीय या वाईट नांवाला जो धारण करीत आहे, अश्व-घोडा व ग्रीवा-गळा-घोड्याचा गळा असा ज्याच्या नांवाचा अर्थ आहे व जो विकारयुक्त व मोठ्या ऐश्वर्याला प्राप्त झाला आहे अज्ञा त्या अर्धचक्रवर्तीचें छेदन होणार नाहीं तोपर्यंत तो शांत होत नाहीं, अथवा जसें मूलव्याध ज्ञानुप्रमाणें नास देखं लागली व ती विकारयुक्त झाली अर्थात तिला कोव फुटलें व ती योग्यवेळीं चांगलीच वाढली असतां जसें ती कापल्याशिवाय गत्यंतर नसतें त्याचप्रमाणें अश्वश्रीवाचा आतां छेद केल्याशिवाय गत्यंतर नाहीं. ४६ जो सिंह स्वतः चोहीकडे हुडकून हत्तीचा ग्रोध करून त्यास ठार मारितो तो आपल्या राहत्या गुहेजवळ युद्धाच्या इच्छेने आलेल्या हत्तीला टार् मारल्याशिवाय राहील काय ? राहणार नाहींचे. ४७ जसा उन्मत्त झालेला हत्ती जिचें उद्घंघन करणें किषण आहे अशी आगल मोहन टाकिता त्रां साझा भाज विष्ठुष्ठ नारायण तुझा मंत्रिगणांचे न उछंघण्यासारखेंही भाषण उछंघून हत्तीच्या छाव्याप्रमाणे अश्वग्रीवाला ठार मारणार नाहीं काय? अवश्य ठार मारीलच. ४८ त्रिष्ठृष्ठाच्या ठिकाणीं जे मनुष्यामध्यें न आढळ्न येणारें दैविक वछ आहे, जो पराक्रम आहे त्याचें खरें रवळ्प मीच जाणूं शकतों. दुसऱ्याला त्याची कल्पना येजं शकणारी नाहीं. यास्तव आपण याविषयीं मौन धारण करणे हेंच भूषण आहे."

इति पौरुपसाधनं परं विजये कार्यमुदीर्य हुर्जये ॥ विरते मितसागरो गिरं मितमान्नीतिविदिखुदाहरत्॥ ४९॥ इति कृत्यविधौ विदा सता विजयेनेह परिस्फुटीकृते। अपि देव तथापि शंकते प्रविधातुं जडधीरयं जनः॥ ५०॥ किमिदं कथितं न तत्वतः सकलं ज्योतिपिकेण नः पुरा। अहमस्य तथाप्यमानुपीं श्रियमिच्छामि परां परीक्षितुं॥ ५१॥ सुविचार्य कृताद्धि कर्मणः परिणामेऽपि भयं न जायते।
अत एव विवेकवान क्रियामविचार्यारभते न जातुचित ॥ ५२ ॥
सहसा विद्धीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदं ।
ग्रुणते ही विमृज्यकारिणं ग्रुणलुव्धाः स्वयमेव संपदः ॥ ५३ ॥
समरे ननु चक्रवर्तिनः खलु जेता भ्रुवि यस्तु साधयेत् ।
इह सप्तमिरेव वासरेरथ विद्याः सकलाः स केशवः ॥ ५४॥
इति ते निकपोपलायितं वचनं तस्य विधेयवस्तुनः ।
अवगम्य तथेति मेनिरे करणीयं सुनिरम्तसंशयं ॥ ५५ ॥

४९ या प्रमाणे पराक्रमाची सिद्धि करून देणारें भाषण बोल्न शत्रूंना अजिंच्य असा तो विजय वलभद्र थांवला असतां मतिसागर नांवाचा नीतिज विद्वान मंत्री पुढें लिहिल्याप्रमाणें वोल् लागला. ५० " तो महणाला अन्तर्प्री-वाशीं युद्धाचा प्रसंग आला आहे अशा वेळी आपण काय केलें पाहिने याचा खुलासा विजयवलभद्रांनी चांगला केला आहे. तरी हे प्रभो ! तें कार्य (युद्ध ) करण्याची आम्हा बुद्धिमंदांना भीति वाटते. अर्थात् युद्धामध्ये आम्हांला विजय मिळेल किंवा नाही याविषयी आमचें मन सार्शक आहे. ५१ पूर्वी ज्योतिपानें सर्व खरी अशी हकीकत- [ त्रिपृष्टकुमार अर्धचक्रवर्ति होईल अशी हकीकत ] सांगितली नाही काय ? अर्थात् सांगितली आहे. परंतु या तिषृष्टकुमाराच्या उत्तम अमानुष लक्ष्मीची मला परीक्षा करावीशी वाटत आहे. ५२ चांगला विचार करून काम केले असतां परिणामींही त्या विपर्या भीति राहात नाही म्हणूनच विवेकी माणसें न विचार करतांच कोणतेंही कार्य आरंभित नाहींत. ५३ विचार न करतां कोणतेंही कार्य करूं नये. कारण अविचार हा दु:खट अझा संकटांचे स्थान आहे. अर्थात् अविचारानें संकटें येतात. जी माणसें विचार करून कार्य करितात त्यांच्या गुणावर लुव्ध झालेल्या संपत्ति आपण होऊन त्यांचा आश्रय घेतात. ५४ जो सात दिवसांत सर्व विद्या साध्य करून घेईछ तो या भूतलावर नारायण मानला जाईल व निःसंगय तो या अर्द्धचक्रवर्तीला (अश्वग्रीवाला) युद्धांत जिंकणारा होईल. ५५ याप्रमाणे मितसागरानें भाषण केलें असतां तें त्यांचें भाषण करण्याला योग्य अशा कामाची कसोटी आहे असे सर्वीनीं जाणून करण्याला योग्य अना कार्यान आतां कांहीं संशय उरला नाहीं असे माानिलें. ५६ अथ तस्य प्रीक्षितुं श्रियं विजयस्यापि समादिशिन्मथः।
जवलनोपपदो जटी परं पुरुविद्यागणसाधनाविधि ॥ ५६ ॥
अपरे न च साधयंति यां विधिना द्वादशवत्सरेरिप ।
महती स्वयमेव रोहिणी सहसा प्राहुरभूत्पुराऽस्य सा ॥ ५७ ॥
अपराः पतदीशवाहिनीप्रमुखास्तं सकलाश्च देवताः।
उपतस्थुरहो महात्मनः किमसाध्यं पुरुपुण्यसंपदः ॥ ५८ ॥
विजयस्य च सिंहवाहिनी विजया वेगवती प्रमंकरी ॥
इति पंचशतं वशं ययुवरविद्या दिवसेषु सप्तसु ॥ ५९ ॥
दिवसेरिति संमितैर्वशिकृतविद्यं विजयानुजं ततः ॥
धरि तौ नुपस्तेचराधिपौ जगतोऽतिष्ठिपतां सुनिश्चितं ॥ ६० ॥
अथ तस्य यियासतो रिपूनिभहंतु समरे जयश्चियं ॥
कथयन्निव रोदसीं समं परितस्तार सुदंगनिस्वनः ॥ ६१ ॥

यानंतर त्रिपृष्ट कुमाराच्या अलौकिक लक्ष्मीची परीक्षा करण्याकारितां त्रिपृष्ट राजपुताला व विजयवलभद्राला ज्वलनजटीनें एकांतस्थानीं महाविद्यांचा समृह कसा साध्य करावा याचा उत्तम उपाय सांगितला ५७ जी विद्या सामान्य लोकांना वारा वर्पातही सिद्ध होऊं शकत नाहीं अशी रोहिणी नांवाची विद्या एकदम यांच्यापुढे प्रगट झाली ५८ याचप्रमाणे या महात्मा त्रिपृष्टकुमाराला गरुड वाहिनी विद्या ज्यांच्यांत प्रमुख आहे अशा सगळ्या विद्या देवता सिद्ध होऊन पुढें उभ्या राहिल्या. वरोवरच आहे कीं, ज्यांची पुण्यरूपी संपत्ति फार मोटी आहे अशा महात्म्यांना या जगांत असाध्य अशा कोणत्या गोष्टी आहेत? अर्थात पुण्यवान लोकांना असाध्य गोष्टीही सिद्ध ५९ विजयविष्ठभद्राला सिंहवाहिनी, विजया, वेगवती, प्रभंकरी अशा पांचरे उत्कृष्ट विद्या देवता सात दिवसांत सिद्ध झाल्या. ६० याममाणे थोडक्या दिवसांत ज्यानं सर्व विचा स्वाधीन करून घेतल्या आहेत अञा तिष्ष्रकुमाराला प्रजापति महाराज व ज्वलनजटी विद्याधर राजा या दोघांनी निश्चिन रूपाने जगाचा भार अर्पण कला. ६१ या नंतर युद्धामध्ये शत्रृला टार मारण्यासाटी प्रयाण करण्याची इच्छा करणाऱ्या तिष्ट्रकुमाराच्या जयलक्ष्मीच जणु वर्णन करणारा असा मृदंगध्वनि आकाश व जमीन यामध्ये समानरूपाने एकदम

निरगादाधरुहां वारणं स पुरादुच्छिततोरणध्वजात् ॥ जयमंगळशंसिभिः शुभैः शकुनैस्तेपितसर्वसैनिकः ॥ ६२ ॥ सदनाप्रगतोंऽगनाजनः सह लाजांजालमात्मलोचनैः ॥ परितस्तमवाकिरिन्धतौ प्रथयन्कीर्तिभिवास्य निर्मलां ॥ ६३ ॥ अतिदुःसहमन्यभूमिपैः सकलं धाम च चक्रवार्तिनः ॥ ६४ ॥ रथवाजिखुराभिघातजः क्षितिरेणः खररोमधूसरः ॥ सकलं न जगन्मलीमसं विद्ये शञ्चयश्च तत्क्षणं ॥ ६५ ॥ न चचाल धरैव केवलं गुरुसेनाभरपीडिता तदा ॥ इरसः कमलिप विद्रिपः पवनोद्धतलतेव मूलतः ॥ ६६ ॥ इरसः कमलिप विद्रिपः पवनोद्धतलतेव मूलतः ॥ ६६ ॥

पसरला. ६२ जय व कल्याण यांचें सूचक अज्ञा शुभ शक्कनांनीं आनंदित झालेल्या सर्व सैन्यासह तिपृष्टकुमार गुळा व तारेणें जेथे डभारलीं आहेत अज्ञा आपल्या शहरांतृन हत्तीवर आरोहण करून निघाला. ६३ वाड्यांच्या गचीवर चहलेल्या स्त्रियांनी आपल्या नेत्रासह लाह्यांची ओंजल त्रिपृष्टकुमारावर फेकली. त्यावेली त्या जणु या कुमाराची कीर्ति चोहीकडे पसरीत आहेत असें लोकांना वाटलें. ६४ हत्तीवर असलेल्या पताका व ध्वजांच्या समूहांनीं फक्त आकाशच आच्छादित केले असे नाहीं. तर इतर राजे लोकांना असहा असलेले चक्रवर्ती अन्वग्रीवाचें सगलें तेज देखिल आच्छादित करून टाकिलें ६५ रथाला खंपले— ल्या घोड्यांच्या टापांच्या आघातांनीं उत्पन्न झालेली, गाढवांच्या केसा— प्रमाणें धुरकट रंगाची असलेली, जमीनिवरील धूल, चोहीकडे पसरून तिनें सगल्या जगालाच मलकट वनविले असे नाहीं तर तत्काल शत्रूंचें यशही मलिन केलें. ६६ अफाट सैन्याच्या ओझ्यानें दुःखित झालेली पृथ्वीच फक्त त्यावेलीं कंप पावली असे नाही तर वाच्याने लता कंप पाउन जशी-मुलासकट उन्मळून पडते तशी

दिप्पणी:—सैन्यव्यजैरप्रतिकूलवातन्याधृननप्रोल्लासितैस्तर्दाये.—
नान्तर्द्धे केवलमेव सूर्य . शञ्जप्रभावश्च महाप्रभावैः॥
समानार्थकोय स्टाकः चद्रप्रभचरित्ते चतुर्थसर्गे ॥

विगलन्मद्वारिनिर्झरा अपि दूरीकृतरोषवृत्तयः॥
अभिनेतृवशेन लीलया लिलतं गंघगजाः प्रतास्थिरे॥ ६०॥
तिडिदुज्ज्वलरुक्ममंडनांस्तुरगांश्रंचलकंठचामराच्॥
दुतमध्यिवलंबितकमानिषरुद्ध प्रययुस्तुरंगिणः॥ ६८॥
अधिरुद्ध यथेष्टवाहनं घवलछत्रनिवारितातपाः॥
गमनोचितवेषधारिणः परचक्रक्षितिपास्तमन्वयुः॥ ६९॥
बलरेणुभयेन भृतलं प्रविहायोत्पतितं वियत्यिष॥
पिद्धे रजसा परीत्य तत्प्रथमं खेचरसैन्यमाकुलं॥ ७०॥
इतरेतररूपभूषणस्थितियानादिनिरीक्षणोत्सुकं॥ ७०॥
अभवत्तद्धोमुखोन्मुखं चिरकालं गमने बलद्वयं॥ ७१॥
जवनिश्वलकेतनोत्करं वरमास्थाय विमानमुन्नतं॥
खचराधिपतिर्विलोकयन्सस्तुतः सैन्यमगादिहायसा॥ ७२॥

शत्रूच्या वक्ष:स्थलावर निवास करणारी लक्ष्मी ही तेथून खाली घाडकन् पडली. ६७ ज्यांच्या गंडस्थलांतून मदाचे प्रवाह वाहात असूनही ज्यांनीं कोघाला आपल्यापासून दूर केलें आहे असे उन्मत्त झालेले हत्ती अभिनय शिकविणारा महात जसे सांगेल त्याप्रमाणें सुंदर अभिनय करीत लीलेनें चाल लागेले. ६८ विजेप्रमाणें लखलखणाच्या सोन्याच्या अलंकारांनीं सजलेले, ज्यांच्या गल्याजवल चंचलचामर बांधले आहेत व जे शीघ्रगाति, मध्यमगति व संद्गाति अज्ञा चालींनीं चालत आहेत अशा घोड्यावर वसून घोडेस्वार चालू लागले. ६९ आपणांस आवडत्या वग्हनावर वसून घोडेस्वार चालू लागले. ६९ आपणांस आवडत्या वग्हनावर वसून अर्थात् हत्ती, घोडे, रथ, पालखी इत्यादिकावर वसून व ज्यांनीं घवलच्छताने लूपीच्या उन्हाचें निराकरण केलें आहे असे इतर देशांचे राजे प्रवासाच्या वेलच्या पोपाकाला धारण करून या त्रिपृष्ट कुमाराला अनुसरूं लागले अर्थात् त्याच्यावगेवग तेही ।नियाले ७० सैन्याच्या चालण्यानें उत्पन्न झालेल्या धुळीने पृथ्वीचा त्याग केला आणि ती आकशांत उडून गेली व तेथे तिन विद्यावराचे सैन्य घेऊन त्याला प्रथम व्याक्षल करून सोडिलें व आच्छादिले ७१ विद्याधराचे सैन्य व तिपृष्टि कुमाराचें सैन्य ही दोन्हीं सैन्यें चालत असतां एकमेकाचें रूप, अलंकार, उमे ग्हाणे, वाहनें सैन्य ही दोन्हीं सैन्यें चालत असतां एकमेकाचें रूप, अलंकार, उमे ग्हाणे, वाहनें

मुतयोः पुरतः प्रजापितः पिथ गच्छन्नतिसोम्यभीमयोः ॥
नयिकमयोरिप स्वयं प्रशमः प्रष्ठ इव व्यराजत ॥ ७३ ॥
दहशे विनताजनैः समं खचरैः स्मेरमुखैः ऋमेलकः ॥
कुरुते प्रियतामपूर्वता ननु कांत्या रहितेऽपि वस्तुनि ॥ ७४ ॥
किरणां पततां विहायसा प्रतिविं विमलोपलस्थले ॥
अभिभूय निपादिनं नमन् रुरुधे वर्त्मिन मत्तवारणः ॥ ७५ ॥
पथि विस्मयनीयमंडनं शिविकारूढमुद्रप्रसीविदं ॥
भयकौत्तकिमश्रमेक्षत क्षितिपानामवरोधनं जनः ॥ ७६ ॥
अवगाहकटाहकर्करीकलशादीन्दधतः परिच्छदान् ॥

विशेरे गोष्टी पाहण्यांत उत्सुक होऊन वराच वेळ पर्थत खार्छी व वर तें हैं करून पाह लागर्छी. विद्याधरांच्या सैन्यानें खार्छी पाहिले व जिमनीवरून चारुणाच्या सैन्यानें वर पाहिले ७२ अतिशय वेगामुळें ज्याच्या वरील पताकांचा समूह निश्चल झाला आहे अगा उत्ताम विमानांत विद्याधरांचा राजा ज्वलनजटी पुतासहित आरोहण करन सैन्याचे निरीक्षण करीत करीत आकाशमार्गानें चालूं लागला. ७३ अनिशय सीरय व अतिशय भीम अशा आपल्या ढोन मुलांच्या पुढें रस्त्यांत प्रयाण करणारे प्रजापति महाराज त्यावेळी रवतः नीति व पराक्रम या ढोवांच्या पुढें श्रेष्ट असा प्रश्नम (कपायांचा शांतपणा) जण्य चालला आहे असे शोभूं लागले. ७४ विद्याधरांनी आपल्या स्त्रियासह मार्गात उंटाचा समुदाय पाढिला तेव्हां त्यांना फार हम् येजे लागलें वरेवरच आहे की, कांतीनें रहित अशी जरी वस्तु असली निर्म की पूर्वी पाहिलेली नसेल तर निन्या पिप्यी आवड उत्पन्न होत अमने ७५ आकाशमार्गने जाणारे विद्यायगंच्या हत्तींचें जमीनीवरील निर्म रत्नमय पापणामत्ये पहलेले प्रतिविद्याकडे वाहन पादात उभा राजिलेण हतीने त्यावेळी आपल्या महातांनाही जुमानेल नाहीं ७६

अतिभारिववर्जिता इव त्वरितं वैविधिकाः प्रतिस्थिरे ॥ ७७ ॥ वसुनंदक्रपाणपाणिभिस्तरसोलंधितगर्तगुल्मकेः ॥ पुरतो निजनाथवाजिनां चटुलं चारुभेटरधाव्यत ॥ पुरतः प्रविलोक्य दिन्तनं सहसैवाश्वतरेण पुष्ठवे ॥ तुरगः समगादशंकितं ननु जातेः सहशं हि चेष्टितम् ॥७८॥ नवकंदुमिवाश्ववारकं मुहुरुत्खुत्य हयोऽतिदुर्मुखः ॥ वाणतांगमपातयत्परं ननु दुःशिक्षितमापदां पदं ॥७९॥ उपदीकृतभूरिगोरसैर्दहरो मिईतसस्यधारिभिः ॥ पथि भूमिपतिः कृषीवलैः कुरु रक्षामिति वल्गुवादि भिः ॥८०॥ अवरोधनमेतदंचितं समदानां करिणामियं घटा ॥ अयमश्रतुरंगमः प्रभोः करभोऽयं गणिकेयमुज्ज्वला ॥८१॥ पथि राजककोटिवेष्टितः क्षितिपोऽयं सस्तुतःप्रजापतिः ॥

जण् काय आपण मोठ्या ओझ्यानें रहित असल्याममाणें कावडीवाले त्वरेनें चातंं लागले. ७८ वसुनद ( शस्त्र विशेष ) व तरवार हीं शस्त्रं ज्यांच्या हातांत आहेत व ज्यांनीं शीघ्र खाचखळगे आणि झाँडें झुडपे ओलांडलीं आहेत असे सुंदर योदे आपल्या मालकांच्या घोड्यांच्या पुढें चपलतेनें धावत असत.

७९ आपल्यापुढें आलेल्या हत्तीला पाहून खेचर घाबरून उड्या मारूं लागलें. परंतु घोडा न भितां पुढें निवृत गेला. वरेावरच आहे कीं, आपल्या जातीला—स्वभावाला अनुसरूनच मत्येक प्राण्याची वागणुक असते. ८० ज्यानें आपल्या तोंडाची आकृति भीति वाटेल अशी वनिवेली आहे अशा एका बाईट घोड्यानें वारंवार उड्या मारून आपल्यावर चसलेल्या घोडेरवाराला नवीन चेड्रमाणे दूर फेक्न दिले व त्याला जखमी केलें. वरेग्वरच आहे कीं, खोटें शिक्षण हैं विपत्तीचे ठिकाण आहे. ८१ दूध, तूप, दही यांचा ज्यांनीं नजराणा अर्पण केला आहे व कुटलेल सडलेले तांदृल, दाल वगरे पदार्थ ज्यांनीं आपल्या-बरोबर आणिले आहेत व हे प्रभो ! आमचें रक्षण कर असे मधुर भाषण जे करीत आहेत अचा शेतकच्यांकडून मार्गामध्यें प्रजापित महाराज पाहिले गेले. ८२ डागि-न्यांनीं भूपित झालेल्या हत्तींचीं पंक्ति, हा महाराजांचा बसावयाचा ग्रुल्य घोडा, इति तत्करके सर्विस्मयं दहशुर्जीनपदाः समंततः ॥ ८२ ॥
धतिर्म्भरवारिसीकरःकरिभन्नागुरुगंधवासितः ॥
तदसेवत पार्वतो मरुक्टकं कंपितकेतनाविलः ॥ ८३ ॥
वहुमिर्गजदंतचामरेधितकस्तूरिकुरंगकैरिप ॥
अरवीपतयो वनांतरे तमुपत्यादरतः सिपेविरे ॥ ८४ ॥
दिलतांजनपुंजरोचिपो वलमालोक्य मयेन नश्यतः ॥
प्रतिभूधरमेक्षत क्षणं तिमिरोधानिव जंगमान्गजान् ॥ ८५ ॥
अवलाकनमात्रसत्फला दधतीः पोनपयाधरिश्रयं ॥
शवरीरिप पत्रवाससो गिरिसिंधूश्च विलोक्य पिप्रिये ॥ ८६ ॥

हा उंट, ही मुंदर वेज्या, अनेक राजांनी वेधिलेले व आपल्या विजय व जिएए या दोन पुत्रासिहन असलेले है मजाएति महाराज, है त्याचे सन्य असे दर्णन करीत त्या देगांतील लोक दा सर्व देखावा आश्चर्यचिकत होछन पाहं लागले. ८३ झऱ्यांतून वाहणाऱ्या पाण्यांचे तुपार धारण करणारा, हत्तींनी मोडलेल्या अगरवृक्षांच्या सुगंधानें सुवासयुक्त झालेला, व ज्यांन ध्वजांचा समृह हालविला आहे असा पर्वतावरून वाहणारा वारा, महाराजांच्या सेनेची सेवा करूं लागला. ८४पुष्कळसे हत्तींचे ढांत, व चवऱ्या आणि पकडलेले कस्तूरीमृग यांचा नजराणा महाराजांना अर्पण करून जंगलाचे राजे भिल्ल वगैरे जवल येऊन त्यांची आढरान जंगलांत सेवा करू लागले. ८५ पत्येक पर्वतावर फुटलेल्या अंजनाप्रमाणे कालेकुट्ट असरें व सेन्य पाइन भीतीने पळत सुटलें छ अशा हत्तींना चालते फिरते अधाराचे समृहच आहेत अंशा भावनेन प्रजापति महाराजांनी एक अणवर्यत पाहिले. ८६ ज्यांना पाहणे एवढेंच फल ओहे व ज्या उंच व मोठ्या स्तनांच्या गांभेला धारण करीत आहेत, झाहांच्या पानांची वस्त्रे ज्यांनी धारण केली आहेन अजा भिछांच्या सियांना पाहन प्रजापिन महाराज आनादित आले. तमेंच नुराने पदान अमतांच ज्या मनोहर दिसतात व प्यांना शोभा प्राप्त आही आहे व ज्यांच्यावर झाडांचीं पाने पसर्की आहेत अधा परेतारमन बाहणाच्या नद्यांनाही महाराजांनी णहुन संतोष मानिला. पर्वतावरील नगांचे पाणी पाने वंगर कुजन पिण्याला अयोग्य होते महणून त्यांना पाहणें हेंच फल आहे. त्यांच्या उपभोगानें आरोग्य विघडतें. तसेंच भिल्लांच्या स्त्रियांना पाहणें हेंच फल आहे. त्यांच्या उपभोगरूपी फलाची अपेक्षा करणें योग्य नाहीं, त्यांच्या उपभोगानें मनुष्य पतित होतो.

दलयन्महतोऽपि भूभृतः सरिदुचुंगत्टानि पातयन्॥ विपिनानि परं प्रकाशयन्सरसां कर्दसयञ्जलिशयं ॥ ८७ ॥ रथचक्रचयस्य चित्कृतैव्यथयन्कर्णपुटानि देहिनां॥ ककुभां विवराणि पूरयन्रजसा छादितवायुवर्मना ॥ ८८ ॥ सत्रंगमिवाश्वसंपदा सत्राडिच्छेदमिवायुघतिवषा ॥ सजलाभ्रमिव क्षरनमदैः करिभिः संवरदद्रिभासुरैः ॥ ८९ ॥ इति भूरिबलं पुरो वितन्वन्हरिराद्यः प्रिसंम्यितैः प्रयाणैः॥ प्रतिसैन्यनिविष्टसानुदेशं स रथावर्तगिरिं समाससाद॥ ९०॥ अथ सरसनृणोलपावकीणीमविरलपादपराजिराजितां तां ॥ उपनदि बलमध्यवास पूर्वं बलपातिना प्रविलोकितां धरित्रीं ॥९१॥ विरचितपटमंडपोपकायों स्थलपरिभस्नमकारि सर्वतः सा ॥ प्रतिवसति समुच्छितात्मचिन्हा भृतकजनेन पुरागतेन सद्यः।९२। अपहतकुथकरंकध्वजादीन्विदितनयाः सिळळावगाहपूर्व॥ उपकटकमनेकपान्वबंधुस्तरुगहनेषु मदोष्मणाभितप्तान् ॥ ९३॥ श्रमजलकाणिकाचिताखिलांगा व्यपगतपल्ययनास्तुरंगवर्याः॥ क्षिातितल्लुठितोत्थिताश्च पीत्वा जलमवगाह्य विश्रभ्रम्-निबद्धाः ॥ ९४ ॥

परिजनधुततालवृंतवातप्रशमितधर्मजलाः क्षणं नरेंद्राः॥ क्षितिनिहितकथासु शेरते स्म श्रममपनेतुमपेतवारवाणाः॥९५॥ कुरु करभमपेतयंत्रभारं मसृणय भूतलमानयां श्रीतं॥ उदवसितसुदस्य राजकीयं विरचय कांडपटं समंततोऽपि॥९६॥

८७-८९ मोठमोठ्या पर्वतांचें टलन करणारा, नद्यांच्या उंच तट्रांना पाडणारा, दाट जंगलांना तोड्रन तेथें प्रकाश इत्पन्न करणारा, व सरीवरांच्या पाण्याच्या शोभेला गहूल करणारा, ग्थांच्या चाकांच्या चीत्कारांनीं लोकांच्या कानठाळ्या वसविणारा, व दिशांच्या विभागोना आका-शाला झाकून टाकणाऱ्या धुळीनें आच्छाटणारा, तो तिपृष्ट नारायण, आपन्या, पुष्कळ सैन्याला पुढें करून योडक्या मुकामांनी जेथे शत्रूच्या सैन्याने तल दिला आहे अशा रथावर्त पर्वताच्या प्रदेशावर येछन प्राप्त झाला. तिपृष्ट नारायणाचे ते अफाट सैन्य पुष्कळ घोड्यांनी युक्त असल्यामुळे छहरींनी सिंहन असल्याप्रमाणें शोभत असे. शस्त्रास्त्रांच्या कांतीने चमकणाऱ्या विजांनी ते युक्त असल्याप्रमाणें भासत असे. ज्यांचा मद् गळत आहे व चालत असलेल्या पर्वताप्रमाणे शोभ-णाऱ्या अन्ना हर्नीानी युक्त असल्यामुळेते मेघसहिन असल्याप्रमाणे वाटत अस. ९१ त्या रधावर्त पर्वतावर सेनापातिने प्रथमच जागा पाहून ठेविछी होती. ती जागा पाणी, गवत, शहरें यांनीं युक्त होती. व टाट झाहांच्या पंक्तींनीं जोभत होती. न्याठिकाणीं नदीच्या किनाऱ्यावर त्रिषृष्टाच्या सैन्याचा तळ पडला. ९२ त्या नटीच्या किनाऱ्यावर जागा साफ करून मजूर लोकांनीं नेथे राहुट्या, तंबु वगैरे उभा केले. व शीघ्र त्या प्रत्येकावर ओळखण्याची चिन्हें उभारली ९३ ज्यांना सैन्याच्या व्यवस्थेची माहिती आहे अशा लोकांनी हत्तीना पाण्यामध्ये स्नान कर-विण्याच्या पूर्वी त्यांच्या वरचें चिलखत, ध्वज, वगेरे काहृन घेनलें. व स्नान करविल्यानंतर मदाच्या उष्णतेने तप्त झाहेल्या त्यांना टाट वृक्षांच्या जंगलामध्यें वांघृन टाकिलें. ९४ ज्यांच्या वरचें खोगीर काइन घेतलें आहे व ज्यांचे सारं अरीर श्रम झाल्यामुळें चामाने भरून गेलें आहे. असे घोडे जमीनीवर होव्हन उटस्यावर त्यांना पाणी पाजून व पाण्यामध्ये स्नान करवृन वांधृन टाकिल्यामुळें ते स्वस्थ विसावा घेत साहिले. ९५ नोकरांनीं पंख्याचा वारो घालून ज्यांचा सगळा घाम नाहीसा केला आहे अशा राजांनीं आपल्या आंगातलें चिल्लात कादून टाकिलें व अम् नाहींसा करण्यासाटी जमिनीवर अंथ-रछेल्या गालिचावर थोडा वेळपर्यत झोप घेतली. ९६ अरे या उंटावरून हा सर्व यंवांचा भार काहन घे. ही जागा झाडून साफ कर, थंड पाणी आण. राजाचा हा देश येथन काइन या हिकाणीं सर्व वाजूनें पडदे छात्र.

अपनय रथमत्र वध्यतेऽश्वो नय विषिनं वृषभांस्तृणाय गच्छ ॥ इति भृतकजनो महत्तरोक्तं द्वतमकरोत्र हि सेवकः स्वतंत्रः॥९०॥ परिचितपरिचारिकाकरायकृतपरिषीडननष्टयानरवेदाः ॥ दिनविधिमवनीश्वरेकमार्याःस्वयमनुतस्थरनुक्रमेण सर्व ॥ ९८॥ इयमुरगरिषुश्वजेन लक्ष्या नृष्वसतिःसुनिस्वाततोरणश्रीः ॥ अयमपि गगनेचरेन्द्रवासो विविधविमानविदंकभिन्नमेषः॥९९॥ अयमुरुयुवसज्जनेन पूर्णी विपणिपथःक्रयविक्रयाकुलेन॥ इयमनु क्तितवस्थलं निविष्टा ननु वस्तिर्वरवारकामिनीनां॥१००॥

इति कटकमशेषमुद्दिशन्तः पतितजरद्भवभारमुद्धहन्तः ॥ कथमपि च विलोकयाम्बभूवुनिजवसति सुचिरं प्रयुक्तभृत्याः॥१०१॥

पाश्चात्यानथ निजसैनिकप्रधानान्व्याक्रोशन्पटहरवैश्च भेदबद्भिः॥ उत्थिप्तिर्दिशि दिशि केतनैश्च चित्रैरात्मीयान्कटकजनो मुहुर्जुहाव॥ १०२॥

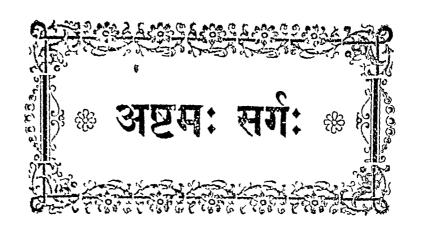
आवासान्प्रतिगच्छतेति वचसा भूपान्विसर्ज्यं स्वयं ॥ भूदेव्या घनपक्ष्मराजिषु रजोव्याजेन संचुम्बितः॥ आप्तरध्वपरिश्रमाधिकतया खंजं गतैःसेवकैः॥ अन्वीतःपुरुषोत्तमःस्ववसतिं सत्संपदं प्राविशत्॥१०३॥

## इत्यसगकृते श्रीवर्धमानचरिते सेनानिवेशो नाम सप्तमःसर्गः॥

९७ अरे येथून रथ दुसरीकडे ने. याठिकाणीं घोडा वांधावयाचा आहे. या वैछांना जंगळांत ने. गवत आणण्यासाठीं जा. याप्रमाणें वरच्या अधिकाच्यांनीं सांगितळेळीं काम नोकरांनीं लोकर केळीं. वरावरच आहे कीं, नोकर स्वतंत्र अस शकत नाहीं. ९८ नेहमींच्या परिचयाच्या दासीनीं राजांच्या मुख्य मुख्य स्त्रियांच्या अंगांचें हातांनीं जेव्हां चांगळें पर्दन केळें तेव्हां त्यांचा प्रवासाचा सर्व थकवा नाहींसा झाला. वमग त्या सर्व स्नानभोजन वंगरे दिवसाचा कार्यक्रम स्वतः करू लागल्या- ९९ हा गरुड चिन्हाचा ध्वज येथें दिसत आहे हमणून ज्याच्या सभोवती तोरणांनीं श्लीमा आणिली आहे असे हें तिपृष्ट नारायणाचें निवासस्थान आहे. व नानाश्रकारच्या विमानांच्या सज्जांनीं मेघाचें विदारण करणारा, हा ज्वलनजटी विद्याधरराजाचा प्रासाद (राहाण्याचें ठिकाण) आहे. १०० हा वाजार खरेदी व विकीमध्यें निमम झालेल्या पुष्कळ तरुण व सज्जन पुरुषांनीं भरलेला आहे.येथे जुगारी लोकांच्या अङ्घाजवळ उत्तम वेश्यांचीं राहाण्याचीं ठिकाणें आहेत. १०१ या प्रपाण सर्व सैन्याच्या जागांचें वर्णन करणारे व पडलेल्या ह्याताच्या वैलांच्या पाठीवर लादलेलें ओहें वाहणारे असे नेमून दिलेलें काम करणारे कित्येक नोकर आपलें स्वतःचे राहण्याचे ठिकाण फार उशीरानें कसें तरी पाह शकले, १०२ सैन्यांतील

लोकांनीं मार्गे राहिलेल्या आपल्या मुख्य सैनिकांना नानाप्रकारच्या वाद्यांच्या आवाजांनीं व प्रत्येक दिशापध्ये उभारलेल्या चित्रविचित्र ध्वजांनीं वोलाऊ लागले. १०३ आतां आपण आपल्या निवासस्थानीं जा असे म्हणून सर्व राजांचें विसर्जन करून पृथ्वीदेवीन दाट पापण्याच्या पंक्तीच्या ठिकाणीं रजःकणांच्या मिपानं ज्याचें चुंवन घेतले आहे, जो रस्त्याच्या अधिक श्रमानें लंगडत असलेल्या विश्वरत सेवकांनी अनुसरलेला आहे अशा तिपृष्ट नारायणाने उत्कृष्ट संपत्तियुक्त अशा आपल्या निवासर्थानी प्रवेश केला.

याप्रमाणें असगक्षविकृत श्रीवर्धमान चरित्रांतील ' सेनेनें तळ ढिला'या विषयाचें वर्णन करणारा हा सातवा संग संपला.



एकदा सदिस केसरिद्धिषं कश्चिदेत्य विदितः कृतानितः ॥ इत्युवाच वचनं वचोहरः शासनात्खचरचऋवर्तिनः ॥ १ ॥ शृज्तां गुणगणात्र केवलं सूचयन्ति विदुपां परोक्षतः॥ दिव्यतां तव वपुश्च पश्यतां इर्लभं द्वयमिदं त्विय स्थितम् ॥॥ धैर्यमाकृतिरियं व्यनाक्ति नश्चेतसस्तव सदा समुन्नता॥ तोयधेरतिमहत्त्वमंभसः किं व्रवीति न तरंगसंहतिः॥३॥ पश्रयास्तव सुधारसच्छटाद्यीतलाः कठिनमप्यवान्तरे॥ द्रावयंति पुरुषं विशेषतश्चंद्रकांतिमव चंद्ररूमयः ॥ ४ ॥ सिहाति त्विय गुणाधिके परं चक्रपाणिरतिसद्गुणप्रियः॥ स्वीक्रोति सुवि किं न साधतां साघवो ननु परोक्षबांधवाः ॥ ॥ युक्तमेव भवतोरसंशयं संविधातुमितरेतरक्षमं॥ सीहदय्यमविनश्वरोदयं तोयराशिकुमुदेशयोरिव ॥ ६ ॥ जन्मनः खलु फलं गुणार्जनं प्रीणनं गुणफलं महात्मनां॥ इत्युशंति कृतबद्धयः पृरं तत्फूलं स्कलसंपद्रां पदं ॥ ७ ॥ पूर्वमेव सुविचार्य कार्यवित्सर्वतो विमलबुद्धिसंपदा॥ श्रेयसे सृजित केवलं कियां सा किया विघटते न जातुचित् ॥८॥ यः प्रतीपमुपयाति वर्त्मनः सोऽघिगच्छति किमीप्सितां दिशं॥ किं प्रयात्यनुश्यं न तन्मनो वीक्ष्य दुर्णयविपाकमग्रतः॥ ९॥ स्वामिनं सुहद्मिष्टसेवकं वलमामनुजमात्मजं गुरुं॥ मातरं च पितरं च बांधवं दूषयन्ति न हि नीतिवेदिनः॥ १०॥

१ एके दिवशी विद्याधर चक्रवर्ती अश्वग्रीवाच्या आजेने एक प्रासिद्ध दृत त्रिपृष्ट-नारायणाच्या सभेत आला.व वलाब्य सिंहाचा वध प्यानें केला होता अशा त्याला (त्रिपृष्टनारायणला) नमस्कार करून पुढें लिहिल्याप्रमाणें वोलूं लागला. २ हे प्रभो आपले गुण ऐकणाऱ्या विद्वान लोकांना ते आपली दिन्यता सूचित करीत असतात. व ज्यांनी आपल्याला पाहिले आहे अशा लोकांना आपले शरीरही आपली दिन्यता सूचित करीत असते. दिन्य शरीर व त्याला अनुरूप गुण असणे या दोन गोष्टी दुर्रुभ आहेत परंतु यांचा आपल्या ठिकाशीं संगम झाला आहे. ३ अतिशय भव्य दिसणारी ही आपली आकृति आपल्या अंतः करणांतील धर्म गुणाला व्यक्त करीत आहे. वरोबरच आहे कीं, समुद्राच्या छहरींचा समूह त्याच्या विशाल गंभीरपणाचा परिचय करून देत नाहीं काय ? ४ अमृतरसाच्या छटेपमाणे अति शीतल-मनास आनंद करणारा आपला विनय पाहन कठोर मनाचा पुरुष देखिल विशेष रीतीनें द्रवतो-आपल्या विषयीं त्याचें मन प्रेमळ वनते. चंद्राचें किरण जसें कठिण अजाही चंद्रकांत मण्यासा द्रवयुक्त करितात तसें कठिण अंतःकरणाचा मनुष्यही आपला विनय, सौजन्य वगैरे गुण पाहृन प्रेमळ वनतो. ५ आमच्या चक्रवर्तीला सद्धुण आतिशय आवडतात ह्मणून तो गुणाधिक अज्ञा आपल्यावर फार प्रेम करीत आहे. सज्जनपणा या जगांत सद्धुणांचा स्वीकार करीत नाहीत काय ? खरोखर सज्जन हे जगाचे परोक्ष बंधु आहेत. ६ जसे समुद्र व चंद्र यांची मित्रता जिचा उत्कर्प कथींही नाश पात्रत नाहीं अशी असते. तसे आपणा उभयतामध्येही कथी नाश न पात्रणारी व परस्परांना साजेल अशी उत्कर्षशाली मित्रता उत्पन्न व्हावयास पाहिजे. ७ सद्भुण प्राप्त करून भेणें हेंच जन्म घेण्याचें फल होय. सन्पुरुपांना संतुष्ट करणें हें गुण पाप्तीचे फल होय. सत्पुरुपांना संतुष्ट करण्याचे फल सर्व संपर्ताची प्राप्ति होण हे आहे असे कुंगलबुद्धीचे विद्वान लोक ह्मणतात. ८ कार्य कर्ण्यात निपुण असलेले विद्वान् प्रथमतःच आपल्या निर्मल बुद्धिरूपी संपर्ताने चांगला विचार करून फक्त ज्यापासून कल्याण होईल असेंच कार्य करीत असतात. व असलेंच कार्य मजबूत असल्यामुळें चिरस्थायी होतें. तें कर्धांही नाग पावत नाहीं. ९ जो मनुष्य मार्गाच्या विरुद्ध जातो नो आपस्या डांच्छित दिशेला पोहोंचू शकेल काय ? खोट्या रस्त्याने चालले असतां त्यापासून आलेल्या कडु अनुभवानें त्याचें मन पश्चात्तापयुक्त होणार नाहीं काय ? अवस्य होई इच, १० नीतिज माणसें, मालक, मित्र,

आवहता नोकर, पिय पत्नी, आपला धाकटा बंधु, गुरु, माता, पिता व नातलग यांच्याक्षां विरोध करीत नसतात.

न्यायवानभिनिवेशमात्मनो नानुरूपमकरोद्भवानम् ॥ प्रार्थिता ननु पुरा स्वयंप्रभा चिक्रणा स्वयमनन्यचेतसा॥ ११॥ नूनमेतद्धुनैव तावकं श्रोत्रगोचरमुपागतं वचः॥ चित्तवृत्तिमवयन्त्रभोः पुरा कः करोति विनयातिलंघनम् ॥ १२॥ एवमुक्तमथ चक्रवर्तिना तेन सा स्थितिमजानता मम ॥ म्बीकृता ननु परोक्षबंधना कोऽत्र दोष इति वीतमत्सरं ॥ १३ ॥ वलमं प्रणियनामथांतरे मन्यते न खलु जीवितं च यः॥ वाह्यवस्तुषु कथं नु जायते तस्य लोभकणिकापि चेतिस ॥ १८॥ । कन्यया स्विदनया प्रयोजनं धीमतस्तव पुरैव च त्वया ॥ प्रार्थितः किमिति नाश्वकंधरः किं न यच्छति परां च वांछितां १५ किं न संति बहुवा मनोरमा योषितः सुरविलासिनीसमाः ॥ तस्य केवलमतिकमं मनः सोद्रमल्पमपि नो विचक्षणं॥ १६॥ चकपाणिमनुनीय यत्सुखं निर्विशस्यनुपमं त्वमक्षयं ॥ तत्कुतस्तव वद स्वयंप्रभालोललोचनविलासवीक्षितैः॥ १७॥-यः सदा भवति निर्जितेन्द्रियस्तस्य नास्ति परिभूतिरन्यतः। जीवितं ननु तदेव सम्मतं यिन्नकाररहितं मनस्विनां ॥ १८ ॥ तावदेव पुरुषः सचेतनस्तावदाकलयति क्रमाकमं । तावदुद्रहति मानमुन्नतं यावदिन्द्रियवशं न गच्छति ॥ १९॥ यः कुलत्रमयपारावेष्टितः सून्नतोऽपि स विलंघ्यते परैः। वल्हरीवलियतं महातरं नाधिरोहति किमाशु वालकः ॥ २० ॥

११ हे प्रभो ! आपण न्यायी असूनही हा आग्रह-( स्वयंप्रभेला वर-ण्याचा ) धारण केला हे माल आपण अयोग्य केले. स्वयंप्रभेत आसक्त १९ हां जन-तन्मय हो जन पूर्वी उपलन्जरीला तिची अध्यमीव सक्रवतीन मागणी केली होती. १२ कटाचित् ही गोष्ट आतांच आपल्या कानीं आली असेल हाणून आपल्या हातून उपर्युक्त गोष्ट घड्टन आली असाबी. नाहींतर चक्र-वर्ताची मनोवृत्ति जाणणारा कोणता मनुष्य विनयाचे उद्घंघन करील वरें ? १३ माझा अभिषाय न जाणतां त्या परोक्षवंधृनं मनामध्ये मतसम्भाव न थरतां स्वयंमथेचा स्वीकार केला असेल. यास्तव याविपर्या न्याचा कांही दोष नाहीं असं चक्रवर्तीनें झटलें आहे. १४ या चक्रवतींच्या अंतःकरणांत ज्यांच्याविषयीं पेम आहे त्यांच्याकरितां हा आपछे जीवित देखिल पिय मानीत नाही. अथीत् त्यांच्याकरितां हा आपले प्राण द्यावयासही तयार असनो. यास्तव अज्ञा त्या चक्रवतींच्या मनांन बाह्य त्रस्तुविषयीं अणुमात देखिल लोभ राहण्याचा संभव आहे काय ? १५ हे राजन्! जर या स्वयंपभा कन्येंं बुद्धिमान अंगा आपले प्रयोजन होते तर पूर्वीच अख-ग्रीवाची याविषयी प्रार्थना को केली नाही ? प्रार्थना केल्यावर स्याने तीच काय इतर कन्याही दिल्या असत्या. १६ अभ्वग्रीवचक्रवर्तीला देवांगना-ममाणें सुंदर अशा पुष्कळ स्त्रिया नाहीत काय? आंहनच. फक्त, हा जो अन्याय यहन आला आहे तो मात्र सहन करण्यास तो सपर्य नाही. अर्थात, त्याची मागणी पहिली असतां आपण त्या स्वयंप्रभेशी लग्न लावले हा आपण अन्याय केला आहे. चक्रवतीचे मन थोडासा देखिल अन्याय सहन कर्ण्यास समर्थ नाही. व आपण तर मोटा अन्याय केला आहे नो त्याला कसा सहन होईल बरें ? १७ चक्रवर्तीचो पार्थना करून जे नाश न पावणार व निरुपम सुख आपणांस भोगावयास मिळेल. तसले सुख स्वयंत्रभन आपल्या चंचल डोल्यांच्या सविलास पाइण्यांनेही मिलणार नाई। कोटून मिलेल सांगा ? १८ ज्यानं आपर्ला इंद्रियें ताव्यांत टेविङीं आहेन त्याचा इतराकडून पराभव-अपमान होणें शक्य नाईा. पुरुषांचे अपमान रहित जे जगणें आहे तेंच स्वाभिमानी माणसांना पसंत आहे. १९ जोवर्धत मनुष्य इंद्रियांच्या ताव्यांत जात नाही तो पर्यंतच तो जानी समजावा. तोपर्यंतच तो न्याय अन्याय समजतो व तोपर्यंतच तो उन्नत असा स्वाभिमान धारण करूं शकतो २० जो पुरुष भायीरूपी जाळ्याने नेष्टित झाला आहे तो अतिशय उन्नत दशेस पोहोचला असला तरी ही इतर लोक न्याला जिंक् शकतात. ज्याला वेलींनी वेटाकी घातली आहेत अशा मोठ्या द्रक्षावर लहान मुलगाही चट्ट शकन नाहीं काय ?

इंद्रियार्थरतिरापदां पदं कस्य वा तनुमतो न जायते ॥ धूमितामिति वदिन्वि शुतौ मूर्च्छति द्विरदर्डिडिमध्वनिः॥ २१॥ प्रीतिमल्पसुखकारणेन मा नीनशस्त्वमिषये नभःस्पृशां ॥ जायते तव कलत्रमीदृशं तादृशो न पुनरुजितः सुहृत् ॥ २२ ॥ त्वद्विवाहमवगम्य दुर्जयं त्वा प्रहंतुमचिरेण खेचरान् ॥ उत्थितान्स्वयमवारयत्रभुस्तद्धि संगतफलं महात्मनां ॥ २३ ॥ प्रापयात्मसचिवैः स्वयंप्रभां प्रीतये सह मया तद्तिकं ॥ सर्वदान्यवनितासु निःस्पृहः स स्वयं दिशति ते न किं प्रियां ।२४। वाचमेवमभिधाय सस्फुरां जोषमासितमथ स्पशं रिपोः॥ नोदितो निगदति समें भारतीं विष्णुना सविनयं हुशा बलः ॥२५॥ अर्थशास्त्रविहितेन वर्त्मना साथितेष्टीमदमन्यदुवचं ॥ ऊर्जितं गदितुमुत्सहेत कस्त्वत्परः मदिस वाक्यमीदृशं ॥२६॥ अश्वकंठमपहाय कः सतां वहःभो नयपरश्च कथ्यते ॥ तादशोऽपि खलु वेत्तिन क्रियां लोकिकी जगति कः समस्तवित्।। योऽवरिष्ट भवि कन्यकां नरस्तद्धरः खलु स एव किं भवेत्॥ हेत्रत्र ननु दैवामिष्यते तन्न छंघयति कोऽपि शक्तिमान् ॥ २८॥ यक्तिहीनमिति कर्त्रमुद्यतस्त्वत्पतिः किमु न साधुना त्वया ॥ वारितो मतिम्ता वुधोऽप्यहो निश्चिनोत्यसदिप प्रभोर्मतं ॥२९॥ कस्य वा बहुविधं मनोरमं वस्तु पूर्वसुकृताना जायते।। किंस एव बिलना चु नाध्यते संमता न हि सतामियं क्रिया।३०।

२१ कोणत्या दारीरधारी प्राण्याला पंचेंद्रियांच्या पढार्थावरील आसक्तीनें संकटांचे माहेर घर बनाविलें नाहीं वरें? अर्थात् सर्व पंचेंद्रिय सुखांच्या पंजांत फमृन दु खी होतातच. ही गोष्ट व्यक्त करण्याकरिनांच जणु हत्तीवरील नगांच्याचा ध्वानि विहानांच्या कानावर येऊन आदलत असतो. २२ योड्याशा सुखांचे कारण असलेल्या स्वयंप्रभेमुळें विद्याधरांचा अधिप—चक्रवित अशा त्या अख्यीवाच्या प्रतिचा आपण नाश करूं नका, पुनः आपणास स्वयंप्रभेमारखी सुंदर वायको

मिळूं शकेल पण चक्रवर्तीसारखा तेजस्त्री मिल मात्र मिळणार नाहीं. २३ हे मभी! जेव्हों आपला त्रिवाह झाला ही गोष्ट ऐकण्यांत आली नेव्हां तत्काल दुर्जय अजा आपणाला ठार मारण्यासाठी उद्युक्त झालेख्या विद्याथरांना स्वनः चक्रवतीनं परा-इत्त केले. हें सर्व महापुरुपांच्या संगतीचें फल आहे. अर्थात् चक्रवर्ती नेहमी सत्पु-रुपांच्या सहवासांत राहात असल्यामुळे त्याने आपणांस मारू दिलें नाहीं. यास्तव हे राजन्! माझ्या वरोवर आपल्या सचिवासह स्वयंत्रभेला आपण चक्रवर्ताकडे पाठऊन द्या. ह्मणजे तो फार खुप होईल. चक्रवर्ता परित्वयांविषयां पूर्ण निःस्पृह आहे ह्मणून तो स्वतः आपणांकडे आपली प्रिया पाटऊन देणार नाईं। काय ? २५ या प्रमाणे हृद्यास स्फुरण आणणारं भाषण बोलून तो अश्वग्रीव चक्रवर्तीचा द्त मीन धारण करून वसला. नंतर त्रिषृष्ट नारायणानें मोठ्या विनयानें आप-ल्या नेत संकेताने सूचना केला गेलेल्या विजयवलभद्रानें पृढे लिहिल्याप्रमाणे भाषण केलें. २६ नीतिशास्त्रांत सांगितलेल्या मार्गानें -उपायानें ज्यांत आपली इष्ट वस्तु साध्य केली आहे असे जोरटार भाषण हे द्ता ! तुझ्या शिवाय दुसरा कोण वरें समेंत वोलू शकेल? हें तुझे भाषण ' दुर्वच ' आहें अर्थात् दुम=याला वोलतां येण्यासारखें नाही. या श्रद्धाचा दुसरा अर्थ असा आहे की, हैं तुझे भाषण दुर्वच-अर्थात् दुःखाला देणारं आहे व 'असाविष्ट ' आहे. अर्थात् या तुझ्या भापणांत इष्ट वस्तूची प्राप्ति होईल असा कांहीच अभिप्राय नाहीं अर्थात तूं मृर्खी-ममाण कांहीं तरी वडवडला आहेस. २७ अन्वग्रीवाशिवाय या जगांत सत्पुरुषांना प्रिय व नीतितत्पर कोण आहे. असं असताहि लोक व्यवहार काय आहे हैं तो जाणत नाहीं. अथवा जगांत-सर्व जाणणारा-कोण- आहे वरें ? २८ या जगांत जो-मनुष्य कन्येला वस्तो तोच तिचा पति होय. तोच तिचा-पति कांव्हावा याला उत्तर हे आहे कीं, त्याचे दैवच या गोष्टीला कारण आहे. त्या दैवाचे उद्घंघन कोणताही शक्तिमान करूं शकत नाहीं. २९ परंतु तुझा मालक हैं अयोग्य कार्य करण्यास तयार झालेला आहे यारतव बुद्धिमान अमूनही तुं या अयोग्य कार्या-पासून त्याला कां परावृत्त करीत नाहींस ? अथवा आश्चर्य हैं आहे कीं, विद्वान लोक ही मालकाचे अयोग्य कृत्य देखिल योग्यच आहे असे मानतात. ३० पूर्वी केलेल्या पुण्योदयाने कोणाला वरें नानाप्रकारच्या सुंदर वस्तु मिळत नाईांत? असें असनांही शक्तिमान मनुष्यांनी त्याच्या वस्तुंची कां उच्छा करावी वरें? असलें अयोग्य कार्य सन्पुरुषांना मान्य असन नोहीं. हलकट माणसांचेंच असलें कार्य अमतं.

युक्तसंगममवेध्य दुर्जनः कुच्यति स्वयमकारणं परं ॥ चंद्रिकां नमसि वीध्य निर्मलां कः परो भषति मंडलादिना ॥३१॥ यो विवेकरहितो यथेच्छया वर्तते पथि सतामसम्मते ॥ निस्नपः स खळु दंड्यते न कैस्तुंगशंगशफवर्जितः पशुः ॥ ३२॥ प्रार्थनाधिगतजीवितास्थितिस्तार्क्ककोऽप्युचितमेव याचते ॥ ईंदृशं जगति याचनाविधिं वेत्ति सप्तिगल एव नापरः ॥ ३३॥ श्रीः स्थिता मिय परातिशायिनी दुर्जयोऽहिमिति गर्वमुद्धहन् ॥ यः परानिभवत्यकारणं सोऽत्र जीवति कियच्चिरं नृपः ॥३४॥ डौ सतामभिमतौ नरोत्तमौ जन्म संसदि तयोः प्रशस्यते ॥ यो न मुह्यति भये पुरःस्थिते यस्य संपदि मनो न माद्यति ॥३५॥ साधुरव्द इव भूतिसंगमान्धिर्मलो ननु सुवृत्ततां वहन् ॥ भीषणो भवति दुर्जनः खरः प्रेतधामनि निरवातशूलवत् ॥ ३६ ॥ सामजो भदविचेतनोऽपि सन् पुष्करे क्षिपति नांत्रिमात्मनः॥ क्षेमहीनमद्मत्तमानसः किं न चापयति तं भवत्पतिः ॥ ३७ ॥ लोचनोद्दतविषानलप्रभास्परीद्रवस्यविध्द्रमिश्रयः॥ को जिष्टक्षति यथेच्छया फणारत्नस्चिसुरगस्य दुर्मतिः ॥ ३८॥ क्षीववारणशिरोविदारणे क्रीडनस्थितिपटीयसो हरेः॥ निद्रया पिहितचक्षुषों उपि किं जंबुकेन परिख्यते सदा ॥ ३९॥ न्यायहीनमिह यस्य वांछितं खेचरः स इति कथ्यते कथं॥ जातिमात्रमानि। मत्तं मुझतेः किं प्रयाति गगने न वायसः॥ ४०॥

३१ हे द्वा! योग्य पटार्थाचा परत्पराठीं संत्रध आरुला पाइन दुर्जन मनुष्य निष्कारण अतिशय रागावती. आकाशांत रवन्छ चांटणे पाइन कुट्यावांचन विनाकारण काण बरं भुंकता ? अर्थात् स्वयप्रभा व निष्षु नारायणाना अनुस्य संबंध पाइन चक्रवर्तीच्या पोटांत दुख् सागर्छे आहे.

३२, जो मनुष्य विवेक सोइन देखन सज्जनांना पसंत नसलेख्या मार्गात स्वच्छंदपण निर्लंडज वनून वागू लागतो तो लांव शिंगें व खुर यांनीं रहित असलेला असा एक पश्च आहे असें समजून त्याला कोण वरें शिक्षा करणार नाहीत? सवच करतील.

३३ याचना करूनच जो आपले नेहमीं पो<sup>ट</sup> भरतो असा याचक देखिल स्वतः हा शोभेल अशीच याचना करितो. परतु अशा नन्हेची याचना [ निष्ष्र नारायणाची पत्नी मला पाहिजे भ्हणून याचना करणारा — मला अश्वग्री-वच आढळून आला. दुसरा नाहीं. असली याचना करणे हैं यालाच समजते. इत्रानां सम्जत नाही. ३४ माझ्याजवळ इतरापेक्षां अतिशय संपत्ति आहे. मी दुर्जय आहे असा गर्व वालगणारा राजा जर व्यर्थ दुसऱ्यांना त्राम देऊ लागेल तर किती दिवसपर्यंत तो या जगांन वाचेल वरें ? शेराला सन्वाशेर भेटून लौकर्च त्याचा अवस्य नाश होतो. ३५ भय पुढं दत्त ह्मणुन उभें राहिल असतांही जो घावकन जात नाही व संपतीच्या लाभाष्ठले ज्याचे मन उन्मत्त वनत नाही अशीं दोन उन्कृष्ट माणसेंच सत्पुरुषांना मान्य आहेत व त्या दोघांचाच जन्म समेंत प्रशंसिला जातो. ३५ सुदृत्तता धारण करणरा-सदाचार धारण करणारा सज्जन भूतिसंगम झाला असतां-संपत्ति ग्राप्त झाली असतां मुद्दत्तपणाला-गोलपणाला धारण करणारा व भूतिसंगमाला-गावेच्या सहवासाला प्राप्त आलेल्या दर्पणापमाणं निर्मलच होतो-निर्दोपच होतो. परंतु दृष्ट व कर मनुष्य अपञानांत पुरलेख्या तीक्ष्ण सुळाप्रमाणं भयंकर असतो. ३६ मदान अगर्दी उनात्त वनलेला असाही हत्ती आपल्या मोंडेच्या अग्रभावर क्वतः पाय देत नाहीं, मग पुण्यहीन व मटानें उन्मरा वनलेल्या तुमन्या चक्रवर्तीला एवडी देखिल गोष्ट समजू नये काय ? ३७ डोळ्यांत्न निघालेल्या विषाग्नीच्या प्रभेनें ज्यान जबळच्या हक्षाच्या शोभेला जाळ्न खाक केलें आहे अशा भयंकर सर्पाच्या फणावरील मूणि सहज रीतीन कोण दुर्वेद्धि मनुष्य काद्न घेण्याची इच्छा करतो वरें? अथीत् स्वयंप्रभा ही विषारी सर्पाच्या फणावरील मण्यामारखी आहे. तिला स्वीकारण्याची इच्छा करणारा चक्रवर्ता अवश्य मृत्युमुखी पडेल असे हे दृता ! तूं समज. ३९ उन्मत्ता हत्तीची गंडस्थळ फोडण्याच्या लीलेमध्य निपुण असलेल्या सिंहाने झोपेने जरी आपले होले मिटले असले तरी अशा अवस्थेतही कोल्हा त्याच्या मानेचे केस कुरतह शकेल काय ? अर्थात् क्ररतह शकणार नाही. याचपमाण सिंह सहग पराक्रमाँ अंगा त्रिपृष्टनारायणाची पत्नी-स्वयंत्रमा अश्वग्री-वाकडून हरली जाणें शक्य नाही. ४० नीति मार्गीला सोडून असलेली परस्ती हरणाची इन्छा ज्याच्या मनांत आहे त्याला खेचर-विद्याधर तरी कर्से स्मणांव चंरे १ फक्त विद्याधरांच्या कुलांत जन्म येणें हैं उन्नतीस कारण नाहीं. कारण

काबळे देखिल आकाशांतून जात नाहींत काय ? अर्थात् आकाशांतून जातां येणें एवढेंच विद्याधरांचें लक्षण नव्हें. जो विद्याधर सदाचाराने युक्त आहे तोच विद्याधर होय.

इत्युदीर्य विरते वचः परं तेज्सान्वितमनुत्तरं बले ॥ पीठिकामभिमुखं वचोहरः प्रेर्य वाचिमिति धीरमाददे ॥ ४१ ॥ क्ष तन्न चित्रमिह बुद्धिदुर्विधो नात्मनीनमवग्रच्छति स्वयं॥ एतद्दुतमहो विचेतना यत्परोक्तमपि नामिनंदति ॥ ४२॥ क्षीरमेव रसनावशीकृतः पातुमिच्छति बिडालशावकः॥ नेक्षते ह्यविषटुःसहं घनं दंडपातम्बसादनक्षमं॥ ४३॥ स स्वयं कथमिवात्मपोरुषं स्मापयत्यनुचितं महात्मनां॥ यो न जातुचिद्रातिमाहवे वीक्षते विधुतखङ्गमासुरं॥ ४४॥ कि वचोऽनुसहशः पराक्रमः शक्यते महति कर्तुमाहवे ॥ गर्जित श्रुतिभयंकरं यथा किं तथा जलघरः प्रविधित ॥ ४५॥ अन्यथा निजवधूजनालये कध्यते रणकथा यथेच्छया॥ अन्ययैव वरवीरवैरिणां स्थीयते ननु पुरो रणाजिरे ॥ ४६॥ कस्य वा भवति कः सखा रणे क्षीबवारणघटाभिराकुले ॥ हइयते जगित सर्वसंगतं प्राणसंगतमथैकमद्धतं ॥ ४७॥ स्तब्धमुत्खनति किं न मूलतः पादपं तटरुहं नदीस्यः॥ वेतसः प्रणमनादिवर्धते चादुरेव कुरुते हि जीवितं ॥ ४८ ॥ भूभृतामुपरि येन शात्रवः स्थापितः सुहृद्पि स्वतेजसा ॥ साधुतापदमधिष्ठिताबुभावुत्तमः खलु न ताह्शः परः॥ ४९॥ यस्य चापरग्रांकया रिपुस्त्रस्तधीः किमधुनापि सुहाति ॥ निष्ठुरं ध्वनित नृतने घर्ने नो दने हरिणशावकैः समं॥ ५०॥

<sup>श्रिष्पणी:

विविनक्ति न बुद्धिदुर्विध स्वयमेव स्विहतं पृथानन ॥

यदुदीरितमप्यदः परैर्न विज्ञानाति तदङ्कृतं महन् ॥ ३९ ॥

शिश्पालवधे (मात्रकाव्ये ) षोडशसर्गे अम्य महजोऽयं स्रोक ।</sup> 

४१-या प्रमाण- तेजस्त्री, व ज्याचे उत्तर काणी देख शकत नाहीं असे उत्कृष्ट भाषण करून विजयवलभद्र थांवले असतां सिंहासनाकडे तोंड करून व आपल्या वाणीला प्रेरणा करून दृतानें गंभीर्पणान पुढें लिहिल्याप्रमाण भापण केलें. ४२ बुद्धीचा दृष्काल ज्याला आहे असा मनुष्य आपले हित कशांत आहे हे स्वतः जागीत नाही यांत आश्चर्य नाही. परंतु है आश्चर्य आहे की, अज्ञानी माणूस दुसन्याचें वचन देखिल पसंत करीत नाहीं! ४३ जिभेच्या स्वादाला वळी पहने मांजराचें विन्लं दुधच विण्याची इच्छा करीत असते परंतु अतिशय दुःखद् व नाश करण्यास समर्थ असलेला लह वहगा आपल्या अंगावर पडन असलेला ते पाहात नाहीं ! ४४ व्याला चमकणाऱ्या तरवारीने तेजरवी दिसणारा शत्रु कथीं पाहण्याचा प्रसग आला नाहीं त्याने आपला त्र्रणा महात्म्यांच्या पुढे स्वतःच्या तोंडानें सांग्णें कसे योख्य आहे ? ४५ वोल-ण्याप्रमाणं महायुद्धामध्ये पराक्रम करणे शक्य आहे काय १ मेत्र कानाला भय उत्पन्न करणारी गर्जना करीत असती परंतु तितकीच जोराची जलवृष्टि करीत असतो काय ? ४६ युद्धामध्ये अतिशय वीर अशा शत्रूपुढें युद्ध करीत जभा राहण वेगळ व अंतःपुरांत आपल्या ख्लियापुढे आपल्या पराक्रमाच्या स्वच्छंदपणें गप्पा झोडणें हं वेगळे असते ! ४७ उन्मत्त हत्तींच्या समृहांनी व्याप्त झालेल्या युद्धामध्ये कोण कुणाचा मित्र असतो वरें ? अशावेळी आपळे पाण वचावले ह्मणंजे आपण सर्व मिळविल्यासारखें होते ही गोष्ट जगांत सर्वत अशीच आढळ्न यते. अर्थात् आपण ज्या चऋवर्तीशीं आसी युद्ध करू ह्मणून गण्या झोडीत आहात त्या व्यर्थ आहेत. ४८ तटावर उगवलेल्या व गर्वाने ताठपणा न सोडणाऱ्या वृक्षाला नदीचा वेग मुलापासून उपह्न टाकीत नाहीं काय ? परंतु वेत नदीच्या वेगापुढ नम्रता धारण करितो ह्मणून तो वाहूं लागतो. या जगांत खुशामत करणे, नम्रतन वागणे हाच जगण्याचा उपाय आहे. यास्तव चक्रवर्तीकी आपण नम्रन राहणें हेंच कल्याणकारक आहे. आमच्या चक्रवर्तीने जन्नला वग करून त्याला आपल्या तेजाने सर्व राजावर स्थापिलें. अर्थात् सर्व राजापेक्षां त्याला अधिक वैभवसंपन्न वनितें। याचप्रमाण भित्रालाही वेभवसंपन्न करून या उभयतांना सज्जनांच्या पदवीवर चढविले. आमच्या चक्रवर्तासारखा उत्तम मनुष्य या जगांत दुसरा नाहीं। असे असतां आपण त्याच्याकी युद्ध करण्याचा प्रसंग आणिला आहे हैं वर केलें नाहीं. ५० आमच्या चक्रवर्ताच्या धनुष्याच्या ध्वनीनें शत्रु इतके भयग्रन्त झाले आहेत की, ते अद्यापि देखिल जंगलामध्यें भयंकर मयग्रन्ता होत असतां हा चक्रवर्तीच्या धनुष्याचाच शब्द होत आहे अमें समज्ञन हिणांच्या पिलांबरोवर आतिशय थरथर कांपत असतान.

दर्भसूचिद्छितांगुलिक्षरद्रक्तयावकविराजितांत्रयः ॥ पूर्णवाष्पनयना भयाकुला भर्तृहस्तध्तवामपाणयः ॥ ५१॥ संचरंति परितो दवानलं तस्य शञ्जवनिताः स्खलत्पदं ॥ वेधसा प्रनरिप प्रवर्तितोद्धाहसंपद इवाधना वने ॥५३॥ युग्मं॥ रूढवंशगहनांधकारितं भग्नशालवलयं समन्ततः॥ वन्यनागपरिभग्नतोरणं स्तं भदंतुरितगोपुराजिंग् ॥ ५३॥ अञ्चकायितफणींद्रकंचुकच्छेदभासुरितशालभंजिकं ॥ सिंहशावकनखांकुशाहतिक्षुण्णचित्रगजराजमस्तकं ॥ ५४ ॥ कुद्दिमेषु सलिलाभिशंकयोदन्यता सृगगणेन मर्दितं ॥ वानरैः करतंलैरशंकितं वाद्यमानपरिभिन्नपुष्करं ॥ ५५ ॥ योवनोद्धतपुर्लिदसुंदरीसेवितैकशयनीयवेदिकं ॥ पंजरच्युतशुकैः ससारिकैः पट्यमाननरनाथमंगलं ॥ ५६ ॥ तस्य श्रुमवनं विलोकयनीहरा पथिकपेटको वने ॥ त्रस्तचित्तमितरेतरं भयादप्रतीक्ष्य सहसातिगच्छति॥५७॥ कु. कांचनप्रधिविनिर्गतानलज्वालया जिटलिताष्टदिइ मुखं॥ गुह्यकैविहितरक्षमक्षयं वज्रतुंबिमनविवभासुरं ॥ ५८ ॥ उन्नतं दशशतारसंयुतं साधिताखिलनेरंद्रखेचरं ॥ तस्य चक्रमरिचक्रमर्दनं किं न वेत्सि पुरुपुण्यसंपदः । ५९॥ यु. व्याहरंतमिति दूतमुद्धतं तं निवार्य पुरुषोत्तमः स्वयं ॥ तस्य नोऽपि निकषो रणादृते नान्य इत्यसुचदाजिनिश्चयः।६०।

५१ दभीच्या अग्रभागांनीं फाटलेल्या वोटांत्न वाहणाऱ्या रक्तानें ज्यांचे पाय मेंदी लावल्याप्रमाणें शोभत आहेतः ज्यांच्या डोल्यांत्न पाणी वाहात अस्न ज्या भयभीत झाल्या आहेत, पतीच्या हाताकहन ज्यांचा डावा हात पकहला गेला आहे अशा शत्रुक्तिया अडखलणाऱ्या पावलांनी वनांत पेटलेल्या अग्रीच्या सभोवती फिरत असतां त्यावेळीं त्या वनामध्ये ब्रह्मदेवाकहन ज्यांचे पुनः जणु लग्न लावले जात आहे अज्ञा शोभतात. (विवाहाच्या वेळीं वराचा हात धरून कन्येछा अग्नीच्या सभोवती सात पद्क्षिणा घालाच्या लागतात. तोच प्रकार पुनः या शत्रुक्तियांचा आज होत असल्यामुळे जणु पुनः यांचे लग्न होत असल्याप्रमाणे वाटते.) ५२-५७ वाटसरूंचा समृह भीतींने एक दुसऱ्याची मार्ग प्रतीक्षा न करितां घावरून छाँकर लौकर जगलांत निघून जातो कारण अभ्वग्रीव चक्रवर्तान शत्रुंच्या शहरांची केलेली भयंकर स्थिति पाहून त्यांना भय वाटत असे. शत्रु पळून गेल्यामुळं त्यांच्या शहरांत पुष्कळ वेळूंचे वन उगवल होते त्यामुळे तेथे टाट अधार पडला होता, चोहीकडचा तट पडलेला होता. रानटी हत्ती शहरांत शुमून त्यांनी दर्वाज्यावरील तोरणे तोइन टाकिली होतीं. वेशीचा प्रदेश मोहन पडहेल्या खांवांनी भक्त गेला होता. पातळ वस्त्राममाण भासणाऱ्या सार्पाच्या कांतीनी वेशीच्या वर् असल्ल्या शोभत होत्या; तेथे सिंहाच्या वचांच्या अकुशांच्या आघातानें चित्रांतील हत्तीचीं मस्तकें तुट्न पडलेली दिसत होती रत्नांच्या जमीनीत पाण्याच्या शंकने तान्हेलेल्या पश्नंनी पायांचा आघात केल्यामुळे ती सगळी उकरळी गेळी होती. तेथे निर्भय होऊन आपल्या हातांनी वानरांनीं मृदंग वाजऊन ते फोडून टाकिले होते. तारुण्याने मत्त झालेल्या भिल्लिख्या जेयं बिछाना अथरलेला आहे अशा ओट्यावर निजत असत. पिंज-यांत्न सुदून बाहेर अछिले पोपट व सारिका जेथें राजांची मंगलस्तुति गात आहेत अशा रीतींची शत्रूच्या नगरांची परिस्थिती पाहृन वाटसरांना भय वाटत असे ५८-५९ ज्याची पुण्यरूपी संपत्ति फार मोठी आहे अशा या अश्वग्रीवाच्या चक्र रत्नाचें यक्ष रक्षण करीत आहेत. हे रत्न सूर्याप्रमाणे तेजस्वी आहे, याला हजार आरे आहेत, याचा तुंवा वज्रमय आहे. याच्या सुवर्णमय तटांतून निघणाऱ्या अम्रीच्या टिणग्यांनी आठ ही दिशा प्रकाशित झाल्या आहेत. या रत्नाचा नाश होत् नाही. याच्या साह्याने अश्वग्रीवाने सर्व राजांना व विद्याधरांना जिंाकेलें अहि. शत्रु समृहाचे मर्टन करणाऱ्या या त्याच्या चक्ररत्नाला तूं जाणत नाहीस काय? १६० याप्रमाणे उद्धटपणाने भाषण करणाऱ्या त्या दृताला आपले भाषण पुरें करावयास सांगृन त्रिष्ष्ट नारायणानें रपष्ट त्याला सांगितले की, आतां त्याची व आमची परीक्षा युद्धावांचृन होण शक्य नाहीं व माझा त्याच्याशी लढ-ण्याचा पका निश्रय आहे मीं तो सोडणार नाही असे तूं त्याला जाऊन कळव.

> तस्य सान्नहिनकोऽथ वारिजः शांखिकेन नदिति स्म पूरितः।। आज्ञया प्रतिनिनादिताखिलक्ष्माभृदीशकटकोरुगव्हरः॥६१॥

केकिनां जलभरानतां बुद्धानशंकिमनसां सुखावहः॥ व्यानशे समरपुष्करध्वनिर्दिङ्मुखानि सुभटान्त्रबोधयन् ॥६२॥ सर्वतो जयजयेति सैनिकास्तद्धार्ने समिनंद्य वन्दिभिः॥ स्तूयमाननिजनामकीर्तयः प्रारमंत रमसेन दंशितुं॥ ६३॥ गच्छति प्रधनसंम्मदोदयात्स्फीततां वपुषि चेतसा समं॥ कश्चिदात्मकवचे न सम्ममौ तानितेऽपि मुहुरात्मिकंकरैः॥६४॥ लोहजालमलिनीलमुद्रहन् लालयन्नसिलतां स्फुरत्यभां॥ कश्चिदाप समतां तडिद्रतो भूगतस्य नत्रवारिवाहिनः ॥६५॥ वारणे कलकलाकुलीकृते श्रीवतां दिशुणमुद्रहत्यपि॥ शारिमाशु नयविच्यवेशयत्संभ्रमेऽपि कुशलो न मुह्यति ॥६६॥ आवभौ गुणविनम्रमुन्नतं भंगवर्जितमनिंद्यवंशजं॥ कश्चिदेत्य धनुरात्मनः समं न श्रिये किमनुरूपसंगमः॥ ६०॥ सत्वरं जवमितानधिष्ठिता वर्मिता हरिणरंहसो हरीन ॥ प्रासभासुरकरा निपादिनो मेनिरे सफलमात्मदौहदम्॥ ६८॥ युक्तयुग्यतुरगाः सकेतनाः स्यंदना विधतचित्रहेतयः ॥ धूर्गतेः कवचितैस्तु निन्यिरे स्वामिवासभवनाजिरं प्रति ।६९। अंगरागसुमनोंबरादिभिः पूर्वमेव निजसेवकान्नुपाः॥ आत्महस्तकमलैरपूजयंस्ति ह मारयित तान्न चापरम्॥७०॥

६१ त्रिष्ष नागयणाच्या आजेनें शंख वाजविण्यासाठीं नेमिलेल्या मनुष्यानें युद्धाची तयारी करण्याची सूचना देणाग शंख फुंकला. त्यावेळीं त्याच्या ध्वनीन पर्वताचे समळे कहे व दच्या प्रतित्वनित झाल्या. ६२ पाण्याने खालीं लवलेल्या मेघांच्या गर्जनेची शंका येणाच्या मोरांना मुखदायक असलेल्या नगाच्यांच्या ध्वनीने श्रू योध्याना युद्धाची मृचना देजन सर्व दिशांची तांहें व्यापून टाकिली. अर्गात नगाच्यांचा ध्वनि सर्वत्र पसरला. ६३ भाट लोकांकहन नामोचारासह ज्यांची कीर्ति विणिली जात आहे प्रशा योद्धांनीं 'जय जय' असा शद्ध उचाहन नगाच्याच्या ध्वनीचें न्वागन केलें व

गदबढीने चिलखत घालण्यास प्रारंभ केला. अर्थात् युद्धाच्या तयासीला ते लागले. ६४ एका योद्धचाला युद्धाविपयीं अतिशय आनंद वाट्ट लागल्यामुळे त्याच्या अंतःकरणावरोवर त्याचे शरीरही त्या आनंदाने भरून तें अतिशय छष्ट झाले त्यामुळे नोकरांनीं त्याचें चिलखत ताणून धरले असतांही त्यांत तो माऊं शकल। नाईा. ६५ भुंग्याप्रमाणं काळ्या रंगाचें चिलखत आंगांत वालून हातानें चमचमणारी चंचल तरवार फिराविणारा कोणी एक योद्धा विजेन साहित होऊन नवीन पाण्याने छवछेल्या मेघाप्रमाणे भासू लागला. ६६ योद्ध्यांच्या गोंगाटानें गोंधळून जाऊन ज्यानें दुप्पट मस्ती करावयास सुरवात केली आहे अशा हत्तीवरही महातानें न घावरतां अंवारी चढविलीच. बरोबरच आहे कीं, जे निपुण असतात ते घावरण्याच्या प्रसंगींही गोंधळून जात नाहींत. त्यांचें चातुर्ये त्यावेळी व्यक्त होतेंच ६७कोणी एक योद्धा गुणविनम्र-धैर्य औदार्य वगैरे गुणांनीं नम्र, पक्षीं दोरीनें नम्र, उन्नत-उंच, भंगवर्जित-अपमान रहित पक्षी न तुटलेलें, अनिद्य वंशज—उत्तम वंशांत उत्पन्न झालेला, पक्षीं उत्तम वेळ्पासून उत्पन्न झालेले अशा स्वतःप्रमाणें असलेले धनुष्य प्राप्त करून चेऊन फार फारे शोभू लागला. वरोवरच आहे की अनुरूप पढार्थाचा संयोग शोभेला कारण होत नाही काय ? अवश्य हातोच. ६८ हरिणाप्रमाणे वेगानें, धावणाऱ्या घोड्यावर आरूढ बालेले, चिलखत अंगावर चढऊन, ज्यांनी चमकणारा भाला हातांत घेतला आहे असे घोडेस्वार आज आपली युद्धांची इच्छा सफल होणार असे मानू लागले. ६९ ज्यांच्या जोकडांना घोडे जुंपले आहत, नानापकारची हत्यारे ज्यांत ठेविली आहेत असे ध्वजांनीं युक्त असलेले रथ जूवर वसलेल्या व अंगावर चिलखत घात-लेल्या सानिकांनी आपल्या मालकाच्या हेऱ्याकडे नेले. ७० उटी, फुलांचे हार, वस्त्रें वगैरेंनी प्रथमतः आपल्या शूर नोकरांचा त्यांच्या मण्टकांनीं–राजांनी आपल्या हातरूपी कमलांनी चांगला आटरसत्कार केला. खरोखर पाहिलें असतां हा सत्कारच मारतो. दुसरें कोणी मारीत नाहीं. अधीत अशा सन्मानानें शूर नोकर-स्वामिकार्यार्थ प्राण देण्यासही मार्गे पुढे पाहात नाहींत व कृतम्न वनत नाहींत.

आत्तिचत्रकवचा यशोधना विभ्रतोऽ भिमतमस्त्रमात्मनः ॥
भूभृतामभिमुखं त्वरावतां तस्थुराहवरसोद्धता भटाः ॥ ७१ ॥
निर्ययुर्वहलगैरिकारुणा संध्ययान्वित्वचनानुकरिणः ॥
दिन्तिनो धृतवधावधाक्रियैवीरयोधपुरुपैरिधिष्ठताः ॥ ७२ ॥
वद्धचारुकवचेर्भहामटैवीष्टितः प्रहृतसामरानकः ॥
आरुरोह करिणं प्रजापितः काल्पतं सपदि सर्वमंगळं ॥ ७३ ॥

खेचरैः कवचितैरुदायुधैरान्वतो धृततनुत्रभासुरः॥ सार्वभौममधिरुह्य निर्ययावत्रतः शिखिजटी मदच्युतं ॥ ७४ ॥ दानिनं विपुलवंशमूर्जितं शिक्षया पटुमभीरुमुन्नतं॥ अर्ककीर्तिरिभमात्मनः समं दंशितो व्यलगदाजिलंपटः ॥७५॥ वजसारामिदमेव मद्रपुर्दशनेन किभिति प्रतिक्षणं॥ वर्म नीतमपि सत्पुरोधसा निर्भयेन विजयेन नाददे ॥ ७६ ॥ कुंद्वी प्रतन्रंजनिवषं कालमेघामि भमुन्मदं बलः ॥ राजाति स्म नितरामधिष्ठितः कालमेघामेव पूर्णचंद्रमाः ॥७७॥ रिक्षतुर्भवनमंडलस्य मे रक्षणे सति कथं न पौरुषं॥ इत्यभीरुर्भिमानगौरवादामुचत्कवचमादिकेशवः॥ ७८॥ शारदांवरसमद्यतिर्महावारणं हिमगिरिं हिमत्विषं॥ अध्यतिष्ठदुरगारिकेतनो राजताद्रिभिव नीलनीरदः॥ ७९॥ तं परीत्य सकलाः समंततो देवताविधतचित्रहेतयः॥ तस्थुरंबरतले परंतपं प्रातरकीमव दीप्तिसंपदः॥ ८०॥ उच्चचाल बलमाज्ञया ततस्तस्य केतनविचुंबितांबरं॥ प्रत्यनीकरणतूर्यनिःस्वनैराहवार्थमिव शब्दितं तदा ॥ ८१ ॥

9१ कीर्तालाच धन समजणारे, नानाप्रकारची चिलखने ज्यांनी अंगांत धातली आहेत असे व आपणास आवडणारी भाला, नरवार नगरे असे धारण करणारे अनेक झूर योद्धे त्वरेने निघालेल्या राजांच्या पुढें नीररसानें उद्धन झालेल असे होत्साने उभे राहिले. ७२ पुष्कळशा गेक्नें तांवडे दिसन असलेले हत्ती संध्येनें युक्त असलेल्या मेघाप्रमाणें दिसत असत. नधिकया न अवधिकया करणारे वीर योद्धे ज्यावर बसलेले होते असे ते हत्तीही युद्धामाठीं निघाले ७३ ज्यांनी युद्धाचा नगारा वाजविला आहे असे पाजपाति महाराजही सर्व मंगल नांवाच्या शंगारलेल्या नगारा वाजविला आहे असे पाजपाति महाराजही सर्व मंगल नांवाच्या शंगारलेल्या हत्तीवर चढले व कवच ज्यांनी आंगांत घातलें आहे अशा महाशूर योद्ध्यांनी वेष्टित होऊन युद्धासाठीं तत्काल निघाले. ७४ चिलखत घातलेल्या व ज्यांनी आपलीं शर्व वर धरलीं आहेत अशा विद्याधर योद्ध्यांनी वेष्टिलेले, धारण केलेल्या चिल्लानीं

उड्डवल दिसणारे ड्वलनजटी महाराज ड्यापासून मद बाहात आहे अशा सार्वभौम नांवाच्या हत्तीवर चढून युद्धासाठीं पुढें निवाले. ७५ ज्वलनजटी महाराजांचा पुत्र अर्ककीर्तिही स्वतः प्रमाणेच टानी-टान देणारा-पक्षी मस्तीचे पाणी ज्यापास्न वाहात आहे असा उन्नत वंशामध्यें उत्पन्न झालेला, पक्षीं ज्याच्या पाठीचा कणा उंच आहे असा, ऊर्जित-वैभवशाली, शिक्षणानें निपुण, निर्भय, व उन्नतावरथेला पोहोचछेल्या असा हत्तीवर चढून व चिछखत युद्धासाठीं निघाला. ७६ माझे हें शरीर वज्राप्रमाणें वलकट आहे यास्तव मला नेहमीं चिललताची काय अवज्यकता आहे असा विचार करून पुरोहितान चिल-खत आणिलें असतांही निर्भय अशा विजय विलिभद्राने त्याचा स्वीकार केला नाहीं. ७७ कुंदपुष्पाप्रमाणें गुभ्र शरीराचा धारक वलभद्राने अंजनाप्रमाणे काळ्या कांतीच्या उन्मत्त हत्तीवर अरोहण केले. त्यावेळी तो काळ्या मेघावर आरोहण केलेल्या पूर्ण चंद्राप्रमाणें फार शोभूं लागला. या सगळ्या जगांचे रक्षण करणाऱ्या माझें चिल्रखताक इन जर रक्षण होत असेल तर मग माझा पराक्रम तो काय ? अशा विषुल अभिमानानें निर्भय अशा आदिनारायण विषृष्ट कुमारानें चिलखताचा त्याग केला.७९ ज्याच्या ध्वजेवर गरुडाचे चिन्ह आहे असा, शरत्कालच्या आकाशा-प्रमाणं नीलवर्णाचा आदिनारायण शुभ्रकांनांच्या हिमागिरे नांवाच्या हत्तीवर चहला. त्यावेळी चांदीच्या पर्वतावर (विजयार्ध पर्वतावर) चढलेल्या नील मेघाप्रमाणे नो शोभू लागला. ८०नाना प्रकारचीं शक्षें धारण केलेल्या या नारायणान्या सभोबती मर्व देवता आकागांत उभा गाहिल्या. त्यावेळी त्या प्रात काळी सूर्यात्या समावनीं असलेल्या त्याच्या किरण संपत्ति जशा शोभनात नशा शोभू लागल्या. ८१ नंतर आदिनागयणाच्या आजेनं आपल्या ध्वजांनीं ज्यांनीं आकाशास्टा स्पर्श केला आहे असे तें सैन्य युद्धासाठीं चालुं लागले. त्यावेळीं तें सर्व मैन्य शत्रुच्या वाद्यांच्या ध्वनींनीं जण बोलावलें गेल्याप्रमाणं शोभ लानलें.

प्रेपिता प्रतिनियाचितुं तदा विष्णुना प्रथममेव देवता ॥ प्रांजिलिः प्रतिनिवृत्य तत्क्षणादित्युवाच विदितावलोकनी ॥८२॥ तेनाथ काल्पितसमस्तवलेन वेगादभ्युत्थितं वलवता हयकंघरेण ॥ अंगीकृतप्रतिभटेः खचराधिनाथरामुक्तरत्नकवचैः सह विविद्यांकं ॥८३॥ छिन्नाः समस्ता भवतो महिम्रा प्रागेव विद्याः खचरेश्वराणां।। तान् छनपक्षानिव पिक्षराजान्को वान गृण्हाति रणे मनुष्यः।८४। उपकर्णमरातिसैन्यवार्ता विररामेत्यभिधाय तस्य विद्या।। स्वकरिक्तयेन पृष्पवृष्टिं विकिरंती शिरिस भ्रमन्मदार्लि॥ ८५॥

अमोघमुखमुन्नतं मुझलमद्धृतं चंद्रिकां ॥
गदां च युधि विदिषां भयविधायिनी देवता ॥
हलेन सह बिभ्रताऽभजत सूरिदिव्यिश्रयं ॥
जयाय विजयं स्वयं तमपराजितेनार्जितं ॥ ८६ ॥
आमंद्रध्वनि पांचजन्यममलं शंखं गदा कौमुदी ॥
दिव्यामोघमुखी च शक्तिरनवं शाईं धनुर्नदकः ॥
खङ्गः कौस्तुभरत्नमंशुजिटलं यक्षाधिपे रिश्नते—॥
रेभिः श्रीजयसंपदां पदमभूदग्रेसरेरच्युतः ॥ ८७ ॥

इत्यसगकृते श्रीवर्धमानचरिते दिव्यायुधागमनो नामाष्टमः सर्गः।

८२ श्री तिषृष्ट नारायणाने शत्रुक्तडील सैन्याची परिस्थिति पाइण्याकारितां प्रथमतःच अवलोकनी नांवाची प्रसिद्ध विद्या पाठविली होती. तिने तरक्ष-णात् परत येऊन हात जोडून याप्रमाण हकीकत सांगितली. " हे नार्थ, वलवान अन्वग्रीवानें मोठ्या जोरांत आपल्या सैन्याची तयारी केली आहे. व क्यांनीं शत्रंचा स्वीकार केला आहे अर्थात् शत्रुशी दोन हात करावयास जे नेहर्भी तयार असतात अशा रत्नमय चिखलताला धारण करणाऱ्या अनेक विद्याधर राजांना वरोवर घेऊन तो युद्धासाठीं तयार झाला आहे. ८४ हे प्रभो ! आपल्या पुण्यप्रभावानें विद्याधर राजांच्या सर्व विद्यांचा पूर्वीच नाश होऊन चुकला आहे. ज्याचे पंख तुटले आहेत अशा पिक्षराजाप्रमाण-गरुडाप्रमाणं त्यांची आतां रिधात झाली आहे. यास्तव कोणता मनुष्य त्यांना रणायध्ये पकडू शक्षणार नार्हा वरें ? ८५ याप्रमाणं त्या अवलोकनी विद्येने तिषुष्ट नारायणाच्या कानाजवल येऊन शत्रुसैन्याची हकीकत सांगितली व जिच्या सभोवती उन्मत्त भ्रंगे फिरत आहेत अशी पुष्पदृष्टि आपल्या ढोन हातांनीं नारायणाच्या मस्तकावर करून ती विद्या विराम पावली. ८६ अपराजित मंत्रोंने प्राप्त करून घेनलेल्या विजय वन्त

भद्राला जय मिलावा ह्मणून ती देवता विपुल दिन्य संपत्तीला घारण करणाच्या हल्लावाच्या दिन्य आयुधावरावर उंच व आश्चर्यकारक असे अमाधमुख नांवाचं मुसल रतन, चंद्रिका नांवाचा रतनहार, व युद्धांत शत्रुंना भय दाखविणारी गटा यांची सवा करूं लागली अर्थात मुशल, गदा, गत्नमाला व इल ही चार रतें त्या देवतेन विजयवलभद्राला दिली ८७ गंभीर वानि करणारा, अतिशय निर्मल पांचजन्य नांवाचा शंख, कोमुटी नांवाची गढा, अपोधमुखी नांवाची शक्ति, शाई नावाच उत्तम यनुप्य, नंदक नांवाचा खद्भ, किरण समृहांनी ज्याप्त असे कोस्तुभ गत्न यांच रक्षण यक्ष करीन असतात. या मुख्य दिल्य रत्नांनी श्री विपृष्ट नारायण लक्ष्मी, जय व राज्यसंपत्ति यांच स्थान वनला.

याप्रमाणे श्री असग कविकृत श्रीवर्धमानचरितामध्ये दिव्याय्धागमन नांवाचा आठवा परिच्छेद संपला.



अथैक्षत क्षारजसा परीतां चकीवदंगेरुहधूसेरण ॥ पताकिनीमश्वगलस्य विष्णुः स्वतेजसा तां मलिनीकृतां वा ॥१॥ गजा जगर्जुः पटहाः प्रणेदुर्बलद्रयस्यापि जिहेषुरश्वाः॥ निवृत्य यातेत्यभिघाय भीतान्धीरान्रणायेव तदाह्वयंतः॥ २॥ खुराभिघातप्रभवो हयानां पांशुर्नवांभोधरजालसांद्रः॥ अग्रेऽभवत्तद्धलयोर्भहीयानिवास्यन्युद्धमिव स्वधाम्ना ॥ ३॥ मौर्वीनिनादानितरेतराणां वित्रासितेभाश्वविभीतपत्तीन्॥ 'आकर्ण्य हृष्टांगरुहैविर्द्धे योधैः परो वीररसानुरागः ॥ ४ ॥ पत्तिं पदातिस्तुरगं तुरंगो रथं रथस्थो बिरदं मृदेभः अवाप कोपेन विनापि हन्तुं सेवामतो नेच्छति पापभीरुः ॥ ५॥ रजोवितानैनवकाशशुभैः शुभीकृताः समश्रशिरोरहेषु॥ मृत्योरिदं योग्यमितीः मत्वा वृद्धत्वमीयुर्युधिनो युवानः॥६॥ धनुर्विमुक्ता निारीताः पृषत्का दूरास्थितानामपि वर्मितेषु ॥ अंगेषु तस्थुर्न महीतले वा गुणच्युतः को लभते प्रतिष्ठाम् ॥ ७ ॥ अन्योन्यमाहूय विनापि वैरं भटा भटाञ्जब्नुरुदारसत्व<sup>ा</sup>ः॥ स्वामित्रसादस्य विनिःकयाय प्राणव्ययं वांछति को न धीरः॥८॥ अनंतरंगः स्वनृपस्य कश्चिद्दाह चित्तं निजवल्लभानां॥ अग्रेसरत्वं प्रतिपद्य धावन्नरातिशस्त्रेरवदारितोऽपि ॥ ९ ॥

१ या नंतर गाढवाच्या केसाप्रमाणें मळकट असळे ह्या जमीनीच्या धुराळ्यानें व्याप्त झालेली अल्ब्रीव चक्रवर्ताची सेना जण स्वतः च्या तेजानें ती मालिन झाली आहे अशी त्रिष्ट नारायणानें पाहिली. २ युद्धाच्या प्राग्मी दोन्ही वाजंच्या सैन्याचे ह्ती गर्जना कहं लागले. नगारे वाजं लागले, घोटे खिकाळं लागले: जण काय ते स्थाड लोकांना 'तुम्ही आतां येथून परतृन जा'व ग्र्र लोकांना 'तुम्ही युद्धासाठीं या' असे सांगत होते! ३ पावसाळ्यांनील मेयसम्हाप्रमाणें टाट, घोड्यांच्या टापांच्या आघातापासून उत्पन्न झालेला मोठा युलीचा लोट आपल्या सामर्थ्यानें टोन्ही सैन्याचे होणारें युद्ध वंद करण्याकारितां जण त्यांच्या पुढें झाला. ४ हत्ती, घोडे व पायटळ यांना भय उत्पन्न करणारा एकमेकांच्या धनुष्याच्या दारीचा टंकार ऐकृन योद्धयांचीं अंगे आनंटानें स्फुरण पाउन त्यांवर रोमांच उमे राहिले व त्यांनीं या चिन्होंने आपली वीररसावर उत्कट पीति धारण केली. अर्थात् व्यक्त केली.

५ पायदळ-पायदळाळा, घोट-घोड्याळा, अर्थात घोडस्वार-घोडस्वाराळा रथी-रथीळा व उन्मत्त हत्ती उन्मत्त हत्तीळा क्राध न येनांही एकमेकांना ठार मारण्यासाठी जाऊन भिडळे. म्हणूनच पापापामून भिणारे लेकि नाकरीची इच्छा करीत नसतात कारण मालकाच्या आजेमुळें नोकरांना चांगळी व वाईट सर्व प्रकारची कार्य करावी लागतात. ६ नवीन काश पुष्पाप्रमाणें पांडच्या धुळीच्या समुदायाने वीर पुरुपांची टाढी, मिशा व डोक्यावरचे केस हे सर्व पांडरे दिस् लागळें. मरणाला हीच अवस्था येग्य आहे असें जाणून त्या वीर पुरुपांनी जण ब्रह्मवस्था धारण केली होती! ७. धनुष्यापासून सुटलेले तीक्ष्ण वाण दूर असलेल्या वीर पुरुपांच्या चिललतानें युक्त असलेल्या अवयनांवर घुसून वसले नाहीत व जिमनीवरही रुतून वसले नाहीत अर्थात ते पडले. वरोवरच आहे की जो गुणच्युत झाला म्हणजे सम्यजानादि गुणरहित झाला त्याची प्रतिष्ठा—आटर सत्कार कसा होणार? याच प्रमाण गुणच्युत—धनुष्याच्या ढोरीपासून सुटलेला वाणही स्थिर कसा राहं शक्ले ?

८. आतिशय पराक्रमी वीर पुरुप वेर नसतांही एकमेकांना वोलाऊन युद्धांत टार मारुं लागले. वरावरच आहे कीं, आपल्या मालकांने आपल्यावर खुश व्हांचें म्हणून केाणता धीर मनुष्य आपल्या प्राणांचा व्यय करेंण इच्छीत नाही वरें? ९. ज्याच्यावरून राजाची मजी उत्तरली आहे असा केाणी एक वीर शत्रुंनी शस्त्रांनी ज्याचा देह विदीण केला आहे असा होऊनहीं आपल्या आवडत्या माणसांचा पुढारी वनून शत्रूवर लढण्यासाठी धावला. त्यामुळे त्याच्या पिय माणसांचें चित्ता फार दु.खी झालें.

छिन्नोऽपि जंघादितये परेण खङ्गप्रहारैर्न पपात शूरः॥ अखंडितं चापमिवात्मसत्वमालम्ब्य तस्थौ घनवंशजातम् ॥ १०॥ आकर्णमाकृष्य धनुनिशातो योधेन बाणो घनमुष्टिमुक्तः॥ विभिद्य वर्मापि भटं जघान न साधयेर्तिक खळु सुप्रयुक्तः ॥ ११ ॥ यावान्निषादी मदवारणस्य दंतच्छदं नाक्षिपति क्षणेन ॥ तावत्पृषत्कैः प्रभिदंति योधास्तमेकपातैर्नितरामसीव्यन् ॥ १२ ॥ मदानिलाय प्रतिसामजस्य ऋध्यत्करेण स्वयमेव नागः॥ अपास्य वक्रावरणं प्रयातः प्रोहंध्य यंतारमपि प्रचंडः ॥ १३ ॥ कुंभेषु ममैर्निजबईवर्ज्यैविरेजिरे शंकुचयैरिभेंद्राः ॥ आरावहींनैः शिखिनां समूहैरारूढकुटा इव गंडशैलाः ॥ १४ ॥ श्वेतातपत्राणि नरेश्वराणां नामाक्षरांकैर्विशिखैरनेकैः॥ योधप्रधाना लुलुवुः परे स्वं शिक्षाविशेषं युधि दर्शयन्तः ॥ १५॥ ध्त्वा चिरं युद्धधुरां मृतानां तेजस्विनां क्षत्रियपुंगवानां ॥ अश्रावयनामकुलं च नमा न्यावृत्य श्रेरेरवलोकितानां ॥ १६॥ खङ्गपहारैर्दछितादिभानां कुंभस्थलादुच्छिलतैः समन्तात्॥ मुक्ताफलौधैनिचिता दिवापि तारांकितेवाभवदम्बरश्रीः॥ १७॥ समीपगैरप्यविभाव्यमानसंधानमोक्षातिशया विरेजः॥ आलेख्ययोधा इव योधमुख्याः सदावकृष्टोन्नतचारुचापाः ॥ १८ ॥

१० एका शूर पुरुषाच्या दोन्ही पिंड=या शत्रुनें कापून टाकिल्या तरी तो खालीं पडला नाहीं. तो घनवंशजात-उत्तम वंशांन उत्पन्न झालेलें आपल्या अखंडित धैर्याचा उत्तम वेळ् पासून जन्मलेल्या व न तुटलेल्या अशा धनुष्याप्रमाणें आश्रय येजन तसाच उभा राहिला. ११ धनुष्य कानापर्यंत ओहून योद्धचानें आपल्या दह

अरावहीनवदनैः शिक्षिन समूहैरारुदनुगशिखरा इव शिल्वर्गाः ॥४०॥ जित्र्यस्मान्द्रेतः शिक्षित्र समूहैरारुदनुगशिखरा इव शिल्वर्गाः ॥४०॥ जित्र्यसम्प्रा दशमा लेवं । हा रहे। समानार्यक आहे.

मुठीपासून सोडलेल्या वाणांनी शत्रूचें चिलखत तोष्ट्रन त्याला ठार मारलें. वरोवरच आहे कीं, जी गेष्ट आपण कालजी पुर:सर करितो ती कोणत कार्य सिद्ध करून देत नाहीं वरें ? १२ एक महात आपल्या हत्तीच्या तींडाला शत्रूच वाण लागू नयेत म्हणून त्याच्यावर अञ्लादन घालीत आहे तोच योद्ध्यांनी वाण फंकृन ते । तोडून टाकिलें व त्यालाही एक सारखें वाण फेक्न अगटी खिळन टाकिलें।

१३. शत्रूपक्षाकडील उन्मत्त हत्तीन्या मटान्या वान्यान ज्याचे मन क्षुट्य झाले आहे अशा एका हत्तीने आपल्या सोंडेन स्वतःच आपल्या तोडा-वर्षे अच्छाटन काहृन फेक्न टिलें व महातालाही न जुपानतां कुद्ध होऊन तो यांवत सुटला. १४. गंडस्थलांत युडालेल्या व ज्यांच्या मागे पिसे नाहीत अशा वाणांनीं मोठे हत्ती ज्यांच्या अग्रभागावर शह न करणारे मयूरसमृह चहेलें आहेत अशा पर्वताच्या लहान टेकड्याप्रमाणें शोभू लागले. १५ युद्धांत आपलें विशिष्ठ चातुर्य टाखवन शत्रुपक्षीय मुख्य योद्ध्यानीं आपल्या नांवाची अक्षरें ज्यावर खोटलेली आहेत अशा वाणांनी राजे लोकांचीं पांदरीं छतें तोहन टाकिलीं.

१६ युद्धाची जवावटारी पुष्कळ वेळपर्यंत धारण करून जे छढले अशा क्षत्रियामध्यें श्रेष्ठ असलेल्या तेजस्वी पुरुषांना ते मरत असतां शृर पुरुषांनी वळ्न पाहिलें. अर्थात् अशा पुरुषांविपयी श्र् शत्रूच्या मनांतही आटर उत्पन्न झाला. व भाट लोकांनीही त्यांच्या नांवाचें व वंशांचें वर्णन सर्वांना ऐकविलें.

१७ तरवारीच्या प्रहारांनीं फुटलेल्या हत्तींच्या गंडस्थलात्न चोंहीकडे वर उडालेल्या मोत्यांच्या समुदायाने दिवसा देखिल आकाश नक्षणांनी युक्त असल्याप्रमाणें शोभू लागलें. १८ जेव्हां मुख्य मुख्य योद्धे लहुं लागले तेव्हां ते धनुष्याला वाण केव्हां जोडतात व केव्हां सोडनात हें जवल असलेल्या लोकांना देखिल समजेनासें झाले. त्यामुळें ताणलें आहे उंच व सुंदर धनुष्य ज्यांनीं असे ते शूर पुरुष नेहमी चितांत काढलेल्या योद्ध्याप्रमाणे दिसूं लागले व शोभूं लागले.

छिन्नेऽपि हस्ते सुभटासिघातैर्विहस्ततामाप तथा न दंती ॥ अदंतचेष्टान्निजदंतयुग्मे गमे यथा शत्रुगजं जिघांसुः ॥ १९॥ कुंदावदातस्तुरगोऽश्ववारे प्रासप्रहारैः पतितेऽपि तिष्टन् ॥ तदंतिके तस्य पराक्रमेण पुंजीकृतो वर्ण इव व्यराजत् ॥ २०॥ मर्मप्रहाराकुलितोऽपि कश्चित्प्राणान्दघौ तावदनूनसत्वः ॥ शक्नोषि किं प्राणितुमाईभावाद्यावन्न वाणीमिति वक्ति नाथः ॥ २१॥

छिन्नं च चक्रेण शिरः केरण वामेन संधार्य रुषा परितः॥
स्वसंमुखं कश्चिद्रिं जघान कोपो हि शौर्यस्य परः सहायः॥२२॥
परेण भल्लेन विल्हगनव्यां धनुर्लतां स्वाभिमतां हि कश्चित्॥
मुमोच जायामिव चारुवंशां कृताभियोगां विग्रुणो हि हेय ॥२३॥
घनाम्नपंकेषु निमग्नचक्रान्रथांस्तुरंगाः शरदारितांगाः॥
ऊहुःकथचिद्द्रिगुणीकृतांत्रिभेरवद्धला घुर्धुरशद्ध्योणाः॥ २४॥
गृद्धो भुजं कस्य चिदाजिरंगादाम्ललूनं गगने गृहीत्वा॥
कृतावदानस्य जयध्वजं वा वीरस्य बभ्राम समंततोऽपि॥२५॥
वामांत्रिमादाय करेण गाढमाक्रम्य पादेन च दक्षिणांत्रिं॥
विपाटयामास भटं मदेभः कृद्धः पुरस्थं सहसा निपात्य॥ २६॥
आदाय हस्तेन भटो गजेन क्षिप्तोऽपि खे खेलरुचिः कृपाण्या॥
तत्कुंभपीठं प्रहरन्विरेजे ततःपतन्संभ्रमहीनचित्तः॥२७॥

१९ शत्रूच्या हत्तीला ठार मारण्याची इत्ला करणारा एक हत्ती वीर पुरपाच्या तरवारीच्या प्रहारानें आपली सोंड तुटली असतांही खिन्न झाला नाहीं पण
आपले दोनही दांत तुदून गेल्यामुळें दांतांनीं ठार मारण्याचें कामच बंद पडलें
म्हणून अगदीं खिन्न झाला. २० एक घोडेस्वार वर्चीच्या प्रहारांनीं खालीं पडला
असतांही त्याचा कुंदपुप्पाप्रमाणें पांढरा असलेला घोडा त्याच्या जवळ्न हालला
नाहीं. तो घोडा त्यावेलीं घोडेस्वाराच्या पराक्रमानें एकत्र केलेल्या त्याच्या कीर्तीप्रमाण शोभू लागला! २१ मर्मरथलीं लागलेल्या प्रहारानें व्याकुल होऊन ही एका
अतिशय श्रूर योद्ध्यानें त्याच्या मालकानें दयाळ होऊन 'अरे वीरा! तुं अद्यापि
जगण्यास समर्थ आहेस काय श असें जोपर्यंत म्हटलें नाहीं तोपर्यंत प्राण धारण
केलें. २२ शत्रूनें कापलेलें डोकें आपल्या डाव्या हातानें धरून रागानें लालखंद झालेल्या कोणी एका योद्ध्यानें आपल्या समोर असलेल्या शत्रूला ठार मारलें.वरो-

अ टिप्पणीः-- कश्चिद्गनः प्रतिभटं चरणे गृहीत्वा सभ्रामयन्दिति रुपा परुपप्रचारः ॥ चिक्षेप दूरतरम्ध्वेमयं च मानी डागेत्य कुभ्युगलीमसिना विभेद ॥४९॥ जीवंधरचंप्ता दशमो लवः। समानार्थक स्होक.

मुठीपासून सोडलेल्या वाणांनी शत्रूचे चिलखत तोहून त्याला टार मारलें. वरोवरच आहे कीं, जी गेष्ट आपण कालजी पुरःसर करितो ती कोणतें कार्य सिद्ध करून देत नाहीं वरे ? १२ एक महात आपल्या हत्तीच्या तींडाला शत्रूचे वाण लाग्नु नयेत म्हणून त्याच्यावर अच्छाद्न घालीत आहे तोंच योद्ध्यांनी वाण फक्न तें ! तोहून टाकिलें व त्यालाही एक सारखे वाण फेक्न्न अगर्टी खिळ्न टाकिलें.

१३. शत्रूपक्षाकडील उन्मत्त हत्तीन्या महात्या वाल्यान ज्याचे मन क्षुट्य झालें आहे अशा एका हत्तीनें आपल्या सोडेन स्वतःच आपल्या तोडा-वर्षे अच्छादन काहून फेकून दिलें व महातालाही न जुमानतां कुछ होऊन तो यांवत सुटला. १४. गंडस्थलांत बुडालेल्या व ज्यांच्या मागें पिसे नाहींन अशा वाणांनीं मोठे हत्ती ज्यांच्या अग्रभागावर शह न करणारे मयूरसमृह चढलेले आहेत अशा पर्वताच्या लहान टेकड्याप्रमाणें शोभू लागले. १५ युद्धांत आपलें विशिष्ट चार्त्य दाखदन शत्रुपक्षीय मुख्य योद्ध्यांनीं आपल्या नांवाचीं अक्षरें ज्यावर खोढलेलें आहेत अशा वाणांनीं राजे लोकांचीं पांदरीं छते तोइन टाकिली.

१६ युद्धाची जवावदारी पुष्कळ वेळपर्यत धारण करून जे छढछे अजा क्षित्रयामध्ये श्रेष्ठ असलेल्या तेजस्वी पुरुषांना ते मरत असतां ज्र पुरुषांनी बळ्न पाहिलें. अर्थात् अज्ञा पुरुषांविषयी ज्रूर जन्नूच्या मनांतही आदर उत्पन्न झाला. व भाट लोकांनीही त्यांच्या नांवाचें व वंग्नांचें वर्णन सर्वांना ऐकिविले

१७ तरवारीच्या प्रहारांनी फुटलेल्या हत्तींच्या गंडस्थलांत्न चाहीं कडे वर उडालेल्या मोत्यांच्या समुदायाने दिवसा देखिल आकाश नक्षत्रांनी युक्त असल्याप्रमाणें शोभू लागलें. १८ जेव्हां मुख्य मुख्य योद्धे लहुं लागले तेव्हां ते धनुष्याला वाण केव्हां जोडतात व केव्हां सोडतात हें जवल असलेल्या लोकांना देखिल समजेनासे झाले. त्यामुळें ताणले आहे उंच व सुंद्र धनुष्य ज्यांनीं असे ते शूर पुरुष नेहमी चितांत काढलेल्या योद्ध्याप्रमाणे दिसूं लागले व शोभूं लागले.

छिनेऽपि हस्ते सुभटासिघातैर्विहस्ततामाप तथा न दंती ॥ अदंतचेष्टान्निजदंतयुग्मे भमे यथा शत्रुगजं जिघांसुः ॥ १९ ॥ कुंदावदातस्तुरगोऽश्ववारे प्रासप्रहारैः पतितेऽपि तिष्टन् ॥ तदंतिके तस्य पराक्रमेण पुंजीकृतो वर्ण इव व्यराजत् ॥ २० ॥ मर्मप्रहाराक्कितोऽपि कश्चित्प्राणान्द्यौ तावदनूनसत्वः ॥ श्वान्तोषि किं प्राणितुमाईभावाद्यावन्न वाणीमिति वक्ति नाथः ॥ २१॥

छिन्नं च चक्रेण शिरः केरण वामेन संधार्य रुषा परितः॥
स्वसंमुखं कश्चिद्रिं जधान कोपो हि शौर्यस्य परः सहायः॥२२॥
परेण भल्लेन विल्हगनव्यां धनुर्लतां स्वाभिमतां हि कश्चित्॥
मुमोच जायामिव चारुवंशां कृताभियोगां विग्रुणो हि हेय॥२३॥
घनाम्नपंकेपु निमग्नचकान्रथांस्तुरंगाः शरदारितांगाः॥
ऊहुःकथचिद्द्रिगुणीकृतांत्रिप्रेरवद्धला धुर्धुरशद्ध्धोणाः॥ २४॥
गृद्धो भुजं कस्य चिदाजिरंगादाम्ललूनं गगने गृहीत्वा॥
कृतावदानस्य जयध्वजं वा वीरस्य बभाम समंततोऽपि॥२५॥
वामांत्रिमादाय करेण गाढमाक्रम्य पादेन च दक्षिणांत्रिं॥
विपाटयामास भटं मदेभः कृद्धः पुरस्थं सहसा निपात्य॥ २६॥
अवदाय हस्तेन भटो गजेन क्षिप्तोऽपि खे खेलरुचिः कृपाण्या॥
तत्कुंभपीठं प्रहरन्विरेजे ततः पतन्संभ्रमहीनचित्तः॥२०॥

१९ शत्रूच्या हत्तीला ठार मारण्याची इन्ला करणारा एक हत्ती वीर पुर-पाच्या तरवारीच्या प्रहारानें आपली सोंड तुटली असतांही खिन्न झाला नाहीं पण आपले दोनही ढांत तुटून गेल्यामुळें दांतांनीं ठार मारण्याचें कामच बंद पडलें म्हणून अगर्डी खिन्न झाला. २० एक घोडेस्वार वचींच्या प्रहारांनीं खालीं पडला असतांही त्याचा कुंद्पुप्पाप्रमाणें पांढरा असलेला घोडा त्याच्या जवळ्न हालला नाहीं. तो घोडा त्यावेलीं घोडेस्वाराच्या पराक्रमानें एकत्र केलेल्या त्याच्या कीर्ती-प्रमाणे शोभू लागला! २१ मर्भरथलीं लागलेल्या प्रहारानें व्याकुल होऊन ही एका अतिश्वय श्रूर योद्धचानें त्याच्या मालकानें द्याळ होऊन 'अरे वीरा! तुं अद्यापि जगण्यास समर्थ आहेस काय श असें जोपर्यंत म्हटलें नाहीं तोपर्यंत प्राण धारण केलें. २२ शत्रूनें वापलेलें डोकें आपल्या डाव्या हातानें धरून रागानें लालखंद झालेल्या कोणी एका योद्धचाने आपल्या समोर असलेल्या शत्रूला ठार मारलें.वरो-

<sup>\*</sup> टिप्पणी:-- कश्चिद्रजः प्रतिभटं चरणे गृहीत्वा सम्रामयन्दिनि रुपा परुपप्रचारः ॥

चिक्षेप दूरतरमूर्ध्वमयं च मानी द्रागेत्यकुभ्युगलीमसिना विभेद ॥४९॥

जीवंधरचंप्ता द्रामो लवः। समानार्थक न्होक.

बरच आहे कीं, क्रोध हाच पराक्रमाला मुख्य मदत करीत असनी. २३ जस एखादा मनुष्य चारुवंशा- उत्तम वंशामध्यें जन्मलेली परंतु परपुरुपाशी जिचा संयोग झाला आहे अशा स्त्रीचा त्याग किरतो तसे एका योद्धचाने शत्रूने जिची टोरी भाल्यानें तोड्डन टाकली आहे अशी धनुर्छता स्वतःला पिय व चारुवंशा—उत्तम वेळ्पासून बनलेली असतांही टाक्न दिली.वरोवरच आहे कीं,दुर्गुणी मनुष्य जसा त्यागण्या योग्य असतो तसें विगुण-दोरीनें रहित धनुष्य टाकणेंच योग्य होय,२४ ज्यांचें **शरीर बाणांनीं जखमी झाले आहे.ज्यांच्या पायांतली शक्ति नष्ट झाल्यामुळें** लटपटणारे व ज्यांची मान थरथर कांपत असून ज्यांच्या नाकांतून घुरघुर शह एकसारखा होत आहे अशा घोड्यांनीं ज्यांचीं चार्के रक्ताच्या टाट चिखलांत रुतलीं आहेत असे रथ त्यांतून मोट्या कष्टांने ओहून नेले. २५ युद्धभूपीमध्यें एका वीराचा हात मुलापासून तुदून पडलेला होता. तो घेऊन एक गिधाड आकाशांत चोहींकडे फिर्क छागर्छे. त्यावेळीं मर्दुमकीचें काम करणाऱ्या समोर असलेल्या योद्धचाला खालीं पाइन त्याची जयपताका घेऊन जणु तें सर्वत्र फिरू लागलें आहे असें दिसत होतें! २६ एका उन्मत्त व रागावलेल्या हत्तीनें एका वीराचा डावा पाय आपल्या सोंडेने मजवृत थरून व उजवा पाय आपल्या पायाखाङी दावृन ठेऊन त्याला खालीं पाडून फाडून टाकिलें.

२७ एका हत्तीने आपल्या सोंडेने एका ग्रूर पुरुपाला आकाशांत फेंकून दिलें असतां क्रीडेमध्यें पेम असेलला तो ग्रूर आकाशांतून खालीं पडतांना विल-कुल घावरला नाहीं. उलट तो हत्तीच्या गंडस्थलावर पडून तेथें तरवारीनें प्रहार करूं लागल्यामुळें जास्ती शोभूं लागला.

विवृत्तहस्तोज्झितशीकरौँघैरिभा निरासुः शरदारितानां॥
आधोरणानां व्रणमोहखेदं को निर्दयः संश्रियणां विपत्तौ ॥२८॥
योधा विरेजुः शरपूरितांगाः सुनिश्चलानामुपरि द्विपानां॥
तापेन विश्लेषितपत्रशोभास्त्वनसारगुल्मा इव पर्वताग्रे॥ २९॥
आमूलखनायतहस्तदेशात्त्रयोततत्कदुष्णास्त्रमहाप्रवाहः॥
रेजे गजम्तुंग इवांजनाद्रिः सानोः पतद्गिरकिनिर्झरांकः॥ ३०॥
मूर्च्छामपास्य व्रणदुःखजातां हंतुं प्रवृत्ताः पुनरप्यरातीन्॥
महाभटास्ताञ्जगृहुः कथंचित्तत्संग्रहं को न करोति धीरः॥ ३९॥

निरीक्ष्य शरं त्रणविव्हलांगं तेजिस्वनं हन्तुमपीहमानं ॥
जघान कश्चित्कृपया न साधुर्न दुःखितं हन्ति महानुभावः ॥३२॥
ग्रहप्रहाराकुलितो मुखेन कश्चिद्धमन्संततमस्रधारां ॥
मध्येरणं शिक्षितिमंद्रजालं नराधिपानां प्रथयात्रवासीत् ॥ ३३ ॥
उरःस्थले कस्य चिद्प्यसद्या शक्तिः पतंती न जहार शक्तिं ॥
मनिस्वनामाहवलालसानां तन्नास्ति यहपीविनाशहेतुः ॥ ३४ ॥
इंदीवरश्यामरुचिः पतंती दंतोज्ज्वला चारुपयोधरोहः ॥
वक्षस्यहो खङ्गलता चकार प्रियेव धीरं सुखमीलिताक्षं ॥ ३५ ॥
अरातिना प्रत्युरसं विभिन्नः कुंतेन कश्चित्तदनु प्रधावन् ॥
ददंश तं दुःसहमग्रकण्ठे वंशानुगः कुद्ध इव दिजिव्हः ॥ ३६ ॥

२८ ज्यांचे अवयव बाणांनीं जखमी झाले आहेत असे महात जखमांच्या वेदनेनें मुर्छित झाले असतां वर केलेल्या सोंडपासून सोडलेल्या वारीक जलविंदु संमूहांनीं हत्तींनीं त्यांचा खेद दूर केला. बरे।बरच आहे कीं, विपत्तीच्या वेळीं अाश्रयाला आलेल्या विषयीं कोणाचें अंतःकरण निर्देयी बनेल बरें ? २९ जसें उन्हाळ्यांत ज्यांचीं पानें गळ्न गेळीं आहेत अशीं बांबूंचीं बेंटें पर्वतांच्या शिख-रावर जशीं शोभतात तसे ज्यांचे सर्व शरीर वाणांनी भरून गेले आहे असे योद्धे निश्रल अशा हत्तींच्या वर शोभू लागले! ३० लांव सोंड मूलभागापास्न तुरून पडल्यामुळें ज्याच्या देहांतून कोमट रक्ताचा महाप्रवाह वाहू लागला आहे असा एक उंच हत्ती ज्याच्या शिखरावरून कावेचा झरा खाळीं पडत आहे अञ्चा अंजन पर्वताप्रमाणें शोभू लागला! ३१ जखमेच्या वेदनांनीं आलेली मुच्छी दूर सारून कित्येक महायोद्धे पुनः शत्रूंना मारण्यासाठीं परुत्त झाले. तें पाहून त्यांना कित्येकांनीं मोठ्या कष्टानें आवरून धरिलें. वरोवर आहे कीं अशा कार्यासाठीं प्राण देणाऱ्या मनुष्यांचा कोण वरें संग्रह करीत नाहीं ? ३२ जख-मांनीं ज्याचें सर्व अंग भरलें आहे असा कोणी एक शूर तेजस्वी मनुष्य आपल्या शत्रुला मारण्याच्या विचारांत होता. परंतु शत्रूनें हें जाणून देखिल द्याईभावानें त्याला मारिलें नाहीं. बरोवरच आहे कीं, जे महापुरुष असतात ते दुःखितांचा नाश करीत नसतात. ३३ गुप्त मारानें व्याकुळ होऊन कोणी एक बीर पुरुप

तोंडाने एक सारखी रक्ताची धारा ओक् लागला. तेव्हा तो स्वतः शिकलेली इंट्रजाल विद्या जणु युद्धभूमीमध्यें सर्व राजा समक्ष प्रगट करीत आहे असा भास् लागला! ३४ एका बीराच्या छातीवर राक्ति नांवाच्या बस्नाचा मोटा असह आघात झाला. तथापि ती शक्ती त्याच्या शक्तीचा नाश करू शकली नाहीं. वरी-वरच आहे कीं, युद्धाविषयीं ज्यांच्या मनांत अदम्य उत्साह असतो अशा तेजस्वी वीरांचा गर्व नाश करण्यास या जगांत कोणताही पदार्थ समर्थ नाहीं. ३५ नील कमछाप्रमाणें जिच्या देहाची कांति आहे, जिचें दांत अतिशय निर्मे आहेत व जिचे स्तन आणि मांड्या सुंदर आहत अशी स्त्री आपल्या पतीच्या छातीवर पहन त्याला जशी सुखानें डोले मिटावयास लाविते त्यापमाणे निल्या कमलाप्रमाणे निल्य सर कांतीची,हस्तिदंताच्या मुठीची,मुंढर पाण्याला-तेजस्वी पणाला धारण करणारी मोठी खड़ळता—तरवार शत्रूच्या छातीवर पह्न तिनं त्याला सुखाने होळे मिटाव-यास लाविले अर्थात तिनें त्याला टार मारिलें. एका शत्रूने एका वीर पुरुपाचे वक्षःस्थल आपत्यां भात्यानें विद्णि केलं तेव्हां जसा रागावलेला सर्प आपत्या पूर्वजांचे अनुसरण करून दंश करितो तसे अशूच्या पाठीमागें छागछेल्या त्या वीरानें क्रुद्ध होऊन आपल्या वंशाचे अनुसरण करून त्याचा गळा पक्रह्न अति-शय तीत्र असा चावा घेतला. अर्थात् त्याने त्याचे नरडे फोडलें !

परेण सद्यो निजकौरालेन हस्तीकृता संयति खड़ि धेतः॥
सत्योरभूत्कारणमात्मभर्तुर्दुष्टेव वेश्या धनमुष्टिबाह्या॥ ३०॥
पपात कश्चिद्धिवशो न बाणरयोमयैः कीलितरागवंधः॥
तुरंगमादुत्पततोऽपि सादी दौस्थ्यं न हि स्थेमपरिष्कृतानां॥३८॥
छिन्ने परो दक्षिणबाहुदंडे ध्रत्वा परेणासिलतां करेण॥
जधान शत्रुं प्रहरंतमथे विपत्सु वामोऽप्युपयोगमेति॥ ३९॥
शरक्षतांगोऽपि तुरंगवर्यो जवं न पूर्व विजहो न शिक्षां॥

जीवंधरचम्प्वा दशमो लंब. समानार्थक स्होक ।

ॐ टिप्पणी:— छिन्नेपि दक्षिणमुने करवालवहीं वामे करे विचलयनिरपुमानसावी॥ वीरस्य तस्य रिपुखंडन केलिकायांमशीणशक्तिरगमत्साहि दक्षिणत्वं ॥९९॥

नैवाश्वववारस्य विधेयतां च समो हि जात्यो विधुरे सुखे वा १४०। कंठे निबद्धारुणचामरोघः ग्रून्यासनः सम्मुखमाग्रु धावन् ॥ विभ्रंशयन्दिन्तिघटां न नाम्ना हरिस्तदासीिक्रिययापि वाजी ॥४१॥ इतस्ततोऽधावत लोहवाणैर्विद्यारितांगोऽपि हयो जवेन ॥ विजाधिनाथस्य मृतस्य सद्यः प्रकाशयन्शोर्थिमवाजिरंगे ॥ ४२॥ अरातिना मूर्धिन मुद्गरेण प्रताडितो लोहमयेन कश्चित् ॥ ४३॥ अमेद्यमप्यावरणं विभिद्य प्राणान्मटस्याग्रु जहार वाणः ॥ अमेद्यमप्यावरणं विभिद्य प्राणान्मटस्याग्रु जहार वाणः ॥ ५० शतेन शातेन विवर्जितोऽपि पूर्णे दिने को न हिनस्ति सत्वान् ४४ रक्षन् शरेभ्यः पतिमात्मगात्रैः कश्चित्समंतादसमानसत्वः॥ भस्मीचकारात्मतनुं क्षणेन सुनिश्चितः किं न करोति ग्रूरः॥ ४५॥

३७ पूर्वीच्या मालकानें लहानशी तरवार मुठींत आवळून न धरल्यामुळे तन्काल ती शत्रूनें स्वतःच्या चातुर्यानें आपल्या हस्तगत करून घेतली. त्यामुळें ती पहिल्या मालकोच्या मुठीत न राहिल्यामुळें दुसऱ्याच्या स्वाधीन झालेली दुष्ट वेभ्या जशी आपल्या पहिल्या मालकाच्या मृत्युला कारण होते तशी युद्धामध्ये पहिल्या वीराच्या नाशाला कारण झाली ३८ कोणी एक घोडेस्वार घोड्यावर सर्पासनानें मजबूत बसला होता. लोखंडाच्या बाणांचा शत्रुकडून वर्षाव होत अस-तांही व घोडा उड्या मारीत असतांनाही घावरून तो त्यावरून पडला नाहीं. वरोबरच आहे कीं, जे दहतेनें युक्त असतात त्यांच्या ठिकाणीं घाबरेपणा कसा असू शकेल बरें ? ३९ एका वीराचा उजवा हात कापला गेला तरी त्यानें आपल्या दुसऱ्या हातांत-डाव्या हातांत तरवार धारण केली व प्रहार करीत असलेल्या शत्रुला ठार मारिले. विपत्तीच्या वेळी डावा हातही उपयोगी पडतो अथवा प्रतिकूल माणसेंहि विपत्तीच्या वेळी अनुकूल होतातच. ४० एक श्रेष्ट घोडा वाणांनीं जखमी झाला होता तरीही त्यानें आपला पूर्वीचा वेग व आपळें शिक्षण सोडले नाहीं व तो आपल्या घोडेस्वराच्या ताव्यांत पूर्वीप्रमाणेंच राहिला. बरोबर आहे की, उत्तम जातीचे प्राणी सुखाच्या व दु.खाच्या प्रसंगी समानच असतात. विकार पावत नाहींत. ४१ ज्याच्या गळ्यांत लाल रंगाच्या पुष्कळ चवऱ्या बांधलेल्या आहेत च घोडेस्वराने जो रहित झाला आहे असा एक घोडा मोट्या वेगानें समोर धावत गेला व त्यानें हत्तीच्या समुदायाला ही बोहोकडे पळिवलें. त्यावेळीं नांवानेच हिर अमलेला तो घोडा आपल्या कर्नव्यानं ही हिर झाला. तात्पर्यः— हिर श्रद्धाचं सिंह व घोडा असे दोन अर्थ आहेत. या घोड्याच्या गळ्यांत लाल चापर वांधले असल्यामुळें व मोठ्या वेगानं हा धावत मुटला होता म्हणून त्याला पाहून हत्ताना हा मिंह आहे अजी स्त्रांति उत्पन्न झाली व ते पळत सुटले.यामुळें घोड्याला कोजांत हिर असे नांच आहे ते अन्वर्थक झालें. ४२ लोखंडाच्या वाणांनीं ज्याचे अवयव विदीण झाले आहेत असाही एक घोडा मोट्या वेगानें इकडून तिकडे थाऊ लागला. जण नुकतेंच मरून पडलेल्या माल काचा श्रूपणा प्रगट करण्याकारितांच तो युद्धभूमीमध्य पळत होता! ४३ जतूने लोखंडाच्या मुद्धराने ज्याच्या मस्तकावर आधात केला आहे अजा एका वीरानं दुःखी होऊनही आपलें अंग जमीनीवर टाकिले नाहीं. वरोवरच आहे की, धीर पुरुषाचे धेर्य कोणाकहनही हरण केले जात नाहीं. किंवा त्याचें धेर्य कृतिम नसते. तें स्वामाविकच असते. ४४ तीक्ष्ण अग्राने रहित अजा ही वाणानें एका वीगच्या अमेद्य चिलखताला तोहन त्याचे तत्काल प्राण घेतले. वरोवरच आहे की, ज्याचे आयुप्याचे दिवस भरले आहेत अजा प्राण्याप्त कोण मारूं शकत नाही वरें?

कुलाभिमानं विपुलं च लज्जां स्वामिप्रसादं निजपौरुपं च ॥
मत्वा त्रणैराचितमूर्तयोऽपि निपेतुरन्योन्यमवेक्ष्य श्रूराः॥ ४६ ॥
दंतैश्र गात्रेः करिणां करैश्र छिन्नरनेकैः पतितेक्वंजेश्र ॥
रथेश्र भम्मक्षधुरैर्निकीणं बभूव दुर्गं समराजिरं तत्॥ ४७ ॥
प्रपीय रक्तासवमाशु मत्ता नरांत्रमालाकुलकंठदेशाः ॥
परं कवंधेः सह यातुधानाःशवान्वहंतो ननृतुर्यथेष्टम् ॥ ४८ ॥
नद्विक्वास्यारणिलव्यजनमा ददाह वीराञ्शरपंजरस्थान् ॥
मतान्समस्तान्कृपयेव वन्हिः को वा न गृण्हाति कृतावदानान्।४९।
तयोर्ष्वजिन्योरतिद्र्पमाजामिभाश्वपादात्रथोत्कराणां ॥
अन्योन्यमुद्दिय रणः समंतादासीत्कृतांतोद्रपूरणाय ॥ ५० ॥
मंत्री हरिश्मश्रुरथैकवीरो बलस्य नेता रथमंडलस्थः ॥
धन्वी प्रतिद्रिवलं वियच्च संखादयामास समं शरौवैः ॥ ५१॥
ललाव मौर्वीभिरमा शिरांसि महीर्भटानां कारेणां घटाभिः ॥
महारथव्यहविशेपवंधं समं विभेदामघटं यथांवु॥ ५२॥

ध्वजा निपेतुः सममातपत्रैवितत्रसुः ज्ञून्यह्याश्च नागैः॥ तिमिन्वसुंचत्युरुवाणवृष्टिं नेजुर्दिशो सास्करदीप्तिभिश्च॥ ५३॥ नितांतज्ञुद्धरितज्ञुद्धवृत्तः शरेरनेकैः स बलानि विष्णोः॥ करेरिवेंद्धः कमलानि नक्तं निनाय संकोचिमतस्ततोऽपि॥ ५४॥

४५ आपल्या मालकाचें सर्व वाजूंनीं अत्रूंच्या बाणापासून रक्षण करणाऱ्या कोणा एका उपमा गहित पराक्रमी पुरुषाने आपले शरीर क्षणांत नष्ट केलें. अर्थात मालकाच्या रक्षणार्थ त्यानें आपला देह शत्रूंच्या वाणांना बळी दिला. बरोबरच आहे कीं, ददनिश्रयी शूर मनुष्य काय करूं शकत नाहीं बरें ? ४६ वंशाभिमान, मोठी अब्रू, मालकाची क्रपादाष्ट्र, व स्वतःचा पराक्रम, या सर्व गोष्टीचा विचार करून जर्वमांनी आपलें सर्व श्रीर भरून गेलें असतांही शूर पुरुष एकमेकांना पाहून लडू लागले. ४७ हत्तींच्या दातांनीं, शरीरांनीं, व सोडांनीं तुटलेख्या अनेक पताकांनीं, ज्यांचीं जोकडें व कणे मोडून पडले आहेत अशा रथांनीं व्यापून गेळेळे तें रणांगण जाण्या येण्याळा अडचणीचें होऊन बसलें. ४८ ज्यांनीं आपल्या गळ्यांत मनुष्यांचीं आंतडीं घातलीं आहेत, रक्तरूपी मद्य पाशन करून जे उन्मत्त वनले आहेत, असे राक्षस मढीं घेऊन रुंडासह यथेष्ट कीडा करू लागले. अर्थात नाचू लागले. ४९ ओरडणाऱ्या कोल्हाच्या मुखरूपी अरणीपासून उत्पन्न झालेल्या अग्नीने शरशय्येवर पडलेल्या सर्व वीर पुरुषांना जणु दयाई होऊन जाळ्न टाकिलें. बरोबरच आहे कीं, ज्यांनीं उत्तम कार्ये केलीं आहेत अशांचा कोण संग्रह करीत नाहीं वरें ? ५० त्या दोन सैन्यामधील अत्यंत उन्मत्त बनलेले हत्ती, घोडे, पायदळ आणि रथ यांच्या समुदायांचे एकमेकांना उदेशून सर्व वार्जुनीं यमाचे पोट भरावें ह्मणून भयंकर युद्ध झालें! ५१ यानंतर रथसमूहाच्या मध्यभागीं सैन्यांचा नेता अर्थात् सेनापति, उत्तमं धनुर्धारी अद्वितीय वीर अशा हरिज्मश्र नांवाच्या अश्वग्रीवाच्या प्रधानानें शत्रु अशा त्रिषृष्ट नागयणाचें सर्व सैन्य व आकाश यांना एकदम आपल्या बाणसमूहांनीं व्यापून टाकिले ५२ या हारिव्मश्र सेनापतीने आपल्या भारयाच्या साह्यानें शूरांच्या धनुष्यांच्या दोरीसह त्यांची मस्तकें तोहन टाकिलीं. हा फार जोरांनें बाणदृष्टि करीत असतां छत्रासह ध्वज पडले. हत्ती-सह घोडेस्वारांनीं रहित असलेले घोडे भीतीनें पलत सुटले व सूर्याच्या किरणांसह दिशा धुंद झाल्या. अर्थात् त्यानें इतकी वाणहाष्टि केली की, चोहींकडे अंधार पडला! ५४ अतिशय स्वच्छ व गोलाकाति चंद्र आपत्या निर्मल किरणांनीं राती चोहीकडे कमले संकुचित करितो त्याप्रमाणें उज्ज्वल अनेक वाणांनी निर्मल आचरणांचा धारक अज्ञा सेनापतीनें शत्रूंचे पुष्कळ सैन्य संक्राचित केलें. अर्थात् टार मारिलें.

तन्वंतिमत्थं निजवाह्वीर्यं तं वीक्ष्य भीमं प्रधनाय भीमः॥ निरस्तभीराजुइवे शरेण त्रिपृष्टसेनापतिरुद्धतेन ॥ ५५ ॥ रथेन तस्याभिमुखं स गत्वा जवानिलायामितकेतनेन ॥ मनोजवाश्वेन तमाञ्च वाणैर्विव्याध चापध्वनिनादिताशः॥ ५५॥ शिलीमुखांस्तस्य छुलाव भीमःशरैर्धनुर्वेदाविदंतराले॥ अलक्ष्यसंघानविमोक्षकालः सदावतंसीकृतचारुमौर्वी ॥ ५७॥ चिच्छेद वेगात्सह केतुयश्या सितार्द्धचंद्रेण शरासनं सः॥ ततः स मंत्री कणयेन भीमं शक्त्या च वक्षस्यदयं जघान ॥५८॥ चापं विहायासिलतां गृहीत्वा रथात्समुत्खुत्य रथं तदीयं॥ ललाटपट्टेडिसवरं प्रपात्य जग्राह भीमस्तमुदारसत्वः॥ ५९॥ शतायुधः शत्रुशतायुधौषैर्विपाटितोरःस्थललक्ष्यदेहः॥ जित्वा रणे धूमशिखं विरेजे प्रसाधनं भूमिभृतां हि शौर्यं ॥ ६०॥ अनन्यसाधारणवाहुवीर्थं व्यजेष्ट युद्धेऽशनिघोषमुश्रं॥ यथार्थतां राञ्चजिद्दात्मनाम प्रतापवान्नेतुमिव क्षणेन् ॥ ६१ ॥ अकंपनं कंपितसर्वसैन्यं निपातयामास जयः शरौधैः॥ तुरंगकंठस्य जयध्वजं वा पुरस्तरं संयति खेचराणां ॥ ६२ ॥ जित्वार्ककीर्तेःसकलां च सेनां पुरो वभूवे हरिकंधरेण॥ विमुचताकृष्टशरासनेन नाराचावृष्टें पिहितांतरिक्षां ॥ ६३ ॥ सावज्ञभालोक्य तमकेकीर्तिरादाय चापं हर्दमप्यभीरः॥ आरोपयामास विना प्रयत्नान्न संभ्रमत्याजिमुखे हि शूरः ॥ ६४ ॥

५५ आपल्या वाहूंच्या द्वारें याप्रमाणे भयंकर पराक्रम करणाच्या त्या हाँक्मिश्रु सेनापतीला भीम नांवाच्या निर्भय तिषृष्टाच्या सेनापतीनें भात्यातृन
काढलेल्या वाणांच्या द्वारे युद्ध करण्यासाठी बोलाविलें ५६ मनाच्या वेगापेक्षां ही
अधिक वेगाचे घोडे ज्याला जुंपले आहेत, वेगाच्या वाऱ्यांने ज्यांच्या ध्वजाचें
बस्र लांवट झालें आहे अजा रथाच्या द्वारे भीम सेनापतिच्या जवळ जाऊन हरिक्मश्रेन
बनुष्याच्या टंकागने सर्व दिशा जद्धमय केल्या व वाणांनीं त्याला तत्काल
विद्ध केले ५७ ज्याची बाण जोडण्याची व सोडण्याची वेळ समजत नाहीं, ज्याच्या बनुष्याची सुंदग दारी नेहगी सुन्नाभितच असते (अर्थात् जी ताणलेली

दिसत नाहीं ) धनुर्विद्येची ज्याला चांगली माहिती झाली आहे अशा भीम सेना पतीनें हारेश्मश्रु सेनापतीचें बाण येत असतांना आपल्या बाणांनीं मध्येंच तोडून टाकिले. ५८ यानंतर त्या भीम सेनापतीनें तीक्ष्ण अर्द्धचंद्र वाणानें अश्वग्री-वाच्या सेनापतीच्या जयध्वजासह त्याचें धनुष्य वेगानें तोहून टाकिलें यापुले रागावलेल्या हरिश्मश्रूने बाणानें व शक्ति नांवाच्या शस्त्रानें निर्दयपणें त्यास छातीवर आघात केले. ५९ त्यावेळीं उटार पराक्रमी भीमाने धनुष्य सोडून हातांत तरवार घेतली. आपल्या रथांतून त्याच्या रथांत उडी मारली व त्याच्या कपाळावर आपल्या तरवारीचा आघात करून त्याला पकडलें. ६० शेंकडो शत्रूंच्या शस्त्रसमृहांनीं जखमा झालेल्या छातीबरून ज्यांचा देह ओलखला जात आहे अशा शतायुध राजानें रणांत धूमशिख विद्याधराला जिकिलें ह्मणून तो फार शोभू लागला वरावरच आहे कीं, क्षात्रियांचा शौर्यच अलंकार होय ६१ ज्याच्या ठिका-णीं इतरामध्यें आढळ्न न येणारें असामान्य नाहुवल आहे अशा उग्र अशनि-योष विद्याधराला शत्रुजित या नांत्राला जणुँ सार्थक करणारा पराक्रमी रात्रुजित् राजानें तत्काल युद्धामध्यें जिंकिलें. ६२ युद्धामध्यें सर्व विद्या-धरांचा पुढारी, जेणु अश्वग्रीवाचा जयध्वज, ज्याने सर्व शत्रुसैन्याला भीतीनें कंप उत्पन्न केला आहे अशा अकंपन विद्याधर राजाला जय यो नांवाच्या राजानें बाणांच्या समुदायांनीं ठार मारले. ६३ धनुष्य ताणुन आकाशास्त्रा अच्छाद्न टाक-णारी बाणराष्ट्रि करणाऱ्या हरिकंधर विद्याधराने अर्ककीर्तीचे सर्व सैन्य जिंकिछे व अर्ककीर्तीच्या पुढें येऊन तो उभा राहिला ६ शनिर्भय अशा अर्ककीर्तीनें त्याच्याकडे तुच्छ दृष्टीनें पाहिले व दृढ असें हि धनुष्य घेऊन त त्यानें लीलेनें सज्य बरोबरच आहे कीं, युद्धाचें तींड लागलें असतां श्र् पुरुष भीतीनें घावरून नाहीं. त्यावेळीं तो अवस्य शौर्य दाखवितोच.

संधाय वेगेन शरं प्रभावादाकृष्य चापं तरसा मुमोच॥
एको यथापंक्तिगुणक्रमेण प्राप्तोत्यसंख्यानिमषुस्तथासो॥ ६५॥
तस्यालुनात्केतनवंशयष्टिं सद्धंशलक्ष्मीलतया स सार्द्धम्॥
आमूलतःसंततपक्षवाणेवाणेः स्वनामाक्षरमुद्रितांगेः॥ ६६॥
कुधा तदीये हरिकंधरोऽपि लीलोपधाने दिजयैकलक्ष्म्याः॥
मुजे निशातं निचखान रोपं वामेतरं चंचलकंकपक्षं॥ ६७॥
एकेन तस्यायतमार्गणेन छित्वातपत्रं कदलीध्वजं च॥
अन्येन चूडामणिमुन्मयूखमुन्मूलयामास किरीटकूटात्॥ ६८॥

तस्यार्ककीर्तिर्धनुषोऽत्रकोर्टि चिच्छेद महोन वलो खतस्य ॥
विहाय तत्सोऽपि निरस्तभीतिः प्रासेन तं प्राहरदाजिशोंडं ॥६९॥
विदार्थ नाराचपरंपराभिर्वेगेन तं सन्नहनेन सार्द्ध ॥
तदार्ककीर्तिः शुशुभे नितांतं हत्वा रिपुं को न विभाति युद्धे ॥७०॥
अन्यैरजय्यं युधि कामदेवं प्रजापतिर्वीतभयो विजिग्ये ॥
पुरा तपस्यन्भुवि कामदेवं प्रजापतिस्तीर्थकृतामिवाद्यः ॥ ७९ ॥
वभंज दर्पं शशिशेखरस्य स्वबाहुवीर्यातिशयेन युद्धे ॥
जयाशयामा हयकंथरस्य विना प्रयासेन पितार्ककीर्तिः ॥ ७२ ॥
नभश्चरान्सप्तशतं विजित्यं चित्रांगदादीन्विजयो विराजन् ॥
पुरःस्थितं नीलरथं मदांधमालोकयामास हरिर्यथेमं ॥ ७३ ॥
अभीयतुस्तौ प्रधनाय वीरावन्योन्यमत्यूर्जिसत्वयुक्तौ ॥
पूर्वापरौ वारिनिधीयथांते कल्पस्य कल्पामरनाथकल्पौ ॥ ७४ ॥

६५ आपल्या सामर्थ्यांनें अर्ककीर्तींने धनुष्याला वाण जोइत तो वेगांन सोडून दिला असतां पंक्तिनें गुणित क्रम होऊन असंख्यातपणाला पावला. अर्था तृ विचेच्या प्रभावांनें एका वाणाची दोन, चार, आठ, सोळा अशी संख्या वाढत ती असंख्याता पर्यंत पोहोचली ! ६६ या अर्ककीर्ति राजपुत्रानें हरिकंठाच्या सदंशलक्ष्मी रूपी वेलीवरोबरच उत्तम वेळ् पासून वनलेख्या त्याच्या जयपता. केळाही ज्यांना पंख लाविले आहेत व ज्यांच्यावर आपलें नांव खोदले आहे अशा वाणांनी मूळासगट उपटून टाकिलें ६७ विजयक्ष्मी अद्वितीय लक्ष्मीला लीलेन मान टेक्न्न निजण्याच्या उशीप्रमाणें असलेख्या त्या राजपुत्राच्या उजन्या वाह्नवर कंकपक्षाच्या चंचल पंखांने युक्त असलेला तीक्ष्ण वाण हरिकंधराने रागांन मारला ६८ एका लांव वाणाने अर्ककीर्तींचे छत्र व जयध्वज त्यान तोहन. टाकिलें व दुसच्या वाणाने किरीटाच्या शिखरांतून ज्याचे किरण चोहीकडे पसरले आहेत असा चुडामाणे त्यानें उपटून काढिला ६९ अर्ककीर्तांनें हि सामर्थ्यांनें उद्य वनलेल्या हरिकंटाच्या यनुष्याचा अग्र भाग भाला फेक्न्न मोइन टाकिला वेद्दां हरिकंटाचे हि निर्भय होऊन ते अनुष्य टाक्न्न दिले व युद्धामध्ये प्रतीण

असलेल्या त्या अर्ककीर्तीवर भाल्यानें प्रहार केला. ७० त्यावेळीं अर्ककीर्तीनें बाणांची खूप द्याप्टि करून हरिकंटाचें अंग त्याच्या चिल्रखतासह विदारिलें त्यामु-ळें तो पार शोभू लागला बरोबरच आहे कीं, कोणता शूर पुरुष युद्धामध्यें शत्रुला मारून शोभत नाहीं बरे ? ७१ या पथ्वीतलावर प्राचीन कालीं तीर्थकरामध्यें प्रथम असलेले सर्वप्रजांचे नाथ अशा आदिनाथ भगवंतांनीं जरें तपश्चरणाच्या हारें इतगंना अजिंक्य कामदेवाला — मदनाला जिंकिलें होतें तसें प्रजापति राजानें ही निर्भय होऊन इतर राजाकडून जिंकला जाण्यास अशक्य अशा कामदेव नांचाच्या विद्याधराला युद्धामध्यें जिंाकेलें ७२ अर्ककीर्ति राजपुताच्या पित्यानें अर्थात् ज्वलनजटी राजाने प्रयासावांचून युद्धामध्ये आपल्या बाहूच्या विपुद्ध समध्याने अश्वयीव चऋवर्तीच्या विजयेच्छे वरोवरच शशिशेखर विद्याधर राजाचा गर्व नष्ट केळा ७३ चित्रांगद वंगेरे सातशे विद्याधर राजांना जिंकून शोभ-णाऱ्या विजय बिलभद्रानें पुढें आलेल्या उन्मत्त हत्तीला जसा सिंह क्रूर दृष्टीनें पाहतो तसें पुढें आलेल्या उन्मत्त नीलस्थ विद्याधराला पाहिलें ७४ जसे कल्पक-लाच्या शेवटीं अत्यूर्जितसत्व युक्त अर्थात् विपुल शक्तीचे धारक अशा जलचर प्राण्यांनी युक्त असलेले पूर्व समुद्र व पश्चिम समुद्र एकमेकावर उसलतात तसे अतिशय उत्कृष्ट पराक्रमानें युक्त असलेले व स्वर्गीय देवांच्या इंद्राप्रमाणे भासणारे ते नीलरथ व विजय बलभद्र हे दोघे वीर एक में नावर लढण्यासाठीं हल्ला करूं लागले.

वलाधिकस्यापि बलस्य पूर्वं वक्षो विशालं गदया जधान ॥ शिक्षाविशेषं प्रथयन्ननेकं विद्याधरः स्वं करणिकयाभिः ॥ ७५ ॥ गदाप्रहारेण बलोऽपि तस्य प्रपद्य रन्ध्रं मुकुटं शिरस्तः ॥ निपातयामास रुषा प्रगर्जिन्नरम्मदेनेव घनोऽद्रिक्टं ॥ ७६ ॥ अपरिच्युतस्तनमुकुटादनेकेर्मुक्ताफलैगाजिधरारराज ॥ कीर्णेव विद्याधरराजलक्षम्या बाष्पाम्बुर्विदुप्रकरैः क्षणार्द्धं ॥ ७७ ॥

कलिगवसुधापतिप्रथितराजलक्ष्म्यास्तदा विकीणिमिव

विस्तृतैर्नयनवाष्पविंदूत्करै. ॥ ७६ ॥

जीवंधरचम्प्वाः दशमःसर्गः, समानार्थकः श्लोकोऽयं॥

बलद्रयं वीक्ष्य तयोरिंचित्यं बलं च धैर्यं खिध कौशलं च ॥ कश्चानयोर्जेष्यति नेति ताम्यन्संदेहदोलां मनसा रुरोह ॥ ७८ ॥ प्रादुर्वभूव स्वसमानसत्वे वलस्य तत्रैव बलं च शौर्य ॥ विजेतुरप्यन्यनमश्चराणां प्रतिद्विपे धीर इवेममर्तुः ॥ ७९ ॥ खसाध्यमन्यस्य बलेन युद्धे हलायुधो नीलरथं हलेन ॥ निनाय तं गोचरमाशु मृत्योर्मत्तद्विपं ऋद्ध इव द्विपारिः ॥ ८० ॥ इति प्रधानान्प्रहतानथान्यैर्नभश्चरान्वीक्ष्य तुरंगकंठः ॥ करेण सारं धनुराललंबे नामेन शौर्यं मनसा च धीरः॥ ८१॥ विहाय सर्वानितरान्बल।दीन् क स क स प्राज्यबलिस्त्रपृष्टः॥ पृच्छन्निति प्राक्तनजन्मकोपात्तस्थौ पुरस्तस्य गजाधिरूढः ॥८२॥ अमानवाकारमुदीक्ष्य लक्ष्म्या योग्यो ममायं रिपुरेव नान्यः॥ अमन्यतेत्यश्वगलिस्रपृष्टं गुणाधिके कस्य न पक्षपातः ॥ ८३ ॥ सुदुनिवारान्विविधान्विधिज्ञो विद्यामयान्वज्रफलान्समंतात्॥ शराननेकान्विससजं चक्री चक्रीकृतोत्तुंगधनुर्श्रणेन ॥ ८४ ॥

७५ स्वतः हा अनेकरूप करण्याच्या कियांनी आपलें विशिष्ट शिक्षण प्रगट करणाऱ्या निलर्थाने आपण्या पेक्षां सामध्यीने अधिक असलेल्या अशा ही बलभ द्राच्या विशाल वक्षः स्थलावर गदेने प्रथम प्रहार केला. ७६ जसें गर्जना करणारा मेघ विजेच्या कडकडाटाने पर्वतांचें शिलर पाडता तसें विजय बलभद्राने गर्जना करून कोघानें संधि साधृन नीलरथाच्या मस्तकावरील मुकुट गढेच्या आघाताने खाली पाडला. ७७ त्यावेळी त्या मुकुटापासून गळालेल्या अनेक मोत्यांच्या सम्हांनीं नी रणभूमि क्षणार्ध पर्यत विद्याधरराजलक्ष्मीच्या डोळ्यांतून निघालेल्या अञ्चललसमूहांनीं ज्याप्त झाल्याप्रमाणें शोभू लागली. ७८ या उभयतांचे विचार करण्यास अश्वय असें युद्ध चातुर्य, बल व धैर्य पाहृन या उभयतामध्यें कोणाचा तरी जय होईल कां नाहीं याचा विचार करण्यांत थकलें तें टोन्ही वाजुचें सैन्य आपल्या मनाच्या द्वारे संशय रूपी झोक्यावर चढलें ७९ आपल्या बरोवरीचे सामध्ये धारण करणाच्या त्या नीलरथावर इतर विद्या

धरांना जिंकणाऱ्या विजय वलभद्रानें आपलें सामध्ये व पराक्रम प्रगट केले. जसें मोठा हत्ती शत्रुशूत धैर्यवान हत्तीवर आपले सामर्थ्य व पराक्रम प्रगट करितो ८० जसा रागावलेला सिंह मत्त हत्तीला तत्काल मृत्युमुखीं टाकितो त्या प्रमाणं इतरांना अजिंक्य असलेल्या निलस्थाला क्रुद्ध बलभद्रानें युद्धामध्यें हल नांवाच्या दिव्यापुधानें शीघ्र मारून टाकिलें. ८१ या प्रमाणे शत्रूंनी आपले मुख्य मुख्य विद्याधर राजे मारून टाकिलेले पाहून धीर अश्वग्रीवानें आपल्या डाच्या हातानें सार्युक्त धनुष्य धारण केलें व मनानें उत्कृष्ट धैर्य धारण केलें. ८२ वरुभद्र, ज्वलनजर्टी, प्रजापति वगैरे राजांना वगळ्न 'तो उत्कृष्ट शक्तीला धारण करणारा त्रिषृष्ट कोठे आहे कोठे आहे? ' असे पूर्व जन्माच्या कोपानें विचारीत इत्तीवर आरूढ होऊन तिपृष्ठाच्या पुढें येऊन उमा राहिला ८३ त्या दिन्य आकृतीला धारण करणाऱ्या चिष्णाला पाहून हाच माझा शत्रु लक्ष्मीला योग्य आहे, अन्य नाहीं असे अश्वग्रीवानें मनांत मानिलं. बरोवर आहे गुणांनीं अधिक , असलेल्या मनुष्यावर कोणाचा पक्षपात होत नाहीं वरें १८४ रोकण्यास अशक्य असलेले, वज्राच्या अग्रभागांनीं युक्त असलेले विद्यामय नाना प्रकारचे अनेक बाण ते सोडण्याची विधि जाणणाऱ्या चऋवर्तीनें चक्राप्रमाणें गोल वाकविलेख्या मोठ्या धनुष्याच्या दोरीचें साह्य घेऊन चोहींकडे सोडले.

अथांतराले पुरुषोत्तमेन ते खंडिताः शार्क्षधनुर्विमुक्तैः ॥
शराःशरैः पुष्पमया वस्रवर्धणाय मंगोऽपि सतः परेषां ॥ ८५ ॥
एकीकृतक्ष्मातलवायुमार्गा विनिर्ममे चक्रुभृता तिमस्रा ॥
चिच्छेद तां कौस्तुमग्तनदीप्तिर्विष्णोर्जितोष्मां शुकठोररिश्मः ॥८६॥
समंततो दृष्टिविषामिरेपाक्तल्मापिताशान्त्रिमुक्तन्स सर्पान् ॥
पक्षानिलेल्मूलितापादपेन निराकरोत्तान्गरुडेन कृष्णः ॥ ८७ ॥
गर्जिन्मृगेन्द्रैः स्थिरतुंगशृंगैः शैलैरसौ व्योम रुरोध कृत्मनं ॥
विभेद वेगेन हरिः कुधा तान्वज्ञेण वज्रायुधसिन्नम्श्रीः ॥ ८८ ॥
अर्निधनेन च्वलनेन धीरस्तस्तार स व्योम धरातलं च॥
निर्वापयामास तमाशु विष्णुर्विद्यामयांभोदिवसृष्टतोयैः ॥८९॥

शौर्यं वाचि न कर्मणि स्थितमिति प्रत्याह तं केशवः ॥ ९३ ॥

८५ यानंतर अश्वग्रीवानें सोडलेले सर्व वाण नारायणाने आपल्या शार्झ नांवाच्या धनुष्यापासन सोडलेल्या वाणांनी मध्येच तोहून टाकिले. ते सर्व वाण नारायणास पुष्पासारले वाटले. वरोवरच आहे की दुसऱ्यांचा मंग देखिल सत्पुरुपांच्या हितासच कारण होतो अर्थात् कोणी जर सज्जनाचा कोणत्या रीतीने अपमानादिक केला तर त्यापासून त्यांचें नुकमान न होतां फायदाच होतो. ८६ नंतर चक्रवर्तानें पृथ्वी व आकाश यांना एकरूप करून सोडणारी अंधारी रात्र उत्पन्न केली. परंतु सूर्यांच्या कटोर किरणास जिंकणाऱ्या त्रिपृष्ट नारायणाच्या कौम्तुभ रत्नाच्या कांतीनें ती रात्र तत्काल नाहीं को केली ८७ या अश्वग्रीवान ज्यांच्या हर्षितृन निघालेल्या विपाग्नीच्या ज्वालांनी सगले आकाश ज्याप्त झाले होते असे सर्प चोहीकडे उत्पन्न केले परंतु आपल्या पंखाच्या वाच्यानें ज्याने हक्ष उपट्टन टाकिले आहेत अशा गरुडाच्याद्वारें त्रिपृष्टनारायणानें त्यांना नाहींसे कहन टाकिले ८८ ज्यांच्यावर सिंह गर्जना करीत आहेत अशा रियर व उंच जिखरांनी युक्त अमलेल्या पर्वतांनीं या चक्रवर्तीनें सर्व आकाश व्यापृन टाकिलें परंतु इंटाप्रमाणें ज्याचें ऐत्वर्य आहे अशा या त्रिपृष्ट नारायणानें ऋद्ध होजन वज्राच्या

साह्यानें त्यांचा शोघ्र नाश करून टाकिला ८९ लांकडांच्या अभावीं ही उत्पन्न केलेल्या अर्शानें घीर अशा चक्रवर्तीनें आकाश व पृथ्वीतल दोन्ही व्यापून टाकिलें। त्यविन्धीं नारायणाने मायागयी मेघ उत्पन्न करून त्यांच्या पाण्यांनीं तो अग्नि शांत केलाः ९० निघणाऱ्या हजारो स्फुलिंगांनीं जिनें सर्व आकाश प्रकाशमय करून सोडलं आहे व निवारण करण्यास अशक्य असलेली अशी शाक्तिविद्या चक्रवर्तीनें नारायणाच्या अंगावर सोडली परंतु ती त्याच्या वक्षःस्थलावर ज्यांच्यातून किरण निघत आहेत असा हार बनली. ९१ या प्रमाणे ज्याच्या सर्व शस्त्रास्त्रांचे सामर्थ्य न्यर्थ झाले आहे अज्ञा त्या रोकण्यास अज्ञक्य असलेल्या अ**श्वग्रीवानें** अग्नीच्या ज्वालांनी ज्याची घार वेढलेली आहे असें चक्र हातांत घेतलें व थोडेसें हंसरें तोंड करून निर्भय रीतीने तो विष्णुला पुढें लिहिल्याप्रमाणें बोलला. ९२ "हे त्रिपृष्टा! हें चक्ररत्न तुझ्या सर्व मनोरथांना आज न्यर्थ करीत आहे. इंद्र देखिल तुझें यापासून रक्षण करण्यास समर्थ नाहीं. यास्तव मला नमरकार करण्यांत तूं आपली बुद्धि लाव किंवा परलोकीं कल्याण व्हावें अशी इच्छा असेल तर श्रीजिनेश्वराच्या विकाणी आपल्या बुद्धिचा उपयोग करून घे." ९३ हें त्याचें भाषण ऐकून नारायण त्यास हमणाला कीं, ''हे शत्रों! तुझें हें भाषण भ्याड लोकांना भय उत्पन्न करणारें आहे उन्नतांना यापासून कांहींच भय बाटत नाहीं. रानटी हत्तीची गर्जना ही हरिणाच्या पाइसास भीति दाखिवते सिंहाला ती भय दाखिते काय? तुझें हें चक्रे कुंभाराच्या चाकाप्रमाणें आहे याच्या योगानें कोणता मनुष्य स्वतःला पराक्रमी समजेल ? पराक्रम हा बोलण्यांत नसतो तो कृतींत असतो."

श्रुत्वा तदीयवचनं सभयावनीशैरालोक्यमानममुचत्तरसा स चर्क ॥ तत्प्राप दक्षिणकरं मृगराजशत्रोराज्ञापयेति निगदन्मुहुरुद्यदिनः ९४

एतत्ते चक्रमुशं प्रथितिरिपुशिरश्छेदरक्तारुणांगं ॥
विद्धन्यस्य प्रतापादिखिलमहितले पूर्णकामा ह्यमुस्तं ॥
तत्प्राप्तं में कराशं कृतसुकृतवशात्तर्फलं चेह मत्वा ॥
पूज्यं ते मेंऽिष्ठयुग्मं मटिनवहत्या तिष्ठ वाशेऽस्य धैर्यात् ॥९५॥
हृष्ट्वा तिक्वजहस्तसंस्थितमुरुज्वालोलसन्नोमिकं
निर्धूमज्वलनं यथा ह्यगलं तं विष्णुक्तचे पुनः॥

सप्तिग्रीव! ममाशु पादपतने शिष्यत्वमालम्बय श्रैयोर्थं मुनिपुंगवस्य तव नो वीक्षेऽन्यथा जीवितं ॥९६॥ ऊचे तं तु विहस्य नीरिधमना जिष्णुं हयग्रीवकः चक्रेण त्वमनेन गर्वितमतिर्नालातचक्रेण वा भूतो नालयमायुधेरविवरं पूर्णं न मे किं महत्॥ नीचा वाथ न कुर्वते खलु खलं लब्बा धृतिं किंतनां ॥९७॥ तिष्ठांग्रे किमु भाषितेन वहुना त्वं याहि मृत्योर्मुखं॥ ह्यन्यस्त्रोसुरताभिलापजफलं सुक्ताद्य सूढांतरे किंवा ये परदारसंगमसुखन्यासक्तवित्तास्तु ते जीवांति क्षितिपे प्रसाधितारिपौ सत्येव कालं चिरं । १९८॥ भकोत्सृष्टं मदीयं क्रमयुगलरजस्तुल्यमत्यंतरागात्॥ प्राप्येदं लोष्टखंडं खलदलसदशं गर्वितस्त्वं विसूदः॥ क्षुद्राणां वातितुष्टिर्भवति भुवि परा सिक्थमात्रेऽपि लब्धे ॥ काचिच्चेद्धास्ति शक्तिस्तव खलु हृदये शीघ्रमेतिस्थिप त्वं ॥९९॥

९४ हें नारायणाचे भाषण ऐक्तन भयभीत झालेल्या सर्व राजाकडून पाहिलें जाणारें व ज्याच्यांतून ज्वाला नियत आहे असे तें चक्र चक्रवर्तीने मोठ्या वेगानें नारायणावर फेकिलें. तें नारायणाच्या उजन्या हातावर जणु मला आपण आजा करा असे म्हणत येऊन वसले त्यावेळी नारायणान्त्रास म्हणाला की, "हे बुद्धिमंता प्रासिद्ध शत्रूंच्या मस्तकाला लेंदून त्याच्या रक्ताने ज्याचे आरे लाल झाले आहेत असे हें भयंकर चक्र माह्या हातांत आज आलें आहे. या चक्राच्या सामर्थ्यानें तूं या भूतलावर सर्व इच्छांनी पूर्ण झाला आहेस. अर्थात तुझ्या सर्व इच्छा या चक्रानें तुला पूर्ण करून वेता आल्या आहेत. मला माह्या पूर्व पुण्याचे फल म्हणून हें चक्र प्राप्त झालें आहे असे मानून तू शूर पुरुपासह माझ्या पायांची पूजा कर अथवा या चक्राच्या पुढे धेर्यानें जभा रहा. ९६ ज्याची थाव मोठ्या ज्वालांनी जोभत आहे व धुरानें रहित असलेल्या अर्थीनमाण उज्ज्वल अर्से ते चक्र

आपरया हातांत आलेलें पाहून पुनः नारायणानें अन्वग्रीवाला याप्रमाणें ह्मटलें:-"हे अश्वग्रीवा, तूं माझ्या पाया पडून माझा नोकर हो अथवा कल्याणाक्षरितां धानिश्रेष्टांचा शिष्य हो. या शिवाय तुला जगण्याचा दुसरा उपाय मला दिसत नाहीं." ९७ हें नारायणाचें भाषण ऐकून समुद्राप्रमाणे गंभीर असा अव्यप्रीव त्याला हसून याप्रमाणे वोललाः—"अग्नीच्या चक्राप्रमाण असलेल्या या चक्राने तुला गर्व उत्पन्न झाला आहे. माझें मोठें शस्त्रग्रह अनेक प्रकारच्या शस्त्रांनीं अगदी पूर्ण भरून गेलें आहे. अथवा जे नीच, दिखी असतात ते पेडी सारखा तुच्छ पढार्थ मिळाला असतांही संतुष्ट होत नाहींत काय?" ९८ ' हे अव्वय्रीवा ! पुष्कळ वडवड करू नको, पुढें उभा रहा. आज या युद्धांत परस्त्रीच्या संभोगाचा अभिलाप करण्यापासून जें फल मिलतें त्याचा उपभोग घेऊन नियमानें मृत्यृच्या तोडी जाऊन पड. जे पुरुष परस्त्रीच्या सहवाससुखांत आसक्त झालेले आहेत ते ज्याने सर्व शत्रूंना जिंकिले आहे असा राजा जिवंत असतां पुष्कळ काळापर्यत कसे जीवंत राहू शकतील ? " ९९ या भाषणानंतर अश्वग्रीव पुनः नारायणास या प्रमाणं बोलला. "हे नारायणा, हें माझें चक्रमी भोगून त्यागलें आहे. हें माझ्या दोन पायाच्या धुळीप्रमाण मी तुच्छ समजतों. परंतु तुं मूढ आहेस. तुं अतिशय लुब्ध होऊन देवळाप्रमाण किंवा पेडीच्या तुकड्याप्रमाणे हे प्राप्त करून घेऊन गविष्ठ वनला आहेस. वरोवरच आहे कीं, भाताचें एक शीत मिलालें तरी ही क्षुद्र माणसांना फार आनंद होत असतो. अरे नारायणा, जर तुझें हृदयांत कांहीं सामर्थ्य असेल तरं हे चक्र तूं लौकर फेक." चकं प्राप्य स विष्णुरेवमवदन्मत्पादयोस्तवं नमः

चकं प्राप्य स विष्णुरेवमवदन्मत्पादयोस्त्वं नमः
प्राग्वते विभवं करोमि कुमुदं जह्या वृथा मानसं ॥
इत्युक्ते हपकंघरेण परुषं निर्भार्तितस्तत्क्षणात्
तत्कुद्ध्वास्य शिरो गृहाण स इति क्षिप्रं हिरः प्रैक्षिपत्॥ १००॥
अवलंब्य हरेस्तदा तदाज्ञां विनिवृत्त्याशु रथांगमाजिरंगे॥
समपातयदश्वकंघरस्य स्फुरदर्चिर्मुकुटं शिरः शिरोधेः॥ १०९॥
हत्वैतं हयकंघरं निजरिपुं चक्रेण घारानल—
ज्वालापछवितेन तेन न तथा रेजे पुरोवर्तिना॥

## वैराशंसनसंपदं सह नृपैः पश्यन्नभोलंधिना-माबद्धाभययाचनांजिल्धृतां चकेण विष्णुर्धधा ॥ १०२ ॥ इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरित्रे महाकाव्ये त्रिपृष्टाविजयो नाम नवमः सर्गः ॥

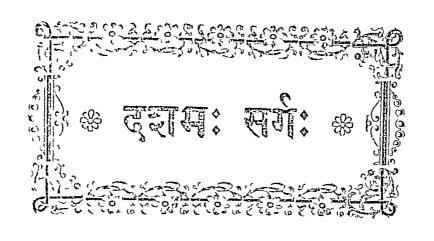
१०० चकरत्नाची प्राप्ति झाल्यानें पुनः नारायण अख्ग्रीवाला याप्रधाणे म्हणालाः—"हे अश्वग्रीवा, तूं व्यर्थ अंतःकरणांतील खांटा गर्व सोड्न दे. माड्या पायांना नमरकार कर. म्हणजे पूर्वीप्रमाण मी तुला वैभवसंपन्न वनवीन." असे भाषण केल्या वरोवर अश्वग्रीवाने त्याची फार निर्भत्तिना केली. त्यामुले नाराय-णाला फार क्रोध आला व त्याने या अश्वग्रीवाचे मस्तक ग्रहण कर म्हणून ते चक्ररत्न शीघ्र त्याच्यावर फेकिलें.

१०१ नारायणाच्या आजेचे अवलंबन करून ते चक्ररत्न युद्धभूभीमध्ये पुन शीघ्र परतृत त्याने ज्याच्यातृन किरण दाहेर पडत आहेत अशा मुकुटान युक्त असलेले अवग्रीवाचे मरतक त्याच्या मानेबरून तत्काल खाली पाडले.

१०२ अभयदान मानण्यासाठी ज्यांनी ठात जोडले आहेत अशा विद्याधरांच्या राष्ट्रदायाने वैर सूचित करणाऱ्या संपत्तीला पाहात असतांना जसा तो त्रिपृष्ट शोभला तसा आपला शत्रु जो अश्वत्रीव त्याला युद्धामध्ये टार भारून थारेपासून निवालेख्या अग्निज्वालेन पालवी फ़टल्याममाणे दिसणाऱ्या चक्र रत्नाने शोभला नाही.

या भगाण असन कवीनें र्चिछेल्या श्री बद्धेमान चरित नांवाच्या महाकाच्यांत त्रिपृष्ट विजय नांवाचा नववा सर्ग समाप्त झाला.





अथाभिपिक्तो विजयेन केरावः समं नरेन्द्रैः सक्लैश्च खेचरैः॥ पुरा समभ्यच्ये जिनं सपर्यया स चक्रमानचे यथोक्तया पुनः॥१॥ प्रणामतुष्टेर्युरुभिः ससंभ्रमेरुदीरिताशीरभिषूज्य राजकम् ॥ पुरसरीभूतरथांगमंगलो हरिःप्रतस्थे द्रादिग्जिगीपया ॥ २ ॥ दिशं महेंद्रस्य महेंद्रसन्निमः पुरा वशीकृत्य निजेन तेजसा ॥ रराज देवं विनमस्य मागधं पराईतहत्तविचित्रभूषणैः ॥ ३ ॥ ततो वरादिं तनुमन्युतो नतं सुरं प्रभासं च परानिप क्रमात ॥ उपागतान्द्रीपपतीनुपायनैरतिष्टिपत्तान्निज एव धामनि ॥ ४ ॥ स भारतार्ह्ध परिसम्मिति दिनै विधाय सर्व करदं यथे च्छया ॥ ततः पुरं पोदनसुच्छितध्वजं विवेश पोरैः परिवार्य पूरितः॥ ५॥ हरेरुदीचीयवसवानायकां प्रसादतः श्रेणिमवाप्य वांछितां॥ अस्त्कृतार्थो रथनूपुरेश्वरो न वर्धते कः पुरुषोत्तमाश्रितः॥ ६॥ अयं पतिवीं विजयार्द्धवासिनां वह वमस्यैव निदेशमादरात्॥ इतीरियत्वा सह तेन खेचरान्सुमीच सम्मान्य यथाक्रमं विसः॥७॥ यथावदापृछय ततः प्रजापतिं नभश्ररेंद्रस्य पुरैव पादयेः॥ पपात समार् सह सीरपाणिना सतां हि लक्ष्या निनयो वितीर्यते।८। भणामपर्यस्तिकरीटकोटिना निपीडयंतं शिरसा पदद्रये ॥ मुदार्ककीति परिरम्य ताबुभी स्वचेतसा तं विससर्जतः समं॥९॥

## ययौ तनूजामनुशिष्य पद्धतिं परां सतीनां सह वाखेवगया॥ प्रमृज्य तच्चक्षुरुद्धु पाणिना नभश्चरेंद्रो मुह्रालानोऽप्यसौ॥१०॥

१ यानंतर सर्व मांडलिक राजे व सर्व विद्यायर यांनी विजय वलभद्रासह केशवाचा-त्रिपृष्ट नारायणाचा राज्याभिषेक केला. अभिषेक विवीनंतर श्रीजिनेहाची केशवानें प्रथम पूजा करून नंतर शास्त्रोक्त पद्धतीन चक्तरत्नाची पूजा केली. २ केशवानें जेव्हां वडील माणसांना नमस्कार केला तेव्हां त्यानी मोठ्या आदराने त्यास आशीर्वाद ढिला. यानंतर केशवानें सर्व राजसमूराचा आदर सत्कार केला. ज्याला चत्रवाक पक्षाचा गुभशकुन झाला आहे अथवा कल्याणपट चक्ररत्न ज्याच्यापुढॅ झालें आहे असा तो केशव दहादिशा जिंकण्याच्या इच्छेन निघाला. ३ इंद्रासारखें ऐश्वर्य ज्याचे आहे. अशा त्या केशवाने प्रथमतः आपल्या पराक्रमान इंद्राची दिशा अर्थात् पूर्व दिशा जिंकून मागथ नांवाच्या ढेवाला त्यानें नम्र केले अर्थात् नमस्कार करावयास लाविलें व त्यानें दिलेल्या अमृल्य नाना मकारच्या अलंकारांनी तो शोथू लागला ४ यानंतर क्रमानें वरतनु, द प्रभास नांवाच्या देवांसही त्याने नम्र केले व नजराणा घेऊन आलेल्या सर्व द्वीपांच्या राजांना आपल्या पराक्रमाच्या स्वाधीन केलें ५ थोडक्याच दिवसांनीं केजवाने अर्थे भरत क्षेत्र कर देणारे केलें व ज्यामध्ये चोहोकडे जयध्वजा उभा केल्या आहेत अज्ञा आपल्या नगरांत नगरवासी लोकांनी वेष्टिलेला होऊन इच्छानुसार पोद्नपुर शहरांत पवेश केला. ६ जिचा अधिपति मरण पावला आहे अशा इच्छिलेल्या उत्तर श्रेंभीचे राज्य केशवाच्या कृपेने रथनूपुर शहराचा राजा जो ज्वलनज़टी त्याला मिळालें त्यामुळे तो कृतार्थ झाला. वरोवरच आहे की ज्यानें पुरुषोत्तमाचा-केश्चवाचा आश्रय घेतला आहे असा कोणता मनुष्य उन्नता-वस्थेंला पोहोचणार नाही वरें ? ७ " हे विद्याथरांनो ! हा ज्वलनजटी विजयार्ध पर्वतावर राहणाऱ्या तुम्हा विद्याधरांचा पति आहे. याचीच आज्ञा तुम्ही आदराने अ(पल्या पस्तकावर धारण करा" असे वोल्पन त्या ज्वलनजटीसह त्या विद्याधरांचा - यथाक्रम आदर करून त्यांचें त्यानें विसर्जन केलें. ८ प्रजापित महाराजांना जाण्यावद्दल परवानगी विचारणाऱ्या विद्याधरांचा अधिपती अज्ञा ज्वलनजटी राजाच्या चरणांना अर्ध चक्रवर्ती केशवाने वलभद्रासह नमस्कार केला. वरोवर आहे. सत्पुरुपांना लक्ष्मी विनय अर्पण करीत असते ९ वाकते वेळीं नम्र



३ संगम नांवाच्या देवाने हजार फणांनी भयंकर दिसणार असे मर्णाचं रूप विक्रिः थेने घरण करून वडाचा बुधा त्याच्या सर्व फांद्यासह थेडून टाफिला, न्यायंत्री त्या भयंकर मर्पाला पाहून सर्व लहान मुले पटापट खाली पड़े नागली नेद्या प्रमु लीली भयंकर मर्पाला पाहून सर्व लहान मुले पटापट खाली पड़े नागली नेद्या प्रमु लीली उत्तर सर्पाच्या मस्तकावर आपले दोन पाय ठेऊन निर्भयपण जाटावरून जिम्मीया एक स्ति वरावरच आहे की, वीर पुरुपाला जगांत भय उत्पक्त घरणार फांटी प्राप्त प्रमु रही काही प्रभूचा निर्भयपणा पाहून देवाचे अतःकरण आनंदित झाले न्याचे मरावीर प्रमु लोव करून व सुवर्णकलशाच्या पाण्याने प्रभूचा विभियेक फलन न्याचे मरावीर प्रमु लोव ठेविले. पृष्ठ. ३५६.

झालेल्या किरीटाच्या अग्रभागानें युक्त अशा आपल्या मस्तकानें चरणद्वयास पीडित करणाच्या अर्थात् नमस्कार करणाच्या अर्ककीतींला बलभद्र आणि केशव यांनीं अन्तः करणपूर्वक आनंदानें आलिंगन देऊन विसर्जन केलें १०नभश्चरेंद्र अर्थात् विद्याधर-पित ज्वलनजटा राजानें आपलें व आपल्या कन्येचें रवयमभेचें पाण्यानें भरलेले दोन होले आपल्या हातांनीं पुसून व तिला पितिव्रता स्त्रियांच्या वागण्याच्या पद्धतींचा उत्कृष्ट उपदेश करून आपल्या वायुवेगाराणीसह आपल्या रथनूपुर शहरास प्रयाण केलें.

नरेश्वरैः षोडशभिः समन्वितो हरिः सहस्रैः कमनीयसूर्तिभिः॥ वधाभरप्यष्टसहस्रसाम्मतैः सुरैश्च नित्यं विरराज किंकरैः ॥११॥ निरीक्ष्य साम्राज्यमिति प्रजापतिः सुतस्य तस्य स्वमनोऽनुवार्तिनः॥ स्वबंधवर्गेः सह पित्रिये परं मनोरशेम्योऽप्यतिरिक्तभृतिभिः॥१२॥ स भूपतीनां च नभोविलंबिनां नखप्रमालीं मुकुटेषु पादयोः॥ दिगंतरेषिंवदुमरीचिनिर्मलां निधाय कीर्तिं च शशास मेदिनीं॥१३। स्वपादानम्रान्सचिवस्य शिक्षया सपत्नबालानवलोक्य केशवः॥ परानुकंपामकरोद्दयार्द्रधीर्दयालवो हि प्रणतेषु साधवः॥ १४॥ अकालमृत्युर्न बभूव देहिनां मनोरथानामगतिर्न कश्चन ॥ अकृष्टपच्यांचितशस्यशालिनी तदीयपुण्येन धरापि सा सदा॥१५॥ सुखाय सर्वत्र सदा शरीरिणां ववौ तदिच्छामनुर्वतयन्मरुत ॥ महीरजःक्षालनमात्रमंबुदाः सुगांधितोयं ववृषुर्दिने दिने ॥ १६ ॥ उपास्त सर्वर्तुगणो निरंतरं निजदुमाणां प्रसवैश्व वीरुधां ॥ समंतमन्योऽन्यविरोधवानीप प्रभुत्वमाश्चर्यकरं हि चिक्रणः॥१७॥

सुराज्ञि यस्मिन्परिपाति मेदिनीमन् नवृत्तेषु समुनातात्मसु ॥ मगेक्षणानामुरुयोवनिश्रयां कुचेषु काठिन्यमभूच्च सोप्मता ॥१८॥ अवाप्तसाधुश्रवणेषु सायतिं द्धत्मु कान्ति धवलेषु केवलं॥ परिप्लवत्वं नयनेषु योषितामलक्ष्यतान्तर्मिलनत्वमप्यलं॥ १९॥

११ हा तिपृष्ट केशव सोळा हजार गांडलिक राजे व सोळा हजार संहर स्त्रिया व नोकर असळेल्या आठ हजार देवांनीं नेहमी फार शोधू लागला. ११ आपल्या मनाला अनुक्ल अशा रीतीनें वानणाऱ्या आपल्या मुलांचं हें उत्कृष्ट राज्य पाहून व मनांत इच्छिल्या पेक्षांही अधिक प्राप्त झालेलें ए श्वर्य वधन प्रजा-पित महाराज आपल्या वंधुवर्गासह फार खुप झाले. १३ त्रिपृष्टकेशव आकार्गात्न गमन करणाऱ्या विद्याधरांच्या मुकुटावर आपल्या दोन पायांन्या नखकांतीचा समूह ठेवून व दहा दिशांच्या मध्यभागांत चंद्राप्रमाणें निर्मेळ अशी कीर्ति ठेवून र्सव पृथ्वीचे राज्य करूं छागला. १४ प्रधानजीच्या उपदेशाने आपल्या चरणास नमस्कार करणाऱ्या शत्रूंच्या मुलांना पाहन द्येन ज्याची बुढि ओली आली आहे अशा त्रिपृष्टानें त्यांच्यावर फार दया केली. वरीवरच आहे कीं, सज्जन ्नम्र झालेल्यावर दयाच करीत असतात. त्रिपृष्टाच्या राज्यांत अकालीं मरण नव्हतें व सर्वोचें मनोरथ पूर्ण होत असत. याच्या पुण्यानें सर्व पृथ्वी न नांगरतांच पिकणाच्या धान्यांनीं नेहभीं भरछेछी होती. १६ या राजाच्या इच्छेछा अनुसरून वागणारा वारा सर्वे ठिकाणी नेहमीं प्राण्यांना सुख देणारा असा वाहात होता. व दररोज मेघ जमीनीवरचा धुराळा उडविण्या पुरत्या सुंगंधित पाण्याची दृष्टि करीत असत. १७ परस्परांशी विरोध ठेवणारे असेही सर्व ऋतु आपल्या द्रक्षांच्या व वेलींच्या पुष्पांनी नेहमी सर्ववाजून त्या चऋवर्ती तिपृष्टाची सेवा करू लागले. यावरूच चक्रवर्तीचें प्रमुत्व आश्चर्यकारक होते. १८ उत्तम राजा असळेळा हा चऋवर्ती पृथ्वीचें पाळन करीत असतां भर नारुण्याने शोभत असळेल्या स्त्रियांच्या गोल पूर्ण भरलेले, उंच अर्थात् पुष्ट असलेले, अशा स्तनांच्या ठिकाणींच कठिणपणा व उप्णपणा होता. परतु अनूनवृत्त-सटाचार परिपूर्ण व समुन्नत अशा सज्जनांच्या ठिकाणीं कठिणपणा-अथीत् अंत.करणें कठोर असणे, व सोष्मता-उताविळपणा किंवा क्रोध असणें या गोष्टी नव्हत्या। ं१९ उत्तम अञ्चा कानापर्येत पाप्त झाछेछे, दीर्घपणासह उज्वलपणा घारण कर-णारे अशा स्त्रियांच्या पांढच्या डोळ्यामध्येंच फक्त चचलपणा व आंत अधिक काळेपणा होता. परंतु जे अवाप्तसाधुश्रवण अर्थात् मिळविळी आहे उत्ताम मुनींची संगति ज्यांनीं अशा धवल-उत्तम सत्पुरुपाच्या ठिकाणी-निर्मल मनांच्या सज्जनांच्या ठिकाणीं परिष्ठवत्व-चचलपणा अन्तर्मिलिनन्व म्हणजे आंतून काळेपणा-ऋपटी स्वभाव हे दुर्गुण मुळींच नसत.

सदांतराईं घरास वर्षणाद्रजोविकारप्रसरापहारिषु॥
अजायताञ्चेषु विचित्ररूपता निरर्थकं गर्जितमप्यकारणं॥ २०॥
अलंघनीयस्थितिमत्सु भूतले प्रशस्तवंशेषु वहत्सु तुंगतां॥
घराघरेष्वेव सदा विपक्षिता नभूव दुर्मार्गगितिश्च निश्चिता॥२१॥
अनूनसत्वा वहुरत्नशालिनो महाशया घीरतया समन्विताः॥
सदुःप्रवेशां स्थितिम्हुरर्थिनां प्रसिद्धदुर्गाहतयां चुराशयः॥ २२॥
कलाधरेषु क्षणदाकरेऽभवत्पदोषसंगक्षयग्रद्धिवक्रता॥
महोत्पले श्रीनिलयेषु च क्षितौ जलस्थितिमित्रवलादिनुंभणं॥२३॥
सुविप्रियश्चारुषलेषु पादपो मधुप्रियोऽलिः सुमनोऽनुवर्तिषु॥
दुरासदोऽभूदिहरेव भोगिषु स्फुरद्दिजिन्हात्मतया मनीपिभिः २४

२० सदांतराई म्हणजे नेहमी पाण्याने ओथंबलेले व धरासु वर्षण अर्थात् पृथ्वीवर पाण्याची दृष्टि करून रजोविकारप्रसरापहार करणारे अर्थात् सर्व धूळ व अस्वच्छ पणा दूर करणाऱ्या अञ्चा मेघामध्येच फक्त त्या ठिकाणीं विचित्ररूपता, निरर्थक व निष्कारण गर्जना करणे ह्या गोष्टी आढळ्न येत असत. लोक देखील नेहमी अंत-राई होते-दयाछ होते, गरीव लोकांना सुवर्षण करीत होते-दान देत होते रजो-विकारांचा अर्थात् पापाचे विकार जे रागद्वेष त्यांचा अपहार-नाश करीत होत. परत ते विचित्ररूपाचे नव्हते अथीत् एक रूपाचे निष्कपटी होते. निरर्थक व विनाकारण-गर्जना करीत नव्हते म्हणजे कार्यप्रसंगीं योग्य शौर्य व भाषण करीत असत. २१ या भ्रुतलावर पर्वतच अलंघनीयस्थितिमान् होते-उल्लंघता न येण्याजोगे होते व प्रशस्तवंश होते अर्थात् उन्नत वेव्हंच्या वेटांनीं युक्त होते. व तुंगता त्यांनी धारण केली होती अर्थात् अतिशय उंच होते. त्यांन्या ठिकाणींच विपक्षिता पंत-रहित पणा व दुर्मोर्गगित वाईट मार्गाचा खाच खलग्यांच्या मार्गाचा प्रवेश होता. या त्रिपृष्ट चक्रवर्तीच्या राज्यांतील लोक अलघनीयस्थितीचे होते-मर्याटा न उल्लंघणारे होते. प्रशस्तवंशामध्यें-कुलामध्ये जन्मलेले होते व ते आपली तुंगता मोठेपणा कायम ठेवीत असत. पण ते विपक्षतेला विशिष्ट पक्षाला-उत्तम योजला धारण करीत असून दुर्मार्गगतिचे नव्हते पापमार्गाने वागणारे नव्हते. २२ या राजाऱ्या राज्यातील समुद्र अन्तसत्य- विषुठ जठवर भाण्यांना धारण करणार

बहुरत्नशाली व महाशय-विस्तीर्ण आणि धीरतया-गंभीरपणाने धुक्त होते परंतु प्रसिद्ध असे दुर्ग्राह-क्रूर मगर वैगेरनी युक्त असन्यामुळी अधी लोकांना व्यापारी सुदुष्पवेश्य होते परंतु या राज्यांतील श्रीमंत लोक अन्नसन्य-पुष्कल आदार्य गुणधारक, पुष्कळ रत्नांनी युक्त, महाशय-उत्तम विचाराचे व घीरपणाने युक्त होते.परंतु दुर्ग्राही दुराग्रही नसल्यामुळे याचक लोक तेथे प्रवेश करीन असन.२२कला धारण करणाऱ्यांपेकीं चंद्रामध्यंच मदोप संसर्ग-रात्रीचा संसर्ग होणें, क्षय, दृद्धि वांकडेपणा हे दोष होते. तेथील कला जाणणारे लोकांत हे दोप नव्हतं तसंच तेथे <mark>रुक्ष्मीचें निवासस्थान वन</mark>लेल्यामध्यें कमलच फक्त या भृतलावर जलस्थि<sup>ती</sup> युक्त-पाण्यामध्यें राहणारे, च मित्रवलाद्विजूंभण अर्थात् सूर्यापामून विकास पावणें या स्वभावांनीं युक्त होते. तेथील लोक जडिस्थती-म्खिरया संवंधाने युक्त व भित्राच्या सामध्यींने उच्छ्रंखळ वनेळेळ नव्हते. २४ चारुफळविपर्या-सुंदर फलाविषयौँ सुविभिय-अगदीं प्रतिकुल फक्त वृज्ञच होता. अर्थात् तो सु-**उत्तपरीतीनें**—विभिय—पश्यांना आवडता होता. झाडाळा उत्तम फळे आळी असतां तो पक्षांचा आवडता वनतो. तेथील लोक सुंदर असे जे पुण्यकल त्याविपयी सुविभिय-प्रतिक्त्ल नन्हते. सुमनोनुवर्ती अर्थात् विद्वानांचे अनुसरण करणाऱ्यामध्यें कोणी मधुप्रिय-दारू ज्याला पिय आहे असा नन्हता. फक्त सुपनोनुवर्ता-फुलांना अनुसरणाऱ्यामध्यें मधुपिय -मकरद ज्याला आवडतो असा फक्त अलि-भ्रंगा शोता. भोगि लोकांत--विलासी लोकांत विद्वान लोकांना कोणीही द्विजिन्हात्मतया दोन जिभांनी युक्त अधीत् चहाडखोर आढळून आला नाहीं परतु भोगि स्रोकांत-सर्पसमृहांत माल द्विजिन्हता दोन जिमांनी युक्त असणे ही अवस्था विद्वान स्रोकांना आढळ्न आली.

वभार हारो गुणवत्सु केवलं सुवृत्तमुक्तात्मकतामनारतं ॥
सदा परेषां मणिमेखलागुणः सुजातरूपेषु कलत्रमग्रहीत् ॥ २५॥
प्रियावियोगव्यथया कृशीकृतो निशासु कोको मुवि कामुकेष्वभूत्।
ननाम मध्यः कुचभारपीडितो नितंबिनीनां न च दुर्वलःपरः ।२६॥
इति प्रजासु प्रतिवासरं परां स्थितिं वितन्बन्विगतोरुसंभ्रमः ॥
ररक्ष रत्नाकरवारिमेखलां वसुंधरामेकपुरीमिवाच्युतः ॥ २७॥

असूत कालेन यथाक्रमं सुतो स्वयंप्रभा कन्यकया सहैकया॥
सुकोशदंडो सममायतिश्रया धरेव तस्य प्रमदाय वल्लभा॥ २८॥
परंतपः श्रीविजयोऽग्रजः सुतस्ततः कनीयान्विजयो यशोधनः॥
प्रभोत्तरज्योतिरिम्ह्यया सती सुता च रेजे सृगशावलोचना।२९।
पितुर्गुणांस्तावनुचक्रतुः सुतौ वपुर्विशेषेण समं समंततः॥
विजित्य कांत्या तनुजा स्वमातरं बभूव शीलेन समा च केवलं ३०
नरंद्रविद्यासु गजाधिरोहणे तुरंगपृष्ट च समस्तहेतिषु॥
अवापतुस्तौ नितरां च कौशलं कलासु सर्वासु च सापि कन्यका ३९
अथेकदा दूतमुखान्नभःस्पृशां निशम्य नाथं तपिस प्रतिष्ठितं॥
प्रजापातिस्तत्क्षणिमत्यिचंतयिद्धधाय बुद्धं विषयेषु निस्पृहाम ।३२।
स एव धन्यो रथनूपुरेश्वरो मतिश्च तस्यैव हितानुबंधिनी॥
सुखेन तृष्णामयवञ्चपंजरादिनिर्ययौ यो दुरितक्रमादिप॥ ३३॥

२५ गुणवानामध्यें फक्त हारच नेहमीं सुदृत्तात्मक होता अर्यात गोल व मोत्यांच्या समूहांनीं युक्त होता. इतर कोणी तेथे सुदृत्तमुक्तात्मक अर्थात् उत्तम अचरणानें रहित नव्हता. सुजातरूप—अर्थात नम्ररूप धारण करणाऱ्या सुनिमध्यें फक्त मेखलागुण अर्थात् कंचरपट्टा तोच नेहमीं उत्कृष्ट सियांची कंचर ग्रहण करीत असें अर्थात् सुजातरूप सोन्याच्या दागिन्यामध्यें फक्त रत्नाचा वनलेला कंचर पट्टा स्त्रिया आपल्या कंचरेत घालीत इ.सत. २६ कामुक लोकामध्यें फक्त रात्रीं कोकपश्लीच प्रिया वियोग व्यथेनें युक्त होता अर्थात् त्यालाच फक्त आपल्या मादीचा विरह रात्रीं होजन कृशपणा प्राप्त होत असें. या राजाच्या मादीचा विरह रात्रीं होजन कृशपणा प्राप्त होत असें. या राजाच्या पाज्यांत दुसरा कोणी दुर्वल झाला नव्हता. २७ याप्रमाणें राज्यांत दुसरा कोणी दुर्वल झाला नव्हता. २७ याप्रमाणें पाज्यांत दुसरा कोणी दुर्वल झाला नव्हता. २७ याप्रमाणें पाज्यां प्रत्येक दिवशीं उत्कृष्ट स्थिति करणारा व शत्रूच्या मोठ्या भामापासून रहित असलेला तो त्रिपृष्ट नारायण समुद्राचें पाणी हेच जिचा कमरपट्टा आहे अशा संपूर्ण पृथ्वीचें एका नगराप्रमाणें रक्षण कल कमरपट्टा आहे अशा संपूर्ण पृथ्वीचें एका नगराप्रमाणें रक्षण कल काणाला. २८ स्वयंप्रमेला काहीं काल लोटल्यावर दोन मुलगे व एक कन्या झाली लाण पृथ्वीनें राजाला आनंदित करण्याकारितां विपुल लक्ष्मीसह कोश व इंड

उत्पन्न केले. २९ राजाच्या वाडिल मुलाचें नांव श्री विजय असें होते व तो परंतप इहणजे जत्रृंना तस्त करून सोडणारा होता. धाकट्या धुलाचे विजय असे नांव होते व तो यशरूपी धनाने युक्त होता. मुर्लीचे ज्योतिः प्रभा असे नांव होते व हरिणाप्रमार्गे तिचे डोळे असल्यामुळें ती फार शोभत असे. ३० शरीराच्या सौढर्यासह त्या उभय पुत्रांनी आपल्या वापाच्या गुणांचे पूर्ण अनुकरण केले. द सौटर्याच्या वावतीत ज्योति:मभेने आमल्या मातेला जिंकिलें होतें. पण शीलाने मात्र ती आईच्या वरोवरीची होती. ३१ राजविचेत-नीतिवास्नांत, हत्तीवर् चढणें, घोड्यादर चढणें, व सर्व प्रकारच्या गलास्त्रामध्यें त्या दोन मुलानीं पूर्ण पाविण्य पिळाविछे होते. व कन्येने हि सर्व प्रकारच्या कलापव्यें चातुर्य प्राप्त करून चेतल होते. ३२ एकेवेळी दृताच्या तोहून विद्याधराचा अधिपति ज्वलन-जटी हा दीक्षा येऊन नपश्चरणामध्ये लीन झाला आहे ही हकीकत ऐकून प्रजा-पति महाराजांची बुद्धि पंचेद्रिय विषयामध्ये निःस्पृह झाली तेव्हां याप्रमाण ते विचार करू लागले. ३३ सहज रीतीनें ज्यांतून निघण फार काठिण आहे अशा आगारूपी पिगऱ्यांतृन ज्या अथीं रथनृषुराधिपति ज्वलनजटी मुक्त झाला त्या अर्थी तोच खरोखर घन्य झाला असे मी समजतो व त्याचीच बुद्धि हिताला अनुसरणारी आहे असे मी मानितो.

अशेषभावाः क्षणभंगुरा न किं किमस्ति छेशोऽपि सुखस्य संसृतौ। तथापि जीवः स्वहित न वर्तते करोत्यकार्य बत बोधढुर्विधः ।३४। यथा यथायुर्गछति प्रतिक्षणं तथा तथा प्राणितुमेव वांछति ॥ असक्तमात्मा विपयैर्वशीकृतो न जायते तृष्ठिरथास्य तैरपि॥३५॥

नदीसहस्रेरिव यादसांपतिस्तनूनपादिंधनसंचयैरिव ॥
 चिराय संतुष्यित कामधस्यरो न कामगोगैः पुरुषो हि जातुचित् ।३६।

हिप्पणी:—दहनम्नृणकाष्ठसंचयैगिष नृप्येदुद्विर्निद्विर्द्यते: ॥
 न तु काममुख पुमानहो चलवता खलु काषि क्रमण: ॥ ७२ ॥

इमे मम प्राणसमाः सनाभयः सुतोऽयिमष्टः सुहदेप न्छयः ॥ इयं च भायी धनमेतदित्यहो विचेतनस्ताम्यति चिंतयनस्या ॥३०॥ शुभाशुभं कर्मफलं समक्षते ध्रुवं पुमान्याक्तनमेक एव हि॥ अतःस्वतोऽन्यःस्वजनःपरोऽपि वा न विद्यते कश्चन देहवारिणाय३८ किमिंद्रियार्थैः पुरुषो न विस्ता महीयते कालवशाहुपागतः॥ इदं तु चित्रं न जहाति तान्स्वयं समुज्झितोऽपि प्रसमं जरातुरः॥३९॥ असक्तमादौ मधुरं मनोहरं विपाककाले बहुदुः खकारणं ॥ उशन्ति सन्तो विषयोद्धवं सुखं सुपक्विंपाकफलाशनं यथा।।४०॥ सचेतनः स्थातुमिहोत्सहेत को वृथैग ताम्यन् विषयेच्छया गृहे ॥ मुदुस्तरस्यापि जिनेंद्रशासने अवांबुधेरुत्तरणप्रवे सति ॥ ४१ ॥ निवृत्तरागप्रसरस्य यत्सुखं शमात्मकं शाश्वतमात्मनि स्थितं ॥ दुरंतमोहानलतप्तचेतसः किमस्ति तस्यैकलवोऽपि रागिणः ॥४२॥ जिनोदितं धर्ममवेत्य तत्वतः समीहते यो विषयात्रिपेवितुं ॥ पिबत्यसौ जीविततृष्णया विषं विहाय पाणावसृतं विचेतनः । ४२।

३४ जगांतील सर्व पदार्थ क्षणांत नाश पावणारे नाहींत कार्या या संसागत वारतिक विचार करून पाहिला असतां सुखाचा लेश देखील आह या १ तरी देखील जानहीन जीव आपल्या हिताकडे वलत नाहीं. पात्र अकार्य करीन आहे. हें आश्चर्य आहे. ३५ हा आत्मा प्रत्येक क्षणीं जसें जसे पाचें आयुष्य करी होत चाललें आहे. तसें तसे जगण्याचीच इच्छा करीत आहे. हा पंचेद्रियांच्या विषयांनीं—स्त्री वगेरे पदार्थीनी अधिक पराधीन करून सोडला आहे. या पदार्थीचा हा नेहमी उपभोग वेत आहे. तथापि याची तृप्ति होतच नाहीं. जगा समुद्र हजारो नद्यांच्या पाण्यांनी तृप्त होत नाहीं. लांकडांच्या समुदायांनी जशी अग्रीची तृप्ति होत नाहीं तशी कामपीडित झालेल्या या आन्म्याला केद्यांटी कामभोगांनी तृप्ति होत नाहीं. ३७ हे माझे वंधु पाणासारख पिय आहेत. हा माझा मुलगा मला फार आवडतों. हा माझा आवडता पित्र आहे. ही माझी बायकों, हे माझे धन आहे, असा विचार करणारा टा मृखे आत्मा व्यर्थ प्रदेश वायकों, हे माझे धन आहे, असा विचार करणारा टा मृखे आत्मा व्यर्थ प्रदेश

पावत आहे. ३८ या आत्म्यानें पूर्व जन्मां जें शुभ किंवा अशुभ कर्म केलेंहें असतें त्याचें फल या एकट्यालाच अवश्य भोगावे लागतें. यास्तव या द्हेधारक आत्म्याला रवतःपेक्षां दुसरा रवजन-वंधु नाहीं व रवतःपेक्षां पर-शत्रु ही नाहीं. स्वतः हा आत्मा आपलें धर्माचरणाने कल्याण करून घेईल तर हा आत्माच स्वतःच बंधु आहे. व अधर्माचरण करील-विषयी वनेल तर हाच स्वतःचा शत्रू आहे. ३९ कालवश होऊन हे इंद्रियभोग्य पदार्थ आपण होऊन या आत्म्याचा स्वाभाविक रीतीनें त्याग करीत नाहींत काय? अवध्य त्याग करितातच, परंतु दृद्धावस्थेने अगदीं विकळ झालेला असा ही हा आत्मा त्यावि-षयाकडून सोडला गेला असतांही त्यांना सो इचिछत नाहीं. हैं पात्र आश्चर्य आहे. ४० पंचेंद्रियांच्या विषयापासून उत्पन्न झालेलें सुख प्रथमतः अधिक मनोहर व मधुर वाटतें परंतु परिणामीं पुष्कळ दुःखाला कारण आहे. यारतव या सुखाळा सत्पुरुप किंपाक फळाच्या भक्षणाची उपमा देतात. तें फळ नयन मनो-हर व गोड असते. परंतु त्याचा परिणाम प्राणहारक असतो. ४१ संसारसमुद्र अगाध असल्यामुळे तरून जाण्यास काठिण आहे. परंतु जिनशासन-जिनाची उपदेशरूपी नौका हीच यांतून तरून जाण्याचा उपाय आहे. असें असतां या विषयेच्छेला बळी पडून व्यर्थच दुःखी वनृन घरामध्यें राहाण्याला कोण बुद्धिः मान मनुष्य उत्सुक होईल वरें ? ४२ ज्यांचे रागद्वेप नष्ट झाले आहेत आत्म्याच्या ठिकाणीं शांति स्वरूपाचें जें अविनाशी सुख उत्पन्न त्या सुखाचा एक थेव ढेखिल दुःखढायक मोहरूपी अशीने ज्याचें मन सदैव होरपळत आहे अशा सराग पुरुपाला प्राप्त होत असतो काय? केव्हांही नाहीं. ४३ श्रीजिनेंश्वराच्या धर्माचें परमार्थ रीतीनें स्वरूप जाणून जो आत्मा गुनः विषयांचा उपभोग घेण्याची इच्छा ठेवितो तो मूर्ख मनुष्य हातांतील अमृताचा त्याग करून जगण्याच्या इच्छेर्ने विषशाशन करितो असे समजार्वे.

जरागृहीतं नवयौवनं यथा निवर्तते नैव पुनः कदाचन॥
तथायुरारोग्यमपि प्रतिक्षणं विलुप्यमानं नियतेन मृत्युना॥४४॥

अवाप्य सम्यक्तमतीव दुर्लभं पुनर्भवक्केशविनाशनक्षमं ॥ वहेत कोऽन्योऽहमिव प्रमत्तधीः सुनिः फलं जन्म विना तपस्यया४५ ं निराकरोत्यक्षबलं बलीयसी जरा न यावत्सकलं च देहतः॥ करोमि तावत्परिशेषमायुषस्तपस्ययाहं सफलं यथोक्तया ॥ ४६ ॥ .चिरं विर्चित्यैवसुदारधीरतः सुतौ समाहूय तदा प्रजापतिः॥ मुदाववादः क इति ? स्वपादयोर्नताववादीदिति रामकेशवौ॥४७॥ इयं भवद्भिः स्थितिराजवंजवी पुरःसरैः किं विदिता न धीमताम ॥ उषःसुरेंद्रायुघमेघविद्यतां विनश्वरी श्रीरिव तत्क्षणांतरे ॥ ४८ ॥ समागमाः सापगमा विस्त्रतयो विपन्निमित्ता वपुरामयात्मकं ॥ सुदुःखमूलं सुखमाशु यौवनं विलीयते जन्म च मृत्युकारणं । ४९ अनात्मनीने कुशलः क्रियाविधौ निसर्गतोऽयं स्वहिते जडः प्रमान्॥ द्धयं यदीयं विपरीतमात्मनो भवेत्तदा मुक्तिरवाप्यते न कैः ॥५०॥ अनेकसंख्यासु कुर्यानिषु भ्रमन्ननादिकालं कथमप्यदश्चिरात ॥ अयं जनः प्राप्य नृजन्म दुर्लभं प्रधानमिक्ष्वाकुकुलं समासदत्॥५१ समग्रपंचेंद्रियशा किसंयुतः कुलाग्रणीस्तत्र कुशाग्रधीरहं ॥ हिताहितज्ञः समभूवमीशिता वसुंघरायाश्च समुद्रवाससः ॥५२॥ महात्मनां सीररथांगधारिणां सदा वशी प्राष्ट्रहरी च मे सुती ॥ युवामभूतां खलु जन्मनः फलं किमस्त्यतोऽन्यद्भवि पुण्यशालिनः ५३

४४ ह्यातारपणानें पछाडछेछें नवयौवन जसें पुनः केव्हांही परतत नाहीं तसें प्रत्येकक्षणीं मृत्यूकडून आरोग्य व आयुष्य हैं निश्रयानें छुटछें जात आहे. हैं परत मिळण्याची आज्ञा केव्हां ही करणे योग्य नाहीं. ४५ संसाराचें दुःख नाहींसें करण्यांत समर्थ असें अतिज्ञय दुर्छभ सम्यग्दर्शन प्राप्त करून घेळन उन्मत्त बुद्धीचा माझ्या सारखा दुसरा कोणता मनुष्य हा जन्म तपश्चरणा वांच्न निष्कळ धारण करीछ वरें १ ४६ जोपर्यंत या देहापासून जवरदरत असें म्हाता-रपण इंद्रियांच्या शक्कीला हांकालून देत नाहीं तोपर्यंतच उरलेलें आयुष्य शास्त्रीक्त पद्धतीने मी तपश्चरण करून सफळ करीन अर्थात मोक्षलाभ वरून घेईन, याप्रमाणें वराच वेळ विचार करून उदार बद्धीच्या मजापति महाराजांनी हर्पांचें ही हकीकत सांगण्याच्या इन्होंने आपह्या दोन गृलांगा बोलाविल, दलभद्र व वेइय

या दोन मुलांनीं महाराजांच्या चरणांना नगस्कार केल्यावर ते त्या टोन पुतांना पुढें लिहिल्याममाणें बोलू लागले. ४८"मातःकालचा लालिमा, इन्द्रधनुष्य, मेघ व वीन याममाणें ही सर्वे संसारांतील संपत्तीची रिथति आहे. ही तत्लणांत नाश पावतें. आपण दोघे विद्वानामध्यें अग्रेसर आहात. आपणास हें माहीत नाहीं असे नाहीं. ४९ पुत्र, मित्र, भार्या वगैरेचा संयोग नाश पावणारा आहे. संपत्ति ही त्रिपत्तींचं कारण आहे. शरीर हैं रोगाचें घर आहे. सांसारिक सौंख्य हैं दु:खाचें पृळ आहे. यौवन नाशवंत आहे व जन्म हा मृत्यूला कारण आहे. ५० हा मूर्ख आत्मा ज्या कार्याच्या करण्याने याचे अकल्याण होते असेच कार्य करीत असतो व याचें करणें स्वाभाविक होऊन वसकें आहे. स्वहिताच्या कार्यामध्यें याची बुद्धि अगदीं जड होऊन बसली आहे. हिताहिताविपयीं असा विपरोतपणा होऊन बसल्यामुळे त्याला मुक्ति कोणत्या कारणामुळे होईछ ? अर्थात् हा वल्याणकारक कामें करील व आयोग्य कामें सोडून देईल तर त्याला चांगल्या कारणानीं मुक्ति को भाप्त होणार नाहीं ? अवस्य होईछ. ५१ मी अनादिकाछापासून असंख्यात कुयोनींत फिरकों आहे. मला मनुष्यमनम् फार दिवसांनीं माप्त होऊन त्यांत श्रेष्ठ अशा ह्या इक्ष्वाकु वंशाची प्राप्ति बाळी आहे. ५२ पांच इंद्रियांच्या शक्तीनें परिपूर्ण इक्ष्वाकु वंशांचा पुढ़ारी पुरुप, तीव्र बुद्धियुक्त आणि हिताहित जाणणारा झालों आहे. व समुद्ररूपी वस्त्र जिने धारण केलं आहे अशा या पृथ्वीचा अभिपति झालों आहे. ५३ महात्मा असे वलभद्र व नारायण यांच्या पैकीं पाहिले, कोणाच्याही स्वाधीन न राहाणारे असे तुम्ही ढोघे माझे पुत्र आहात यास्तव पुण्यशाली अशा माझ्या जन्माचे या भूतलावर या शिवाय वेगळें आणखी कोणतें फळ आहे सांगा वरें ?

अपत्यवक्षां बजवीक्षणावाधिश्चिरंतनानां गृहवासवासिनां ॥
ननु प्रसिद्धादिजिनेंद्रसंततेः कुलिस्थितिःसा विफलीकृता मया ५४
अतोऽनुगच्छाम्यधुनापि पावनीं दिगंबराणां पदवीं यथाक्रमं ॥
विम्रक्तिसीख्यस्पृहयेव वामहं निराकरोपि प्रणयं च दुन्त्यजं॥५५॥
निगद्य पुत्राविति पुत्रवत्सलः प्रजापतिस्तन्मुकुटांशुरुज्ज्ञिभः ॥
निबद्धपादोऽपि यथौ तपोवनं निबंधनं नास्ति हि भव्यवेतसां ५६

प्रणम्य पादो विशिनामधीशितुर्यथार्थनाम्नः पिहितास्वरस्य सः॥ नरेश्वरेः सप्तरातेः परां दघो घुरं युनीनां सह शांतमानसैः॥५७॥ यथोक्तमारोंण सुदुश्चरं परं तथो विधायाप्रतिमं प्रजापतिः॥ निरस्य कर्माष्टकपारावंधनं जगाम सिद्धिं निरुपद्रविश्रयं ॥५८॥ अथान्यदा योवनसंपदा छतां विगाह्यमानामवलोक्य माधवः॥ तताम कोऽरयाः सदृशो भवेदुचा वरो वरीयानिति चिंतयन्मुहुः ५९ स्वयं परिच्छेतुमपारयञ्चयं नयप्रवीणैः सचिवैः समन्वितः॥ उपव्हरे कृत्यविनिश्चयेच्छया प्रणम्य संकर्षणियसाषत ॥ ६० ॥ पितुः समक्षेऽपि भवान्धुरंधरः कुलस्य नस्तद्धिगमे विशेषतः॥ करोति लोकस्य रविभभेव ते तमोपहा धीः सकलार्थदिशानी॥६१॥ अतः समाचक्व विचित्य तत्त्वतो भवत्स्रतायाः सहशं ममार्थ तं ॥ कुलेन रूपेण कलागुणादिभिः पति नरेंद्रेषु नमश्चरेषु च ॥६२॥ उदीरितायामिति वाचि चिक्रणा ततो हलीत्थं निजगाद भारतीं मरीचिभिः ईद्सितैर्द्धिजन्मनां प्रवृद्धहारांशपिनद्धकंघरः ॥६३

५४ श्रीआदिनाथ भगवंताच्या वंशपरंपरेंत उत्पन्न झालेले जे प्राचीन गृहवासी श्रावक राजे होते ते मुंळाच्या मुखकमलाचे द्रीनापर्यंतच घरांमध्यें राहत होते अशी या इक्ष्वाकु वंशाची आजपर्यंत प्रसिद्धी आहे. परंतु या पद्धतीला मी विफल केलें अर्थात् मोइन टाकिलें ५५ यास्तव आतां कां होईना मी दिगंबर मुनींच्या पविल्ल मार्गीचं क्रमानुसार अनुसरण करितो. तुमच्या दोघांविपयीं माझ्या अंतःकरणांत न तुटणारा असा रनेह आहे पण मोक्षसुखाच्या इच्लेनें तुमचा तो स्नेह आज मी सोइन देत आहे. "५६ पुत्राविपयीं प्रेमल अशा मजापित महाराजांनीं याप्रमाणें भाषण केलें वत्यांच्या मुकुटांच्या किरणक्षी दोरखंडांनीं ज्यांचे पाय बांधले गेले आहेत असेहि ते प्रजापित महाराज त्योवनाला निघून गेले. बरोबरच आहे कीं, ज्यांना मोक्षप्राप्ति लौकरच होणार आहे अशा मन्यजी- वांच्या मनःप्रहत्तीला कोण वरें रोक् शकतों? कोणी ही रोक शकत नाहीं. ५७ वनामध्यें जितेद्रिय मुनिसमुदायांत पुढारी व पिहिताखन कर्माच्या शुभ व अशुभ

आस्रवास रोकणारे अरों येथार्थ नांव धारण करणाऱ्या मुनीश्वराच्या दोन पायास वंदन करून शांत अंत:करणाच्या७०० शे राजांसह मुनीश्वरांच्या अग्रपदवीस मजापति महाराजानें घारण केलें ५८ आगमांत सांगितलेल्या पद्धतीस अनुसहन आतिशय कठिण व उपमारहित असें तपश्चरण प्रजापित महाराजांनीं करून ज्ञानावरणादि आठही कर्मीच्या जाळ्याचे वंधन तोड्न टाकिलें व दु खाचा लेशही जिच्चांत नाहीं, ज्ञानादि संपत्तीने युक्त असलेल्या मुक्तीस ते पाप्त झाले. ५९ इकडे कांही दिवस गेल्यावर ज्थोतिः प्रभा कन्या तारुण्याच्या संपत्तीने युक्त झालेली आहे असे त्रिपृष्ट नारायणाच्या दृष्टीस पडले. तेन्हां कांतीने हिच्या जोडीचा श्रेष्ट असा पति होण्यास कोणता राजपुत्र योग्य आहे. असा वारंवार तो विचार करू लागला, या विचारानें त्याच्या अंतः करणांत खिन्नता उत्पन्न झाली. ६८ जेव्हां रवतःच्या बुद्धीने निर्णय करण्यास त्रिपृष्ट नारायण असमर्थ झाळा तेव्हां राजनी-तीमध्यें प्रवीण असलेल्या प्रधानांसह एकांत ठिकाणी या कृत्याचा निर्णय करून घेण्याच्या इच्छेने बलभद्राला नमस्कार करून तो या प्रमाणें वोलला ६१-अ।पले वाडिल प्रजापति पहाराजांच्या समक्षही आपणच सर्व वंशाचा भार धारण केला होता च त्यांच्या अभावीं ही आवणच विशेष रीतीनें वंशाचें ओंझें धारण करीत आहात. जसें सूर्याची कांति अंशाराचा नाश करिते. तसे आपली बुद्धि सूर्यकांति प्रपाणे अज्ञान रूपी अंधाराचा नाश करून सर्व पदार्थाच्या स्वरूपाचा परमार्थरीतीने निर्णय करून देत असते. ६२ यारतव हे आर्या! हे पूज्या! परमार्थ रीतीनें विचार विद्याधर राजे व भूमिगोचरी राजे यामध्ये कुलानें गुण व ऐश्वर्य वंगरेंनीं आपत्या ज्योति मभा कन्येला योग्य असा पति कोण आहे. हें मला सागा" ६३ याप्रमाणे त्रिषृष्ट नारायणाने भाषण केल्यानंतर कुंद्युष्पाप्रमाणें पांढऱ्या दंत किरणांनी ज्याचे किरण अधिक चाढले आहेत अज्ञा हारांच्या कांतीने ज्यान आपला गळा आच्छादित केला आहे अशा वसभद्रानें पुढे लिहिल्या बोलण्यास सुरवात केली

पतिः कनीयानिष यः श्रियाधिको महात्मनां नात्र वयः समीक्ष्यते॥ भवाहशानामत एव नो भवान् गतिश्र चक्षुश्र कुलप्रदीपकः ॥६४॥ यया न नक्षत्रपुदीक्ष्यते परं नभस्तले चंद्रकलासमाकृति ॥ तथेव न क्षत्रपपीह भारते भवत्मुताया न समास्ति रूपतः॥ ६५॥

चिरं स्वबुद्धचा परिचिंत्य यत्नतो वयं दिशामो यदि तामिनिदिताम्॥ नृषेषु कस्मैचिदतोऽपि किं तयोः समोऽनुरागो भवतीति निश्चयः।६६। न रूपमात्रं न कला न यौवनं भवेन्न सौभाग्यनिमित्तमाऋतिः ॥ ियेषु यत्त्रेमनिबंधनोचितं गुणांतरं तत्पृथगेव योषितां ॥ ६७ ॥ अतोऽनुरूपं स्वयमेव कन्यका वरं वृणीतां स्वधिया स्वयंवरे॥ चिरं प्रवृत्तो नितरामयं विधिविधिश्च साफल्यमुपैतु तत्कृतः ॥६८॥ विचार्य कार्यातरीमत्युदारधीरुदीर्य रामो विरराम मंत्रिभिः॥ समं तथेति प्रतिपद्य तिङ्क्षः स्वयंवरं दिक्ष चरैरघोषयत्॥ ६९ ॥ अथार्ककीर्तिः स्वमतं निशम्य तत्सुतं गृहीत्वामिततेजसं स तं ॥ सुतां सुतारां च मनोरमाऋतिं सहाययौ पोदनमंबरेचरैः॥ ७०॥ अवाप्य राज्ञां शिबिरैः समंततः प्रवेशवेशेषु परिष्कृतं पुरं ॥ स्वयंवरोद्धाहसमुच्छितैर्ध्वजैः स संकुलं राजकुलं समासदत् ॥७१॥ ससंभ्रमं प्रत्युदितौ बलाच्युतौ विलोक्य कक्षावलितोरणाब्दहिः॥ ननाम साम्राज्यऋतोः क्रमद्रयं पुरा स ताभ्यां परिरंभणाचितः।७२। तमर्ककतिंस्तनयं निरक्षिय तौ स्वपादनम्नं कमनीयतावधिं ॥ सुतां च कांत्या जितनागकन्यकां बभूवतुर्विसमयनिश्वलेक्षणो ।७३।

६४ जो वयानें छहान असूनही संपत्तीनें अधिक आहे तोच कुलाचा— वंशाचा मुख्य पुरुष मानला जातो. जे आपल्या सारखे महान पुरुष असतात त्यांच्या वयाकडे पहाण्याचें कारण नाहीं. यारतव तुंच आमचा आधार आहेस, नेत्र ब आहेस व कुलामध्यें दीपासारखा आहे. ६५ जसे आकाशांत चंद्राच्या कलेसारखें दुसरें नक्षत्र आढळून येत नाही तसें हे बंधो! तुझ्या मुलीला तिच्या रूपास योग्य असा एकही राजकुमार या भरतक्षेत्रांत आढळून येत नाहीं. ६६ पुष्कल वेलपर्यंत आपल्या बुद्धीने विचार करूनहीं मोठ्या प्रयत्नानें या निर्दोष कन्येला आम्ही राजसमूहामध्ये एखाद्याला अर्पण केली तरी त्या पतिपत्नीमध्यें समान प्रेम होईल असा निश्चय करतां येणे शक्य नाहीं. ६७ सीमाग्याला निमित्तकारण फक्त रूपच किंवा कला अवना तारण्य किंवा उत्तम आकृति असरे असे नार्ताः स्त्रियांचे पतीमध्यें प्रेमाला कारण योग्य असे जे दुसरे गुण सांगिनले आहेत अर्थात् ज्या गुणांनीं पतीवर प्रेम उत्पन्न होतें ते गुण रूप, तारुण्य, वगरेपेशां भिन्नच आहेत. ६८ यारतव रवयवरामध्यें ही कन्या अ।पल्या बुद्धीला अनुसरून स्वतःला अनुरूप अशा वराला वरा. ही स्वयंवराची पद्धित चिरदालापासून चालन आली आहे. यास्तत्र त्या स्वयंवराचा विधि आज सफल होतो. ६९ याप्रमाणे याचा व इतर कार्यीचा विचार करून व तद्विपयक भाषण वोल्चन उटारवुद्धीच्या वलधद्रानें स्तव्ध-पणा धारण केला. मंत्रिगणासह त्रिपृष्टनार यणाने ही आपली गोष्ट टीक आहे असे म्हणून स्वीकारली व सर्व दिशाम"यें रवयंवराची हकीकत दृतांच्या द्वारें प्रसिद्ध कराविली. ७० ही स्वयंवराची हकीकत अर्ककीर्तीच्याही कानी पडली तेव्हां अमिततेज नांवाच्या आपल्या गुळाळा द सुतारा नांवाच्या सुंदर आकुर्ताच्या आपरया मुळीळा बरोबर घेऊन विचाधरासह तो पोदनपुर जहरास आला, ७१ राजे लोकांच्या शिविशासह शहरांत प्रवेश करण्याच्या ठिकाणी सर्वत शोभा केली होती. स्वयंबरोत्सवासाठीं चोहीकडे ध्वजा उभा केल्या होत्या अजा उत्सवानें युक्त असलेल्या शहराला प्रथम प्राप्त होछन नंतर उंच अशा ध्दर्जांनीं न्याप्त झालेल्य राजवाड्याकडे तो अर्ककीर्ति पाप्त झाला. ७२ राजवाड्याला अनेक चाँक होते व रयांना तोरणें लावलेलीं होतीं. या चौकाच्या बाहेर आदराने ालेल्या ऐन्दर्यशा-की वलभद्र व नारायणाला पाहून आद्राने साम्राज्य चालविणाऱ्यांच्या या दोघां च्या चरणाला अर्ककीर्तीने त्यांनीं आलिंगन देऊन आढर करण्याच्या पृत्रीं नम स्कार केला. ७३ आपल्या पायांना नमस्कार करणाऱ्या आणि शौद्यीच्या शव<sub>ा</sub> टच्या सीमेला पोहोंचलेल्या अमिततेज नांवाच्या अर्ककीर्ताच्या हुळाला व आपल्या कांतीनें नाग कन्यकेला जिक्कणाऱ्या त्याच्या सुलीला पाहन वलभद्र व तिपृष्ट आश्रर्यानें निश्वल झाले आहेत हो के ज्यांचे असे झाले अर्थात् अर्द्धकीर्ताच्या या मुलगा व मुलीच्या रूपाला पाहून त्यांना फार आश्चर्य दाटले.

कुलध्वजः श्रीविजयः स्वमातुलं समं ववंदे विजयेन तत्क्षणं ॥ विलोक्य तौ सोप्यभवन्मुदाकुलः सुलं किमन्यान्निजवंधुदर्शनात्।७४। पुरस्तरीसृतवलाच्युतस्ततः प्रविश्य राजालयसुत्सवाकुलं ॥ स्वयंप्रभां पादनतां च सस्तुषां यथोचिताशीर्वचनेरपूजयत् ॥७५। तदा खतारापिततेजसो समं निरीक्ष्य पादावनतो स्वयंप्रभा॥ मनोरथेनात्मछतङ्ये तो नियोजयामास विना स्वयंवरं॥ ७६॥ स्वनातृरांवरूपवशीकृतेव सा निबद्धभावाभिततेजिस भ्रवं॥ अस्तुता चक्रधरस्य योषितां सनो विजानाति हि पूर्ववहःसं1७७। खतारया श्रीविजयस्य मानसं समाददे तेन तद्यिमप्यलं॥ विजीहितापांगनिरीक्षितैर्धुहुर्भवांतरस्नेहरसो हि ताह्यः ॥७८॥ अथान्हि शुद्धे सुविशुद्धलक्षणैः सखीजनैः कल्पितसर्वमंगला॥ स्वयंवरस्थानमगादुडुप्रमा मनोरथान्व्यर्थयितुं महीभुजां ॥ ७९ ॥ अतीत्य सर्वान्विधना वयस्यया निवेदितान्राजसुतान् क्रमेण सा॥ िहया परावृत्य सुखं व्यसंजयिचराय कंठेऽभिततेजसःस्वयं॥८०॥ ततः सुतारा प्रविद्याय पार्थिवान्स्वयंवरे श्रीविजयस्य बंध्ररं ॥ ववंध गाहं कुसुमसजा गलं मनोजपारोन मनोऽप्यलाक्षतं ॥ ८१॥ कृत्वा यथोचितमथारगजयोविवाहमन्योन्यगृंखालितवंधुतयातितुष्टः। स्वला बलेन हरिणा च नभऋरेंद्रो पुक्तिश्विरात्कथमपि स्वपुरं जगाम।। साम्राज्यभित्थमनुसूय चिरं निजेष्टेराकृष्ट्यीरतितरां विषयेर्भनोज्ञे ॥ शाङ्गियुधो निजानिदानवरोन रोद्रध्यानेन जीवितविपर्ययमाप सुप्तः॥

७४ इक्ष्वाक्चरंबाला ध्वजासारस्वा असलेल्या श्रीविजय नांवाच्या त्रिपृष्टनारा यणाच्या विल्ल मुलानं आपल्या विजय नांवाच्या धाकव्या भावासह तत्काल आपल्या गापाला ( अर्ककीर्ताला ) नमस्कार केला. त्या उभयतांना पादून अर्क कीर्तीला फार आनंद झाला. बरोवरच आहे कीं, आपल्या प्रेमल नातेवाईकांच्या दर्धनापेक्षां या जगांत दुसरें सुखकारक काय आहे ? कांहींच नाहीं. ज्याच्या पुढें वलभद्र व नारायण जात आहेत अशा त्या अर्ककीर्तिनें उत्सवानें युक्त असलेल्या राजवाद्यांत प्रवेश करून तेथें पाया पडलेल्या रवयंप्रभेला व आपल्या भावी स्नुपेला (सुनेला) अर्थात् ज्योतिःप्रभेला आशीर्वादाच्या शद्धांनीं आदिरलें. ७६ त्यावेलीं सुतारा व अपिततेज या उगयतांनीं स्वयंप्रभेच्या चरणांना नगस्कार

केला. या उभयतांना पाहून तिनें आपला ग्रुलगा व मुलगी या उभयतांना है दोघेजण पत्नी व पति होण्याला योग्य आहेत असें स्वयंवर विधि झाला नाहीं तोच तिनें मनाच्या विचारांनीं ठरऊन टाकिलें. ७७ आपल्या मातेच्या विचाराच्या जणु आधीन झाल्याप्रमाणे त्रिपृष्ट नारायणाची कन्या ज्योतिःप्रभाही अमित तेजावर

आधान झाल्याप्रमाण तिषृष्ट नारायणाची कन्या ज्यानिःप्रभाही आमत तजावर अतिशय अनुरक्त झाली. बरोबरच आहे कीं, ख्रियाचें मन पूर्वजन्मी आपला पति कोण होता हैं ओळखीत असतें. ७८ एकमेकांकडे वारवार कटाक्षपातांनी पाहणे हीच किंमन देऊन सुतारेने श्रीविजयाचें मन व श्रीविजयाने सुतारेचें मन ग्रहण

बेलें. बरोबरच आहे कीं, पूर्वजन्माचा प्रेमरस असाच अनिर्वचनीय असतो. ७९ या नंतर उत्तम दिवशीं उत्तम लक्षणांनीं युक्त असलेल्या मैं जिणीनीं जिचा सर्व मंगलिविधि केलेला आहे अशी ती ज्योतिः प्रभा राजकन्या सर्व राजे लोकांच्या मनोर्थांना व्यर्थ करण्यासाठीं स्वयंवरस्थानीं गेली. ८० विधिपूर्वक मैतिणीनें

ज्यांचीं नांवें सांगितली आहेत अशा सर्व राजपुत्नांना क्रमाने ओलाइन व लाजेनें आपलें मुख फिरफन ज्यातिः प्रभेनें कायमचीच अमिततेजाच्या गळ्यांत माल घातली. ८१ यानंतर स्वयंवर मंडपांत सुतारेनें राजाना सोडून श्रीविजय राजाचा सुंदर गळा पुष्पमालेनें बांघला. अर्थात् त्याच्या गळ्यांत माला घातली. व मदनाच्या पाशानें न दिसणारें मन देखिल त्याचे तिनें बांधून टाकिलें. ८२ याप्रमाणें आपल्या

दोन्हीं गुलागुलींचें योग्यरीतीनें लग्न करून एकमेकांचें नातें दृढ झाल्यामुलें आनंदित झालेल्या त्या अर्ककीतींला चलभद्र नारायण व रवयंप्रभा यांनीं फार दिवसांनी मोट्या कष्टाने परवानगी दिली. तेन्हां तो

आपल्या नगरास ( रथनृषुरास ) गेला. ८३ याप्रमाणें दीर्घकाल-पर्यत साम्राज्याचा उपभोग घंडान मनोमोहक अज्ञा आवडत्या विषयांनीं ज्याची बुद्धि आकिषत झाली आहे असा तो ज्ञाईधनुष्यधारक त्रिषृष्ट निदानवज्ञ होडान रोद्रध्यानानें निजलेला असा होत्साता जगण्याच्या विषरीत अवर्थेला प्राप्त इ ला अर्थात् मरण पावला.

अथ तत्क्षणमेव पीतवासा नरकं सप्तममध्युवास पापात्।।
अभिविंत्यदुरंतघोरदुःखं त्रिगुणैकादशसागरोपमायुः॥ ८४॥
तर्देशस्य यशोऽवशेषमात्रं वलदेवः सुचिरं विसुक्तकंटः॥
दिहह।प तदा दथा प्रतेर्द्दिन्योऽपि प्रशासिका निशस्य॥८५॥

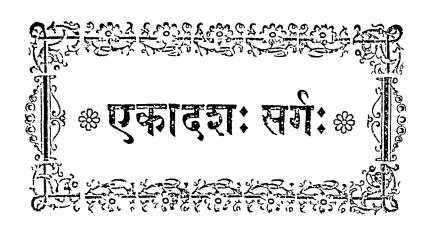
सजलनयनैर्वद्धवातैभवस्थितिशंसिभः स्थविरक्षचिवैः सार्द्धं कृच्छ्राच्चिरं प्रतिनोधितः॥ कथमपि जही शोकं यत्वा स्वयं च हलायुधः॥ स्थितिमरारणां संसारस्य प्रतिक्षणभंगुरां ॥ ८६ ॥ स्वयंप्रसामनुमरणार्थमुचतां बलस्तदा स्वयमुपसांत्वनोदितैः॥ इदं पुनर्भवशतहेतुरात्मनो निर्थकं व्यवसितमित्यवारयत्। ८७। प्रसाधनमपश्चिमं कुशलिशाल्पिभिः कल्पितं ॥ भष्टज्य नयनद्वयं विगलदश्चलेशं मुहुः॥ अरोत हरिरुद्धहन्बहिरबोधनिद्रावशाद् ॥ विभावसुशिखाकलापनवपल्लवसस्तेर ॥ ८८ ॥ राज्याश्रयं श्रीविजयाय दत्वा हलायुघः संसृतिदुःखभीरुः॥ सुवर्णकुंभं प्रणिपत्य दीक्षां नृपैः सहसैः सहितः प्रपेदे ॥ ८९ ॥ हत्वा घातिचतुष्टयं हलधरो रत्नत्रयास्त्रश्रिया ॥ पश्यन्कवललोचनेन युगपेत्रेलोक्यवस्तुस्थितिं॥ भव्यानामभयप्रदानरसिको भूत्वा पुनानेष्ठितः॥ सिद्धानां सुखसंपदामभजत स्थानं परं शाश्वतं ॥ ९० ॥ इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरिते बलदेवसिद्धिगमनो नाम दशमःसर्गः

८४ यानंतर जेथें तेहतीस सागरोपम अधुप्य आहे व जेथील दु:सांचा विचार करता येत नाहीं व ज्यांचा ग्रेवट फार दु:सावह आहे अशा सातव्या नरकापध्यें पापोदयानें जिपृष्ट नारायण तत्काल उत्पन्न झाला. ८५ विपृष्ट आतां फक्त ज्यांच यश्च वाकी उरलें आहे अशा अवस्थेला पोहोचला आहे असे जाणून लक्ष्यांत घेऊन वलटेवान पुष्कल दिवसपर्यंत कंट मोकला करून फार शांक केला त्याचा तो शोक ऐक्त समता—रागद्देपरिनावरथेला प्राप्त झालेले ग्रानि टेक्विल हलहलु लागले ८५ संसागचे रवरूप दाखऊन देणारे व ज्यांच्या दोल्यांत पाणी आलें आहे अशा हद्ध लोकांनीं हद्ध मंत्रिगणांना वरोवर घेऊन मोट्या कष्टाने ज्याला फार

वेळ उपदेश केला आहे अशा वलभद्र विजयाने वस्तुरवरूप जाणुन व संसाराची प्रत्येक क्षणीं नाज्ञ पावणारी व जिचा कोणीही रक्षक नाहीं अज्ञी परिस्थित जाणून कष्टानें शोक त्यागिला. ८६ स्वयंप्रभा जेव्हां आपल्या पतिच्या मर्णानंतर मरावयास तयार झाली तेव्हां ' हें मर्णे-सती जाणें आतम्यार्चे ज्ञेकडों भवाला बाढविणारें न्यर्थ कार्य आहे, असें सांत्वनपर उपदेशाच्या वचनांनीं वलभद्रानें सांगितलें व तिला या कार्यापासन त्यानें रोाकिले. ८८ ज्य. पासून थोडेंथोंडें अश्रु वाहात आहे असे दोन डोळे वारंवार पुसून कुशल कारा। गिराकडून तयार कराविला गेलेला उत्कृष्ट वेष धारण करून अज्ञानरूपी झोंपेच्या अर्थात् मृत्यूच्या स्वाधीन झाल्यामुळें ज्याला बाह्यपटार्थीचें विलकुल ज्ञान होत नाहीं असा हरि अशीच्या ज्वालासम्हरूपी पानांच्या विछान्यावर निद्रा घेऊ लागला ८९ सांसारिक दुःखापासून भयभीत झालेल्या विजयवलभद्रानें श्रीविजयाला राज्यछक्ष्मी अर्पण केली, स्वतः त्याने सुवर्ण कुंभमुनीश्वराला नमस्कार करून हजारो राजांनीं साहित होऊन दीक्षेचा स्वीकार केला. ९० रत्नत्रयरूप हत्याराच्या कांतीनें अर्थात् धारेनें ज्ञानावरणादिक चार घातिकर्माचा घात करून व केवल ज्ञानरूपी डोळ्यानें एकदम सर्व तीन्ही लोकांच्या वरत्चें स्वरूप पाहून-जाणून वलभद्रांनीं भव्यांना अभयदान देण्याचे कार्य- अर्थात् संसारदु:खांतून सोडविण्याचें काम आवडीने केलें व शेवटीं सर्व योगांचा नाश करून सिद्धांचें सुखसपत्तीचें कायमचें उत्कृष्ट विकाण असलेला मोक्ष प्राप्त करून घेतला.

अया प्रमाणें असगकविकृत श्रीवर्धमानचित्त कान्यांतील वलदेव सिदि-गमनाचे वर्णनाचा हा दहावा सर्ग समाप्त झालं अ





अथ नरकभवे विचित्रदुःखं चिरमनुभूय विनिर्गतः कथंचित्॥ पुनिरह भरते रथांगपाणिः सुमहति सिंहगिरौ बभूव सिंहः॥१॥ शमविरहितमानसो निसर्गात्प्रथमकषायकषायरंजनेन ॥ यम इव कुपितो विना निमित्तं समदगजानवधीत्सुधाविहीनः॥२॥ प्रतिरवपरिपूरिताद्रिरंधं करिकलभा ध्वनितं निशम्य तस्य॥ विदलितहृद्याः प्रियेरकांडे सममसुभिश्च निरासिरे स्वयूथैः॥३॥ मृगकुलमपहाय तं नगेंद्रं सकलमगादपरं वनं विवाधं॥ कारिरपुनखकोटिलुप्तशेषं व्रजित सदा निरुपद्वं हि सर्वः॥ १॥ भारारपुनखकोटिलुप्तशेषं व्रजित सदा निरुपद्वं हि सर्वः॥ १॥

१ यानंतर नरकभवांत फार दिवसपर्यत नानाप्रकारचीं दुःखें भोगून मोठ्या कष्टानें कसा तरी निघालेला तो त्रिपृष्ट नारायण या भरतक्षेत्रांत सिंहिगिरि नांवाच्या मोठ्या पर्वतावर पुनः सिंह होऊन जन्मला. २ या सिंहाच्या ठिकाणी अनंतानुबंधि कषायांचा तेल्या रंग गाढ बसल्यामुळें याचें अंतःकरण शांतभावानें विलकुल रहित झालें होतें. भूक नसतांही हा यमाप्रमाणें क्रुद्ध होऊन विनाकारण उन्मत्त हत्तींचा वध करीत असे. ३ प्रतिध्वनीनें पर्वताच्या गुहा भरून टाकणारी त्याची गर्जना ऐक्चन हत्तींच्या लहान लहान पिलांचें हृदय फुटून जात असे व तीं आपला कळप सोडून पळत असत. एवढेंच नन्हे तर त्यांना आपले प्राण देखिल गमवून वसावे लागत असे. ४ या सिंहाच्या नखाग्रांनीं नाश पाऊन उरलेले सर्व प्राणी त्या सिंहागिरि पर्वताचा त्याग करून वाधाराहित अशा दुसऱ्या जंगलांत निघून गेले. बरोवरच आहे कीं, सर्वप्राणी निरुपद्रवस्थानींच जात असतात. ९ नेहमी पाप

अविरतदुरिताशयानुवंधादिगतदयो निजजीवितव्यपाये ॥
पुनरिप नरकं जगाम सिंहो प्रथममसत्फलमेतदेव जन्तोः ॥ ५॥
नरकगितमुपागतो हरियः स हि सृगनाथ! भवानिति प्रतीहि ॥
अथ नरकभवे यदुप्रदुःखं शृणु तनुमान्ससुपैति तत्प्रवक्ष्ये ॥ ६ ॥
सपिद वपुरवाप्य हुंडसंस्थं कृषिकुलजालित्तं च पृतिगंधि ॥
पतित दुरुपपादकप्रदेशान्छरवदधोवदनः स वज्रवन्ही ॥ ७ ॥
आतिनिशितिविचित्रहेतिहस्तो भयतरलं प्रविलोक्य नारकीधः ॥
दह पच विश्वसोद्धधान नानाविधामिति विक्तं करोत्यरं तथेव ॥ ८।
गतिरियमशुभपदा च का वा दुरितमकारि मया पुरा किसुपं ॥
अहमिप क इति क्षणं विचित्य तदनु विभंगसवाप्य वेत्ति सर्वं ॥ ९।
हत्युजि परितापयंति चंडा मुखमवदार्य च पाययान्ते धूमं ॥
वहाविधमय पीलयंति यंत्रैश्चिटित परिस्फुटिताास्थिधोररावं ॥ १०॥

करण्याच्याच विचारामुळें त्याच्या मनांतून ढयेने पलायन केलें होतें असा तो सिंह आयुष्य संपल्यावर पुनः पहिल्या नरकाला गेला. प्राण्याला वाईट कृत्याचे हेच फल मिळत असते. ६ हे सिंहा, जो प्रथम नरकांत जन्मलेला होता तोच सिंह तूं आहेस हैं ध्यानांन आण. हे सिंहा, नरकभावायध्ये जे उग्न ढुःख प्राण्याला भोगांवें लागते त्याचें वर्णन मी करितो तें तुं ऐक ७ नरकामध्यें जन्म झाल्यावर तत्काल हुंडक संस्थानाचें, किड्यांच्या समुदायांनीं अतिशय भरलेलें, आतिशय घाणेरहें, असे शरीर प्राप्त करून घेऊन उत्पन्न होण्याच्या वाईट प्रदेशांत्रून वाणाप्रमाणें खाली तोंड करून वज्राच्या अग्रीत जाऊन पडतो. ८ अत्यंत तीक्षण व नानाप्रकारचीं गेलें ज्याच्या जवल आहेत असा नारकी लोकांचा सम्भूह भीतीने थरथर कांपत असले. ल्या नारकी जीवास पाहून याला जाला, जिजवा, ठार वारा, वांधा अश्री नाना प्रकारची कटुत्रावये वोलतात व तसेच करतातही. ९ तथे उत्यच झालेला नारकी प्रथमतः ही आते अञ्चभटायक अशी कोणती गती काढे? भी पूर्वा कोणते आते उग्रपाप केले होतें? न मी देखील कोण आहे असा धणपर्यंत विचार करितो. व नंतर विभंगाविधेनान प्राप्त करून येऊन सर्व पूर्व परिस्थिति जाणूत येतो. तथें निर्दयना विभंगाविधेनान प्राप्त करून येऊन सर्व पूर्व परिस्थिति जाणूत येतो. तथें निर्दयना

विल्पति करणं कृतातिनादः करजनिवाशितशातवज्रस्वः॥
वक्तानिवहविल्प्यगानदेहो नजित विचेतनतामनेकवारस्॥ ११॥
तरपविसिकताविभिन्नप'दः सहजत्पा परिशुष्कतालुकंटः ॥
करिमकरकरासिखंडितोऽपि प्रविशति वैतरणीं विषांस पातुं॥१२॥
वस्यतर्यनिविष्टनारकोधेर्धुहुरुपरुष्य स तत्र गाह्यमानः ॥
कथमपि समवाप्य रंप्रभातीं गिरिमाधेरोहित वज्रदावदीसं ॥१३॥
हरिकरिशयुपुंडरीककं इप्रमृतिभिरत्य विलुप्यमानदेहः ॥
मृशमसुल्यमवाप्य तत्र नित्रं तरुगहनं प्रतियाति विश्रमार्थं ॥१४॥
बहुविधिनिशितास्त्रदत्रमोक्षेस्तरुनिवहैः प्रविदारितं तदंगं ॥
भणशतिवहाचितं दशंति अमरगणैःसह दुष्टचंडकीराः॥१५॥

रकी अग्निमध्यें नारक्याला संतप्त करितात. मुख फाइन धूर प्यावयास लावितात, नानामकारें यंत्रांनीं पिळ्न काढितात. त्यावेळीं फुटत असलेल्या हाडकांचा घोर जब्द होत असतो. ११ त्या नारवयाच्या हातांच्या नखांत इतर नारकी वज्राच्या सुया टोचित असतात.त्यावेळीं तो दीन नारकी जीव करुणा येईल अशा रितीनें दु:खानें रवर काहून रहत असतो. लांडमे त्याचा देह खाऊन टाकीत असतां तो वारवार मूर्चिंछत होतो.

१२ नदीच्या किनाच्याला असलेल्या वज्राच्या वाळ्नें ज्याचे पाय फादून गेले आहेत, स्वाभाविक तहानेंने ज्याचा गला व टाळ् सुकून गेलीं आहेत; जो हत्ती, मगर यांनी व नारकी यांच्या हातांतील तरवारीनें विदीण केला गला आहे असा तो नारकी जीव वैतरणीनदीयध्यें पाणी पिण्यासाठीं प्रनेश कारितो. १३ त्यावेलीं त्या नदींच्या दोन्ही किनाच्यादर वसलेल्या नारकी जीवांच्या समुदायाकटून तो अडिवला जातो व नदींमध्यें बलात्कारानें तो बुडिवला जातो. त्यावेलीं कशी तरी संपि साधून तो दु:खी नारकी तेथून सुदून बज्रामीनें तम झालेल्या पर्वतावर चढतो. १४ तेथेंही सिंह, हत्ती, अनगर व वाघ, गिधाड वगैरे प्राणी येजन त्याचा देह खाजन टाकिनात. त्या ठिकाणीं त्याला फार त्रास होतो स्हणून तो विरावा घेण्यासाठीं नानापकारच्या दाट झाडांच्या समूहाकडे धांवत जातो. १५ तेथें नानापकारच्या तीक्ष्णश्रह्मामाणें असलेल्या पानांचा वर्षाव करून

अतिपरुपरवैः श्वितिं तुदंतो दहनशिखाविहित्यपष्ममाहं ॥
असितविहिभुजः रवनिति तुंडैः कुिहिशमयेनयनद्वयं तदीयं ॥१६॥
विदाहितवदनं तम्पिकांतिधृतिविषवारिचयं निवस्य केचित् ॥
वनशितमुख्युद्धरप्रहारेरजरदवेन पचंति चूर्णयंतः ॥ १७ ॥
वहुविधपरिवर्तनिकियाभिः स्थपुटिशिह्यासु निपात्य चूर्णयन्ति ॥
प्रतितनुकरपत्रकेण यंत्रे महति निधाय विदारयंति केचित् ॥१८॥
वनदहनपरीतवत्रम्याच्युत्यरितप्तमयोरसं प्रपाय ॥
विगहितरसनो विभिन्नताहु स्मरति स मद्यरतः फलानि तत्र।१९।
सरभसपरिरंभणेन भयो घनमुरसि स्तनवज्रमुद्धराग्रैः ॥
ज्वलदनलमयीभिरंगना भिर्धृवमवगच्छिति तत्र कामदोपान् ॥२०॥

- झाडांचे समुदाय त्याचे सर्व अवयव फाडतात. शॅंकडो जखमांनीं युक्त झालेल्या त्याच्या अंगावर भुंगे व दुष्ट असें अचंड किडे धाऊन येतात आणि ते त्यास चादतात. १६ आतिशय कठोर शन्दांनी कानाला दु ख देणारे, असे काले कावले आपल्या दज्राच्या मुखानीं त्या नारक्याचे दोन डोळे जेव्हां तोडण्याचा प्रयत्न कारितात त्यावेळी त्याच्या डोळ्यांतून निवालंख्या अग्नीच्या ज्वालांनी त्यांचे पंखही जळ्न जातात. १७ ज्याचे मुख विदीर्ण झालें आहे अशा त्या नारक्याला जिच्यांत विषारी पाणी भरळें आहे अशा कढईमध्यें वसऊन अतिशय तक्ष्ण ज्यांचीं तोंडें आहेत अशा मुद्ररांनीं प्रहार करून इतर नारकी त्याचा चुरा करून टाकितात व तीत्र अग्नीने त्याला शिजवितात. १८ तरेंच ओवडधोवड शिलेवर आपटून कुस्क-रणें, दर उचलणें, फिरविणें वगैरे क्रियांनी कित्येक नारकी त्या दीन नारक्यार्चे चूर्ण कारितात. व मोठ्या यंत्रामध्यें त्याला ठेऊन त्याचे सर्व अवयव करवतार्ने कापतात. १९ तीत्र अग्नीनें वेढळेल्या मुशीत तयार झाळेळा छोखंडाचा गरम रस त्याला कित्येक नारकी पाजनात त्यावेर्ला त्याची जीभ गळ्न पडते व टा्छ फुटून जाते. तेव्हां मद्यासक्तीच्या फलांची त्याला तेथें आउदण होतें.२० जळत असले-ल्या अग्नींनी व्याप्त झालेल्या स्नीच्या आकृतीच्या पुतळ्याची जीव्र आलिगन देण्यापा-सून व वहस्थर्छी स्तनाच्या ऐवर्जी वजाच्या मुद्गराच्या आचातांनी आतिशय विदीर्ण झालेला तो नारकी जीव कामविकागच्या ढोपांचें स्वरूप त्यावेळीं अविमहिपमदेभकुकुटानां सपिद वहन्वपुरश्रतोऽसुराणां॥
अरुणितनयनो रुषा सहान्यैः श्रमिवक्रोऽपि सं युध्यते प्रकामं।२१।
करचरणयुगैविवार्जतोऽपि दुतमिथरोहित शाल्मलं भिया सः॥
विधिरतहृदयोम्बरीषगायागयकरतर्जनिकाश्रतर्जनेन॥ २२॥
सुखामदिमिति यद्यदात्मबुद्ध्या श्रुवमवधार्य करोति तत्तदागु॥
जनयति खलुतस्य भूरिदुःखं न हि कणिकापि सुखस्य नारकाणां २३
इति नरकमवाद्विचित्रदुःखात्पुनरभवस्त्विमह द्विपारिरेत्य॥
अधिवसति चिरं कुयोनिमध्यं ननु तनुमान् वनबद्धदृष्टिमोहः॥२४॥
इति परिकथिता भवावलिस्ते विदितमवस्य सृगेद्र!सप्रपंचा॥
प्रकटमथ मयाभिधास्ययानं विमल्धिया हितमात्मनः शृणु त्वं॥२५॥

जाणतो अर्थात पूर्वजन्मीं मी वेश्या किंवा परस्ती यांच्याशीं गमन केलें होतें त्याचेंच हें फळ आहे असें त्याला चांगलें समजतें. त्याची खात्री होतें. २१ वकरा, रेडा, मत्त हत्ती, कोंवडा वगैरेंचीं आकृति धारण करून अतुरांच्या पुढें रागानें डोळे लाल करून इतर नारक्यावरोबर आतिशय थकून गेला तरी तो नारकी पुष्कळ वेळपर्यंत युद्ध करतो. २२ अंवरीष जातीच्या असुरांच्या मायामयी हाताच्या अंगळ्या जवळच्या बोटानें निर्भत्सेना केल्यामुळें उत्पन्न झालेल्या भीतीनें तो नारकी हातापायांनीं रहितही असून शीघ्र सावरीच्या दक्षावर चढतो.

२३ तो नारकी जीव जी जी गोष्ट सुखदायक समजून करितो ती ती गोष्ट त्याला निश्चयाने पुष्कळ दुःखच उत्पन्न करीत असते. खरोखर नारक्यांना सुखाचा लेशही मिळत नसतो २४ याममाणें जेथें विचित्र दुःखें भरलेलीं आहेत अशा नरकभरापास्न सुक्त होऊन तू येथें सिंह झाला आहेस. वरोवरच आहे. कीं, ज्याला दर्शन मोहनीय कर्माचा अर्थात मिथ्यात्वकर्मीचा तीत्र वंघ पडला आहे असा प्राणी चिरकालपर्यत क्योनीमध्यें भ्रमण करीत फिरत असतो. २५ याममाण हे मृगेंद्रा! ज्याला पूर्वभवाचे ज्ञान जातिरमरणानें झालें आहे अशा तुला विस्तारानें मी तुझ अनेक जन्माचें वर्णन सांगितले आहे. आतां मी निर्मल सुद्धीनें तुझें हित कशानें होईल तें सांगतों. तुं १पष्ट रीतीनें ऐक. २६ हा आत्मा अविराति

अविरतिसिहतैः इपाययोगरिवमल्हिष्टितया प्रमादद्विः परिणमति निरंतरं सहात्मा सवित ततः परिणामताऽस्य वंधः। १६। गतिषु गतिसुपेति वंधदोषाद्भवित गतिवेषुरिद्रियाणि तस्मात्॥ मन्नु विषयरितिश्चिराय तेभ्यो विषयरतेः पुनरेव सर्वदोषाः॥ २०॥ सन्तिल्लिनेधौ पुनः पुनश्च स्रमणिविधः पुरुषस्य जायतेऽयं॥ इति परिकथितो जिनरनादिव्ययरिहतोऽव्ययसंयुतोऽस्य वंधः॥ २०॥ व्यपनय मनसः कपायदोपान्प्रशमरतो सव सर्वथा स्रगेद्र !॥ जनपतिविहिते मते कुरुष्व प्रणयमपास्य च कापथानुवंधं॥ २९॥ स्वसहशानवगस्य सर्वसत्वान् जिहिह वधाभिरितिसिक्षिप्रस्थाः॥ वन्यति स कथं परोपतापं भ्रवमवयन्नभिपंगमात्मनो यः॥ ३०॥ जनयति स कथं परोपतापं भ्रवमवयन्नभिपंगमात्मनो यः॥ ३०॥

कषाय, प्रमाद व योग यांच्यासह व मिथ्यादर्भन।सह हा आन्मा नेहमी प्रिणत होत असतो ह्मणून त्या परिणामामुळे याला वंघ होत असतो. २७ या कर्मवधा-मुळें या आतम्याला एका गर्नापासून दुसऱ्या गर्तीत जावें लागते. गतिकर्मापासून शरीराची रचना होते व त्यापासून इंद्रिये उत्पन्न होतात. व इंद्रियापासून विषया-विषयीं प्रेम बाढतें व या प्रेमापासून पुनः सर्व डोपांची उत्पत्ति होत असते २७ या संसारसमुद्रांत पुनः पुन या दोपामुळे आत्म्याचे भ्रमण होत असर्ते. ह्या संसारांत जीवाला कर्मवंध अनादि व सांत असा होन तन्हेचा आहे असे जिनांनी सांगितलें थाहे. कर्म वृक्षवीज न्यायाने सतत जीवाच्या मार्गे लागले आहे हाणून अनादिवय आहे. च एक कर्म जीवाशी वंध पावतें त्याच्या दृष्टीनें सादिवंध आहे. २९ हें सिंहा, तू गनापासून कपायांचे दोष संदूर्णपण काइन टाक व पूर्णपण राग-हेप्रहित अगा अवस्थेत छीन हो कुमार्गीचा संवंध सोडून दे व जिने वरांनी साणि-तलेल्या मतामध्ये प्रेम कर. २० हे मृगराज ! सर्वे प्राणिमालांना तू आपल्यासार-ग्वेच समन अर्थात तुला जस दुःख व्हावेसें वाटन नाहीं तसेंच त्यांनाही दुःख होऊ नये असेंच बाटते. यान्तव आपल्या प्रमाणंच इतरांनांही मान्न आपले मन, वचन १ शरीर ही नाव्यांत देव आणि त्यांचा वध करण्याची लालसा संहिन टे. जो प्राणी स्वतःच्या दुःखाची खात्रीनें जाणीद टेवतो तो दुसऱ्याहा कसा वर त्रास देईल.

अनियतमध बंधकारणं रवपरमवं विषमं सदा सबाधं॥
हरिवर! समवासमिंद्रियेर्स्सुखमवगच्छ तदेव दुःख्मुणं॥ ३१॥
नविवरसमन्वितं निसर्गादशुचि सदार्तवशुक्रसंमवत्वात्॥
विविधमलयुतं क्षिय त्रिदोपं विविधशिरावालिजालकेन नद्धं॥३२।
निजतनुतरचर्मवर्मगृढं बहुविधरोगसहस्रवासगेहं॥
छ।मेकुलनिचितं च पूतिगंधि स्थिरविकटास्थिकृतकयंत्रकल्पं॥३३॥
बहुविधपरितापहेनुसूतं वपुरिदमीहशामित्यवेत्य तस्मात्॥
अपनय नितरां ममत्वबुद्धं कथमवयन्न निजे मतिं विधत्ते॥त्रिकलं॥
शिवसुखमपुनर्भवं विवाधं निरुपममात्ममवं निरक्षमाष्ठं॥
यदि तव मतिरस्ति सन्यगारे! त्यज खलु बाह्यमवांतरं च संगं।३५॥

२१ हे सिंहश्रेष्ठा, इंद्रियांच्या द्वारें प्राण्यास जें सुख मिळतें तें आनिश्वित आहे. ह्मणजे एकसारखें एक रूपाचें असत नाहीं. कमीजास्त होत असतें,
कर्मवंधाला कारण आहे; स्वतः घ इतर अन्नादिक पदार्थ यापासून उत्पन्न होते. तें
विषम आहे व त्यामध्यें पुष्कळ अडथळे उत्पन्न होतात. व परिणामीं नरकादिगतीचें
दु:ख यापासून उत्पन्न होतें ह्मणून अतिशय उग्र आहे. ३२ हें शरीर नज छिद्रांनी
सिहत आहे, रवाभाविकपणेंच अपवित्र आहे. कारण हें रक्त व वीर्य यापासून
उत्पन्न होत असते. रक्त, पू, मज्जा वगरे मलांनीं हें भरलेंलें आहे, नाशवत आहे.
वात, पित्त आणि कफ या दोषांनीं सिहत असून नानामकारच्या शिरा व स्नायु
यांच्या जाळगानें हें महविलेलें आहे.

३३ हें शरीर स्वतःच्या अधिक पातळ अशा कार्तडेंरूपी चिललतानें आच्छादिलें आहे. नानाप्रकारच्या हजारो रोगांचें हें राहण्याचें ठिकाण आहे.

<sup>श्रिष्णणि:

सपर वाधासिंहयं विच्छिणां वंधकारणं विसमं ॥

न इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खेमव तहा ॥ ७६ ॥

सपरं वाधासिंहतं विच्छिन्नं वंधकारणं विषम ॥

यदिंद्रियेहेव्धं तत्सौख्य दुःखमेव तथा ॥ ७६ ॥

प्रवचनसारे समानार्थकश्लोकः</sup> 

गृहधनवपुरादिकः समग्रो भवति स वाह्यपरिग्रहो दुरंतः॥
वहुविधमथ रागलोभकोपप्रभृतिमवांतरसंगिमत्यवेहि ॥ ३६ ॥
इति कुरुमनिस त्वमक्षयश्रीरवगमद्दीनलक्षणोऽहमात्मा ॥
मम पुनिरतरे च सर्वभावा विदितसमागमलक्षणा विभिन्नाः ॥३०॥
यदि निवसिस संयमोन्नताद्रौ प्रविमलहिगुहोदरे परिन्नन् ॥
उपशमनखरेः कपायनागांस्त्वमिस तदा खलु सिंह! भव्यसिंहः।३०।
हिततरिमह नास्ति किंचिदन्यिजनवचनादिति विद्धि निश्चयेन॥
बहुविधयनकर्मपाशमोक्षो स्वति यतः पुरुपस्य तेन सर्वः ॥ ३९॥
जिनवचनरसायनं दुरापं श्रुतियुगलांजलिना निपीयमानं ॥
विपयविषतृपामपास्य दूरं कामिह करोत्यजरामरं न भव्यस् ॥४०॥

हें किड्यांच्या समृहाने नेह्मीं भरलेलें असतें. घाणेरडें असन रिधर व वाकड्या तिक ख्या हाढांनीं वनाविछे छे, एका यंत्रासार खें आहे. ३४ असल है शरीर नानाप-कारच्या संतापाटा कारण आहे अस जाणून याच्यावरील ममत्ववुद्धि पूर्णपण काहृन टाक. ज्याला हैं शरीर कसे आहे हैं चांगलें समजलें आहे तो आपल्या आत्म्याकडे आपल्या बुद्धीला योजीत नाहीं काय ? अधीत् अवस्य योजितोच. ३५ हे उत्तम सिंहा ! तुला मोक्षाचें वाधारिहत, आत्म्यापासूनच उत्पन्न झालेलें, अतीद्रिय सुख मिळावें अशी जर इच्छा असेल तर तू अंतरंग व वहिरंग अगा दोन्ही प्रकारच्या परिग्रहांचा त्याग कर. ३६ घर, धन, शरीर वगैरे सगळ्या पढा-थीं वाह्य परिग्रह न्हणतात. हा परिग्रह शेवटीं दुःख देणारा आहे. च राग, स्रोभ, कोप, माया, मिध्यात्व, हारय वगैरे पुष्कळ प्रकारचा अंतरंग परिग्रह आहे असे दं जाण- ३७ त्याचनमाणे माझा आत्मा अनंत संपत्तीनं युक्त, अनंतज्ञान व द्र्शन या छक्षणांचा धारक आहे असे तूं मनांत समज. इतर सर्व शरीर वगैरे पदार्थ मला संयोगानें प्राप्त झाले आहेत. अर्थात् क्रमींद्यापुळें शरीरादिकांशी माझा संवंध यहन आला आहे. वास्ताविक पाहिले असतां हे पटार्थ माझ्यापासून अगढीं वेगले आहेत. ३८ हे सिंहा ! संयमक्ष्पी उंच पर्वतावरील निर्मलसम्यग्दर्शनक्षी गुहेत शांत परिणामरूपी तीत्र नखांनी कपायरूपी हत्तीना ठार मारणारा होऊन तूं जर राहशील तर तृं खरोखरच भव्यसिंह होशील. अर्थात् सर्व भव्यामध्यें अतिशय शक्लय खलु मार्दवेन मानं हरिवर! कोपमिप क्षमाबलेन ॥
प्रतिसमयमथार्जवेन मायां प्रशमय शोचिजलेन लोभविन्हम्॥४१॥
शमरतहृदयः परेरजयाद्यदि न विभेषि परीषहृप्रपंचात् ॥
धवलयति तदा त्वदीयशौर्यं त्रिसुवनमेकपदे यशोमिहिम्ना॥ ४२॥
अनुपमसुखसिद्धिहेतुस्तं गुरुषु सदा कुरु पंचसु प्रणामं ॥
भवसलिलिनिधेः सुदुस्तरस्य प्लव इति तं कृतबद्धयो वदन्ति।४३।
अपनय नितरां त्रिशल्यदोषान्खलु परिरक्ष सदा वतानि पंच ॥
त्यज वपुषि परां ममत्वबुद्धं कुरु करुणाईमनारतं स्विचत्तं ॥४४॥

श्रेष्ठपणास पावशील. ३९ या जगांत जिनेश्वराच्या दिच्य उपदेशापेक्षां अधिक हित करणारा असा दुसरा कोणताही पदार्थ नाहीं हें तूं निश्चयानें समज. कारण यानेंच आत्म्याची नानाप्रकाच्या दाट कर्मीच्या पाशापासून पूर्णपणें सुटका होते. ४० हें जिनेश्वराचें वचन अपूर्व रसायनीषध आहे व फार दुर्लभ आहे. हें रसायन कान-रूपी ओंजळींनीं पाशन केलें असतां विषयरूपो विपाच्या प्रक्षणानें उत्पन्न झालेल्या तहानेचा पूर्णनाश करून कोणत्या भच्य पाण्याला अजर व अमर अर्थात् सुक्त वनावित नाहीं वरें ? अवश्य वनवितेंच. ४१ हे श्रेष्ठ सिंहा? तुं मनाच्या विनय पारिणामांनीं मान-गर्वाचा नाश कर. क्षमेच्या सामर्थ्यानें कोपास नाहीं कर. प्रत्येक समयीं कपटरहित परिणामांनीं माया काहून टाक व नि.स्पृहपणारूपी पाण्यानें लोभरूपी अग्नि विझवृन टाक. ४२ हे सिंह श्रेष्ठा ! तुं आपलें हृदय शांत अवस्थेंत अर्थात् रागद्देष रहित अशा अवस्थेंत लीन कर व इतरांकहून अर्जनय अशा क्षुधा तृषा वगैरे परीषाना तूं जर भिणार नाहींस तर तुझा हा पराक्रम तुझ्या विपुत्त कीर्तीनें हैं सर्व त्रेलोक्य धवल करून सोडील अर्थात् तुझी कीर्ति सर्वत्र बाहेल. व तुं खरा पराक्रमी स्हणून तुझी प्रसिद्धि होईल.

४३ हे सिंहश्रेष्ठा ! तूं नेहमीं पंचपरमेष्टींना नमस्कार कर. हा नमस्कार दुस्तर असा संसार समुद्र तरून जाण्यास नांबेसारखा आहे व उपमारिहत अज्ञा सुखांची प्राप्ति करून देण्यास कारणीभूत आहे असें उत्तम कार्ये करण्यांत आपल्या बुद्धिचा उपयोग करणारे सज्जन लोक हाणतात. ४४ हे मृगराज ! तूं माया, मिथ्यात्व व निदान या तीन दोषांना त्यागृन नेहमी उत्तम रीतीनें पांच अणुत्र-

अवगमनमपाकरोत्यविद्यां क्षपपित कर्म तपो यमो रुणि ॥ समुदितमपवर्गहेतुभूतं त्रितयिमिति प्रतियाहि दर्शनेन ॥ ४५ ॥ तद भवित यथा परा विद्युद्धिमेनिस तथा नितरां कर प्रयत्नं ॥ अथ विदितहितैकमासमात्रं स्फुटमवगच्छ निजायुपः स्थितिं च ४६ त्रिकरणिविधिना स्वपापयोगं सक्छमपोद्य खुगेंद्र ! यावदायुः ॥ अनशनमुपछव्धवोधिलासा विमलसमाधिसमात्रये विधत्स्व ॥४०॥ गतस्य ! दशमे भवाद्भवेऽस्मात्त्विमिहं भविष्यिस भारते जिनेंद्रः॥ इति परिकथितं जिनेशिना नः सक्छिमिहं कमलाधरेण नाम्ना ।४८॥ शमरत ! वयमागता भवंतं ख्लु परिवोधियतुं तदीयवाक्यात् ॥ ननु मुनिहदयं सुनिःस्पृहं च स्पृह्यित भव्यजनप्रवोधनाय ॥४९॥

तांचें रक्षण कर. शरीरावरील तांत्र पेमबुद्धीचा नेहमीं त्याग कर व आपले अंत करण द्येच्या ओलाव्यानें नेहमी युक्त राहृ देत जा. ४५ सम्यग्जान अज्ञान अर्थात् मिथ्या ज्ञानाचा नाश करितें. तपश्चरण कर्माचा नाश करितें. चारित्र कर्माला आतम्यामध्यें मवेश करू देत नाही. या तीन गोष्टी सम्यग्दर्शनानें युक्त झाल्या ह्मणजे मोक्षमाप्तिस कारण होतात असे समजा अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्जान, सम्यक्वारित्र व तप अशा चार गोर्ष्टीचं आराधन करण्यानें मोक्ष प्राप्त होतो असें समज. ४६ हे मृगेद्रा ! तुझ्या मनामध्यें ज्या जपायांनीं परिणामांची उत्कृष्ट निर्भ-लता प्राप्त होईल त्या उपायांचें अवलंबन करण्यांत तूं अतिशय प्रयत्न कर. आ-पलें हित जाणलेल्या हे सिंहा ! तूं आपल्या आयुप्याची स्थिति आतां एक महि-नाच उरलेली आहे असे स्पष्ट जाण. ४७ हे मृगेंद्रा! मन, वचन व शरीर यांच्या दूरि सर्व पापांच्या संवंधाला सोइन दे अर्थात् या तिहींच्या हारें तूं पापकार्य करणें सोइन दे. रत्नतयाचा लाभ ज्यास झाला आहे असा तुं निर्मलस्छिखनावत पूर्ण करण्याकरितां आहारांचा पूर्ण त्याग कर. अर्थात् एक महिनापर्थत उपवास धारण करून शांतमनाने पाणत्याग कर. ४८ हे निर्भय सिंहा! या सिंहभवापासून द्हाव्या भवात तुं या भरतक्षेत्रांत तीर्थंकर ( महावीर तीर्थंकर ) होणार आहेस. हें सर्व वृत्त आह्यास कमलाधर नांवाच्या जिनेश्वरांनी सागितले आहे. ४९ शांत-भवानेंत रत असळेल्या हे सिंहा ! आसी त्यांच्या उपदेशावरून तुला खरोखरच

इति चिरमनुशिष्य तत्वमार्गं मुनिरुद्गाद्गमनाय निश्चितार्थं ॥
स्वचरणविनतं स्पृशन्कराश्रेः शिरासि मुहुर्मुहुरादरेण सिंहं ॥ ५० ॥
चिरमिभरिषुणा निरीष्ट्यमाणौ प्रणयभवाश्चकणाविलेक्षणेन ॥
जलधरपदवीं समाश्रयेतां प्रतिपदवीं गमनाय चारणौ तौ ॥ ५१ ॥
अथ मुनियुगले व्यतीत्य तस्मिन्पवनरयेण गते स्वदृष्टिमार्गं ॥
भृशमरितिमियाय राजसिंहो जनयित सिद्धरहो न कस्य वाधिं ॥५२॥
मृनिविरहशुचा समं स्विचत्तंदनितिचिरेण निरस्य सर्वसंगं ॥
तदमलचरणांकपावनायामनशनमास्त मृगाधिपः शिलायां ॥ ५३ ॥
निहितवपुरेकपार्श्ववृत्त्या दृषदि चचाल न दंडवन्मृगेंद्रः ॥
यतिगुणगणभावनासु सक्तः प्रतिसमयं च वभूव शुद्धलेश्यः ॥५४॥
वपदेश द्यावयास येथं आलों आहोत. स्वीचें हृदय विःस्पृह असतें परंतु तें भव्यज-

नांना उपदेश देण्याविषयीं त्यांना सन्मागीत आणण्याविषयीं आतुर झाछेलें असतें. ५० या प्रमाणें आपल्या पायाजवळ नम्र होऊन बसलेल्या सिंहाला मस्तकावर मोट्या प्रेमानें वा रंवार स्पर्श करणारे ते मुनि (अमितकीर्ति नावाचे चारण मुनि) ज्या-मध्यें पदार्थनिर्णय झालेला आहे असा उपदेशमार्ग वराच वेळ सांगून जाण्यासाठीं <sup>[</sup>निघाले. ५१ प्रेमानें उत्पन्न झालेल्या अश्रुकणांनीं भरलेल्या नेत्रानें बराच वेळ-पर्यंत सिंहाकहून पाहिले गेलेले दोघे चारण मुनि आपल्या स्थानीं जाण्यासाठीं आकाशांत निघृन गेले. ५२ तें मुनियुग्म वाऱ्याच्या वेगाप्रमाणें सिंहाच्या दृष्टीच्या मार्गीतून निघून गेले असतां सिंहाला फार खेद झाला. बरोबरच आहे कीं, सत्पुरुषांचा विरह कोणाला मानसिक व्यथा उत्पन्न करीत नाहीं बरें १ ५३ सिं-हानें आपल्या हृद्यांतून मुनिविरहानें उत्पन्न झालेल्या शोकासह लौकरच सर्वसं-गाचा-परिग्रहांचाही त्याग केला. व मुनीश्वरांच्या निर्मल चरणांनी पवित्र बनः लेल्या शिलेबर **भोजनाचा त्याग करून शांताचित्तानें तो बस**ल्ला• ५४ तो सिंह मुनि जेथें बसले होते त्या शिलेवर काठीसारखा एका अंगांवर आपलें शरीर ठेऊन निश्चल पडून राहिला.मानिवरांच्या गुण समृदायाचें चिंतन करण्यांत गहून गेला व प्रत्येक समयीं शुद्ध लेक्येचा होते चालला. अर्थात उत्तरीत्तर त्याच्या परिणामांत निर्मलता वाढत चालली. ५५ आधिक गरम हवेच्या आघाताने त्याचे

खरतरपवनाभिघातरूक्षं रिविकरणोल्मुकतापतः समंतात् ॥
स्फुटितमपि वपुर्व्ययां न चके मनिस हरेः रवलु ताहरो। हि धीरः॥५५॥
दवानिभमुखदंशमिक्षकौ वैर्मशाकच येरिप मर्मसु प्रदष्टः ॥
समभूत शमसंवरानुगगं दिगुणतरं मनसा व्यपेतकंपः ॥५६॥
मृतम्गपितशंकया मदांधेः करिपितिभिः प्रविलुप्तकेशरोऽपि ॥
अकृत स हदये परां तितिक्षां तदवगते नेनु सत्फलं मुमुक्षोः ॥५७॥
श्रणमिप विवशस्तृपा श्रुधा वा दिरदिरपुर्न वभूव मुक्तदेहः ॥
धृतकवाचितधीरमानसस्य प्रशमरितन सुधायते किमेका ॥ ५८ ॥
प्रतिदिवसमगात्तनुत्वमंगैः सह बहिरंतरविध्यतैः कषायैः
हिदि निहित्तिनिन्द्रभक्तिभारादिव नितरां शिथिलीकृतप्रमादः॥५९॥

शरीर रूक्ष वनछें अथीत् पूर्वीची उज्ज्वछता शरीरावर राहिली नाही. सूर्यीच्या अभिन्वालेप्रमाणें असलेल्या किरणाच्या संतापानें त्याचें ग्ररीर सर्वत्न फुटले होतें. तथापि त्यापासून त्याच्या मनांत कांहींच दुःख उत्पन्न झालें नाहीं. खरोखर तो सिंह अनिर्वचनीय वैर्यवान होता. ५६ अग्नियमाणे लालभडक ज्यांचीं तोंडे आहेत असे डांस, मधमाशा व चिल्रटे यांच्या सम्रुदायांनीं ज्याला मर्मरथलीं दंश केला आहे असाही तो सिंह निश्रल झाला व त्याने आपल्या मनाने ज्ञांतभावना व संदर हे दुप्पट धारण केले ५७ मदोन्मत्त अशा मोठ्या हत्तीनीं हा मेलेला सिंह असावा या शंकेनें याची आयाळ उपटून काहिली तरी देखिल या सिंहानें मनांत उत्कृष्ट क्षमा धारण केली. वरोवरच आहे की, मोक्षाची इच्छा करणाऱ्या जीवाच्या जानाचे क्षमा धारण करणे हेंच उत्ताम फल आहे. ५८ ज्यान देहावरचें प्रेम त्यागिलें आहे असा तो सिंह क्षणभर देखिल सुकेनें व तहानेनें न्याकुल झाला नाहीं. वरीवरच आहे कीं, धैर्यरूपी चिललत धारण करणाऱ्याच्या धीर मनाला अद्वितीय असे शांतभावनेचें पेम अमृतासारखें होत नाहीं काय ? ५९ हा सिंह प्रत्येक दिवशीं मनामध्यें असलेल्या कोबादि कषायासह आपल्या शरीराच्या वाह्य अवयवांनी कुश होत चालला. व हृदयात ठेविलेल्या जिनेश्वगच्या भक्तीच्या ओझ्यामुळं जणु न्याने प्रमादाला कायमची रजा दिली होती. ६० ग्रातिरूपी दरीच्या मध्यभागी विराजमान झालेल्या या सिंहाला तीत्र असा थंडगार त्रारा रात्रीच्या वेळीं वाधा देत नसे. उप-

रजिनेषु हिममारुतो बनाधे श्मिविवरोद् (वर्तिनं न चंडः॥
निरुपम्यनसंवरस्य शीतं न हि विद्याति तनीयसीं च पीडां॥६०॥
खरनखदशनैः शिवाशृगालेर्धृतक्षिया परिमाक्षितो निशासु॥
क्षणमपि न जहो परं समाधिं न हि विश्वरेऽपि विमुद्याति क्षमावान्॥६१॥
दिनकरकरजालतापयोगात्मतिदिवसं हिगपिंडवन्महीयान्॥
शाशिकरघवलो विलीयते स्म दिरदिरपुः प्रशमे निधाय चित्तं ॥६२॥
इति मासमेकमचलिकयया समुपोपितो मवमयाङ्गलितः॥
जिनशासनानुगत्धीर्विजहे दुरितैः स दूरमद्यमिश्र हरिः ॥ ६३॥
सौधमकल्पमथ धर्मफलेन गत्वा सद्यो मनोरमवपुः स मनोहरेऽभूत।
देवो हरिध्वज इति प्रथितो विगाने सम्यवत्यश्चित्वः व मुखाय

केषां ॥ ६४ ॥ प्रत्युत्थितो जयजयेति वदद्धिरुचैरानंदवाद्यकुरालैः परिवारदेवैः ॥

मारिहत व पुष्कळ अशा संवरानें युक्त असलेल्या या सिंहाला थंडी थोडीशीहि पीडा कशी देऊं शकेल? ६१ हा सिंह रात्रीं तीक्ष्ण तखें व दांत ज्यांना आहेत अशा कोल्हिणी व कोल्हे यांच्याकडून हें मेत आहे ाशा बुद्धीनें खाल्ला जात असे. तथापि हा आपली शांतहित एक क्षणपर्यंत देखील कोडीत नसे. बरोबरच आहे कीं, संकट प्रसंगीं देखिल क्षमावान व्यक्ति घावरत नसते. शांततेपासून श्रष्ट होत नसते. ६२ चंद्राच्या किरणाप्रमाणें शुभ्रवणीचा, रतुर्तीस पात्रा असा तो सिंह प्रत्येक दिवशीं शांतपिरणामांत आपलें पन लाजन सूर्याच्या किरणसमूहाच्या संतापायुळें वर्षाच्या गोळ्याभगाणें वितळून गेला ६३ श्री जिनेश्वराच्या उपदेशाकडे ज्याची चुद्धि लागली आहे व संसाराच्या भयापासून ज्याचें मन व्याकुल झालें आहे अशा त्या सिंहानें निश्चल होऊन एक महिनापर्यंत उपवास केला व पापासिहत प्राणत्याग केला.

६४ यानंतर तो सिंह धर्माचरणाच्या फलानें तत्काल सौधर्म स्वर्गीत जन्मून मनी-हर नांवाच्या विमानांत सुंदर शरीराचा धारक 'हरिध्वज ' नांवाचा प्रसिद्ध देव झाला. वरोवरच आहे कीं, सम्यक्त्वाची निर्मलता कोणाला वरें सुख देण्याला कारण होत नाहीं ? अथीत् सर्वीनाच होतें. ६५ मोठ्यानें जेथें जग्र जय असे शब्द दिन्यांगनाभिरभिमंगलघारिणीभिः कोऽहं किमतदिति चिंतयति स्म धीरः ॥ ६५ ॥

ज्ञात्वा क्षणादविधना सकलं स्वरतं तस्मात्स तन्मुनियुगं सह तैः

अभ्यर्च्य हैमकलरीश्च मुहुः प्रणामीरित्यत्रवीक्ष्मिदनिर्भरचित्तर्शत्तः थोऽभ्युद्धतो दुरितखंजनतो भवद्भिर्वद्धा घनं हितकथोरुवरत्रि-

काभिः॥ सोऽहं हरिः सुरवरोऽस्मि सुरंद्रकल्पः कस्योन्नतिं न कुरुते भवि-साधवाक्यं ॥ ६७ ॥

अनाप्तपूर्वं भवतां प्रसादात्सम्यक्त्वमासाद्य यथावदेतत् ॥ त्रैलोक्यचूडामणिशेखरत्वं प्रयातवान्संप्रति निर्दतोऽस्मि ॥ ६८ ॥

बोछणारे, आनंद वाद्यें वाजविण्यांत कुशल असलेले अशा परिवार देवांनीं व मंगलवस्त हातांत धारण करणाऱ्या स्वर्गीय सुंदर देवांगनांनीं युक्त असा तो उठलेला धीरदेव ' मी कोण व हें काय आहे, असा विचार कुरूं लागला. ६६ यानंतर शोड्याच वेळेने अवधिज्ञानाने आपली पूर्वजन्माची सर्व हकीकत जाणून त्या सर्व परिवार देवासह तो हरिध्वज देव स्वर्गापासून त्या म्रानिद्वयाकडे (अभि-तकीर्ति व अमितमभ ) येऊन सुवर्णकुंभांनीं व वारंवार नमरकार करण्यानें त्यांचें पूजन करून आनंदानें ज्याचें अंतःकरण भरून गेर्छे आहे असा होत्साता पुढें लिहिन्याप्रमाणें बोलू लागला ६७ मुनिश्रेष्ठहो ! ज्याला आपण हितोपदेशरूपी जाड दोरखंडांनीं पापरूपी गाळांतून वर काढिलें तोच सिंह मी सध्या देवेंद्रतुल्य असा महार्द्धिक देव झालों आहे. वरोवर आहे कीं, सत्पुरुपांचा उपदेश कोणाची उन्नति करीत नाहीं बरें ? सर्वोची करितो. ६८ हे मुनिराज! आपल्या कृपेनें पूर्वी कधीं प्राप्त न झालेलें असे हैं सम्यग्दर्शन यथार्थ रीतीनें प्राप्त करून घेऊन मी तैलेक्यचूडामणींच्या किरीटपणाला प्राप्त होऊन आतां मुक्त झालों आहे. अर्थात् आतां मुक्तिलाभ होणें फार दुर नाहीं ६९ ज्यांत ह्यातारपणारूपी लाटा आहेत, जनमरूपी पाण्यानें भरलेला, मरणरूपी मगर ज्यामध्यें आहे असा, मोठा

जरावीचीभंगो जननसिललो मृत्युमकरो।
महामोहावर्तो गदनिवहफेनैः शबलितः॥
मया संसाराब्धिभवदमलवाक्यप्लवभृता॥
समुत्तिणिः किंचित्पभवनतटीशेषमचिरात्॥ ६९॥

इत्यं निगद्य विद्ययः स पुनः पुनश्च संपूज्य तौ यतिवृषे। प्रययो स्वधाम॥ विन्यस्य मूर्धिन सुचिराय तदं विधूलिं रक्षार्थभूति। भेव संसृतियातु-धान्याः ॥ ७०॥

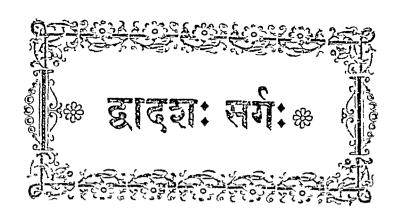
शरदुडुपतिरिंगश्रीमुषा हारयष्ट्या सह हृदयविभागे बद्धसम्यक्त-संपत्॥

अभिमतसुरसौरूयं निर्विशक्तप्रमत्तो जिनपतिपदपूजां तत्र कुर्वन्तु-

इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचिरते सिंहप्रायोपगमनं नामैकादशः सर्गः

मोह हाच भोवरा ज्यांत आहे असा, नानाप्रकारचे रोगरूपी फेसानें युक्त असलेला असा संसाररूपी समुद्र हे मुनिराज! आपल्या उपदेशरूपी नांवेचा आश्रय घेणाऱ्या मजन्कहन तरला गेला आहे. आतां कांहीं जन्म घेणे हाच कोणी किनारा तो मात्र उरला आहे. तोही मी लोकरच तरून जाईन. ७० याप्रमाणें बोलून व पुनः पुनः त्या दोन श्रेष्ठ चारण मुनिराजांची पूजा करून व संसाररूपी पिशाचापासून स्वतःचें पुष्कळवेळपर्यंत रक्षण करण्याकरितां जणु त्यांच्या चरणाची धूळ आपल्या मस्तकावर धारण करून तो देव आपल्या टिकाणीं निघृन गेला. ७१ शरत्काल्या चंद्र किरणाची शोभा हरण करणाऱ्या रत्नहारासह ज्यानें आपल्या हद-यावर सम्यक्त्व संपत्ति धारण केली आहे असा व प्रमादरित होजन दररोज जिनेश्वराच्या चरणांची पूजा करणारा तो देव आपल्याला आवडत्या अशा दिव्य सुखांचा अनुभव घेत तेथें-स्वर्गामध्यें राहूं लागला.

अयाप्रमाणें असगकविकृत श्रीवर्ङमान चरित्रामध्यें सिंहाच्या प्रायोपगमः
 नाचें वर्णन करणारा अकरावा सर्ग संपछा.



अथास्ति कच्छाविषयः प्रतीतो द्वीपे द्वितीये कुरुभूमिकल्पः ॥ प्राच्यां दिशि प्राच्यसुरालयस्य सीतापगोदक्तरमागलमः ॥ १ ॥ रोप्यो गिरिस्तत्र नमश्रराणां धाम स्वधाम्ना विजितान्यशैलः ॥ पंचाधिका विंशतिरूर्द्वमाना च्छतं च तिर्यखरयोजनानाम् ॥ २ ॥ यः काशशुभैः शिखरेरदभैरभंकपाश्रेईसतीव नाकं ॥ वाग्गोचरातीतसुरूपसंपद्विद्याधरावासमदावलिषः ॥ ३ ॥ यत्रात्तधीतसमयूखरेरवाश्यामायिताशेपशरीरशोभाः ॥ यत्रात्तधीतसमयूखरेरवाश्यामायिताशेपशरीरशोभाः ॥ इतस्ततो यान्त्यभिसारिकाः से दिवा तिमसा इव मूर्तिमत्यः ॥ ४ ॥ कान्तोऽपि यत्कूरतरो निकामं न सेव्यते दिव्यवधूजनेन ॥

१ दुसऱ्या धातकी खंड नां वाच्या द्वीपांत देवकुरु भोगभूमी प्रमाण प्रसिद्धीस आहेला कच्छ नां वाचा देश आहे. हा देश पूर्व मेरुपर्वताच्या पूर्व दिशेस सीता नदीच्या उत्तर किनाऱ्याच्या एका भागावर वसलेला आहे. २ या देशांत विद्याधरांचें निवासस्थान असलेला विजयार्थ या नां वाचा एक रूप्याचा पर्वत आहे. यानें आपल्या कांतीनें इतर पर्वतांच्या शोभेला जिंकिलें होते. हा पर्वत मोट्या योजर्नाच्या प्रमाणानें पंचवीस योजने उंच व शंभर योजनें उंद असा आहे. ३ शब्दांनीं ज्याचें वर्णन करणें अशक्य आहे अशा रूपसंपत्तीला धारण करणाऱ्या विद्याधरांचें भी निवासस्थान आहे अशा गर्वानें फुगलेला हा पर्वत मेद्यांचे विदारण करणाऱ्या अग्रभागांना धारण करणारे व काश पुष्पाप्रमाणें श्वेतवर्णाच्या अनेक मोट्या शिखरांनी जणु स्वर्गीला इंसतच्य आहे असें वादतें. ४ जेथें जवल घेतलें त्या स्वच्छ-पाणी

अनन्यसाम्यामवलोक्य कान्ति विद्याधरीणामतिलाज्जितेन ॥५॥ विद्यानुभावेन परेण केल्यास्तिरोहितांगीरिप यत्र रामाः॥ श्वासानिलामोदहता स्वनाथान्धृंगावर्ला सूचयति प्रमूढान् ॥६॥ न हीयते यत्र सरोवराणां विकाशसंपत्कुमुदोत्करेण॥ तीरस्थमु कोपलसांद्रदीप्तिज्योत्स्नापरीतेन सदा दिवापि ॥७॥ स्वधामिभः कुंददलावदातेरुत्सारयन्यः परितस्तिमस्रां॥ सृजान्निवाभाति सितेतरासु ज्योत्स्नामपूर्वीमिप शर्वरीषु॥८॥ श्रण्यामपाच्यामथ तत्र हैमप्राकारहर्म्याद्दविराजितत्वात्॥ अन्वर्थनामास्ति पुरं पुराणां ललामकं हेमपुरं पुराणं॥९॥

दिळेल्या तरवारीच्या किरणांच्या रेघांनीं ज्यांच्या सर्व शरीरांचें सौंदर्य निळसर दिसत आहे अशा अभिसारिका स्त्रिया ( जारानें बोलाविलेल्या ठिकाणीं जाणाऱ्या स्त्रिया ) या पर्वतावर इकडे तिकडे आकाशांतून हिंडत असतांना त्या जणु दिवसा सूर्तिमत ह्या अंधारी रालीच आहेत अशा भासत असत. ५ या पर्वे-ताचा शिखरतट आतिशय रमणीय' असूनही त्याच्यावर देवांगना विहार करीत नसत. याचें कारण हें होतें कीं, तेथील विद्याधरिह्मयांचें ज्याची कोणीही बरी-वरी करू शंकणार नाहीं असें सौंदर्य पाहून त्या अतिशय लाजित झाल्या होत्या-६ विद्येच्या उत्कृष्ट मभावाने विद्याधर स्त्रिया क्रीडाप्रसंगी आपलें शरीर अदृश्य करीत असत. परंतु त्यांच्या श्वासवायूच्या सुगधाने आक्विंछेला सुंग्यांचा सपुदाय गोंधळ्न गेलेल्या त्यांच्या पतींना त्या कोठें आहेत हें सूचित असत. ७ या पर्ततावरील सरोवरांच्या रातीं विकासपावणाऱ्या कमलसमृहानें दिवसा देखिल आपल्या विकास संपत्तीचा त्याग केला नाहीं. याचें कारण हें होतें की, तीरावर असलेल्या मौक्तिकपाषाणाच्या दाट कांतीरूपी ज्योत्स्गेने तीं कमलें न्याप्त झालीं होतीं-मौक्तिकपाषाणांची कांति चंद्राकिरणाप्रयाणें असल्यागुळें नेहमीं तेथें तीं कमलें प्रफु-छित राद्दात असत. ८ कुंदपुष्पांच्या कळ्याप्रमाणे असछेल्या स्वतःच्या कांतींनीं चोहोंक इन दाट अज्ञा अंधारी रालींना हटविणारा हा पर्वत कृष्णपक्षाच्या रात्रीं. देखिल जणु अपूर्व चांदण्याची शोभा उत्पन्न करणारा असा शोभत असे. ९ या पर्वताच्या दक्षिण श्रेणीवर सोन्याचा तट, सोन्याचीं घरे व सज्जे यांनीं शोभत

निस्रीवैमल्यगुणेषु यस्मिच् रत्नोपलेष्वेव परं खरत्वं॥ संलक्ष्यतेऽन्तर्मा छेनत्वर्सिदोः कलावतां पक्षवतां च मध्ये ॥ १० ॥ त्यांगान्वितो यत्र सदा विरूपः परं इधानां कुलमप्रमाणं ॥ भवत्यनिष्टो यतिरेव योगिकियास दक्षः परलोक्सीरुः॥ ११॥ यत्रांगनानां वदनारिंदे निश्वासलोभेन पतन्मुदालिः॥ कराहतो हस्तमपि प्रहृष्टो रक्तोत्पलाशंकिमनाः परेति ॥ १२ ॥ तस्याभवत्पालियता विनीतो राजा प्रजापालनलव्धकीर्तिः॥ पुरस्य वीरः कनकाभनामा पुरःसरो नीतिविदां सतां च ॥ १३॥ असलेले, सर्व नगरामध्यें तिलकभूत असें हेमपुर या सार्थक नांधाचे प्राचीन शहर होतें. १० या शहरांत स्वाभाविक निर्मलगुण धारण करणाच्यामध्यें फक्त रत्नपा-पाणामध्येंच ' खरत्व ' कटोरता होती. कलावान-गायन नृत्यादिकला जाणणारं, पर्शी सोळा कलांनी युक्त, पक्षवान् जाति, कुल वगरेंचा पक्ष धारण करणारे, पर्भी शुक्ल व कृष्ण पक्ष यांनी युक्त अशामध्ये फक्त चंद्राच्या टिकाणींच कलंक आहळून येत असे. ११ या हेमपुर शहरांन त्यागान्वित-दान देणारे लोक नेहमी विरूप असत ह्मणजे कुरूप होते. याचा विरोध परिहार असा:-नेहमीं टान देत असल्यामुळे ते विरूप अर्थान् द्रव्योंने रहित होते. तसेंच तेथील विद्वानांचा समुद्राय अप्रमाण अर्थात् अविश्वरत होता. या विरोधाचा परिहार असा-तेथे विद्वानांचे प्रगाणच नव्हते अर्थात् तेयें अगणित विद्वान होते. तेथें अनिष्ट फक्त यतिराज्ञच होते अर्थात् इष्ट अगः पंचेद्रियांच्या विषयसुखापासून ते रहित होते परलोकापासून भिणोरच फक्त योगिक्रियेमव्यं -ध्यान करण्यामध्यें दक्ष होते अर्थान् ध्यानामध्यें दक्ष असणारे मुनिवर्यच फक्त परलोकभीरु नारकाडि जन्मापास्न भीन होतें. तेथील मृहस्य वर्ग परलोक-शत्रुससृह त्यापासृन भय वालगीत नसे १२ येथे स्त्रियांच्या मुल-क्षमलावर सुगंजित्वासाच्या लोभाने आनंदयुक्त होऊन पडणाग सुंगा जेव्हां न्त्रियांकड़न हातानें दूर केला जान असे तेव्हां हा हातच तांवड कमल आहे अशी शंका त्याच्या मनांत उत्पन्न होऊन तो आनंदित होऊन त्याच्या सभोवती विर्ट्या घाळीत असे १३ या हेमपुरशहराचें रक्षण करनारा, प्राक्रमी, सन्पुरुप व नीनिज लोकांचा पुढारी व प्रजेचें पालन करण्यानें ज्याला कीर्तिलाभ झालेला आहे

सुनिश्रलातिष्ठदसी यदीये शरत्रभःश्यामरुची जयश्रीः॥
विदारयेन्मामिप संचलन्ती धारा शितास्येति भियेव खड्ने॥ १४॥
भयात्परिम्लानमुखानि पुंसां पश्यत्ययं शौर्यनिधिनं युद्धे॥
इतीव मत्वा पुरतो यदीयः प्रोत्सारयामास रिपून्प्रतापः॥ १५॥
नित्योदयो सूमियृतां शिरःस्छ विन्यस्तपादः कमलेकनाथः॥
यस्तिग्मरुमेः सहशोऽपि धात्रीं प्रल्हादयामास करेरतिग्मैः॥१६॥
अनूनशीलामरुणेकसूषा विश्रामसूमिः कमनीयतायाः॥
महीपतेस्तस्य चसूव देवी ख्यातान्वया या कनकादिमाला॥१०॥
सौधर्मकल्पादवतीर्य पुत्रः पित्रोस्तयोः संमदमादधानः॥
अनल्पकांतिद्यतिसत्वयुक्तो हरिध्वजोऽभूत्कनकध्वजारव्यः॥ १८॥

असा कनकाभ नांवाचा सुशिक्षित राजा होता. १४ या राजाच्या शरत्कालाच्या आकाशामाणें नीलवणीच्या खङ्गामध्यें असलेली याची तीक्ष्ण धार "मी जर चंचल वनल्ये तर मला देखिल ती कापून काढील "ह्मणून जणू भीतीनें राजलक्ष्मी निश्चल हो-ऊन राहिली. १५ हा शौर्याचा सांठा असलेला राजा भीतीने ज्यांचीं तोंहें सुकून गेलीं आहेत अशा मनुष्यांचें युद्धामध्यें दर्शन घेत नसतो असें समजून जणू याचा पताप त्यांना या राजापासून दूर सारीत असे. १६ नेहमीं उदयानें युक्त, भूमिभृतांच्या-पर्वतांच्या सस्तकावर पाद-किरण ठेवणारा, राजाच्या पक्षींराजांच्या मस्तकावर आपले पाय देवणारा, कमलैकनाथ-कमलांचा स्वामी, राजपक्षीं कमलेचा-लक्ष्मीचा पति: असा तो राजा सूर्यासारखा असूनही आपल्या सौम्य अशा करांनीं प्रजेला आनंदित करीत होता. सूर्य आपल्या करांनीं-किरणांनीं पृथ्वीला संतप्त करीत असतो. परंतु हा कनकाभ राजा आपल्या करांनीं टॅक्स-राजग्राह्य भाग यानें आनंदित करीत असे १७ या राजाला प्रासिद्ध वशांत उत्पन्न झालेली कनकमाला नांवाची राणी होती. ही पूर्णीवरथेला पोहोंचलेल्या पातिव्रत्यरूपी अद्वितीय अलंकारांनी भूषित झालेकी व सौदर्याचे विश्रांतिस्थान अशी होती. १८ विपुलकांति, प्रभाव व पराक्रम या गुणांनीं युक्त असा तो हिस्ध्वज नांवाचा देव सौधर्म स्वर्गातृन येऊन या उभय माता-पित्यांना आनंदित करणारा कनकध्वज नांवाच। मुलगा होऊन जन्मला.

अकारयन्चारुजिनाधिपानामनारतं गर्भगतोऽपि मातुः ॥
.यो दौहदायासपदेन पूजां सस्यक्त्वशुद्धि प्रथयन्निव स्वां ॥ १९॥
यस्मिन्प्रसूते ववृधे कुलश्रीश्रंद्रोदये प्रत्यहमंबुराशेः॥
वेलेन जनद्यापारपांपरप्रप्रापरप्रकेत जन्मे

वेलेव चूतद्रुमपुष्पसंपत्पुष्पाकरस्येव च संनिधाने ॥ २० ॥ विगाह्यमाना यगपच्चतस्रो तरेंद्रविद्याः सहस्रा विगेतः॥

विगाह्यमाना युगपच्चतस्रो नरेंद्रविद्याः सहसा विरेजुः॥ विशुद्धया तस्य थिया निसर्गोहिशोऽपि कीत्यी कमनीयमूर्तेः।२१।

यो यौवनश्रीनिलयैकपद्मोऽप्यनूनधेर्यः स्ववशं निनाय ॥ अरातिषद्वर्गमनन्यसाध्यं विद्यागणं च प्रथितप्रभावः॥ २२॥ यद्दच्छया यांतसुद्धिय पौराः सुनिश्चलाक्षा इति यं प्रदध्यः॥ किं मूर्तिमानेष स चित्तजन्मा किं रूपकांतरद्धिस्त्रिलोक्याः। १२।

१९ ज्यावेळीं हा मातेच्या गर्भामध्यें होता तेव्हां ढोहाळ्याच्या पीडेच्या निमित्तानें आपल्या मातेकडून जिनेश्वराची नेहमी त्यांनें पूजा करविळी. या त्याच्या कृतीवरून जणु त्यांनें स्वतःच्या सम्यग्दर्शनाची प्रसिद्धी करिवळी. २० चंद्राच्या उदयांनें जसा समुद्राचा किनारा भरतींने युक्त होतो अथवा वसंत ऋतूच्या आगमनानें जसा आम्र- दक्षाळा मोहोर येतो त्याप्रमाणें हा जेव्हां जन्माळा आळा तेव्हां दररींज राजाच्या वंशाची छक्ष्मी-राजळक्ष्मी दृद्धिंगत होऊ ळागळी.

२१ या कनकप्रभ राजपुताच्या निर्मल बुद्धीच्या द्वारं ज्यांचा अभ्यास केला गेला आहे अशा चार राजाविद्या एकदम फार शोभू लागल्या व रवा-भाविक मुंदर शरीराच्या या राजपुत्राच्या कीर्तीनें दिशा देखिल फार मुंदर दिमूं लागल्या. २२ हा कनकप्रभ राजपुत्र तारुण्यरूपी लक्ष्मीला राहण्यासाठीं अद्वितीय कमलासारला होता. तथापि याचें टिकाणीं पूर्ण धेर्य वास करीत होतें. यानें इतरांना जिंकतां न येणाच्या अशा काम, कोध, लोभ, मद, मान व हर्ष या सहा शत्रूंना वश केलें होतें. तसेंच हा मोठा प्रभावशाली होता हाणून याला प्रजाप्ति चमैरे अनेक विद्याही सिद्ध झाल्या होत्या. २३ हा राजपुत्र जेल्हां कोठेंतरी साहजिक रीतींनें याटमाट न करितां जाण्यास निघाला असतां नगरवासी लोकांचे नेत्र याच्याकडे टक लाऊन पाहात असत व त्यावेलीं लोक हा मूर्तिगंत मदन आहे काय ? सिंवा त्रैलीन्याच्या रूपसींदंर्याची हा सीमाच वनला आहे काय ? असा

निपत्य यस्मिन्पुरसुंदरीणामिंदीवरश्रीरुचिश सतृष्णा ॥
कटाक्षसंपन्न चचाल ममा सुदुर्वला गौरिव खंजनांत ॥ २४ ॥
आकृष्टवान्खेचरकन्यकानां चेतांसि यस्तासु निरादरोऽपि ॥
वपुर्विशेषेण निजेन राजन्नयांस्ययस्कांत इव प्रतीतः ॥ २५ ॥
अमेयगंभीरगुणस्य दूरादिष्ठियचापः प्रतिपाल्य रंष्ट्रं ॥
यस्यास्त कंसूर्धनिनो निशिथे सुजाश्रतो भीरुरिवैकचौरः ॥ २६ ॥
पितुर्निदेशात्कनकप्रभायाः स्फुरत्प्रभायाः समवाप्य योगं ॥
रराज संतापहरः प्रजानां स विद्युता वा नववारिवाहः ॥ २७ ॥
परस्परं तौ स्ववशं निकामं वधूवरी निन्यतुरात्मकान्त्या ॥
प्रियेषु यत्प्रमरसावहत्त्वं तच्चारुताया हि फलं प्रधानं ॥ २८ ॥

विचार करीत असत. २४ जशी गाळामध्यें फसलेली अशक्त गाय तेथून हालूं-शकत नाही, त्याप्रमाणे या शहरांतील सुंदर ख्लियांची नीलकमलाच्या कांतिप्रमाणें सुंदर असलेली व लुब्ध बनलेली कटाक्षसंपत्ति या राजपुत्रावर पडून तेथेंच ती निश्रल होत असे. तेथून निघण्यास ती असमर्थ होत असे. २५ स्वतःच्या विशिष्ट शरीराच्या कांतीनें शोभणाऱ्या या राजपुत्रानें विद्याधरांच्या सुदर कन्यामध्यें निरदर होऊन देखिल लोहचुंबकमाण जसें लोखंडास इच्छा नसतांही आकर्षण करितो त्याप्रमाणें त्यांचीं मनें आपल्याकडे ओढून घेतलीं. अर्थात् याला पाहिल्या वरोबर अनेक विद्याधर कन्यांना हा आपछा पति व्हावा असे वाटू छागछे २६ जसें अर्थरात्रीं एखादा चोर श्रीमंत मनुष्य जागा असेळ तर भीतियुक्त होऊन तो केव्हां निजेल याची वाट पाहात त्याच्यापासून दूर बसत असतो त्याप्रमाणें ज्याचे अपरिमित व गंभीर गुण आहेत अञ्चा या विवेकयुक्त राजपुत्रापासून दृर राहून व आपलें धनुष्य सज्ज करून मदन स्वतःच्या प्रवेशाकरितां वाट पहात वसला होता. २७ जिच्या देहापासून सौंदर्यकांति वाहेर पडत आहे अशा कनकप्रभा नांवाच्या विद्या-धर कन्येशीं हा कनकध्वज राजपुत्रा बापाच्या परवानगीनें संबंध पाऊन अर्थीत् विवाह करून जसा लोकांचा संताप दुर करणारा नवीन मेघ विजेशी संयोग पाऊन शोभतो तसा प्रजेळा संताप रहित करणारा होत्साता शोभू लागला. २८ स्वतःच्या सौंदर्यानें त्या पतिपत्नींनीं एकमेकांस अगदीं वश करून घेतलें. वरोवरच आहे कीं आवडत्या

स्थातुं निमेपार्धमिप प्रतीतावन्योन्यसुन्सुच्य न शेकतुस्तौ ॥ अनुनलावण्यविशेपलक्ष्मीं वेलां ससुद्राविव धारयन्तौ ॥ २९ ॥ लतालये नंदनकाननांते प्रवालशय्यामिधशय्य कान्तां ॥ प्रसादयन्कोपविवर्तितांगीं रेमे मनाक्प्रस्फुरिताधरोष्ठीं ॥ ३० ॥ जवानिलाकृष्टपयोधरेण गत्वा विमानेन तया समेतः ॥ आनर्च माल्यादिमिराहतात्मा जिनालयान्मंदरसानुसाजः ॥ ३१ ॥ अथैकदा संसृतिवासभीतस्तस्मे स राज्यं कनकष्वजाय ॥ प्रदाय राजा सुमतेः समीपे जम्राह दीक्षां विजिताक्षवृत्तिः ॥ ३२॥ अनन्यलभ्यामिष राज्यलक्ष्मीमवाप्य नौद्धत्यमवाप धीरः ॥ तथाहि लोके महतां विभूतिर्महीयसी नापि विकारहेतुः ॥ ३३ ॥

वस्त्वर नेहमीं प्रेम उत्पन्न करणे हेंच सैं।दर्शाचें गुरुय फल आहे. २९ जसे दोन समुद्र पूर्ण खारटपणाच्या विशेष शोभेला धारण करणाच्या आपल्या तटांचा क्षणमात्रही त्याम करीत नाहींत तसें परिपूर्ण सोटर्य लक्ष्मीला धारण करणारे हे प्रसिद्ध पतिपत्नी एकमेकाला सोहन अर्धाक्षणपर्यत टेखिल चेगळे राह शक्त नसत ३० हा राजपुत्र नंदन चनामध्यें को बळ्या पल्लवांच्या शय्येवर निजक्त जिचा खालचा ओठ थोडासा स्फुरण पावन आहे व जिनें कोपान आपलें शरीर बळावेलें आहे अशा आपल्या पत्नीला प्रसन्न करून तिच्याशीं रममाण होत असे,

३१ वेगापासून उत्पन्न झालेल्या वाच्याने मेघांना आकर्षण करून घेणाच्या विमानांत आपल्या पत्नीसह वसून तो राजपुत्र मंदर पर्वतावर जात असे व तेथे असलेल्या जिनमांदिरांची पुष्प वगैरे अष्टद्रव्यांनी आदरयुक्त होऊन पूजा करीत असे. ३२ एके वेळीं संसार वासापासून भ्यालेल्या कनकाभ राजाने या कनक-ध्वजाला राज्य दिलें व सुमित नांवाच्या सुनीश्वराजवळ ज्याने आपलीं हिंदे- यें ताव्यांत टेविलीं आहेत असा होऊन दीक्षा घेतली. ३३ या कनकध्वजाला इतरांना मिळण्यास अशक्य अशी राज्यलक्ष्मी मिळाली होती. तथापि हा गंभीर असल्यामुळे याच्या टिकाणीं उद्धतपणा उत्पन्न झाला नाहीं. वरोवरच आहे कीं, सत्पुरुषांना मोठें वेभव मिळालें तरी तें त्यांना विकार उत्पन्न करण्यास कारण होत नाहीं ही गाष्टे जगामध्यें प्रसिद्ध आहे. ३४ चंद्राच्या किरणाममाणें शुभ्र अशा स्वतःच्या

चंद्रांशुशुभेरिष स प्रजास सदानुरागं म्वशुणैश्वकार॥
निरत्ययं प्रत्यहमूर्जितश्रीरचित्यरूपा महतां हि वृत्तिः॥ ३४॥
स चंदनस्थासकवत्स्रश्वाय प्रीत्योन्मुखानामभविकामं॥
दूरस्थितोऽिष प्रददाह शत्रून् तपे विवस्वानिव सप्रतापः॥ ३५॥
प्रजानुरागं विमलेव कीर्तिः सुयोजिता नीतिरिवेप्सितार्थं॥
प्रजानुरागं विमलेव सूनुमजीजनद्धेमरथं प्रियासौ॥ ३६॥
तस्यार्थवोधं धिषणेव सूनुमजीजनद्धेमरथं प्रियासौ॥ ३६॥
इत्यं स सांसारिकसौख्यसारं पंचंद्रियेष्टं भुवि निर्विवेश॥
प्रयागनोत्तुंगपयोधराग्रप्रमृष्टवक्षःस्थलचंदनश्रीः॥ ३७॥
अथान्यदा मत्त्वकोरनेत्रां कातां स्वहस्तार्पितवारुभूषां॥
आदाय विद्याथरराजसिंहः सुदर्शनोद्यानियाय रंतुम्॥ ३८॥

गुणांनीं या राजाने मजेमध्यें आरक्तपणा [पक्षीं प्रेमळपणा उत्पन्न केला.] दररोज नाश न पावतां त्याची लक्ष्मी उत्कर्षाला पोहोंचत असे. वरोवरच आहे कीं, मोट्या लोकांचा स्वभाव अचिंत्य असतो. चंद्राचे किरण पांढरे असतात परंतु त्यांचें सौद्र्य दिवसा अस्ताला जाऊन राजीं वृद्धिंगत होत असते. परतु या राजाची लक्षी नेहमी उदयरूप होती व वाढतच जात होती. तसेंच याचे गुण पांढरे असून तांवडेपणा उत्पन्न करीत असत. यामुळें कांचे मोठ्यांचा स्वभाव अचिंत्य असतो असें म्हणतो तें योग्य आहे. ३५ हा राजा प्रीतीनें याच्याकडे जे पाहात असत त्यांना चंदनाच्या उटिपमाणें अतिशय सुखदायक होता व प्रतापानें सिहत असलेला हा राजा शत्रूंना ग्रीष्मत्रहतूंतील सूर्याप्रमाणे दूर राहूनही भाजून काढीत असे. अर्थात् अनुकूल लोकांना हा मुख देत असे. प्रतिकूलांना हा दुःखदायक होता. ३६ निर्मळ कीर्ति जशी प्राजापेमाला जन्म देते. उत्तम रीतीनें योजिलेली नीति इच्छित पदार्थास मसवते; वुद्धि जशी पदार्थ ज्ञानाळा उत्पन्न कारिते तशी या नृपालाची पत्नी हेमरथ नांवाच्या मुलाला प्रसवली. ३७ प्रियपत्नीच्या उंच अशा स्तनाग्रांनीं ज्याच्या वक्षःस्थलावरची चंदनाच्या उटीची शोभा पुसली गेली आहे अज्ञा या राजानें या भूतलावर पंचेंद्रियांना आवडत्या अज्ञा सांसारिक सुखांच्या सारभागाचा याप्रमाणें वराच कालपर्यंत अनुभव घेतला. ३८ एकेवेलीं जिनें आप-ल्या हातांत उत्ताम रत्नालंकार घातले आहेत, जिचे मत्ता चकोरपक्षापमाणें डाले तस्यैकदेशस्थितवालपिंडीद्रमस्य मूले विपुलाश्मप्टे ॥ वालातपश्रीमुपि रागमलं निपात्य तस्योपिर वा निपण्णम् ॥२९॥ कृशं निजांगेरकृशं तपोगिः स्थानं शमस्यैकपितं क्षमायाः ॥ परीपहाणामवशं वशाक्षं वासांद्रजं चारचिरत्रलक्ष्म्याः ॥ ४० ॥ श्रुतस्य सारार्थिमवात्तरूपं स्वयं दयाया इव साध्रवादं ॥ दूरादपश्यन्मुनिमादृतात्मा स सुन्नतं सुन्नतनामध्येय्॥४१॥कुलक्ष्मा निधानमासाद्य यथा दिरद्रो जात्यंधवन्नेत्रयुगस्य लाभात् ॥ यतिं तमालोक्य मुदा तदंगे निजेऽप्यमांत्याविव सो वभ्रव ॥४२॥ उपत्य हृष्टांगरुहैः समंतात्स सूचितान्तःकरणानुरागः ॥ पर्यस्तचूडामणिना ववंदे मूर्ध्ना सुनिं कुद्धालिताग्रहस्तः ॥ ४३ ॥

आहेत अज्ञा आपल्या कनकप्रभा राणीला वरोवर येऊन विद्याघर गजामध्यें श्रेष्ठ असलेला तो कनकध्वज राजा मेर पर्वतावरिं वर्गीचांत कीडा करण्यासाठीं गेला. ३९ त्या वर्गीच्याच्या एका भागामध्यें एका लहान अज्ञोक दृक्षाच्या खार्ला सूर्याच्या कोवल्या उन्हाच्या शोभेला हरण करणारा अर्थात् त्या रंगाचा एका लांव कंद पापाण होता. त्या पापाणावर वसलेले द्वानि भणु रागरूपी पहिल्यानाला खार्ली पाडून त्यावर वसले आहेत असें भासत होते. अज्ञा मुनीला या राजानें पाहिलें ४० हे म्रानि आपल्या अवयवांनीं कृज्ञ होते परंतु तपानें कृज नव्हतें. अर्थात् फार मोटे तपस्वी होते. शांतभावाचें स्थान होतें क्षमेचे ते आहितीय पति होते. तेपरीपहांच्या स्वाधीन झालेले नसून इंद्रियांना त्यांनीं स्वाधीन केलें होतें, सुंदर निर्दोप चरित्र-रूपी लक्ष्मीचे ते निवासस्थान—कमलरूप होते

४१ हे मुनिराज जणु मृतिमंत द्वाद्गांगश्रुत ज्ञानाचा उत्कृष्ट अर्थ होते जणु द्येचा हे साधुवाद होते. अर्थात् द्यागुणाच्या कीर्तीनं या मुनिश्वराचें स्वरूप जणु धारण केलें होतें. उत्तम महात्रतांचे धारक अशा या सुत्रत मुनिराजाला कनकथ्वज राजानें ज्याचें अंत करण भक्तीनें भरून गेले आहे असा होऊन दुरून पोहिलें. ४२ खिजना सांपडला असतां जसा द्रिज्याच्या शरीरांत आनंद मावत नाहीं, किंवा अंधळ्याला गेलेले दोन डोले पुनः लाभले असतां जसा आनद होतो तसा त्या मुनीना पाहून राजाला इतका आनंद झाला कीं, तो त्याच्या देहामध्यें मावणें अश्वय झालें.

अघान्छदा शांतिविलोकितेन कर्मक्षयाशीर्वचसा च कामं॥
अनुग्रहं तस्य चकार साधुर्भव्ये सुसुक्षोर्न हि निःस्पृहा घीः॥४४॥
स्थित्वाण्रतस्तस्य सुनेरदूरे विद्याधरेन्द्रो निरवद्यभावः॥
सप्रश्रयं प्रांजिलरादरेण पप्रन्छ धर्मं तसुदारधर्मस् ॥ ४५॥
पृष्टो सुनिस्तेन स इत्युवाच श्रेयो वचो ध्वस्तविकारवर्गं॥
मध्यादृशां चित्तमपि प्रसद्य प्रत्हादयन्दर्शनमोह्माजास्॥४६॥
धर्मो जिनेंद्रैः सकलाववाधिरुक्तः परो जीवदयेकसूलः॥
स्वर्गापवर्गोरुसुखस्य हेतुः स दिप्रकारो भवति प्रतीतः॥ ४०॥
सागारिकोऽणवतभेदिभन्नोऽनागारिकः रव्यातमहावतश्च॥
आद्यो गृहस्थैः परिपालनीयः परं परः संयमिभिर्विविक्तैः॥४८॥

४३ आनंद झाल्यामुळें सर्व शरीरभर उत्पन्न झालेल्या रोमांचांनीं। ज्याने आपलें अंतःकरणांतलें प्रेम सूचित केलें आहे असा तो राजा जवल आला. त्यानें आपले दोन हात कळीसारखे केले आणि जमीनीला टेकला आहे चूडामणि ज्याचा अशा अपल्या मस्तकाने मुनीस नमरकार केला. ४४ पापाचा नाश कर-णाऱ्या शांत दृष्टीनें व कर्मांचा क्षय करण्यास समर्थ असलेल्या अशीर्वादानें सुत्रत मुनिराजांनीं राजावर विशुळ अनुग्रह केला. बरोबरच आहे कीं, मुनीश्वराची ही भव्यजनावर निस्पृह बुद्धि असत नाहीं- ४५ पवित्र विचाराचा तो विद्याधर राना गोठ्या आदरानें ग्रुनी वराजवळ वराळा व विनयानें हात जोडून महा धर्मयुक्त असलेल्या त्या मुनीव्यरास धर्माचें स्वरूप विचारकं लागला. ४६ दर्शनमोह-नीय कर्माच्या उद्यानें युक्त असलेले अर्थात् मिथ्यात्वी अज्ञाही लोकांच्या अंतः करणाला पयत्नानें आनद्युक्त करणारे ते गुनिराज जेव्हां राजाकडून विचारले गेले तेव्हां ते विकाररहित च कल्याणकारक असा उपदेश पुढें लिहिल्या-प्रमाणें करूं लागले. ४७ '' संपूर्ण परार्थीचें ज्ञान ज्यांना झालें आहे अशा जिनेश्वरांनीं जीवावर दया करणें हेंच ज्यांचें मूळ आहे, स्वर्ग व मोक्षाच्या मोट्या सुखाला हेतु असलेला असा उत्कृष्ट व प्रसिद्ध धर्म दोन प्रकारचा आहे असें सांगिनलें आहे. ४८ पहिला सागार धर्म आहे, तो गृहरथांनीं पाळण्याला योग्य आहे त्यास अणुत्रत धर्म असे ह्मणपात व दुसरा अनगार धर्म आहे तो गृहस्थापासून वेगळे

भद्रानयोर्म् लयुदाहरित सहर्शनं सर्वविदो जिनेंद्राः॥
तत्वेषु सप्तस्विप निश्चयेन श्रद्धानमेकं तदिति प्रतीहि॥ ४९॥
हिंसान्तस्तेयवधूव्यवायपरिश्रेहम्यो विरतियंतीनां॥
सर्वात्मना तद्व्रतमित्युदीणं स्थूला निन्नतिर्धृहमेधिनां च॥ ५०॥
अनादिसांसारिकचित्रदुःखप्रवेकदावानलसंक्षयाय॥
नान्योऽस्त्युपायो नितरामसुष्मादतोऽत्र यत्नः पुरुषेणं कार्यः॥५१॥
मिथ्यात्वयोगाविरितप्रमादैः कपायदोपेश्च वहुप्रकारैः॥
चन्नाति कर्माध्वियं सदात्मा संसारवासस्य हि कर्म हेतु॥५२॥
सङ्घिसञ्ज्ञानतपश्चरित्रेहन्मूल्यते कर्मवनं समूलात्॥
तेषु स्थितं सुक्तिवधुःपुमांसं समुत्सुकेव स्वयमभ्युपेति ॥५३॥
अज्ञानमृदः स्वपरोपतापानपीन्द्रयार्थानस्वितिस्यादीन् ॥५४॥
सर्वुःकृतानस्वात्मविद्भ्युपेतुं विभेति तान्दिधिवपानिवाहीन्॥५४॥
सर्वुःकृतानस्वात्मविद्भ्युपेतुं विभेति तान्दिधिवपानिवाहीन्॥५४॥

अशा संयमी लोकांचा—मुनीचा आहे. याला महात्रत धर्म ह्मणतात. ४९ हे भल्या गृहस्या! या दोन्ही धर्माचे मृल सम्यग्डर्शन आहे असे सर्वज्ञ जिनेश्वर ह्मणतात. स-यग्दर्शनाशिवाय उपर्युक्त धर्माला धर्म हें नांव प्राप्त होत नाहीं. जीवाडिक सात तत्वामध्ये निश्चय करून दृढ श्रद्धान करणे हें सम्यग्दर्शन आहे असे तूं समज. ५० हिंसा, खोटें भाषण, चोरी, ख्रीसेवन, व परिग्रह यांचा पूर्णपणें त्याग करणें हे मुनीचें व्रत होय व रथूलपणें यांचा त्याग करणे हें गृहस्थाचें व्रत होय असे शास्त्रांत सांगितलें आहे.

५१ अनादिकालापासून उत्पन्न झालेली जी सांसारिक नानापकारची दुःखे हीच जंगलांतील मोठ्या अग्निमारखीं आहेत. अगा दुःखांचा नाग करण्यामाठीं श्री जिनांनी सांगितलेल्या धर्मरूपी उपायाहून दुसरा उपाय मुलीच नाहीं. यास्तय या धर्मामध्ये मनुष्याने अवव्य प्रयत्न करावां. ५२ मिथ्यात्व, यांग, अनिरित, प्रमाद व कपाय या अनेक सकारच्या दोपांनी हा आत्मा नेहमी आठ प्रकारचें कमें बांधून घेत असतो. व हीं कमेंच आत्म्याला संसागंत राहण्यास कारण होतात ५३ सम्याद्वर्शन, सम्याजान व सम्याचारित्र आणि तप या उपयांनी हैं कमेंच्यी जंगल मुलापासून उपटून टाकितां चेतां. या उपायांत स्थिर झालेल्या पुरुपाकडे

न जन्मनोऽन्यत्परमस्ति दुःखं शरीरिणां मृत्युसमं भयं च ॥
कष्टं निकामं जरसोऽनुरूपं ज्ञात्वेति संतः स्विहते यतंते ॥५५॥
अनादिकाळं अमतो सवाब्धो प्रियाप्रियत्वं सक्लाः प्रयाताः ॥
जीवस्य जीवा नन्तु पुद्गलाश्च नोकर्मकर्मश्रहणप्रयोगात् ॥५६॥
अनेकशो यत्र मृतो न जातो न सोऽस्ति देशः सक्ले त्रिलोके॥
सर्वेऽपि भावा बहुशोऽनुसूता जीवेन कर्मस्थितयोऽप्यशेषाः ॥५०॥
विराय जानिन्नति सर्वसंगे न रज्यते ज्ञानिशुद्धदृष्टिः ॥
विमुक्तसंगस्तपसा समूलमुन्मुल्य कर्माण्युपयाति सिद्धिं ॥५८॥
इतीरियत्वा वचनं वचस्वी हिताय तस्योपरराम साधुः ॥
विशांपतिस्तच तथेति मेने प्रत्येति भव्यो हि मुमुक्षवाक्यं ॥५९॥

मुक्तिरूपी स्त्री स्वतः जणु उत्कंटित होऊन प्राप्त होत असते. ५४ अज्ञानानें मूर्ख बनछेला जीव स्वतःला व इतरांना त्रस्त करून सोडणाऱ्या इंद्रियांना आवडणाऱ्या अशा पदार्थीना सुख समजून त्यांचीच नहमी उपासना करीत असतो. परंतु आत्मज्ञानी पुरुष अतिशय दुःख देणाऱ्या या इंद्रियभोग्य पदार्थीना दृष्टिविष नांवाच्या सर्पाप्रमाणें जाणून त्यांचा स्वीकार करण्यास भीत असतो. ५५ प्राण्यांना जन्मासारखे दुसरें दुःख नाहीं व मृत्युसारखी दुसरी भीति नाहीं. तसेंच ह्मातारपणासारखें दुसरें अतिशय कप्ट नाहीं. हैं सर्व जाणून सत्पुरुष म्बतःच्या हिताविषयीं यत्न करीत असतात. ५६ अनादिकाछापासून संसारसमुद्रांत फिरणाऱ्या या आत्स्याला सर्व प्रकारचे जीव व पुद्रले पिय व अप्रियपणाला प्राप्त होऊन चुकले आहेत. कारण हे पदार्थ नोकर्म द कर्मरूपानें ग्रहण करण्यांत आले आहेत. ५७ या त्रेलोक्यांत असे एकही ठिकाण नाहीं कीं, जेथें या जीवानें अनेकवेळां जन्म व मरण यांचा अनुभव घेतला नसेल. या जी-वानें सर्व प्रकारच्या परिणामांचा व सर्व प्रकारच्या कर्माच्या जघन्य आणि उत्कृष्ट स्थितींचाही पुष्कळ वेळां अनुभव घेतळा आहे. ५८ ज्ञानाने ज्याची दृष्टि निर्मळ झाली आहे असा आत्मा हें सर्वसंसाराचें स्वरूप जाणून नेहमीं सर्व परिग्रहामध्यें आसक्त होत नाहीं. सर्व परिग्रहांचा त्याग करून व तपश्चरणानें सर्व कर्मीचा नाश करून तो मोक्षाला जातो. " ५९ उत्तम भाषण करण्यांत निपुण असलेले ते सांसारिकीं वृत्तिमवेत्य कष्टां निवर्त्य चित्तं विषयामिलाषात् ॥
तपो विधातुं विधिनाचकांक्ष श्रुतस्य सारं हि तदेव पुंसः ॥६०॥
आर्द्रोत्तरीयां नयनांबुसेकैरपास्य कांतां सह राज्यलक्ष्म्या ॥
सद्यस्तदन्ते स तपोधनोऽभून्न कालहानिर्महतां हितार्थे ॥६१॥
प्रावर्ततालस्यमपास्य दूरमावश्यकासु प्रकटिकयासु ॥
ग्रुरोरनुज्ञामधिगम्य भेज मदोत्तरान्साधुगुणानशेषान् ॥६२॥
श्रीष्मे महोष्माकुलसर्वसत्वे शृंगे नगस्याभिमुखं खरांशोः ॥
श्रीष्मे महोष्माकुलसर्वसत्वे शृंगे नगस्याभिमुखं खरांशोः ॥
श्रापातपत्रेण निवारितोष्णः सदाध्यतिष्ठत्प्रतिमोरुयोगः ॥६३॥
इरम्मदोद्वारिभिरुप्रनादैर्धारानिपातैः स्थिगताष्टदिक्कः ॥
विद्यहृशा प्रावृषि वीक्ष्यमाणो घनाघनैरास्त स वृक्षमूले ॥६४॥

मुनिराज याप्रमाणें राजाच्या हिताकरितां भाषण करून विराम पावले. राजानेंही त्यांचें तें भाषण सत्य मानिलें, वरोवरच आहे कीं, भव्य जीव मुनाश्वरांचें भाषणावर विश्वास ठेवित असतात. ६० संसाराचें हें दुःखदायक स्वरूप समजून घेऊन राजानें विषयेच्छेपासून आपल्या मनास पराष्ट्रच केलें व शास्त्रोक्त पद्धतीनें अर्थात् दिशा घेऊन तप करण्याची तो इच्छा करू लागला. बरोबरच आहे कीं, पुरुपाने जो शास्त्राभ्यास केलेला असतो त्याचें हेंच सार आहे कीं, त्यानें दिशा घेऊन आत्म्याचें कल्याण करून घ्यावें.

६१ डोळ्यांतिळ अश्रुप्रवाहांनीं जिचें वरचें तस्त्र भिज्न आछें चिंव झालें आहे अशा आपल्या कद्मकप्रभा पत्नीचा राज्यळक्षीसह तत्काळ त्याग करून तो कनकथ्वज राजा सुन्नत मुनीजवळ दीक्षा घेळन तप हेंच ज्याचें धन आहे असा मुनि वनला. वरोवर आहे कीं, जे मोठे पुरुप आहेत ते आपल्या हितकर कार्याच्या सिद्धीसाठीं वेळ गमावीत नाहींत. अर्थात् 'शुभस्य शीव्रं' या म्हणीला अनुसरून हितकार्य लोकर करितात. ६२ या तपोधनान आळस दूर झुगारून दिला. व सामायिक, प्रतिक्रमण वगैरे सहा आवश्यक क्रियामध्यें रपष्ट रूपानें-आविकपणाने प्रवृत्त झाला. तसेंच आपल्या सुन्नतगुरूंची आज्ञा मिळवृन त्याने सर्व उत्तर गुणांना प्रवृत्त झाला. तसेंच आपल्या सुन्नतगुरूंची आज्ञा मिळवृन त्याने सर्व उत्तर गुणांना नेहमीं धारण केलें. ६३ अतिशय उष्णतेनें सर्व प्राण्यांना व्याकुळ करून सोडणा-वेहमीं धारण केलें. ६३ अतिशय उष्णतेनें सर्व प्राण्यांना व्याकुळ करून सोडणा-व्या ग्रीष्म ऋतूमध्यें तो कनकथ्वजमुनि पर्वताच्या शिखरावर प्रखर किर णांनीं

शालैयपातक्षतपद्मखंडे माघे शयानो बहिरेकपार्श्वम् ॥ आयामिनीरप्यनयात्रियामा बलेन धीरो घृतिकंबलस्य ॥६५॥ महोपवासान्विविधानशेषान्त्रकुर्वतस्तस्य यथोक्तमार्गं ॥ ययो तनुत्वं तनुरेव बाढं न धेर्यमोदार्यसमन्वितस्य ॥६६॥ समुद्धरिष्याभि कथं निमन्नमात्मानमस्माद्भवरवंजनांतात् ॥ संचितयन्नित्यगमत्प्रभादं न जुष्टयोगेः स वशीकृताक्षः ॥६७॥ व्यपेतशंको छुनिरस्तकांक्षो दूरीकृतात्मा विचिकित्सया च ॥ सम्यवत्वशुद्धं निरवद्यभावः स भावयामास यथोक्तमार्गे ॥६८॥ ज्ञानं च तस्य कियया निकामं यथोक्तया प्रत्यहमादतात्मा ॥ चारित्रमप्यात्मवलानुक्षपं द्विषद्प्रकारं च तपोऽन्वतिष्ठत् ॥६९॥ चारित्रमप्यात्मवलानुक्षपं द्विषद्प्रकारं च तपोऽन्वतिष्ठत् ॥६९॥

युक्त असलेल्या सूर्योच्या सम्मुख राग द्वेपांच्या अभावरूपी छत्नीनें जनहाला दुर करून मोठा प्रतिमायोग नेहमी धारण करीत असे. ( सूर्यासमार तोंड करून उन्हाळ्यांत उभा राहून ध्यान करणें यास प्रतिमायोग म्हणतात. ) ६४ विजा पाडणारे, भयंकर गर्जना करणारे, मुसळधार पाऊस पाइन आठही दिशा व्याप्त करून टाकणारे, अञ्चा मेघांकडून वीजरूपी डोळ्यांच्या द्वारें पाहिला जाणारा तो मुनि पावसाळ्यांत झाडाखाळीं ध्यानांत लीन होत असे. ६५ वर्फाचें पतनानें ज्यानें कमल समूहांचा नाश केला आहे अशा माघ महिन्यांत उघड्या मैदानांत एका अंगावर निजणारा हा धीर गंभीर मुनि घैर्यरूपी घोंगडीच्या साह्याने हिवाळ्यांतील मोठ्या रात्री व्यतोत करीत असे. ६६ शास्त्रांत सांगितलेल्या पद्धतीपमाणें नानापकारचे चतुर्थ, पष्ट, अष्टम, दशम वगैरे प्रकारचे मोठमोठे उपवास करीत असतां या मुनी श्वराचे शरीरच अतिशय कृश झालें. परतु उदारता गुणानें युक्त असलेल्या याचें धैर्य कुश झालें नाहीं. ज्यानें सर्व इंद्रियें ताव्यांत टेविलीं आहेत असा तो मुनि या ससारक्ष्मी चिखलापासून बुडालेल्या माझ्या आतम्याला मी कसा वर काहू शकेन असा विचार करून आवडत्या अशा प्रतिमायोग, वृक्षमूल वगैरे थोगामध्यें विलक्कल प्रमाद करीत नसे. या मुनचि मन जीवादि पटार्थाच्या स्वरूपांत निःसंशय झालें होतें. अर्थात् जिनकथित तत्वामध्यें याचें दृढ श्रद्धान होतें. पंचेंद्रिय विषयापासून उत्पन्न होणारें सुख कर्मापासून उत्पन्न होतें व पापवर्द्धक आहे असे जाणून तो त्याविषयीं निरिच्छ झालेला होता. रत्नत्रयधारक अशा भव्यांना रोगांनीं पीडिलें असतां किंवा त्यांचें घाणेरडे शरीर असेल तर त्यांच्या गुणाकेंड

इत्थं धुरं विधुरवर्जिताचित्तवृत्या धृत्वा चिरं रामवतां निजजीवितांते सक्छेखनां विधिवदेत्य मृतोऽथ सूत्या कापिष्टमाप्य स शुभे शुशुभे विमाने॥ ७०॥

देवानंदं निजतनुरुचां संपदा साधु तन्वन् ॥ देवानंदं द्धदनुपमं नाम चान्वर्थमित्यम् ॥ चक्रे रागं नयनसुभगस्तत्र दिव्यांगनानां ॥ चक्रेऽरागं जिनमपि हृदि द्वादशाव्धिप्रमायुः ॥ ७१ ॥ इत्यसगकृते वर्दमानचरिते कनकष्वजकापिष्ठगमनो नाम द्वादशः सर्गः ॥

लक्ष्य देखन हा मुनि किळस करीत नव्हता. यास्तव याचा आत्मा विचिक्तित्मेन रहित अर्थात् निर्विचिकित्सित गुणाचा धारक होता. निर्मल पिरणामांनी युक्त अशा या मुनीश्वरानें शास्त्रांत सांगितलेल्या पद्धतीय अनुसन्दन सम्यवत्व शुद्ध वनविले होतें ६९ भक्तियुक्त आहे आत्मा ज्याचा असा तो मुनि शास्त्रांत सांगितलेल्या डपा-यांच्या द्वारें दररोज यथेच्छ जान प्राप्त करून घेत असे. यथाशक्ति चारिल व वारा भक्तारचें तप यांचें पालन करीत् असे. ७० याप्रमाणें संक्षेत्ररहित अशा आपल्या मनाच्या शांत परिणामांनीं पुष्कळ काळपर्यत शमयुक्त मुनींच्या पुढारीपणाला या कनकथ्वजमुनींनें धारण केंछं होतें. यानंतर जेव्हां त्याचा मरणकाल जवळ आला तेव्हां शास्त्रांत सांगितल्याप्रमाणें सल्लेखना धारण करून त्याने प्राणत्याग केला तेव्हां याचा आत्मा कापिष्ठ रवर्गीत जन्मून तेथील सुंदर विमानांत शोभू लागला. ७१ आपल्या शरीराच्या कांतिसंपत्तीनें देवांना आतिशय आनंदयुक्त करणारा व 'देवानंद 'हें अनुपम व अर्थास अनुसरणोरं नाव धारण करणारा असा तो नेत्रमनोहर देव दिच्यांगनाच्या समुद्रायामध्यें प्रेम करू लागला. ज्यांचे आयुष्य वारा सागरोपम वर्षाचें आहे अशा त्यांने आपल्या हृद्यांत रागरिहत अशा जिनेश्वराला धारण केलें.

याप्रमाणें असगकविकृत वर्द्धमानचरित्रांत कनकथ्वजम्रानि कापिष्टस्वर्गीत उत्पन्न झाले याचें वर्णन करणारा बारावा सर्ग समाप्त झाला.



श्रीमतामथ सतामधिवासो भारतेऽत्र विततोऽस्ति जनांतः॥
नाकलोक इव मानवपुण्येगां गतः स्वयमवंत्यभिधानः॥ १॥
यत्र साररहिता न धरित्री पाककांतिरहितं न च सस्यं॥
पाकसंपदिष नास्ति पुलाका सर्वकालरमणीयिवशेषात्॥ २॥
भूरिसारधनधान्यविहीनो नास्ति कश्चिदिष यत्र मनुष्यः॥
द्रव्यमप्यनुपभक्तमुपत्य स्वेच्छ्या प्रणियभिन निकामं॥ ३॥
चारुताविरहिता न पुरंश्रिश्चारुतािष सुभगत्वविहीना॥
यत्र नास्ति सुभगत्वमशीलं शिलमप्यविदितं न धरित्र्यां॥ ४॥

१ या भरत क्षेत्रांत धती व सत्पुरुष यांचें निवासरथान असलेला असा एक विस्तीण अवंती नांवाचा देश आहे. तो मनुष्याच्या पुण्यानें पृथ्वीतलावर अवतरलेला जणू स्वर्ग आहे असा शोभत होता. २ या देशांतील जिमनी साररहित नव्हत्या. व त्यांत उत्पन्न होणारीं धान्यें पकावस्था व कांतीनें रिहत होतीं असें नव्हतें. पकावस्था देखील पोचट धान्यांनीं युक्त नव्हती. अर्थात् जेव्हां धान्य पिकत असे तेव्हां त्याचे दाणे भरीव असे उत्पन्न होत असत. यावरून हें सिद्ध होत होतें कीं, हा देश नेहमीं रमणीय होता. ३ तेथें असा एकही मनुष्य नव्हता कीं, ज्याच्याजवल पुष्कलसें उत्कृष्ट धन—गाई, महशी वगैरे व धान्य नव्हतें. जें स्नेही मंडलींनीं येऊन यथेच्छ आतिशय उपभोगिलें जात नव्हतें असें द्रव्यच तेथें नव्हतें. अर्थात् तेथील लोकांच्या संपत्ति त्यांच्या स्नेहीं लोकांकडून यथेच्छ भोगल्या जात असत. ४ त्या देशांतील एकहीं स्नी सौंदर्यांनें रिहत नव्हती व तें तिचें सौंदर्य सौंभा-

निर्जला न सरिदस्ति जलं च स्वादुहीनमहिमं न च यत्र ॥ पीततोयमुदितैः पथिकानामस्तुतं न खलु तच्च समूहेः ॥ ५ ॥ पुष्पकांतिरहितोऽस्ति न वृक्षः पुष्पमप्यतुलसौरमहीनं ॥ यत्र सौरममपि भ्रमरालीरक्षमं वद्यायतुं न नितांतम् ॥ ६ ॥ अस्ति तत्र सकलोज्ज्वलवणां श्रीयुताक्रतिरिवोज्जियनीति ॥ विश्रुता भुवि पुरी निजकान्त्या निर्जितान्यपुरिवभ्रमसंपत् ॥ ७ ॥ या मुधाधविलेत्वरसौधरास्थितोज्ज्वलिय्यूषणरामैः ॥ भाति मेधपदवी धवलाभैः शारदैरिव चिताशतिहत्कैः ॥ ८ ॥ हमशालरवित्तामलरत्नज्योतिषामिव चितः पटलेन ॥ यत्र च प्रविरलातपलक्ष्मिलिस्यते ध्वजपटैः स्थिगतोऽर्कः ॥ ९ ॥ यत्र च प्रविरलातपलक्ष्मिलिस्यते ध्वजपटैः स्थिगतोऽर्कः ॥ ९ ॥

ग्यानें रहित नव्हतें व सौभाग्य-भाग्यवंतपणा पातित्रत्य गुणानें रहित नव्हता व पातित्रत्य गुण अप्रसिद्ध नव्हता. अर्थात् सौंदर्य, सौभाग्य व पातित्रत्य हे तीन गुण तेथील स्त्रियांत मुख्य रीतीनें राहात होते. ५ तेथील एकही नदी निर्जल-पाण्याने रहित नव्हती व तिचें ते पाणीही रचाद्रहित व गरम असें नव्हतें. अर्थात् पाणी गोड व थंडगार होतें. पाणी पिऊन ज्यांना आनंद झाला आहे अशा वाटसरांच्या समुदायाकडून त्या पाण्याची स्तुति केली गेली नाहीं असे कधीं घडून येत नसे. ६ त्या उज्जायेनी देशांतील प्रत्येक दृक्ष फुलें व कोति यांनी रहित नव्हता. फुळें दोखिल सुगंधपणाने रहित नव्हतीं व जो मुंग्यांच्या पंक्तीला आतिशय वश कर-ण्यास समर्थ नन्हता असा सुगंधपणाही तेथें नन्हता. अर्थात् तेथील झाडें पुष्पें, टवटवीत पणा व .सुगंघपणा यांनीं युक्त होतीं. ७ या देशांत स्वतःच्या सींदर्यानें जिनें इतर भहराची आश्चर्य उत्पन्न करणारी संपात्त जिंकिली आहे अशी उज्ज-यिनी नांवाची नगरी या पृथ्वीतछावर प्रसिद्ध अशी आहे ही नगरी संपूर्ण उज्जवल-गुद्ध अशा बाह्मण, क्षात्रिय व वैश्य या वर्णीतील मनुष्यांनीं युक्त व ळक्ष्मीसंपन अशी उद्योगाप्रमाणें शोभत होती ८ ज्यांनीं दिशा व्यापून टाकिल्या असून जे विजानीं युक्त आहेत अशा शरदृत्च्या पांढऱ्या मेघांनीं जसें आकाश शोभतें तसें उत्ताम चमकणाऱ्या अलंकारांनीं सजलेल्या स्त्रिया ज्यावर उभ्या राहि-केल्या आहेत असे चुना लावल्यामुळे पांढरे दिसणाऱ्या सुंदर मोठ्या दाड्यांनी

आहतोऽपि मुहुरश्रकरांश्रनोंपयाति पुरतः प्रमदानां ॥
यत्र च प्रियतमा विहितागाः श्वाससौरभवशश्च पढां विः ॥ १०॥
संपदं घनपतेरपदानां न्हेपयांन्त घनिनो भुवि यस्यां ॥
अधिभिः स्त्रयसुपेत्य समंतादृष्ट्यमाणवररत्नसमूहैः ॥ ११ ॥
वालचंदनलतेव भुजंगोंवेंष्टितापि नितरां रमणीया ॥
या सदा विद्यदंदसमता राजते सुरपुरीव पुरश्रीः ॥ १२ ॥
वश्रभूपितकरो भुवि राजा वज्रहेतिरिव यः पुरमिद्धां ॥
वश्रसारतनुरध्यवसत्तां वज्जसेन इति विश्रुतनामा ॥ १३ ॥
वश्रसि श्रियसुदीक्ष्य निषणायानने च सततं श्रुतदेवीं ॥
यस्य कुंदिवशदा कुपिरोव दिग्गता न निरवर्तत कीर्तिः ॥ १४ ॥

जी नगरी शोभत होती. ९ जेथें सोन्याच्या तटावर बसाविलेल्या स्फाटिक मण्यांच्या कांतिसमूहानें जणु व्याप्त झालेला व ध्वजांच्या बस्त्रांनीं आच्छादित झालेला सूर्य ज्याची पकाराशोभा विरळ झालेली आहे असा शोभू लागतो. १० ज्या ननरींत स्त्रियांच्या हाताव्या वोटांनीं वारंवार ताडित झालेला अपराधी प्रियतम-आवडता पति व त्यांच्या श्वासांच्या सुगंधानें वेडावलेला संगा है पुनः पुनः त्यांच्या पुढें जात नाहींत काय ? अथीत् जातातचः ११ या नगरींतले श्रीमंत लोक कुवेराच्या दानरहित संपत्तीला लज्जित करितात. कारण याचक लोक आपण होऊन चोहींकडून येऊन त्यांचीं उत्कृष्ट रत्नें वगैरे संपत्तीचें ग्रहण करीत असतात. तेथील लोक अतिशय श्रीमंत असल्यायुकें ते याचक लोकांना रत्नाचे समूह देऊन टाकीत असत अशी त्यांची भूतलावर सर्वत्र प्रासिद्धी होती. १२ जशी वालचंदनलता सर्पानीं वेष्टिलेली अस्नही अतिशय रमणीय असते. किंवा जशी विबुध टंद-देवसमू-हानें वेष्टित असलेली सुरपुरी-अमरावती शोभते त्याप्रमाणें विबुधदंदानें-विद्वानां-च्या समृहानें ती उज्जियिनी नगरी शोभत असे. १३ जसा इद्र वज्रभूषितकर-अर्थात् वज्र नांवाच्या शस्त्रानें ज्याचा हात शोभत आहे असा होत्साता स्वर्ग प्रदेशीं अमरावती नगरांत राहात असतो. तसें वज्रचिन्हानें ज्याचा हात शोभत आहे व वज्राप्रमाणें ज्याचें शरीर मजबूत आहे असा पृथ्वीवर वज्रसेन या नांवानें प्रसिद्धं झालेला राजा त्या सुंदर उज्जियनी शहरांत राहात होता. १४ या राजाच्या वक्षःस्थला-

दूरतो विनिमताखिलशत्रुं स्वप्तापविसरं विनिनिंद ॥
यः कदाचिदिप युद्धमपश्यन्युद्धदेशहदवशीकृतचेताः॥१५॥
तस्य निर्मलकरस्य सुशीला नाम नाम मृहिपी कमनीया ॥
भूपतरभवदव्यतिरिक्ता कौमुदीव क्रमुदाकरवंधोः॥१६॥
तो विरेजतुरनन्यसमानौ दंपती भुवि परस्परमाप्य ॥
सर्वलोकनयनोत्सवहेतू कांतियोवनगुणाविव मूर्तो ॥१७॥
स्वर्गसौख्यमनुभूय स देवः श्रीमतोरथ तयोस्तनयोऽभूत ॥
आख्यया भुवि सत्तां हरिपेणो धीरधीरिधपतिः सुमनोज्ञः ॥१८॥
यं कलाधरिमवाभिनवोत्थं संस्पृशन्नर्थितः सह देव्या ॥
वीक्ष्य सम्मदिमयाय निकामं प्रीतये भुवि न कस्य मुपुत्रः ॥१९॥

वर लक्ष्मी वसलेली पाहून व मुखांत नेहमी सरस्वती देवी विराजमान झालेली पाहून याची कुंदपुष्पाप्रमाणें निर्मल अशी कीर्ती जणूं रागाऊन सर्व दिशांना निघून गेली. ती परत आली नाही. १९ युद्धाच्या इच्छेनें ज्याचें चित्त व्याकुल झालें आहे अशा या राजाला कधींही युद्ध करण्याचा प्रसंग पाहण्यांत आला नाही झणून दुरूनच ज्यानें सर्व शत्रूंना नम्र केलें आहे अशा स्वतःच्या पराक्रमाच्या सगुदायाची तो निंदा करीत असे.

१६ ज्याचे किरण स्वच्छ आहेत अशा रात्रिविकासि कर्नल समृहाचा वंष्ठ्र असलेल्या चंद्रापासून त्याची सुंदर ज्योत्स्ना जशी अभिन्न असते तशी निर्मलकर-ज्याचें कर घेण निर्मल आहे हमणजे त्रासदायक नाहीं किंवा ज्याचे हान सुंदर आहेत अशा त्या वज्रसेन राजाला सुजीला नांवाची सुंदर स्त्री होती. ती त्याच्या-पासून अभिन्न होती अर्थात ती त्याची फार आवडती होती. १७ ज्यांची वरोवरी दुसरे कोणी करूं शकत नाहींत असे ते दोघे पतिपत्नी एकमेकांना प्राप्त करून घेऊन फार शोभू लागले. हे दोघेजण सर्वीच्या नेहांना आनंद उत्पन्न करण्या; कारण होते व मृतिंगंत कांति व तारूण्यच जणु आहेत असे लोकांना वाटत असे. १८ लक्ष्मीसंपन्न अशा त्या उभयतांना स्वर्गसुखांचा अनुभव घेऊन तो देवानंद नांवाचा देव भूतलावर हरिपेण या नांवाचें प्रसिद्ध असा मुलगा होऊन जन्मला हा मुलगा गंभीर बुद्धीचा व सत्पुरुपांचा अधिपति होता व अतिशय सुद्र होता. १९ नुकताच ज्याचा उद्य झाला आहे अशा सोला कलांनीं पूर्ण चंद्राप्रमाणें सुंदर

लोकजीवनकरिथितियुक्तं भूरिसारगुणवारिधिमेकं ॥
यं समीयुरवनिश्वरिवद्याः सिंधवः स्वयमिनिदितसत्वम् ॥ २० ॥
एकदाथ ससुतो मुनिमुख्याद्धमेमेकहृदयेन निश्चम्य ॥
भूपतिः श्रुतपयोनिधिनाम्नो निःस्पृहः समभवद्विषयेषु ॥ २१ ॥
तिश्चुज्य धरणीतलभारे पुत्रमश्चकणिकाकुलनेत्रम् ॥
संयतोऽजिन नृपः स तदन्ते संसृतेर्भुवि विभेति हि भव्यः ॥ २२ ॥
धूवजन्मिन स भावितसम्यग्दर्शनेन विमलीकृतिचत्तः ॥
श्रावकवतमशेषमुवाह श्रीमतामिवनयो हि सुदूरः ॥ २३ ॥
स्पृश्यते स दुरितेन न राज्ये संस्थितोऽपि खलु पापनिमित्ते ॥
संगमिजतशुन्तिपक्वतित्वात्पद्मवत्सरिस पंकलवेन ॥ २४ ॥

असलेल्या या राजपुत्राला राणीसह स्पर्श करणारा तो वजसेन राजा पाह्न अतिशय आनंदित झाला. बरोबरच आहे कीं, चांगला मुलगा या जगांत कोणास आनंद-दायक असत नाहीं बरें ? २० ज्यांत पुष्कळ जलचर प्राणी आहेत, जो उत्कृष्ट गुणांच्या रत्नांनीं युक्त आहे व जो लोकजीवन चालेल अशा मर्यादेनें युक्त आहे अशा समुद्राला जशा सर्व नद्या येङान मिळतात, तसें प्रशंसनीय पराक्रमानें युक्त, लोकांच्या उपजीविका चालविणारा, मर्यादेनें सहित व पुष्कळ आणि उत्कृष्ट अज्ञा गुणांचा समुद्र असलेल्या या राजपुत्राकडे सर्व राजविद्या आपण होऊन येऊन मिळाल्या. २१ एकेवेळीं वज्रसेन राजा आपल्या हरिषेण पुत्रासह श्रुतसागर नांवाच्या मुख्य मुनीश्वराकडे गेला. त्यांच्यापासून एकाम्र चित्ताने धर्माचा उपदेश ऐक्तन त्याला पंचेंद्रियांच्या विषयासध्यें वैराग्य उत्पन्न झालें. २२ यानंतर ज्याचे डोळे अर्थूच्या कणांनीं भरले आहेत अशा आपल्या हरिपेण पुताला पृथ्वीचें ओझें वाहण्याच्या कार्मी नेमून राजा त्या मुनींच्या जवळ मुनि वनला. वरोवरच आहे कीं, भव्यजीव ससारापासून भीत असतातच. २३ श्रीहरिषेण राजाचे अंतःकरण पूर्वजन्मीं भाविछेल्या सम्यग्द्वीनांने निर्मेळ झालेलें होतें ह्मणून त्यांने संपूर्ण श्राव-कांचीं व्रतें धारण केलीं होतीं. वरोवरच आहे कीं, जे खरे श्रीमंत असतात अर्थात् गुणानें व संपत्तीनें श्रीमंत झालेले असतात त्यांच्यापासून अविनय फार दुर राहात असतो. जसें कमल सरोवरांत असूनही निर्मलतेन युक्त असल्यामुळें तें

शासतोऽिष चतुरंबिधवेलामेखलां वसुमतीं मितरस्य ॥
चित्रमेतदनुवासरमासीिक्नःस्पृहिति विषमेऽिषसमस्ते ॥ २५ ॥
विभ्रतािष नवयौवनलक्ष्मीं शांतता न खलु तेन निरासे ॥
स प्रशाम्यित न किं तरुणोिष श्रेयसे जगित यस्य हि बुद्धिः॥ २६ ॥
मंत्रिभिः परिवृतः स तु योगस्थानविद्धिरिष नाभवदुग्रः ॥
चंदनः किसु जहाित हिमत्वं सर्पवक्रविषविन्हियुतोऽिष ॥ २७ ॥
ऊढजािनरिष मन्मथवश्यो नो वभूव नयमार्गनदीष्णः ॥
यस्य रज्यित मनो न कल्त्रे सत्यिष स्मरमये स हि धीरः॥ २८ ॥
स त्रिकालमभिषूज्य जिनेंद्रं गंधमाल्यविष्यूपिवतानैः ॥
भिक्तशुद्धहृदयेन ववंदे तत्फलं हि गृहवासरतानां ॥ २९ ॥

योड्याशाही चिखलाने लिप्त होत नाहीं. तसे हा राजा पापाला कारण अशा राज्यांत राहूनही अभ्यंतर परिग्रहांनीं रहित व निर्लोभी स्वभावाचा असल्यामुलें पापांनी स्पार्शेला गेला नाहीं २५ चार समुद्राचे किनारे हेच जिचा कमरपट्टा आहे अशा समस्त पृथ्वीचें शासन कर्रात असतांही या राजाची दुद्धि संपूर्ण पंचेंद्रियांच्या विषयांत दररोज निःस्पृहच होत चालली हैं मात्र मोठे आश्चर्य आहे.

२६ या हारिषेण राजाने नवीन तरुणपणाच्या जोमेला धारण केल होतें तरीही त्यानें आपल्या हृद्यांतृन ज्ञांतपणाला हाकालून देऊन उच्छूंखलपणा धारण केला नाही. वरोवरच आहे कीं, ज्याची बुद्धि कल्याण मार्गाकडे लागली आहे तो मनुष्य तरुण असला तरीही ज्ञांत रवभावाचा असत नाहीं काय ? २७ शत्रूंचा नाज कसा करावा वगैरे जपाय व सैन्याची रचना वगैरे जाणणाऱ्या मंत्र्यांनीं हा हरिषेण राजा युक्त होता तथापि उग्र स्वभावाचा वनला नाहीं. वरोवरच आहे कीं, सर्पाच्या तोंडांतील विपाशीनें युक्त असा ही चंद्रनष्टक्ष आपला यंढ स्वभाव सोहन देतो काय ? २८ कीनिमार्गात चतुर असलेल्या या राजाने विवाह केला होता तरीही हा कामवज झाला नाहीं. मदन विकारानें पूर्ण असलेल्या पत्नीच्या विकाणीं ज्याचें मन अनुरक्त झालें नाहीं तोच खरा धीर होय.२९हा राजा प्रातःकालीं मध्यान्हकालीं व संध्याकालीं गंघ पुष्पमाला, नैवेच, धूप, या पदार्थीच्याद्वारें समृरहानें भक्तियुक्त निर्मल हृद्यानें दररोज जिनेन्थरांची पूजा करून त्यांना नमस्कार करीत

आवभौ नभिस लग्नपताका चारुबणसुघया नु विलिप्ता ॥
तेन कारितजिनालयपंक्तिः पुण्यसंपदिव तस्य समूर्तिः ॥ ३० ॥
सिन्नयम्य घनमात्मगुणौधिर्विद्धिषोऽपि नयवित्सह मिन्नैः ॥
राज्यमित्थमकरोच्चिरकालं सर्वदा प्रशमभूषितचेताः ॥ ३१ ॥
एकदा शमितभूतलतापं तत्प्रतापमिभवीक्ष्य सुर्तीक्ष्णं ॥
लज्जयेव निजदुर्णयवृत्तेः संजहार रिवरातपलक्ष्मीम् ॥ ३२ ॥
तप्तमेव हि मया जगदेतद्रिमिभिस्ततद्वानलक्ष्णैः ॥
कष्टमित्यनुश्यादिव भास्वांस्तत्क्षणं भृशमधोवदनोऽभूत् ॥ ३३ ॥
मंडलं दिनक्रस्य दिनांते कुंकुमद्युति निकाममराजत् ॥
संहतात्मकरसंहतिनीतांभोजिनीहृद्यरागमयं वा ॥ ३४ ॥

असें. घरामध्यें राहण्यांत आसक्त झालेल्या लोकांना-गृहस्थांना घरांत राहण्याचें हेंच फल आहे. ३० ज्यांना सुंदर रंग दिला आहे व चुना लाविला आहे अशी या राजानें वनविलेली जिनमंदिरांची पंक्ति जणु त्याची सूर्तिमंत पुण्यसंपत्तीच आहे असे पाह-णाऱ्यांना वाटत असे. यांच्या शिखरावर पताका छावल्या असल्यामुळें हीं आकाशांत फार शोमत असत. ३१ नेहमीं शांत स्वभावानें आपल्या अंतःकर-णाला ज्यानें भूषित केलें आहे अशा या नीतिज्ञ राजानें आपल्या मित्रांसह आपल्या शत्रूंनाही स्वतःच्या उत्तम गुणरूपी दोऱ्यांनीं दृढ बांधून पुष्कळ दिवसपर्यत उत्ताम राज्य केले. ३२ एके वेळीं आतिशय तीक्ष्ण असूनही पृथ्वीचा संताप दूर करणारा असा या राजाचा विलक्षण शताप पाहून स्वतःच्या अनीतीच्या आचरणाची छाज आल्यायुळें जणु काय सूर्यानें आपछी उन्हाची शोभा संकाचित केली. ३३ पसरलेल्या जंगलांतील अशीप्रमाणे भासणाऱ्या माझ्या रवतःच्या किरणांनीं हें सगळे जग-मी भाजून काढलें. अरेरे, ही दु:खदायक गोष्ट घडली असे ह्मणून पश्चात्तापानें जणू सूर्यानें तत्काल आपलें तोंड अतिशय खालीं केंल अर्थात् तो अस्ताला चालला. ३४ दिवससमाप्तीच्या वेळीं केशराप्रमाणें लालभडक झालेलें सूर्यमडल संकुचित केलेल्या स्वतःच्या किरणरूपी हातांनीं आणिलेल्या कमलिनी-च्या हृदयांतील प्रीतीनें जणु रचिके गेलें आहे असें शोभू लागलें. ३५ जसा एखाद्याचा मिल वारुणीरत-दारू पिण्यामध्यें आसक्त झाला असतां तो त्याला

वारुणीरतमुदीक्ष्य पतंगं वारयन्निव तदा दिवसोऽपि ॥
तत्समीपमगमन्न निवार्यं कस्य चोत्पथमनो सुवि मित्रं ॥ ३५ ॥
आत्मनो घनमिवोरु यियासुः क्वापि कश्चन पुनर्भहणाय ॥
स्विप्रयेषु निद्धौ परितापं चक्रवाकमिथुनेषु विवस्वान् ॥३६॥
यांतमस्तमपहाय दिनेशं दीप्तिभिः स्थितिरकारि गृहान्ते ॥
जालमार्गपतिताभिरनाशं रत्नदीपसुपयातुमिवेद्धं ॥३०॥
आनतो सुकुलिताश्रकरश्रीभीनुमान्बहलरागमयात्मा ॥
सादरं प्रिय इव श्वथमानो दृश्यते स्म रमणीभिरभीक्षणम् ॥ ३८॥
पूर्वभूतिरहितस्य कथं वा जायते जगित सम्मितरियम् ॥
स्वं रिवर्वपुरितीव विदित्वागोपयिद्ववसुरस्तनगांते ॥३९॥

न्याच्याजवळ जाऊन रोकतो त्याप्रमाणें सूर्य वारुणीरत-दारू पिण्यांत आसक्त पक्षीं पश्चिम दिशेवर आसक्त झाछेला पाहून जणु त्याला रोकण्यासाठींच दिवस त्याच्याकडे गेळा. वरोवरच आहे कीं कुमार्गीला ज्याचें मन लागलें आहे अशा मित्राला कोण वरें रोकीत नाहीं? सर्वच रोकतात.

देह कोठें तरी जाण्याची इच्छा करणारा कोणी यनुष्य आपलें पुष्कळसें धन पुनः आपणास घेतां यांचे हाणून आपल्या आवडत्या माणसाजवळ ठेवितो तसें संतापरूपी धन अस्ताला जात असतांना सूर्यांने स्वतःला पिय अशा चक्रवाक पक्ष्यांच्या जोडप्यामध्ये पुनः घेण्याच्या हेतुने ठेविले तात्पर्य-सूर्यारत झाला हाणजे चक्रवाक पक्ष्यांना विरहसंताप होतो. ३७ अस्ताला जात असलेल्या सूर्याचा त्याग करून त्याच्या प्रकाशानें झरोक्याच्या मार्गावर पहन आपला नाश होऊं नये हाणून पकाशयुक्त रत्नदीपांचा आश्रय घेण्यासाठीं जणु घरांत प्रवेश केला! ३८ जसें नम्र झालेला, जोडलेल्या हातांच्या शोभेनें युक्त असलेला, ज्याच्या अंतःकरणांत पुष्कळ प्रेम उत्पन्न झालेलें आहे असा च ज्याचा अभिमान हिला झाला आहे अशा आपल्या पतीला स्त्रिया जशा आढरानें पाहतात तसें आनत हाणजे नम्र झालेला अर्थात अस्ताला चालेला, संकुनित केलेली आहे पुढच्या किरणाची शोभा ज्यानें असा व अतिशय लाल नसलेला आणि स्त्रथमान—ज्याची उचिधित कमी झाली आहे असा ( सूर्य अस्ताला जातांना खालीं येतो. आकाशाच्या मध्यभागी असतो त्यावेली तो उच असता) सूर्य स्त्रयांकइन साटर दृष्टीनें पाहिला गेला. ३९ प्रणु ज्यांनीं आपण होजनच आपल्या शाखा खालीं वाकाविल्या आहेत

आशु संगतिवहंगिननादैः शाखिनः स्वपमिवानतशाखाः॥
प्रोपितोऽयमिन इत्यनुतेषुः कं न तापयित मित्रवियोगः १॥४०॥
उज्झतः खळु परस्परमातिं चक्रवाकिमिथुनस्य दुरंतां॥
द्रष्टमक्षमिथिव निलन्या पद्मचक्षरिधकं निमिमीले॥४१॥
अपज्झ्य दष्टिवसखंडमशेषं कंदता विपरिवृत्तमुखेन॥
चक्रवाकिमिथुनेन नितांतं मूर्च्छता विजघटे दिवसांते॥४२॥
आवभौ नवजपारुणकांतिः पाशिनः परिगता दिशि संध्या॥
भास्करानुगतदीप्तिवधूनां पाद्यावक्रततेः पदवीव॥४३॥
मीलितानि कमलान्युपहातुं नेषुरेव मधुपा मधुलोलाः॥
आपदा परिगतं सुकृतज्ञः स्वोपकारिणमपोज्झित को वा १॥४४॥

असे द्रक्ष लौकरच येऊन बसलेल्या पक्ष्यांच्या शद्धांनीं हा सूर्य आतां प्रवासाला गेला ह्मणून शोक करूं लागले. बरोबरच आहे कीं, मित्रवियोग—सोबत्याचा विरह्पर्सी सूर्यावयोग कोणास वरें दुःखी करीत नाहीं? सर्वीसच दुःखी करितो. ४० ज्यांचे पूर्वीचें घन नष्ट झालें आहे अशांचा या जगांत आदर होणें कसें शक्य आहे? हें समजूनच जणु किरणरूपी धनानें रहित झालेल्या सूर्यानें आपलें शरीर अस्तपर्वतामध्यें लपविलें. ४१ पररपरापासून वियुक्त होत असलेल्या चक्रवाक पक्ष्यांचें पराकाष्ठेचें दुःख पाहण्यास माझी बुद्धि समर्थ नाहीं असें जणु वाटूनच कमलिनीनें आपले कमलक्ष्पी नेत्र आधिक घट मिटून धरिले. ४२ चावलेले कमलाच्या देठाचे सगले तुक्ते टाकून देऊन आक्रंदन करणारें व तोंड फिरविलेलें आणि मूर्च्छित झालेलें चन्त्रवाक पक्षांचे जोडपें दिवस आस्ताला जाण्याच्या वेळीं एकमकांपासून अगदीं वेगलें झालें. ४३ तुक्रनेंच फुललेल्या जास्वीच्या एष्पाप्रमाणें लाल कांतियुक्त झालेली, पश्चिम दिशेकडे प्रगट झालेली संध्या, मूर्याच्या अत्यस्तेल्या त्याच्या कांतिरूपी ख्रियांच्या पायाला लाक्लेल्या लाक्षारसाच्या पंक्तीची हो जणु परंपरा आहे अशी शोभू लागली. ४४ मकरदांत आसक्त झालेल्या थुंग्यांना संक्काचित झालेल्या कमलांचा त्याग करावा

<sup>\*</sup> संदृष्टं विसमुत्सृज्य चक्रद्वंद्रेन मूच्छेता ॥ परिवृत्तमुखाञ्जेन तूर्ण विज्ञघटे तदा ॥ ३ ॥ जीवंधरचंप्वाः समानार्थकः श्लोकः । षष्ठो छंवः

संध्ययाप्यनुपतंगमगामि प्रोज्झ्य तत्क्षणमपूर्विदिगंतम् ॥ वछमं स्वमपहाय सुरक्ता सिक्तमेति न चिराय परिसम् ॥४५॥ गोखुरोत्थितरजोभिररोधि व्योम रासभतन्रुह्ध्सुः॥ कोकदाहिमदनामिसमुद्यत्सांद्रध्रमपटलेरिव कृत्स्नं ॥ ४६ ॥ आववौ संपदि सांद्रविनिद्रो मिलकामुकुलशीतलगंधः॥ अधयन्मधुकरेः सह मंदं मानिनीरिप दिनात्ययवायुः॥ ४७ ॥ संफलीवचनमाशु सरागं लीलया गिमतमप्युपकर्णं॥ चूतपलविमवाननशोभां चित्रमातन्तुत मानवतीनाम्॥ ४८ ॥ यत्तमोऽन्हि दिननाथभयेन ध्मामृतां पृथुगुहासु निलीनं॥ तेन तदिगमतो विजजृंभे रंध्रमेत्य मालनो हि वलीयान्॥ ४९॥

अशी इच्छा झाली नाही. बरोवरच आहे कीं, चांगला कृतज्ञ मनुष्य आपल्यावर ज्यानें उपकार केला होता तो संकटांत सांपडला असतां त्याचा त्याग करित नाहीं. ४५ पश्चिम दिशेचा त्याग करून संध्येनेंही सूर्याच्या पाठोपाठच तत्काळ प्रयाण केळे. वरोवरच आहे कीं, स्वपतीवर प्रेम करणारी स्त्री त्याला सोंडून इतरांवर कशी आसक्त होईछ १४६ गाढवाच्या केसाप्रमाणें धुरकट अज्ञा गाईच्या खुराणसून वर उडालेल्या धुराळ्यानें भक्तन गेलेलें सर्व आकाश कोक पक्ष्यांना जाळणाऱ्या कामाग्रीपासून वर चाललेल्या दाट धुराच्या सम्रहांनीं जणु भरल्यासारखे भासत होतें ४७ त्यावेळीं चांगला जागृत झालेला, मोगऱ्याच्या कळ्यांच्या थंड सुगंधाने युक्त असा सायंकालचा वारा भुंग्यांच्या समुदायावरोवर पतीवर रुसलेल्या ख्लियांसही अंध वनविणारा असा होत्साता अर्थात् शीघ्र त्यांना मोहयुक्त करणारा होऊन मंद्र मंद वाहू लागला. ४८ दूतीचें प्रेमयुक्त भाषण शीघ्र लीलेनें मानवर्तीच्या कानावर पडले तेव्हां आंव्याचें कोवळें पान कानावर ठोविछें असतां जशी त्यांच्या मुखाला शोभा येते तशी न्यानें शोभा आली हें आश्चर्य आहे. तात्पर्य हें कीं, दृतीच्या द्वारें आपल्या पतीचा प्रेमसंदेश त्यांना ऐकावयास मिळाल्यांने त्यांचें मुख आनंदानें उल्हिसत झाले. ४९ सूर्याच्या भीतीनें जो मोठा आंधार पर्वताच्या गुहांमध्यें दडी मारून वसला होता तो सूर्याचा अस्त झाल्यावरोक्र चोहीक है ष्टाद्धिंगत झाला. वरोवरच आहे कीं, मालिन कार्य-पापकार्य करणारा मनुष्य संधि-

अंधकारपटलेन घनेन स्यामरोचिरभवज्जगदाप्तं॥ सर्वतो विदलितांजनभासा न श्रिय हि तमसा सह योगः॥ ५०॥ भास्वतामविषयो मलिनात्मा दुर्विभान्यगतिरुज्झितसीमा॥ अंधकारविभवोऽभृत वृत्तिं दुर्जनस्य सुसर्माकृतसर्वः॥ ५९॥ दूरतोंऽधतमसं भवनेभ्यो रत्नदीपनिवहो नुदति स्म॥ भानुना निजकरांकुरदंडः प्रेषितस्तम इव प्रणिहंतुं॥ ५२॥ रक्तरागविवशीकृतिचत्ताः सर्वतोऽपि कुलटा यसुराशु॥ यातुधान्य इव संमदतोऽभिन्नेतवासमनिरूपितरूपाः॥ ५२॥ पांडुतामथगतं सुखमेंद्री लंबमानतिधिरालकम्हे॥ दीनभाववनितेव विकांता निर्यदिद्विकरणांकुरलेशैः॥ ५४॥

साधून जवरदस्त वनतोच. ५० फुटलेल्या इद्रनील मण्याप्रमाणें ज्याची कांति आहे अज्ञा दाट अंधकारांच्या समुदायानें सर्व जग चोहींकडून कालेभार व भयाण दिसं लागले. वरावरच आहे कीं, अंधाराशीं झालेला सहवास शोभेला कारण होत नाही. ५१ जसा दुर्जन मनुष्य तेजस्वी छोकांपुढें टिकून राहात नाहीं, त्याचे विचार मि. न असतात, त्याचे प्रयत्न गुप्त असल्यामुळें समजून येत नाहींत व त्यानें लोकमर्यादेला तिलांजाल दिलेली असते आणि तो सर्वाना सारखे समजत असतो तसें अंधार ही तेजस्वी पदार्थापुढें टिकून राहात नाहीं. तो मालिनस्वरूपी असून कोठून येतो हैं समजत नाहीं. त्यानें मर्यादा सोडलेली असते अर्थात् तो अमर्याद पसरलेला असतो आणि उंच सखल पांढरे काले अशा सर्व पदार्थीन। तो समान करून टाकितो. ५२ र्तनांच्या द्रिसमुद्रायांनीं दुष्टनच घरांतून दाट अधाराला हुसकावून लाविलं. जणु काय अंधाराला ठोकून काढण्यासाठीं सूर्याने आपल्या किरणांकुरांना दंडाचें रूप देऊन पाठविल्याप्रमाणें ते शोभत होते. ५३ जशा पिशाचिणी आपलें स्वरूप मगट न करितां रक्तावरील प्रेमानें ज्यांचें चित्ता पराधीन झालें आहे अशा होऊन मोट्या आनंदानें चोहींकडून भेतवासस्थानीं-इपशानीं जातात त्याप्रमाणें कुलटा क्षिया आपलें रूप कोणी पाहू शकणार नाहीं असा वेष घेऊन अनुरक्त झालेल्या पुरुषावरील प्रेमानें ज्यांचें मन परतंत्र वनलें आहे अशा होत्सात्या चोहींकहून मोट्या आनंदान अभिप्रेत वास-आपल्या आवडत्या पुरुषाच्या घरी जाण्यासाठी निघाल्या,

उद्यतः शशमृतो सृद्धपादानुद्धहन्नुद्यभूभृद्राजत् ॥ उन्नतस्य विद्धाति हि शोभां प्रश्नयः प्रविमले क्रियमाणः ॥५५॥ रश्मिजालसुद्यांतारितस्य प्राग्विधोस्तिषरमाशु विभेद् ॥ उद्यतः स्वसमये विजिगीषोरण्रगामि नलवत्प्रतिपक्षं ॥५६॥ प्राक्तला हिमरुचेरुद्याद्रेर्विद्धमद्युतिरुद्शु ततोऽर्द्धम् ॥ उद्ययो तदनु विनमशेषं कः क्रमाद्य न याति हि वृद्धिं १ ॥५०॥ अधकारशबरेण गृहीतां यामिनीं समवलोक्य निजेष्टां ॥ कोपपूरितिथियेव नवोत्थो लोकिने दिस्करो मृशमासीत् ॥५८॥ रागिणः खलु न सिध्यति क य किन्द्रद्यिमिनतं पुरुपस्य ॥ इत्यवेत्य तुहिनांशुरिवोऽज्झद्रागमंधतमसं विनिहंतुम् ॥ ५९॥

५४ जशी पतिवियोगानें युक्त अशी एखादी दीन सी ज्याच्यावर अंधारापमाणें काळे केस विखरले आहेत अशा मुखानें युक्त असते तशी वाहेर निघालेल्या चंद्रिकरणांच्या थोड्या थोड्या अंकुरानीं युक्त झालेलें व अधार रूपी केशांनीं युक्त असें आपलें पांढरें मुख पूर्व दिशेनें धारण केलें. पति परदेशी गेल्यामुळें जिनें आपले केशांची नीट रचना केली नाहीं अशा दीन स्त्रीपमाणे पूर्व दिशा चंद्राचे थोडे थोडे किरण वाहेर पडत असतां दिसूं लागली.५५ उगवत असलेले चंद्राचे कोमल पाद-किरण पक्षीं पाय आपल्या मस्तकावर धारण करणारा हा उदयपर्वत फार शोभू लागला. वरोवरच आहे कीं, निर्मल व्यक्तीविषयीं केला जाणारा आदर उन्नत पुरुषाची शांभाच वाढवीत असतो. ५६ जरें योग्यसंघि साधून दिग्विजयाला निघालेल्या राजाचें पुढें चाललेलें सैन्य प्रतिपक्षाचा नाश करितें तसें पर्वताच्या आड असलेल्या चंद्राच्या किरणसमूहांनीं प्रथमतः तत्काल अंधाराचा नाश केला ५७ मथमतः उदय पर्वतापासून चंद्राची कलाच वाहेर पडली. तदनंतर पोवळ्याच्या कांतीचे, वरवर ज्याचें किरण पसरले आहेत असे अर्धे विंव वाहेर पडलें. यानंतर त्यांचे सगलें विंव वाहेर पडले. वरोवरच आहे कीं, क्रमानें कोणाची वरें उन्नति होत नसतें १५८ अंघकाररूपी भिछानें आपछी रात्र-रूपी आवडती स्त्री पकडली आहे असे पाहून नुकताच उगवलेला चंद्र कोपानें जणु ज्याची बुद्धि वेफाम झाली आहे असा होऊन अतिशय लालभडक दिसूं लागला.

श्वतभानुरकृताशु विनाशं संहतस्य तमसोऽपि निकामं ।
सांद्रचंदनसम्खातिर्वेवः किं न साधयित मंडलशुद्धः? ॥ ६० ॥
प्राप्य पादहतिमप्यखरांशोरागतः कुमुदिनी हसति स्म ॥
सन्मुखस्य हि सुखाय न किं वा चेष्टितं प्रियतमस्य वधूनां?॥६१ ॥
ज्योत्म्नया सरसचंदनपंकच्छायया जगदराजत पूर्ण ॥
कृत्स्वमक्षतजलस्थितिलक्ष्म्या वेलयेव चलढुग्धपयोधेः ॥ ६२ ॥
शीतलेरिप करेस्तुहिनांशोर्निवेवो कमलिनी न च कोकः ॥
नास्ति वस्तु तदमीष्टवियोगे प्राणिनां भवति यत्प्रमदाय ॥६३ ॥
इंदुरिसमिरगाधतयांत्विद्दितोत्किलकमंचु पयोधेः ॥
क्षोभमुल्वणमनीयत दूरं मानिनीजनमनश्च निकामं ॥६४ ॥

५९ रागांध-प्रेमांध झालेल्या मनुष्याचें कोणतेंही इाच्छित कार्य तडिस जात नाहीं असे समजून जणु चंद्राने दाट अंधाराचा नाज करण्यासाठी आपल्या रागाला-लालपणाला सोहिलें. ६० दाट चंदनाच्या लेपाप्रमाणें पांढ<sup>-</sup>या कांतीच्या चंद्रानें जमाव करून उभा राहिलेल्या संपूर्ण अंबाराचा पूर्ण नाश केला. वरोबरच आहे कीं, ज्याचें मडल शुद्ध आहे अर्थात् ज्याला देशांतील सर्व लोक अनुकूल आहेत तो कोणास बरें जिंकू शकत नाहीं? तसेंच चंद्रही मंडलगुद्ध आहे अर्थात् स्वच्छ, तेजस्वी विंवा-चा आहे न्हणून अंधकारास तो जिंकू शकला. ६१ ज्याचें किरण कोमल आहेत अशा चंद्राच्या पादाहातेला-पायांच्या लाथांना-पर्की किरणाच्या आघा-तांना प्राप्त होऊन ही कुमुदिनी-रात्रीं विकसणाऱ्या कमलांची वेली हसूं लागली अर्थात् प्रफुछ झाली. बरोबरच आहे कीं, पसन्न झालेल्या आवडत्या पतीचें कोणतें कृत्य स्त्रियांना आवडत नाहीं बरे ? कथींही नाश न पावणाऱ्या अशा पाण्याच्या स्थिर शोभेनें युक्त असलेल्या किनाऱ्यानें चंचल क्षीरसमुद्र जसा शोभतो तसें सरस अशा चंदनाच्या उटीप्रमाणें रवच्छ कांति ज्याची आहे. अशा चांदण्यानें सर्व जग पूर्ण शोसू लागलें ६३ चंद्राच्या थड अशाही किरणांनीं कमिलनीला व कोक पक्षींना आनंद झाला नाहीं. वरावरच आहे कीं, आवडत्या पदार्थीचा वियोग झाल्यावर प्राण्यांना जिच्या पासून आनद होईल अशी कोणतीही वस्तू असत नाहीं.

मित्रमेत्य सकलेंदुमनंगोऽप्याशु लोकमखिलं च विजिग्ये ॥
नूनमूनमिप वा जयलक्ष्मीरभ्युपैति समये सुसहायं ॥ ६५ ॥
विक्षिपन्कुमुद्केसररेणून्सांद्रचंदनिहमोऽपि वभूव ॥
दुःसहः प्रियविमुक्तवधूनां मन्मथानललवानिव वायुः ॥ ६६ ॥
दूरमप्यिममतस्य निवासं खेदहीनमनयन्मदिराक्षीम् ॥
मार्गदेशनविधावतिदक्षा चंद्रिका प्रियसखीव मनोज्ञा ॥ ६७ ॥
यत्नतोऽपि रचितापि रमण्या मानसंपदचिराङ्कुटी च ॥
यूनि दृष्टिपथमीयुपि नम्ने वाससा शिथिलतां सह भेजे ॥ ६८ ॥
काचिदाशु मदिरामदमोहच्छञ्चना विहितदोपमपीष्टं ॥
वाच्यवर्जितमियाय सखीषु प्रेम कस्य न करोति हि मायां? ॥६९॥

६४ समुद्र हा अतिशय गंभीर असतो तथापि त्याच्या पाण्यांत चंद्राच्या किरणांनीं खूप तरग वाढविछें. त्यामुळे तें पाणी क्षोभ पाऊन फार दूरपर्यंत पसरछें. तसेंच या चंद्रिकरणांनीं पतिवर रुसछेल्या स्त्रियांच्या मनांत उत्कंटा वाढऊन तें अतिशय क्षुव्ध करून सोडलें. ६५ सकल कलांनीं युक्त असलेल्या चंद्ररूपी मित्राला माप्त करून घेऊन गरीररहित अशाही मदनानें तत्काल सर्व जगाला जिंकिलें. वरोवरच आहे कीं, एखादी व्यक्ति सामर्थ्यानें थोडीज्ञी कमी असली तरी योग्य वेळीं त्याला चांगले साह्य मिळालें तर जयलक्ष्मी त्याचा आश्रय घेते. ६६ ढाट चंदनाच्या उटीप्रमाणें थडगार असाही कामरूपी अग्नीच्या ठिणग्यापमाणे वाटणाच्या कमलांतील केसराचें रेणु इकडे निकडे फेंकीत असल्यामुळें तो पतिशीं वियोग पावळल्या स्त्रियांना फार असहा झाला, ६७ आवडत्या मैत्रीणी प्रमाण मनाला प्रिय व पतिगृहाचा मार्ग ढाखिन-ण्यास प्रवीण अशा चद्रिकेनें (चांदणें) पतीचें घर दूर असतांही खंजन पक्ष्याप्रमाणें जिचें नेत्र स्वच्छ आहेत अशा आपल्या सखीला कांहींही ज्ञास न होछ देतां तिकडे नेलें. ६८ एका स्त्रीनें पाति आला असतां त्याच्याजीं अवोका धरीन व अवया वाकड्या करून पाहीन असा विचार केळा होता व आधीच तशी तयारीही करून ठेविली होती. परंतु नम्र व तरुण असा तिचा पति तिच्या दृष्टीस पडल्या वरोवर दस्त्रासह उपर्युक्त गोष्टी दिल्या होऊन गेल्या.

वहमं समवलोक्य सदोपं कामिनी प्रकुपितापि पुरैव ॥
संभ्रमं न विजहावय काचिद्योषितां खलु मनो हि निगृढं ॥७०॥
अन्यरक्तहृदयापि निकामं वारयोषिदनुरागयुतेव ॥
कामुकस्य धनिनोऽजिन वस्या कस्य वस्तु न वशीकरणाय॥७१॥
इत्थं मनोभववशिकृतकामियुग्मैः सार्धं विनिद्रकुमुदाकरिनमिलश्रीः॥
राजा शशांककरिनमेलरम्यहर्म्थं कांतासखः क्षणिमव क्षणदामनेषीत्॥ ७२॥
आर्लिगयत्यथ दिशं शशिनि प्रतीचीं गत्वा शनैस्ततकरैः प्रविलोलतारं॥
किंचिन्निमील्य कुमुदेक्षणमाशु दूरं सा यामिनी प्रकुपितेव ययो
विवर्ति ॥ ७३॥

दारू प्याल्यानें उत्पन्न झालेला उन्मत्तपणा व वेहोशपणा या निमित्तांनीं ज्याच्या-कह्न अपराध घडला आहे अज्ञा आपल्या पतीकडे कोणी एक स्त्री आपल्या सखिसमुदायांतून उठून त्याची खरडपर्टी न काढतां शीघ्र निघृन गेली. वरोवरच आहे कीं, कोणाचें प्रेम कपट करीत नाहीं वरें १ ७० प्रथमतःच जिल्ला कोप आलेला आहे अशा कोण्या एक स्त्रीनें अपराध केलेल्या आपल्या पतीला पाहून आदराची पद्धति सोइन दिली नाहीं. अर्थात् पति आल्यावरोवर ती विनयानें उठून उभी राहिली. बरोबरच आहे कीं, स्त्रियांचें मन गुप्त असतें. ७१ एका वेदयेचें एका वेगळ्याच पुरुषावर अतिशय मन बसलें होतें परंतु ती एका श्रीमत कामी पुरुषावर जणु अनुरक्त झाल्याप्रमाणें त्याला वश झाळी होती. बरोबरच आहे कीं, द्रव्य हें कोणास वश करण्यास समर्थ होत नाहीं बरें ? ७२ याप्रमाणें मदनाच्या स्वाधीन झालेल्या कामी जोडप्यासह प्रफुछ झाछेल्या रात्नाविकाासे कमळसमूहाप्रमाणें निर्मेळ सौंदर्य धारण करणाऱ्या हरिषेण राजानें चंद्राच्या किरणाप्रमाणें निर्मल व सुंदर असलेल्या आपल्या वाड्यांत आपल्या स्त्रीसह रात्न एका क्षणापमाणें न्यतीत केली. ७३ जसें एखादा मनुष्य हळ्च हात पसरून जिच्या डोळ्यांतील बाहुल्या चंचल झाल्या आहेत अशा स्त्रीला आलिंगन देत असतां त्याची स्त्री आपले कमलासा-रखे डोळे थोडेसे मिटून क्रोधाने त्याच्यापासून तत्काळ दूर निघृन जाते. तसें

अध्यास्य वासभवनाजिरमानतारिं वैवोधिकास्तमध वोधायतुं क्षपांते इत्युज्ज्वलाः श्रुतिसुखस्वरमक्षतांगाः पेठुः सदा अतिनिनादितसौ-धकुंजाः ॥ ७४॥

कंद्रितप्तमनसासिह दंपतीनां धैर्यत्रपाविरहितानि विचेष्टितानि ॥ -हीतेव वीक्ष्य रजनी रजनीकरास्यं काप्यानस्य विम्रुकी सुमुखा प्रयाति॥ ७५॥

प्रालेयविंदुभिरमी नवसौक्तिकः भैः कीर्णा विसाति तरवः पतितै-र्नभस्तः॥

शीतत्विपो मृदुकरस्य रसाद्वितानां स्वेदाम्भसामुरुकणेश्वि तार-काणां॥ ७६॥

क्षिप्रं विहाय कुमुदानि विकाश्रलक्ष्या त्यक्तानि नाथ! मधुपा मधुपानलोलाः॥

यान्त्युच्छ्व शत्कमलसौरभवासिताशं पद्माकरं ननु सगंधमुपैति सर्वः

11 00 11

चंद्र हळ् हळ् आपले किरणहपी हात पसल्न चंच्छ नक्षत्रार्ह्मी होळ्याच्या वाहुल्यांनी युक्त असलेल्या पश्चिम दिशारूपो परन्तीला आलिंगन देत असनां त्याची
रात्रहपी स्त्री गत्राविकासिकमलरूपी नेत्र थोडेमें पिटवृन त्याच्यावर जणु रागावृन
लौकर दूर निघृन गेली. ७४ गत्र समाप्तीनंतर राजवाल्याच्या अंगणापर्ध्य वस्न
ह्यानें शत्रुंना वृक्त केलें आहे अज्ञा हिन्पेण राजाला जागें
करण्यासाठीं ज्यांनीं राजवाल्यांच्या आंतील प्रदेश प्रतिव्वनीनीं
युक्त केले आहेत असे, उज्ज्यल वेपाला वारण करणारे, अव्यंग अवयवांचे
भाट लोक कानाला मधुर लागणाऱ्या अज्ञा स्वर्गानीं गायन कलं लागले ७५
मदनाने ज्यांची मने संनप्त झालीं आहेन अज्ञा प्रतीयत्नीची विध् व लज्जा यांनी
रिहत असलेल्ली कृत्ये पाहून जणु लज्जिन झालेली गत्र आपल्या चंद्रस्पी मुखाला
खाली यालन हे संदर मुखाच्या राजा ! कोठें नर्ग निघृन ज त आहे. ७६
नर्वान मोत्यासारखी कांनी धारण करणाऱ्या हिंगविंदृंनी भलन गेलेले हे



४ उत्तरेकडे तोंड करून ज्यांनी सर्व कर्ममळ नष्ट केळा आहे अशा सिद्ध परमेष्टीना प्रभूनो एकाथ्र मनाने नमस्कार करून जणुं हा प्रगट झालेळा रागभावच आहे अशा अकारसमूहाचा त्याग केळा. पृष्ठ ३५९.

यावन्न पक्षयुगलं विधुनोति कोकः श्रांतो निशाविरहजागरिवन्न-यापि ॥

तावन्मुदा न समगािय न चक्रवाक्या स्निह्यत्यहो युवतिरेव चि-

सद्यो विनिद्रकमलेक्षणयातिरक्तः पूर्वं प्रसारितकरः शनकैर्विवृत्य।। आर्छिग्यते दिनकरो दिवसाश्रियायं प्रातर्युनेव रिपुमानद ! मानवत्या।। ७९॥

इत्थं वचोभिरचिराय स मागधानां निद्रां विहाय शयनादुदगान्नरेंद्रः। कंठापितं मदनपाशामिवातिकृच्छ्रादुन्मोचयन्भुजलतादितयं प्रिया-याः॥ ८०॥

दृक्ष थंड कांतींनें साहत असलेल्या व कोमल किरणांनीं युक्त असलेल्या चंद्राच्या रसानें भिजून ओले झालेल्या नक्षत्नांच्या घामाचे आकाशांतून पडलेल्या थेंचांनीं जणु युक्त झाल्याप्रमाणें दिसतात. ७७ हे नाथ ! विकासलक्षी-नें ज्यांचा त्याग केला आहे अशा रात्न विकासि कमलांना मकरदपानांत गढून गेलेल्या भुंग्यांनीं सोडून दिलें व ते विकसित झालेल्या दिवस विकासी कमलांच्या सुगधानें ज्यानें सर्व प्रदेश सुगंधित केला आहे अशा सरोवराकडे जात आहेत. वरोबरच आहे कीं उत्तम सुगधयुक्त पदार्थाकडेच सर्व जात असतात. ७८ थक-लेला कोकपक्षी आपले पंख फडफडावित आहे तोंच रात्रीच्या विरहार्ने व जाग-ण्यानें खिन्न झालेल्या अशा चक्रवाकीनें येऊन आनदानें चक्रवाक पक्ष्यांशीं समा-गम केला.बरोबरच आहे कीं, स्त्री हीच पुरुषावर अधिक प्रेम करीत असते. ७९ मफ़ाछिन कमलाप्रमाणें जिचे डोळे आहेत अशी एकादी रुसलेली स्त्री आपला रुसवा सोड्रन प्रातःकाळीं जशी पूर्वीच ज्यानें आपले हात पसरले आहेत व अतिषेमयुक्त अशा आपल्या पतीला थोडें मार्गे वळ्न पाहून आलिंगन देते त्याप-माणें शत्रृंचा अभिमान नष्ट करणाऱ्या हे राजन् ! प्रथमच ज्यानें आपले किरण हळ्हळ् चोहोकडे पसरले आहेत व जो आरक्त-लालभडक दिसत आहे असा हा सूर्य विकसित झालेले आहेत कमलरूपी नेत्र जिचे अशा दिवस लक्ष्मीकडून मातःकालीं तत्काळ आछिंगिला जात आहे.

इति तस्य मुदा नरेंद्रलक्ष्मीं दघतः श्रावकवृत्तिमप्यखंडां ॥
नरनाथपतरनेकमंख्या ययुरव्दाः स्फिटिकाश्मिनिमलस्य ॥ ८१ ॥
मुनिपतिमवलोक्य सुप्रतिष्ठं प्रमदवने स्थितमन्यदा नरेंद्रः ॥
समजिन स तपोधनस्तपश्च प्रशामरतिश्चिरकालमाचचार ॥ ८२ ॥
स जीवितांते विधिवद्धिधिज्ञः सल्लेखनामेकिथया विधाय ॥
अलंचकार क्षितिमात्मकीत्यां मूर्त्या महाशुक्रमिप प्रतीतः ॥ ८३॥
दिव्यांगनाजनमनोहररूपसंपत्स प्रीतिवर्धनविमानमनूनमानं ॥
अध्यास्य षोडशपयोनिधिसस्मितायुः प्रीतिंकरोऽरमतं तत्र विचित्रसौख्यम् ॥ ८२ ॥

इत्यसगक्टते श्रीवर्धमानचिरते हिरेषेणमहाशुक्रगमनो नाम
 त्रयोदशः सर्गः ॥

८० याममाणें म्तुति पाठकांचें पातःकाछीं जागृत करण्याच्या भाषणांनी अशीत भाषणें ऐकून राजा जागा झाछा व कंठामध्यें जणु मदनाचे पाजच पडले आहेत अशा आपल्या मिय राणीचे दोन वाहु गळ्यांतृन मोठ्या प्रयासाने काढून तो निद्रात्याग करून अंथरुणावरून उठछा, ८१ स्फाटिक मण्याप्रमाणे ज्यांचे अतःकरण निर्मेळ आहे अशा त्या राजाने राजलक्ष्मीला व आवकधमीला अखंड रीतीनें ६ एण केलें होतें. या दोनीचें पालन करीत असतां या राजाचीं पुष्कळ वर्षे लोटलीं. २ एके दिवशीं प्रमद्वनामध्यें सुप्रतिष्ठ मुनिपित आलेले पाहून हा राजा त्यांच्या । छम्नानाला वसमभावनेंत भेष ठऊन त्यानें पुष्कळ काळपर्यत तपश्चरण केलें. ८२आयुष्याच्या अंती सल्लेखनेचा विधि जाणणाच्या या हिर्पेण मुनीनें एकाग्रवु-द्धीनं सल्लेखना धारण करून आपल्या कीर्तीने पृथ्वीला अलकृत केले व प्रसिद्ध अशा यानें आपल्या शरीराच्या द्वारें महागुक स्वर्गाला अलकृत केलें. अर्थात् महागुक स्वर्गात तो अत्यंत सुंदर शरीराचा धारक असा देव होऊन जन्मला. ८४ ज्याचे प्रमाण फार मोठें आहे अशा त्या प्रीतिवर्धन नांवाच्या विमानांत ज्याचें सोळा सागर वर्षे आयुष्य आहे असा, देवांगनांच्या मनाला हरण करणाच्या सौद्र्याने यक्त असलेला तो प्रीतिंकर नांवाचा देव त्या महाग्रुक स्वर्गात नानाप्रकारच्या सुलांचा उपभोग घेत फार दिवसपर्यंत रममाण झाला.

\* याप्रमाणें असग कविकृत श्री वर्धमान चरित महाकाव्यामध्यें हरिषेण मुनिश्वरांना महाशुक्र स्वर्गाची प्राप्ति झाली याचें वर्णन करणारा तेरावा सर्ग समाप्त झाला \*



द्वीपेऽस्मिन्दधदपरेतरे विदेहे कच्छाख्यामथ विषयोऽस्ति नित्यरम्यः सीतायाः सुरसरितस्तटीमुदीचीमुद्धास्य प्रकटमवस्थितः स्वका-

उद्भिच क्षितितलमुत्थितो हि लोकः किं द्रष्टुं भुवमुत नाकिनां निवासः आयातः स्वयमपि यस्य सूरिशोभां पश्यंतः क्षणममराश्च विस्मयंते ॥ २॥

तत्रास्ति त्रिजगदिवैकतामुपेतं क्षेमादिद्यतिमभिधां पुरं दधानम् ॥ सदृत्तिप्रकृतियुतं विविक्तवर्णेराकीर्णं तिलकनिमं वसुंधरायाः॥३॥

१ या जंबूद्धीपामध्यें पूर्वविदेह क्षेत्रांत कच्छ या नांवाचा नेहमीं सुंदर असणारा एक देश आहे. हा देश सुरसिन्-देवनदी जी सीता नांवाची नदी तिच्या उत्तर किनाच्याला आपल्या कांतीनें सुशोभित करून प्रवट रूपानें राहिला आहे. २ या देशाची विपुल शोभा पाहात असतां क्षणपर्यंत देवांनाही आश्चर्य वाटत असे. पृथ्वितलाला फोडून अधोलोक वर आला आहे काय १ किंवा स्वतः भूलोकाची शोभा पाहण्यासाठीं देवांचें निवासस्थान अर्थात् स्वर्ग हा खालीं आला आहे काय १ असे विकल्प हा देश पाहतांना देवांच्या मनांत उत्पन्न होत असत. ३ या देशांत तेलोक्य जणुं एकवटलें आहे असें क्षेमचुित या नांवाला धारण करणारें शहर आहे. हें शहर सदाचार स्वभावाला धारण करणारे असे जे वेगले वर्ण बाह्मण, क्षात्रिय, बेदय, शुद्र यांनीं युक्त असल्यासुलें सद्दांत्तप्रकृतियुत—गोलाकारानें युक्त आणि विविक्तवर्णानीं—नाना प्रकारच्या रंगांनीं युक्त अशा

तस्यासीदथ नृपतिः पुरस्य नाथो।नीतिज्ञो विनतरिपुर्घनंजयाख्यः। येन श्रीरतिचपलाप्यकारि वश्या विद्यंते भुवि महतां न दुःकराणि ॥ २॥

कल्याणी सकलकलासु दक्षबद्धिः स्मेरास्या स्मरविजयेकवैजयन्ती लज्जाया हृदिव बभूव तस्य राज्ञी विख्याता मनुजपतेः प्रभावती-ति ॥ ५॥

त ॥ ५॥ सत्स्वप्रैर्निगदितचक्रवर्तिलक्ष्मीः प्राग्देवः सुरिनल्यात्ततोऽवतीर्य॥ पुत्रोऽभूद्धिव स तयोर्यशो महीयोमूर्तं वा प्रियपदपूर्विमत्रनामा॥६॥ तं विद्याः प्रथमसुपासिरे समस्ताः प्रत्यक्षं मतिविभन्नेन लोभ्यमानाः अभ्येतुं झिटिति परं समुत्सुकायाः साम्राज्यिश्रय इव दूतिकाः प्रधानाः॥ ७॥

सर्वेषामजिन स भाजनं गुणानां रत्नानामिव जलिधः सुनिर्मलानां॥ लावण्यं दथदिप भूरि तिद्ध चित्रं माधुर्यं दिशि दिशि यत्ततान लोके ॥ ८॥

पृथ्वीच्या तिलकाप्रमाणं शोभत असे. ४ या शहराचा अधिपति नीतिज्ञ व शत्रुंना नम्न करणारा असा धनंजय गांवाचा राजा होता. यानें अतिशय चंचल अशी ही लक्ष्मी अगढीं मुठींत ठेविली होती. वरोवरच आहे कीं, महापराक्रमी लोकांना या जगांत दुष्कर असें कांहींच असत नाहीं ५ सगळ्या कलामध्ये जिची बुद्धि तिपुण आहे अशी, नेहमी हंसत मुखाची, मदनाची अद्वितीय विजयपताका, व लज्जेचे हृद्यस्थान असलेली अशी प्रभावती या नांवाची या धनंजयाला कल्याण करणारी प्रसिद्ध राणी होती ६ चांगल्या स्वमांचें द्वारें ज्यानें चक्रवर्तीच्या लक्ष्मीची पूर्वीच सूचना केली आहे असा तो भीतिकर नांवाचा देव महा खक्र स्वर्गीतृन चवृन या भूतलावर या उभयतांचें –राजाराणीचें जणु मृतिमंत मोहित झालेल्या सर्व विद्या त्याची लपासना कल लागल्या. अर्थात् सर्व विद्यांची त्यास प्राप्तिझाली. लेकरच या राजपुत्राची प्राप्ति करून घेण्यास अतिगय उत्कंदित झालेल्या सार्वभीम लक्ष्मीच्या या विद्या जणु मुख्य दृती होत्या ८ जसा समुद्र निर्मल अशा

सङ्क्तः सकलकलाधरो चितन्त्रन्नानंदं निजमृदुपादसेवाकानां ॥
संपूर्णो विधारिव भूरिरूपशोभासामग्रीमाभनवयौवनेन भेजे ॥ ९ ॥
संरेजे समद्वधूविलोलनेत्रैस्त्यक्तान्यैरिधगतसंमदं पताद्धः ॥
बिश्राणो मधुसमये प्रस्नलक्ष्मीं प्रत्यग्रामिलिनवहौरिवैकचूतः ॥१०॥
अन्यस्मिन्नहिन धनंजयो जिनेंद्रं स क्षेमंकरमुपगम्य तत्प्रणीतां ॥
धर्मं च प्रवणमना निशम्य सम्यक् संसाराद्विरतमितः परं बभूव॥११॥
विन्यस्य श्रियमथ तत्र पुत्रमुख्ये तन्मूले सपदि स दीक्षितो विरेजे ॥
संसारव्यसनिरासिनी मुमुक्षोः शोभायै भवति न कस्य वा तपस्या?
॥ १२॥

सर्व प्रकारच्या रत्नांचा भाठा असतो त्याप्रमाणें हा राजपुत्र सर्व सहुणांचें पात्र बनलेला होता. समुद्र पुष्कळ लावण्य-खारेपणा धारण करीत असतो. पत्येक दिशेमध्यें त्याचा मधुरपणा न पसरतां खारेपणाच पसरला आहे. परंतु या राजपुत्रानें भूरिलावण्य-पुष्कळ खारेपणा धारण केला आहे तरी याचें माधुर्यच सर्व दिशांत पसरलें आहे हें आश्चर्य होय. अर्थात् लावण्य ह्मणजे सौंदर्य याच्या सौंदर्यांची सर्व दिशामध्यें मिसद्धि झाली होती. ९ सद्भुत्तगोल, सकलकलाधर सगळ्या कळा-सोळा कळा धारण करणारा, स्वतःच्या मृदुपादांचें-मज किरणांचें सेवन करणारास आनंदित करणारा, असा पूर्णचंद्र जसें पूर्ण सौंदर्याला धारण करितो तसें सदृत्त-सदाचरणी, सकल कलाधर-चौसष्ट कलांचा घारक, व आपल्या मृदुपादांचें-मऊ पायांचें सेवन करणारास नेहमी आनंदित करणारा हा प्रियमित राजपुत्र नवीन तारुण्यानें पुष्कळ रूपकांती्च्या पूर्ण सामग्रीला पावला. १० वसंत ऋतुमध्यें नवीन मोहोर धारण करणारा आम्रद्रक्ष, तारुण्यानें मुसम्रुसलेल्या स्त्रियांच्या नेत्राप्रमाणें चंचल व ज्यांनीं इतर पुष्पांचा त्याग केला आहे व जे आनंदानें येऊन पडत आहेत अशा भुंग्यांनीं जसा शोभतो राजपुत्रही जेव्हां वसंत ऋतूंत पुष्पांच्या माळांची शोभा धारण करीत असे तेव्हां तारण्यमदाने उन्मत्त झालेल्या स्त्रियांच्या नेत्रांनीं आपलीं इतर कामें सोडून दिलीं व आनंदानें ते या राजपुत्राकडे खिळ्न गेले. यामुळें हा राजपुत फार शोभूं लागला. ११ एके दिवशीं धनंजय राजा क्षेमंकर जिनेश्वराजवळ जाऊन त्यानें त्यांनीं केलेला धर्माचा उपदेश एकाग्रमनानें ऐकिला त्यामुळें त्याला संसारापासून पूर्ण

दुःप्रापां सकलनृपाधिराजलक्ष्मीं प्राप्यापि प्रमदमशौ तथा न भेजे ॥ विभ्राणः सकलमणुवतं यथावत्सम्यक्तवं सहजमथोज्ज्वलं च राजा

तस्येयुः परमरयोऽपि सच्चरित्रैराकृष्टाः स्वयपुगम्य किंकरत्वं ॥ शीतांशोरिव किरणाः सतां गुणीघा विश्वासं विद्धति कस्य वा न शुभाः॥ १४॥

एकस्मिन्नथ दिवसे सभागृहस्थं विज्ञातो नरपतिमभ्युपत्य कश्चित्॥ संभांतो नतिरहितं मुदेवमूचे को दिष्ट्या भवति सचेतनो महत्या॥। १५॥

शालायाममलरुचां वरायुधानामुत्पन्नं विनतनरेन्द्रचक ! चक्रं ॥ दुःप्रेक्ष्यं दिनकरकोटिविंवकल्पं यक्षाणामधिपगणेन रक्ष्यमाणं॥१६॥

वैराग्य प्राप्त झालें. १२ यानंतर त्यानें सर्व पुतामध्यें मुख्य-श्रेष्ट असलेल्या त्रिय-मित्रावर राज्यलक्ष्मी स्थापिली व स्वतः क्षेमंकर जिनेश्वराजवळ तत्काळ दीक्षा घेऊन तो फार शोभूं लागला. वरोवग्च आहे की, ज्याला मोक्ष प्राप्त करून घेण्या-ची इच्छा आहे अशा कोणत्या मनुष्याने घेतलेली व संसार-संकटाचा नाश करणारी तपस्या–दीक्षा कां वरे शोभेछा कारण होणार नाहीं? १३ इतरांना मिळण्यास अशक्य व राजे लोकांवर हुकत चालविणारी राजलक्षी प्राप्त करून देखिल या प्रियमित राजाला तसा आनंद वाटला नाहीं जसा सगर्ली अणुत्रतें व शास्त्रांत सांगितल्याप्रमाणे ज्यांचें स्वरूप आहे असे नैसर्गिक निर्मल सम्यग्द्रीन पाप्त केल्याने झाला होता. अर्थात् या राजाला राज्यपाप्तिणेक्षां अणुत्रते व निर्मळ सम्यग्दर्शनानें अधिक आनंद झाला होता. १४ त्याचे शत्रु देखिल त्याच्या सदाचार गुणांनीं ओढले गेले यामुळें ते स्वतः येऊन त्याचे नोकर वनले. वरोवरच आहे कीं, चंद्राचे पांढरे किरण जसें सर्वीना अल्हाटकारक असतात तसे सत्पुरुषांचे ग्रुभ्र गुण-समुदाय कोणाला वरें दिश्वास-आनंद उत्पन्न करीत नसतात <sup>१</sup> १५ यानंतर एके दिवर्शा द्वारपालाकडून ज्याची हकीकत कलविली गेली आहे असा कोणी एक मनुप्य गडवडीनें सभेंत आला व तेथें वसलेल्या राजाला नमस्कार न कारीतांच आनंदानें वेहोश होऊन पुढें लिहिल्यापमाणें

तत्रैव स्फुरितमाणिप्रभापरीतो इंडोऽभूदिसरिप शारदांवराभः॥
प्रत्यक्षं यश इव ते मनोभिरामं पूर्णेंदुचातिरुचिरं सितातपत्रं॥१०॥
संसर्पत्करिनच्येन रुद्धिकश्रूलाख्यो मणिरुद्पादि कोशगेहे॥
काकिण्या सममाचिरांशुराजिभासा भूपेंद्र! द्यातिविततेन चर्मणा च
॥ १८॥

आकृष्टाः सुकृतफलेन रत्नभूता द्वारस्थाः सचिवगृहेशतक्षमुख्याः॥ सेनानीकरितुरगाश्च कन्ययामा कांक्षन्ति क्षितिप!भवत्कटाक्षपातं॥।।१९॥

संजाता नविनधयः कुबेरलक्ष्याः कुर्वाणा निजविभवैः सदाभिभूतिं प्राग्जन्मप्रजनितसूरिपुण्यशाक्तिः किं कासां न भवति संपदां सवित्री? ॥२०॥

वोलूं लागला. बरोवरच आहे कीं, अतिशय आनंद झाला असतां कोण वरें त्यावेळीं सचेतन-सावधान असतो ? १६ स्वच्छ कांतींनीं युक्त अशा शस्त्रास्त्राच्या शाळेंत ज्यानें सर्व राजसमुदायांना नम्र केलें आहे अशा हे राजा ! कोट्यवधि सूर्यविवा-प्रमाणें पाहण्यास अशक्य, यक्षांच्या वरच्या आधिकाऱ्याकडून जें राक्षें जातें असें चक्ररत्न उत्पन्न झालें आहे. त्याच ठिकाणीं चमकणाऱ्या मण्यांच्या कांतींनीं वेष्टि-लेलें दंडरत्न, शरत्कालच्या आकाशाप्रमाणे नीलवर्णाचे खद्गरत्न आणि हे राजा! मार्तिमंत मनोहर असे तुझे यशच जणु असे पूर्ण चंद्राच्या कांति सारखें सुंदर पांढरें छत्र हीं रत्नेही उत्पन्न झालीं आहेत. १९ हे राजाधिराजा! कोशगृहांत-खाजिना ठेवण्याच्या घरांत पसरणाऱ्या किरण समूहानें ज्याने सर्व दिशा भरून टाकिल्या आहेत असे चूडामणि नांवाचें रत्न विजांच्या कातीप्रमाणें चमकणाऱ्या काकिणी रत्नासह व ज्याची कांति पसरली आहे अशा चर्मरत्नासह उत्पन्न झालें आहे. १९ हे पृथ्वीपते, तुझ्या पुण्यफलाने आकर्षिलेले व जगांन आति य श्रेष्ट असल्यामुळें रत्न या नांवाला प्राप्त झालेले सचिव, गृहपति, स्थपति हे ज्यामध्यें मुख्य आहेत असे सेनापति, हत्ती, व घांडा हे सर्व जण कन्या रतनासह तुम्या कटाक्षपाताची इच्छा करीत दरवाजांत उभे राहिले आहेत. २० आपल्या वैभवानें कुवेराच्या संपत्तीचा नेहमी धिकार करणारे नड निधि हे राजन्! प्रगट झाले आहेत.

तेनोक्तामिति नरलोकसारभूतां संभूतामि स निशम्य चक्रभूतिं॥
भूरेन्द्रो जन इव विस्मयं न भेज प्राज्ञानां किमिह कुतूहलस्य हेतुः।२९॥
प्रत्यक्षं जिनपतिमभ्युपेत्य भक्तचा सानंदं सह सकलेन राजकेन॥
संपूज्य प्रथममसौ यथोक्तमार्गिर्मार्गज्ञस्वध विततान चक्रपूजां॥२२॥
पद्संडैः कतिपयवासरेरनूनराकीणं नृपखचराधिपेश्च देवैः॥
चक्रण स्ववशमकारि तेन कृत्सनं दुःसाव्यं न हि भुवि भूरिपुण्यभाजां

डात्रिंशत्सकलनराधिराद्सहसेविंख्यातरिप विद्याधिपैस्तदर्देः। स्रीभिः पण्णवतिसहससिमताभिः कांताभिः परिकरितो रराज सम्राद्॥२४॥

वरोबरच आहे कीं, पूर्वजन्मी उत्पन्न झालेली पुष्कळ पुष्याची शक्ति, कोणत्या संपर्चीना प्रसवणारी होत नाहीं वरें रे अयोत् पुष्योद्याने सर्वे संपत्ति मिळतातचः २१ मनुष्य लोकांन सर्वोत्कृष्ट अशा चक्ररत्न संपत्तीच्या उत्पत्तीचे त्या पुरुषाने केलेले वर्णन ऐतृन राजाला सामान्य लोकाप्रमाणें कांहीं आश्वर्य बाटलें नाहीं बरो-दरच आहे की याजगांत दिहान छोकांना आख्ये उत्पन्न करणारी कोणती वस्तु आहे? तान्पर्य हे कीं, विद्वान लोकांना कारणांची माहिती असल्यामुळे अमुक कारणापास्न अपके कार्य उत्पन्न होते असे त्यांना समजते म्हणून त्यांना आवर्य वाटत नाही. २२ त्र्यमतः सर्वे राजसमृहासङ् मोट्या आनंदाने व भक्तिने प्रत्यक्ष जिनेत्वराकडे जाऊन या राजाविराजानें न्यांची पृजा केली. नंतर पद्धाने जाणाच्या या भूपेंड्रानें शाखांत मांगिवळेल्या मार्गानीं चक्रन्ताची पृत्रा केळी. २३ यानंवर भूगेचारी राजे आणि देव पांनी पूर्ण भरलेला. महा खंडांनी युक्त असलेला कच्छ देश या गजाने चन्नरत्नाच्या साद्यायाने योहक्याच दिवसांत आपल्या स्वाबीन करून येनटा. दरोवरच आहे,की या जगांन पुष्कळ पुष्य ज्यानी संचित केले आहे अशा लो-कांना कोणर्ता गोष्ट असाध्य असते दरें ? कोणर्ताही असत नाहीं. २४ वर्तीस हजार मांडळिक राजे व प्रसिद्ध असे मोळा हजार देव आणि बहाण्णव हजार सुंदर विया यांनीं युक्त हा सार्वभाँप राजा शोभूं लागला. २५ नैसर्प, पांड, पिंगल काल, महाकाल, इंख, पद्म, माणव आणि मवेन्न असे नज निवि उत्तर

नैसर्पः सममथ पांडापिंगलाभ्यां कालेन स्थितिमकरोच्च भूरिकालः॥ शंखाख्या निधिरपि पद्ममाणवाभ्यां कोषया दिशि नवमश्च सर्वरतः॥ ॥ १५॥

प्रासादान्मृदुशयनानि सोपधानान्यासंदीप्रमुखवरासनप्रपंचान् ॥
नैसपों वितरित संततं जनेभ्यः पर्यकान्बहुविधजातिपिहकांश्च ॥२६॥
शालीनां तिलयवमाषकोद्रवाणां त्रीहीणां वरचरणकिप्रयंगुकाणां ॥
सर्वेषां जनहृदयाभिवांछितानां भेदानामितधित पांडुकः प्रदाता
॥२०॥

प्रत्युप्तप्रविपुलरत्नराजिराँरमश्रेणाभिः राबलितसर्वदिङ्मुखानि ॥ स्त्रिपुंसं प्रति सदशानि भूषणानि श्रीमंति प्रतिदिशति पिंगलो जनेभ्यः॥२८॥

सर्वर्तप्रसवफलानि सर्वकालं चित्राणि द्रुमलतिकाक्षुपोद्भवानि॥ निन्याजं वितरति वांछितानि कालः किन्न स्यात्पुकृतफलेन पुण्यभाजां॥ २९॥

दिशेकडे राहत असत २६ नैसर्प नांवाचा निधि नेहमीं लोकांना राजवाडे, यक्ष विछाने, उशा, नाना प्रकारचीं उत्तम आसनें, पलंग व अनेक प्रकारचीं वर्से अपण करीत असे. २७ पांडुक नांवाचा निधि साली, तिल, यव, उडीद, कोट्ट, सालीचे निरानिराले प्रकार, वरे, हर्भरे, कंगणी वगैरे लोकांच्या हृद्याला आवडणाच्या व संतोष देणाऱ्या वस्तु देत असे २८ ज्यामध्यें वसविलेल्या नाना प्रकारच्या रत्न समूहांच्या किरण पंक्तींनी ज्यांनीं सर्व दिशा व्यापुन टाकिल्या आहेत अशीं सुंदर श्रीपुरुषांना योग्य अनेक प्रकारचीं आभूषणों पिंगल नांवाचा निधि लोकांना देत असे. २९ काल नांवाचा निधि झाडें, वेली, झुडपें यांचीं नानाप्रकारचीं व सर्व ऋतूंत उत्पन्न होणारीं फुलें व फलें सहज रीतींनें लोकांना देत असतो. वरोवरच आहे कीं, जे पुण्यवान आहेत त्यांना पुण्याच्या फलानें कशाची वरें प्राप्ति होत नाहीं ? ३० भूरि-काल अथवा महाकाल नांवाचा निधि लोकांना त्यांचीं आवडतीं घरें सजविण्याचे नाना प्रकारचे सुवर्णाचे पदार्थ, तांव्याचीं नानाप्रकारचीं मांडीं कुंडीं, अनेक प्रकारचीं न फुटलेलीं लोखंडाचीं उपकरणें, तत्काल प्रयत्नानें अशीं देतो. ३१ तत—तन्तुवाहों,

सौवर्णं सदनपरिच्छदं विचित्रं ताम्रीयं विविधसुपस्करं च छोहं।। छोकेभ्यः समभिमतं ददाति यत्नान्नीरंभ्रं निधिरचिराय भूरिकालः।। ३०॥

वाद्यानां ततघनरं अनद्धभेदैभिन्नानां श्रुतिसुखदायिनादभाजां ॥ संघातं मृजति समीप्सिताय शंखो दुःप्रापं न हि जगतां समत्रपुण्येः॥ ३१॥

चित्राणि क्षणरुचिशक्रचापकांतिं खस्थास्तुं निजमहसा विडंवयन्ति वासांसि स्वतिशयरत्नकंवलादिप्रावारैः सह दिशतीप्सितानि पद्मः ॥ ३२॥

हेतीनां निवहमनेकभेदिभिन्नं दिव्यानामनुगतलक्षणिस्थितीनां ॥ दुर्भेद्यं कवचिरिरः सुवर्मजातं प्रख्यातं वितरित माणवो जनेभ्यः॥३३॥ रत्नानां वियति सुरेंद्रचापलक्ष्मीमन्योन्यव्यतिकरितेर्गभिस्तजालैः॥ कुर्वाणां जनयित संपदं समग्रां सामग्रीं सकलजनस्य सर्वरतनः॥३४॥

यन-झांज, टाळ वगैरे, रंश्र-पावां, सर्न् वगैरे आणि नद्ध-कातड्यानें महिविलेलीं वार्धे. हीं सर्व कानाला गोड लागणाऱ्या शद्धांना जन्म देत असतात. गंख नांवाचा निधि हीं सर्व इच्छित वार्धे लोकांना अपीण करीत असतो. ज्यांचे पुण्य पूर्णावस्येला पोहोंचलेलें असतें अशांना कांहीं हुर्लभ नसतें. ३२ आकाशांत असणाऱ्या इंद्रधनुष्य व वीज यांच्या कांतीला स्वतःच्या कांतीनें लिजित करणारीं अनेक प्रकारचीं वर्स्ते व अमृल्य अशीं रत्नकंवल वगैरे पांघरण्याचीं वर्स्ते लोकांच्या इच्छेला अनुसरून पद्म नांवाचा निधि देतो. ३२ माणव नांवाचा निधि ज्यांचीं लक्षणें भिन्न भिन्न आहेत अशीं दिव्य नानाप्रकारचीं शक्तात्ते, प्रसिद्ध व अभेद्य असें चिललत व शिरस्ताण लोकांना अपीण करीत असतो. ३४ सर्वरत्न नांवाचा निधि एकमेकांमध्यें प्रवेश करणाऱ्या रत्नांच्या किरण समुदायांनीं आकाशांत इंद्र धनुष्याची शोभा लत्यन करणाऱ्या संपत्तीची सर्व सामग्री लोकासाठीं उत्पन्न करीत असतो. ३५ जसें पावसाला नृतन जलाचा वर्षाव करणाऱ्या नृतन मेथांच्या हारें सर्व रीतीनें मदृगंच्या इच्छा पूर्ण करीत

लोकानामिति स मनोरथानशेषान्भूपेन्द्रो निधिभिरपूरथन्निकामं।।
प्रत्येश्रेनवजलमो।चिभिः समंताज्जीम्तेरिव शिखिनां तपावसानः।३५
औद्ध्रत्यं नवानिधिभिः प्रद्यिमानेन द्रव्येरपरिभितेः स संप्रपेदे ॥
तोयोधिरिव जलाधिनदोपनीतिधीराणां न हि विभवो विकारहेतुः॥३६॥
अप्येवं समनुभवन्दशांगभोगान्व्यानभ्रेरमरनृपैः सदा परीतः॥
धर्मास्थां शिथिलयित सम न स्वचित्तान्माद्यंत न हि विभवेभहानुभावाः॥ ३७॥

आश्विष्टो घनमपि राजराजलक्ष्म्या राजेंद्रः प्रशमरतिं सुखाय मेने॥
सह्ष्टेरिधगतभूरिसंपदोऽपि श्रेयोथीका हि विजहाति निर्मलाधीः ३८
पूर्वाणि त्रिभिरिधकान्यशीतिलक्षाण्यानंदं सकलजनस्य चक्रनाथः॥
आतन्वित्रिति स निनाय ममचित्रो विस्तीर्णे विषयसुखासृतांबुराशो ॥३९॥

असतो. तसें या प्रियमित्र चक्रवर्तींनें या नवनिधींच्या द्वारें सर्व लोकांचे सर्व मनोरय पूर्ण केले. ३६ जसें समुद्राला मोठ्या नद्यांकडून पुष्कळ पाण्यांचे प्रवाह नेहमीं मिळतात तथापि तो जसा उद्धट होत नाहीं, गंभीरच असतो. तसें ह्या चक्रवर्तींला नेहमा नज निधीकडून अपिरिमित द्रव्य मिळत असे पण याला उद्धटपणा कसा असतो हें माहितच झालें नाहीं. वरोवरच आहे कीं, धीर गंभीर अशा माणसांना वैभव विकारास कारण होत नाहीं. ३७ नम्र झालेल्या देवांनीं व राजांनीं नेहमीं वेष्टिलेला हा चक्रवर्ती द्रशांग भोगांचा भोग घेत होता तथापि धमीविषयींचें भेम थोडेसें देखिल आपल्या मनापासून तो कभी होकं देत नसे. बरोवरच आहे कीं, जे महापुरुष आहेत ते ऐश्वर्यानें कधीही उन्मत्त वनत नाहींत. ३८ सार्वभीम राजलक्ष्मीनें ज्याला हद आिलग्ना दिलें आहे अशा या पियमित्र चक्रवर्तीनें प्रशम-रागद्वेषांच्या अभावा मध्यें रतहोणें हेंच सुखदायक आहे असें मानिलें होतें, वरोवरच आहे कीं, सम्यग्दिष्ट आत्म्याला पुष्कल संपत्ति मिळाली तरी त्याची निर्मलबुद्धि कल्याणमार्गापासून-रत्नतयापासून भ्रष्ट होत नाहीच. ३९ विस्तीर्ण अशा पंचेंद्रिय-सुखरूपी अमृत-सप्तद्रांत ज्याचें चित्त गढून गेलें आहे अशा त्या चक्रवर्तीनें सगळ्या प्रजेला आनंदित ठेक्रन ८३ लक्ष पूर्व वर्षे राज्य

अन्येद्यः प्रविमलद्रिणं स्विवं संप्रयन्तृपतिः स्वकणमूले ॥
संलमं विनिगदितुं जरां भिवत्रीं दूतं दा नवपालतांकुरं निद्ध्यो ४० तं दृष्ट्वा मणिमुकुरं विहाय सद्यो राजेंद्रश्चिरमिति चिंतयांवभूव ॥
विश्वस्यादहमिव कोऽपरः सचेताः संसारे विषयविषेवंशीकृतात्मा ४१ भोगांथः सुरनृपलेव्रोपनितैः साम्राज्ये न सल्ल ममापि जातु रम्ये संतृप्तिः प्रकृतनरेषु केव वार्ता दुःपूरो भवति तथापि लोभगतः॥४२॥ आकृष्टो विषयमुखेर्बुघोऽपि चूनं संसारान्न परिविभेति भूरिदुःखात् आत्मानं बतकुरुते दुराशयातं मोहांघो ननु सक्लोऽपि जीवलोकः४३ ते धन्या जगित विदां त एव मुख्याः पर्याप्तं सुकृतफलं च भूरि तेषां येस्तृष्णाविपलातिका समूलतूलं मोन्सूल्य प्रतिदिशसुज्ज्ञिता सुदूरं ४४

केलें. ४० एके दिवशीं स्वच्छ अज्ञा दर्पणांत आपलें प्रतिविव पाहात असतांना या चक्रुवर्तील। कानाजवळ पांढरा केश दिसला. जणु तो हे राजेंद्रा! आप-णास आतां लोकेरच हद्धावस्था येणार आहे असें सांगण्याकारितां कानाजवल गेला होता. ४१ रो केस पाहिल्यावरोवर भूपेद्रानें तत्काल हातांनील दूतापमाणें आरसा खार्छी टाक्सन पुढें लिहिल्याप्रमाणें विचार केला. " पंचेंद्रियांच्या विषयरूपी विषांनीं ज्याचा आत्मा वग केला आहे अशा माझ्या शिवाय या जगांत दुसरा कोणता ज्ञानी पुरुप या संसारावर विश्वास ठेवील वरें १ ४२ देव, राजे, व विद्याधर यांनीं अर्पण केलेल्या व रमणीय अशा भोगांच्या पदार्थानीं या साम्राज्यांत माझी-देखील तृप्ति झाली नाहीं, मग सामान्य माणसांची गोष्टच विचारावयास नको. खरोखर हा लोभरूपी खड्डा भरून निवर्णे शक्य नाही. चक्रवर्तीची संपत्ति म्हणजे ऐहिक सपत्तीची पूर्णता. पण तिनेंही माझा छो। भरूपी खड्डा भरून निवाछा नाहीं मग इतरांना जर असली संपत्ति मिळतच नाहीं तर त्यांचा तोलोथरूपी खड्डा भरणें शक्यच नाहीं. ४३ विषयसुखांनीं ओढलेला विद्वान मनुष्य देखील अतिशय दुःखांनीं भरछेल्या या संसारापासून भात नाहीं. व स्वतःला तो देखील अनेक कुत्सित इच्छांनी पीडित करितो. वरोबरच आहे कीं, जगामध्यें सगळेच संसारी जीव मोहानें आंधळे झालेले आहेत. ४४ ज्यांनीं आशारूपी विषाच्या वेलीला मुळापासून उपहून प्रत्येक दिशेला दुर फेक्रून दिलें. या जगांत खरोखर तेच धन्य होत. त्यानाच विद्वानांचे मुक्कटमणि मानावें. आणि त्यांना पुण्याचें पूर्ण, पुष्कळ फळ प्राप्त झालें आहे असें समजावें. ४५ दु:खांच्या अथवा मृत्यूच्या युखांतून

नो भार्या न च तनयो न बंधुवर्गः संत्रातुं व्यसनमुखादलं हि कश्चित् तेष्वास्थां शिथिलियेतुं तथापि नेच्छेत् धिङ्मूढां प्रकृतिमिमां शरीरा भाजां ॥४५॥

संतृप्तिर्न च विषयैर्निषेठ्यमाणेरक्षाणां भवति पुनस्तृषेव घोरा ॥ तृष्णातों हितमहितं न वेत्ति किंचित्संसारो व्यसनमयो ह्यनात्मनीनः ॥ ४६॥

जानाति स्वमयमिष वीक्षते शृणोति प्रत्यक्षं जननजरामृतिस्वभावं संसारं कुशलविवार्जितं तथापि भ्रांत्यात्मा प्रशमरतो न जातु जीवः ॥२०॥

अक्षाणां वरामुपगम्य पापकार्ये संसक्तः सुखलवालिप्सया निकामं॥ नो पर्यत्यपरभवे विचित्रद्वःखं जीवानामहितरतिः परं स्वभावः

||8<||

संपत्तिस्ति डिदिव चंचलः समग्रा तारुण्यं तृणगतदावदीप्तिकल्पं ॥ किं नायुर्गलित पदे पदे समस्तं निःशेषं दलितघटांबुवनराणां॥४९॥

याची सुटका करण्यास वायको, सुलगा, आप्त नातलग अथवा इतर कोणीही समर्थ होत नाहींत. तरी ही हा प्राणी त्यांच्यावरील प्रेम हिलें करावें असे इच्छित नाहीं. प्राण्यांच्या या मूर्त्व स्वभावाला धिकार असो. ४६ कितीही विषय भोगले गेले तरी इद्रियें तृप्त तर होतच नाहींत पण त्यांना पुनः भयंकर तहानच लागतें. या तहानेंने व्याकुळ झालेला हा प्राणी हित व आहेत याचा विचार करीत नाहीं. बरोबरच आहे कीं, हा संसार दुःलांनीं पूर्ण भरलेला व आत्म्याचें अकल्याण करणाराच आहे ४७ हा आत्मा, हा संसार जन्म, म्हातारपणा, मरण या स्वभावांनीं युक्त हितानें रहित आहे असें प्रत्यक्ष स्वतः जाणतो, पाहतों व ऐकतोहिं तथापि भ्रांतिलाच स्वतःचें खें स्वरूप समजून शांतिमध्यें कधींहीं आसक्त होत नाहीं.

४८ थोड्या मुखांच्या इच्छेनें हा जीत्र इद्रियांच्या स्वाधीन होऊन पाप कार्यात अतिशय गढून जातो. पुढच्या जन्मामध्ये मला नानाप्रकारचीं दुःखें भोगावी लागतील ही गोष्टच त्याच्या ध्यानांत येत नाहीं. यावरून जीवांचें अहित-कर गोष्टीमध्यें प्रेम होणें हाच स्वभाव आहे असें कष्टानें म्हणावें लागतें ४९ सर्व मकारचीं संपत्ति विजेममाणें चंचल आहे. तरुणपणा गवताला लागलेल्या अग्नीच्या-कांतीप्रमाणें लोकरच नष्ट होणारा आहे. फुटलेल्या र्घागरींतील पाण्यात्रमाणें मनु ध्यांचें सगळें आयुष्य पावलों पावलीं गळून जात नाहीं काय १५० हें शरीर घाणेरहें,

वीभत्से प्रकृतिविनश्वरे निकामं हुः पूरे वह विघरोगवासगेहे ॥
विण्मृत्रक्षतजसुपूर्णभांडगेहे को विद्वान्वपुषि करोति वंधु हो ॥५०॥
संसारास्थातिमिति चेतसा विनिद्य क्षोणीचाः स्वयमित्रस्य मोक्षमार्ग जिज्ञासुर्जिनमामेवंदितुं प्रतस्थे प्रस्थानप्रहतस्रदंगहृतस्रव्यः ॥५१॥
तेनाथो समवसृतिः प्रसन्नभव्यश्रेणीभिः परिक्रिताभितो जिनेंद्रः॥
आसदे सुर्ववीव तार्तारमध्यस्थप्रविमलपूर्णचंद्रलक्षीः ॥५२॥
अजममरममेयं केवलज्ञननेत्रं, चतुरस्रिनकायैः सेवितं प्रांजलीच्यं॥
दिगुणितशमसंपद्धक्तिनम्रोत्तमांगः सकलनरपतीन्द्रम्तं वददे जिनेद्रम्॥ ५३॥

## इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचिरते ित्यमित्रचक्रवितिसंभवो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥

स्वभावतःच नाश पावणारें. याळा कितीही पढार्थ खाण्यास ढिळें तरी न भरणारें, नाना रोगांचे राहण्याचे घर असलेलें, विष्टा, मृत्र, रक्त यांनी भरलेल्या मांट्यासारखें आहे. अशा तन्हेच्या शरीरामध्यें कोणता बिद्धान हें फार हितकर आहे अशी दुद्धि करील वरें ? अर्थात् करणार नाहीं. ५१ याप्रमाणे संसाराच्या स्थितीचा राजाने मनानें विचार केला व प्रयाणाच्या मृदंगांच्या ध्वनीनें सर्व भव्यांना ड्यानें वोला-षिछें आहे असा तो मोक्षमार्गीचें स्वरूप जाणण्याच्या इच्छेने क्षेमंकर जिनेंद्राला वंदन करण्यासाठीं शीघ्र निवाला ५२ यानंतर प्रसन्न अशा भन्य समृहांनीं सर्वे वाज्नें गच भरलेल्या समवसरणांत राजेन्द्रानें प्रदेश केला. ज्याच्या सभोंवती मुकाशमान नक्षत्रें असन जो मध्यभागीं आहे अशा निर्मल पूर्ण चंद्राने आकाश जसें शोभतें तसें सर्व वाज्नें भव्य जीव असून ज्यांच्या मध्यभागीं निमल, आनुद्कारक, अनंत चतुष्ट्य व आष्ट्रमहाप्रातिहार्य रूपी लक्ष्मीला धारण कर्णारे जिनेश बसले आहेत असे तें समवसरण फार शोभू लागलें ५३ दुप्पट झालेल्या मश्म संपत्तीपासून उत्पन्न झालेल्या भक्तीनें ज्याचे मस्तक नम्र झालें आहे अशा राजाधिराज प्रियमित चक्रवतींने चार प्रकारच्या देवांच्या समुदायांनीं सेवनीय व हात जोइन स्तुति करण्यास योग्य, ज्याला पुनर्जन्म व मरण नाहीं व जो अनंत गुणांनीं युक्त असल्यामुळें अमेय आहे, ज्याला केवलज्ञानरूपी डोला आहे अशा त्या जिनेश्वराला नमस्कार केला.

याप्रमाणें असगकाविरचित श्रीवर्द्धमान-चरित्रा मध्यें प्रियमित्र चक्रवर्तींच्या उत्पत्तीच्या वर्णनाचा हा चोटावा सर्ग संपला.



पप्रच्छाथ प्रांजिलिभिक्तिनमः क्षोणीनाथो मोक्षमार्गं जिनेंद्रं ॥ ज्ञात्वा दौस्थ्यं संसृतिरप्रमेथं भव्यः को वा सिद्धये नोत्सहत॥ १॥ सर्वान्सत्वान्भिन्नजातीन्विमुक्तेर्मार्गं भव्यान्वोधयन्नेवम्चे ॥ वाचं वाचामीशिता दिव्यनाद्व्याप्तास्थानं निश्चिताशेषतत्वः॥ ॥ स्यात्सम्यक्तं निर्मलं ज्ञानमेकं सच्चारित्रं चापरं चक्रपाणे !॥ मोक्षस्यतान्येव मार्गः परोऽयं न व्यस्तानि प्राणिनः संमुमुक्षोः॥ ॥ तत्वार्थानां तद्धि सम्यक्त्वमुक्तं श्रद्धानं यन्निश्चयेनावबोधः॥ तेषामेव ज्ञानमेकं यथावत्स्याच्चारित्रं सर्वसंगेष्वसंगः॥ ॥ शि

१ या नंतर श्रीक्षेपंकर जिनेश्वराला प्रियमित्र चक्रवर्तीनें हात जोडून व भक्तीनें नम्र होऊन मोक्षमार्गीचें स्वरूप विचारिलें. बरोवरच आहे कीं, संसारांतील अमर्याद दुःखाचें स्वरूप जाणून कोण भन्य मोक्षमाप्तीसाठीं उत्साहयुक्त होणार नाहीं बरें ? र ज्यानें सर्व तत्वांचें स्वरूप निश्चित रूपानें जाणलें आहे, जो दिन्य ध्वनींचा अधिपति आहे असा तो क्षेपंकर जिनेश्वर देव मनुष्य व पशु या बेगळ्या वेगळ्या जातींच्या सर्व भन्यजीवांना मोक्षमार्ग दाखऊन देणारा असा होत्साता दिन्य ध्वनीनें सर्व समवसरणाला न्याप्त करून पुढें लिहिल्याप्रमार्गे उपदेश कर्क लागला. ३ हे चक्रवर्ती राजा, निर्मल सम्यग्दर्शन, तसेंच पूर्णज्ञान—केवलज्ञान आणि उत्कृष्ट पूर्ण चरित्र हे तीन मिळ्नच मोक्षाचा मार्ग होतो. या शिवाय दुसरा मोक्ष मार्ग नाहीं. तसेंच हे तीन वेगवेगळे ही मोक्ष प्राप्त करून घेणाऱ्या प्राण्यांना मुक्तींचा मार्ग होऊं शक्त नाहींत. ४ जीवादिक

जीवाजीवौ पुण्यपापासवाश्च प्रोक्ताः सावः संवरो निर्जरा च ॥ वंधो मोक्षश्चेति छोके जिनेंद्रैरिन्द्राभ्यच्यः सन्नवैते पदार्थाः ॥५॥ जीवास्तेषु द्विप्रकारेण भिन्नाः संसारस्था निर्वतश्चिति तेषां ॥ स्यात्सामान्यं छक्षणं चोपयोगः सोऽपि द्वष्टाष्टार्धभेदैिर्विभक्तः ॥६॥ संसारस्थास्ते त्वनेकप्रकारा नानायोनिस्थानगत्यादिभेदैः ॥ उक्ता नानादुःखदावे दुरन्ते जन्मारण्येऽनादिकाछं भ्रमन्तः ॥७॥ गत्यक्षाणां स्थानभेदेन देषं सौख्यं दुःखं सर्वछोकत्रयेऽपि ॥ भावरेभिः किर्त्यते वीतरागः प्राप्तोतीति व्यक्तमात्मा जिनेंद्रैः॥८॥ भावाः पंच क्षायिकाद्याद्वयः स्युर्जीवस्थाहुस्तत्विमत्याप्तत्वाः ॥ भदास्तेषां दौ नवाष्टादशापि प्रोक्ताः सैकार्विद्यातिश्च त्रयोऽपि ॥९॥ भदास्तेषां दौ नवाष्टादशापि प्रोक्ताः सैकार्विद्यातिश्च त्रयोऽपि ॥९॥

सात नत्वाषर अद्धा करणे यास सम्यग्दर्शन झणतात. व या साततत्वांचे निश्चयाने ज्ञान करून घेणें हें सम्यग्ज्ञान होय अर्थात् वस्तु ज्ञा आहे तसेच जाणणें यास सम्यन्जान ह्मणतात, पदार्थीचा निश्चय कर्णे ह्मणजे पदार्थ उछट न जाणणें, कमी अधिक न जाणणें, संशयरूप न जाणणें यास सम्यजान ह्मणतात. संपूर्ण परिग्रहापासून विरक्त असणें यास सम्यक्वारित्र ह्मणोंवे. ५ ज्यांची इंद्रपूजा करितात असे सर्वीचे हित करणाऱ्या जिनेम्बरांनीं जीव, अजीव, आस्नव, वंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पाप, व पुण्य असे नड पदार्थ सांगितले आहेत. ६ या सात तत्वामध्यें जीव या तत्व चे संसारी व मुक्त असे दोन भेद आहेत. कर्मसिहत जीवांना संसारी व कर्मरहित जीवांना मुक्त असे म्हणतात. यांचे सामान्य छक्षण उपयोग-ज्ञान व दर्शन हैं आहे. या उपयोगांचे जानोपयोग व दर्शनोपयोग असे दोन भेद आहेत. पुन. ज्ञानोपयोगाचे आठ व दर्शनोपयोगाचे चार भेद आहेत. ७ संसारी जीव योनि, स्थान, गति या अनेक भेदांनीं अनेक प्रकारचे आहेत. अनेक तन्हेचा दु:खरूपी अग्नि ज्यांत पेटलेला आहे व ज्याचा शेवट दु:खदायक आहे अशा जन्मरूपी अरण्यांत हे संसारी जीव अनादिकालापासून भ्रमण करीत आहेत असे परमागमांत सांगितलें आहे. ८ गति, इद्रियें, चौदा जीवसमास व औदायिकादि पांच भाव यांच्या द्वारें या सर्व ठौलोक्यांत हा ससारी जीव सुख व दुःख यांना प्राप्ता होत आहे असे वीतराग जिनेश्वर स्पष्ट सांगतात.

सम्यक्तं स्यात्सच्चिरत्रं स चाद्यो भेदस्ताभ्यां क्षायिकस्यापि सार्द्धं ज्ञानं लाभो दर्शनं भोगवीयौं ज्ञया दानं चोपभोगश्च भेदाः ॥१०॥ अज्ञानानि त्रीणि चत्वारि सद्धिः संज्ञानानि त्रीण्यथो दर्शनानि॥ मिश्रस्योक्ता लब्धयः पंच सार्द्धं ताभ्यां भेदाः संयतास्यतश्च॥११॥ अज्ञानं च त्रीणि लिंगानि लेश्यापद्धं मिथ्यादर्शनासंयतौ च ॥ चत्वारश्च स्युः कषायास्त्वसिद्धोऽप्यष्टार्धेते भव्य! तुर्यस्य भेदाः ॥१२॥ जीवत्वं चाभव्यता भव्यता च प्रोक्ता भेदाः पंचमस्य त्रयोऽि ॥ षष्ठश्चान्यः संनिपातोद्भवः षद्तिंशद्भेदांस्तस्य च प्राहुरार्थाः ॥१३॥ तुल्याः सर्वे निर्वृताः संप्रणीताः सम्यक्त्वाद्येरक्षयेः सद्गुणैस्ते ॥ उत्तीर्याप्ता दुस्तरं ये भवाव्धि त्रेलोक्यां निष्ठितार्थाः प्रतिष्ठां॥१४॥ उत्तीर्याप्ता दुस्तरं ये भवाव्धि त्रेलोक्यां निष्ठितार्थाः प्रतिष्ठां॥१४॥

९ ज्यांनीं तत्वांचा निश्चय केला आहे अशा जिनेश्वरांनीं औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदियिक व पारिणामिक असे पांच भाव हे जीवाचे स्वतत्व आहेत असें सांगितलें आहे. या भावांचे पोटभेद ऋमानें दोन, नऊ, आठरा एक-वीस व तीन आहेत असे सांगितलें आहे. कर्माचा उपशम झाल्यानें जीवाचे जे निर्मल परिणाम होतात त्यास औपशामिक भाव म्हणतात, कर्माचा अत्यंत श्रय झाल्यानें जे भाव होतात ते क्षायिक होत. गहूळ व स्वच्छ अशा मिश्रित पाण्या-प्रमाणें होणाऱ्या भावाला क्षायोपशमिक भाव म्हणावें. कर्मोदयानें उत्पन्न होणारे औदायिक परिणाम होत. ज्यांना कर्मीचा उदय, उपशम, क्षयत्व क्षयोपशम यांची अपेक्षा न लागतां आत्म्यामध्यें अनादिकालापासून असणाऱ्या भावास पारिणामिक भाव म्हणतात. याप्रमाणे यांचे स्वरूप समजावें. १० पहिल्या औपशमिकभावाचे सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित असे दोन भेद आहेत. अनंतानुवंधी कषाय व दर्शन मोहनीय यांचा उपश्रम झाल्यानें औपशामिक सम्यग्दर्शन होतें. चारित्रमोहनीयाचे २१ मेद आहेत.त्यांचा पूर्ण उपशम झाला असतां औपशामिकचारित्र होतें. क्षायिक भावाचे क्षायिक सम्यग्दर्शन,क्षायिक चारित्र,केवलज्ञान. केवलदर्शन,दान,लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य असे नज भेद आहेत. सम्यग्दर्शन, व चारित्र हे दोन भार दर्शनमोहनीय व चरित्र मोहनीय यांचा क्षय झाल्यांने प्रगट होतात. ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणी य या दोन कर्मीचा क्षय झाला ह्मणजे ऋमानें केवलज्ञान व दर्शन हे प्राप्त होतात.

धर्माधर्मी पुद्रलाकाशकालाः सद्भिः प्रोक्ता इत्यजीवास्त्वर्थेते॥ तेषां मध्ये रूपिणः पुद्रलाः स्युः कालं मुक्ता तेऽस्तिकायाः सजीवाः॥१५॥

कर्ता जीवः षट्सु नान्ये प्रदेशैधमीधमीवेकजीवेन तुल्यो ॥ वासंख्येयैः स्यादनंतप्रदेशं लोकालोकव्यापकं व्योम नाम ॥ १६॥ धमीधमी प्राणभृतपुद्गलानां यानस्थानोपष्रहो लोकमात्रो ॥ कालो देधा वर्तनालक्षणश्च स्यादाकाशं चावकाशोपकारि ॥ १७॥ रूपस्पर्शी वर्णगंधौ रसश्च स्थील्यं भेदः सौध्म्यसंस्थानशब्दाः ॥ छायोद्योतावानपश्चान्धकारं वंधोऽप्येते पुद्गलानांगुणाःस्युः॥ १८॥ स्कंधाः प्रोक्ता द्वयाद्यनंतप्रदेशैः संयुक्तास्ते स्यादणुश्चाप्रदेशः ॥ उत्पद्यंते भेदसंघातकाभ्यां स्कंधाः सर्वे जायतेऽणुश्च भेदात्॥ १९॥

वाकीचे उरलेले अर्थात् दान, लाभ,भोग, उपभोग व बीर्य हे भाव अन्तराय कर्माचा क्षय झाला असतां प्राप्त होतात. ११ कुमति, कुश्रुति व विभैगावधि यास अज्ञान ह्मणतात मिथ्यात्वाच्या उद्यासाहित मतिश्रुत व अवधि ज्ञानावरणीय या कर्मांचा क्षयोपश्रुझाळा ह्मणजे हे तीन भाव जीवास लाभतात. मति,श्रुति,अवधि, आणि मनःपर्यय हीं चार जानें त्या त्या ज्ञानावरण कर्माच्या क्षयोपशमाने प्राप्त होतात. चक्षुर्दर्शन, अचुक्षुर्दर्शन आणि अवधिदर्शन ही दर्शनें त्या त्या दर्शनावरण कर्मीचा क्षयोपशम झाल्यानें प्रगट होतात. दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य हे अंतराय कर्मक्षयोपशामानें जीवाला मिळतात. सम्यग्दर्शन हें द्शनमोह कर्माचा क्षयोपशमझाल्यानें व चारित्र चारित्रमोह कर्माचा क्षयो-पशम झाल्यानें प्राप्त होतें. संयतासंयत हें अनंतातुवांधि व अप्रत्याख्यान यांचा क्षय (उदयभावी) उपशम व प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन आणि नोकषाय यांचा उदय या कारणांनीं प्राप्त होतें. १२ अज्ञान-ज्ञान न होणें हें ज्ञानावरणीय कमींद्याने होतें. स्रीलिंग, पुर्छिंग, नपुंसकालिंग ही तीन लिंगें जीवाला स्रीवेट, पुरुषवेद व नपुंसकवेद यांच्या उदयानें होतात. यास भावालिंग हाणतात. अंगोपांग नामकर्माच्या उदयाने जीवाला स्त्रीचा, पुरुषाचा व नपुंसकाचा आकार शरीरामध्ये प्राप्त होतो त्यास द्रव्यिंग ह्मणतात. कृष्ण, नील कापोत, पीत पद्म व या सहा छेज्या होत. कषायांच्या उदयानें मन, वचन व शरीर

चलनवलन होणें हें लेक्यांचें लक्षण आहे. मिथ्यादर्जन, मिथ्यात्वकमिन्या उदयामुळें प्राप्त होतें क्रोध, मान, भाया व लोभ हे चार कपाय त्या त्या
कपायांच्या उदयानें होतात. देवगति, मनुष्यगित, तिर्यचगित. आणि नरकगित
या चार गित त्या त्या नामकर्मोद्यांनं होतात. जसें देवगित देवगित नाम कर्मीद्यांनं, याचप्रमाणें इतर्मसमजाव्यात. असिद्धत्व-सिद्ध न होणें, मोक्ष प्राप्त न होणें. हें
सर्व कर्मांच्या उदयानं होतें. १३ पिरणामिक भावाचें भव्यत्व, अभव्यत्व व
जीवत्व असे तीन भेद आहेत. ज्या शक्तीच्या निमित्तानें आत्म्यामध्यें सम्यग्दर्शन
सम्यग्जान व चरित प्रगट होण्याची योग्यता असते त्यास भव्यत्व ह्मणतात. ज्या
शक्तीच्या निमित्ताने हे गुण प्रगट होण्याची योग्यता नसते त्यास अभव्यत्व
ह्मणतात. जीवत्व-ज्या शक्तीच्या निमित्तानें आत्मा प्राण धारण करितो त्या
शक्तीस जीवत्व ह्मणतात. सहावा सांनिपातिक नांवाचा भाव आहे. त्याचे ३६
भेद आहेत असें सत्पुरुप सांगतात.

१४ सर्व मुक्तजीव सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान वैगरे अविनाशी गुणांनीं समान-च आहेत. हे मुक्तजीव दुस्तर संसार सागरांतून तरून कुतकृत्य झाले व तेलो-क्याच्या अग्रभागावर अर्थात् सिद्धशिलेवर स्थिर झाले आहेत. १५ धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्रल हे पदार्थ अजीव आहेत अर्थात् यांत ज्ञान दर्शन हे गुण नाहींत. या पांच द्रव्यामध्यें पुद्गल हें रूपीद्रव्य आहे. अर्थात स्पर्श, रस, गंध, वर्ण या गुणांनीं तें युक्त आहे. काल द्रव्याला सोडून व जीवासहित हीं चार द्रव्यें अस्ति-काय आहेत. जसे शरीरामध्यें हातपाय वगैरे पुष्कळ अवयव असतात तसे काल वर्जित या पांच द्रव्यामध्यें पुष्कळ प्रदेश आहेत म्हणून यांना काय म्हणतात व अनादिकालापासून अनंत कालापर्यंत हे असतातच म्हणून यांना आस्त म्हणतात. काल हा नुसता आस्त आहे म्हणजे सदोदित राहणारा आहे, परंतु तो बहुप्रदेशी नाहीं. त्याला एकच प्रदेश आहे. हें एक प्रदेशात्मक द्रव्य आहे. यास्तव त्याला काय म्हणतां येत नाहीं. १६ या सहा द्रव्यापैकीं फक्त, जीवच कर्ता आहे अर्थात् तोच पाप व पुण्य करितो आणि त्याचें फल भोगतो. इतर द्रव्यामध्यें तीं अचेतन असल्यामुळें कर्तृत्व नसतें. एकजीव द्रव्याचे जसे असं-ख्यात प्रदेश आहेत तसेंच धर्व अपर्म या द्रव्यांचेंही असंख्यात प्रदेश आहेत. पुद्रल द्रव्याचे संख्यात, असंख्यात व अनंत प्रदेश आहेत. आकाश अनंत प्रदेशांनीं युक्त आहे व लोक आणि अलोक यांमध्यें तें व्यापून राहिलें आहे. १७ धर्म व अधर्म द्रव्य हीं दोन द्रव्यें जीव व पुद्रल यांना गति व स्थिती करण्यास मदत करितात.

कर्मागानि स्वांतवाणीविचेष्टाः प्राणापानौ जीविताजीविते च ॥
सीख्यंदुःखं चापि निर्वर्तयन्ति स्कंधाजन्तोर्मज्जतो जन्मवाद्धौ ।२०।
कायालापस्वांतकर्मेंकयोगो यः सर्वेज्ञेरास्रवः स प्रणोतः ॥
द्वी तस्योक्तो पुण्यपापावहत्वाद्भेदौ स्यातां तो शुभश्राशुभश्र ॥२९॥
उक्तो तस्य द्वावधीशौ कपायैः संयुक्तश्रासंयुतश्रोति जैनैः ॥
आद्यस्यासौ संपरायस्य भर्ता स्यादन्यस्य व्यक्तमीर्यापथाय ॥२०॥
ये कोधाद्यैरिद्रियाण्यव्रतानि ज्ञेया विद्धिः पूर्वभेदाः कियाश्र ॥
चत्वारः स्युः पंच पंच प्रभेदात्तेषां युक्ता पंचिभिर्विश्रतिश्र ॥ २३॥

जसें लंगड्यास काठी चालण्यास मद्त करिते तसे धर्मद्रव्य जीव व पुद्रलासू गमन करण्यास मदत करिते. खुर्ची जशी वसण्याला मदत करिते तसे अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलांस स्थिर होण्यास मदत करितें. ही धर्म व अधर्म द्रव्यें लोकाकाश-प्रमाणे आहेत. अर्थात् जेवढे लोकाकाश आहे तेवढींच हीं द्रव्ये आहेत. कालद्रव्य दोन प्रकारचें - निश्चयकाल व व्यवहार काल अशा प्रकारचे आहे. द्रव्यामध्यें होणाऱ्या नवीन जुन्या वगैरे पर्यायांच्या उत्पत्तीस निश्चय काल मदत करितो. निश्चय कालाशिवाय ह्या पर्यायांची उत्पत्ति होत नाहीं. घटका, तास वगैरे व्यवहारकाल हाय. आकाश द्रव्य हें जीवादिक द्रव्यांना जागा देणारें ,आहे. १८ पुद्रलामध्यें, रूप-रंग, स्पर्श, रस, गंध, स्थूलपणा भेद-तुकडे होणें, पीठ होणें, सूक्ष्मपणा, संरथान-तिकोण, चंतुष्कोण वगैरे आकृति, छाया-सावली, उद्योत चंद्रासारखा पंड मकाग, आतप-उप्ण मकाश, अधार व वंध-दोन पदार्थ एकल मिसळणें हे गुण आहेत. १९ टोन, तीन, चार वगैरे संख्यात, असंख्यात, अनंत पदेशांनी स्कंधयुक्त असतात व अणुमध्यें एकच प्रदेश असतो. या शिवाय याला दुसरा प्रदेश नसतो स्णून यास अपदेशी ह्मणतात. स्कंध भेद व संघात यापासून उत्पन्न होतात. मोटा स्कंध फुटणे यास भेद झणतात. हा स्कंध फुट्टन टोन परमाणु पर्यंत याचे अनेक लहान लहान स्कंध होऊं शकतात दोन आदि प्रमाण एक रूप होंग यास संघान ह्मणतात. अणु हा भेटापासून उत्पन्न होतो अर्थात स्कथ फुट्टन तो छाणुका-च्या अवस्थेपीयत आल्यावर तेही विभक्त झाले असतां अणु वनतो २० या पुद्रल स्कंधापामून ज्ञानावरणादिक आठ कमें, औटारिक, वैक्रियिक वगैरे पांच प्रकारचीं शरीरें, मने, वचन प्रवृत्ति अर्थात् भाषां, श्वासोङ्कांम, जगणे व मरणें, सुख आणि दुःख है प्रकार या जीवाला संसार-सबुद्रांत भाग होनात.

तीव्रातीव्रज्ञातिविज्ञातभावद्रव्योद्रेकैस्ताद्धशेषोऽवगस्यः॥
द्रव्यं विद्यात्साधनं द्विप्रकारं जीवाजीवौ तद्धदन्त्यागमज्ञाः॥२४॥
संरंभाद्यैरिन्वतोऽष्टातिरिकं कोधाद्येश्च स्याच्छतं पूर्वभेदाः॥
सेका पंक्तिर्यः स निर्वतनाद्येर्युक्तो भेदश्चेतरस्य प्रणीतः॥२५॥
स्यानमात्सर्य चांतरायप्रदोषौ निन्दुत्यामा सादनं चोपधातः॥
इत्यात्मज्ञेरास्रवो देहभाजां ज्ञानस्याको दर्शनस्यावृतेश्च॥२६॥

२१ शरीर, भाषण आणि मन यांच्या हारें आत्म्याच्या प्रदेशामध्यें चंचलता उत्पन्न होण यास सर्वज आनव म्हणतात. या आस्रवाचे शुभास्तव व अशुभास्तव असे दोन भेद आहेत. ज्ञुभाम्जवापासून पुण्य कर्म जीवाच्या ठिकाणीं येतें. व अशुभास्त्रवापासून पाप कर्म येते. अशुभ क्रिया, अशुभ भाषण व अशुभ विचार यापासून दुःख देणारे कर्ष आणि याच्याविरुद्ध क्रिया, भाषण व विचार थांनीं मुखदायक कर्म जीवाच्या टिकाणीं येतें. २२ या योगाचे दोन स्वामी आहेत असे गणधरांनीं सांगितलें आहे. एक सकपाय व दुसरा अकषाय. क्रोधादि कषायांनीं युक्त अशा जीवाला सांपगियक आस्त्रव-ससार वाढिविणारे आस्त्रव येतात व कषाय-रहित जीवाला ज्याचे कपाय दवले आहेत किंवा क्षय पावले आहेत अशा जीवाला ईर्यापथ कर्माचे आस्रव येतात अर्थात् या कर्माच्या येण्याने या जीवाला सुख दुःख भोगण्याचा प्रसंग येत नाही. कारण नुसत्या-कपायसहित नसंछल्या परिणामा-पासून कर्मवध फलरहितच उत्पन्न होतो. वाललेल्या भिर्तावर फेंकलेला दगड तेथे न चिकटतां खालीं पडतो त्याप्रमाणें कर्म येतें व जातें. पण फल देत नाहीं. त्या-प्रमाण कपायरहित जीवाला नुसत्या योगार्ने कमीचे आकर्षणच होते पण त्याला स्थिरपणा येत नसल्यामुलें तें फल देत नाहीं. २३ सांपरायिक आस्त्रवाचे क्रोधादिक चार कपाय, पांच इदियें, हिंसादिक पांच अविरति व पंचवीस क्रिया असे भेद आहेत. २४ सांपरायिक आस्त्रवाचे तीव्र परिणाम, मंद परिणाम, जाणून बुजून एखादें कार्य करण, असावधानपणा, अज्ञाना आत्म्याची व देहाची शाक्ति इत्यादिकांनी या सांपरायिक आस्त्रवामध्यें फरक पडते। अर्थात् जें कर्म येतें त्याची कमी जास्ती स्थिति होऊन त्यापासून सुखदुःखादि फलें कमी जास्ती आत्म्याला भोगावीं लागतात. जीव आणि अजीव हीं दोन द्रव्यें या आस्त्रवाचे अधिकरण आहेत, असें आगमांत गणधरादिक मुनीश्वर म्हणतात. २५ जीवाधिकाराचें सरम, समारंभ. दुःखं शोकाकंदने देहभाजां तापो हिंसादेवनं पर्युपेतं ॥ एतान्यात्मान्योभयस्थानि चासद्वेद्यस्याहुः कारणान्यास्रवस्य॥२०॥ कृत्स्ने भूते चानुकंपा व्रताब्धे दानं साधं सानुरागादिना च ॥ योगः श्रांतिः शौचिमत्येवम।दिः सद्वेद्यस्याप्यास्रवस्य प्रभेदाः ॥२८॥ संघो धर्मः केवली च श्रुतं यत्सर्वज्ञोक्तं नािकनश्चाप्यमीपां ॥ सार्वेरुक्तो वर्णवादो यतीन्द्रैहेंतुर्जन्तोईिष्टमोहास्रवस्य ॥ २९॥

आरंभः कृतः, करित अनुमोदन, मनोयोगः वचनयोगः काययोग तसेंच क्रोघः, मान मायाः लोभ या सर्वाचे सामान्य रूपाने १०८ एकर्गे आठ भेट होतात हिंसा वगैरे कार्यामध्यें प्रमत्त वनून प्रयत्न करण संग्भ होय. समाग्भ-हिंसादिक करण्याची इत्यारें, काठ्या वगैरे सामग्री जुळविण व आरंभ- कार्याला सुरुवान कर्णे. कृत-स्वतः करणें, कारित-दुसऱ्याकहन करविणें, अनुमोदन-कोणी करीत असेछ तर त्यास आपला दुजोरा देणें-जसें क्रोधयुक्त होऊन स्वतः शरीगच्या द्वारें हिंसादिक कार्य करण्यामध्ये उत्साहयुक्त होणे हा पहिला भेट. उन्साहयुक्त करणे हा दुसरा भेद व उत्साहयुक्ताला स्वत ची सम्मतिदेण हातिसरा भेद अशा रीतीन गुणाकार रूपानें १०८ भेद होतात. उत्तर भेद पुन: ४३२ चार्कें वत्तीस ही होतात. हे सर्व जीवाधिकारणाचे भेद आहेत. अजीवाधिकरणाचे निर्वर्तना, निक्षेप. संयोग, निसर्ग अशा रीतीनें अकरा प्रकार होतात ( यांचें विशेष स्वरूप तत्वार्थ सूत्रांत पाहावें ) २६ मात्सर्य. अंतराय. प्रदोष. निन्ह्व. आसादन व उपयात अंगा कृत्यांनी आत्म्याळा जानावरण व दर्शनावरण कर्माचे आस्रव आत्म्याचें स्वरूप जाणणाऱ्या केवलींनीं सांगितर्के आहे. मात्सर्य-कांहीं कारणामुळें शिकविण्याचा योग्य देखिल ज्ञान न शिकविणें. अंतराय उच्छेद करणें अर्थात् ज्ञानाची साधनें नाहींशीं करणें. उपवात चांगल्या ज्ञानाछा ह अज्ञानच आहे किंवा हे ज्ञान अयोग्य आहे अर्थ समजून त्याचा नायनाट-क्र्ण्याच्या अभिप्राचाला पटोप हाणतान निन्दव-कांहीं कारणामुळे माझ्याजवळ तें पुस्तक नाहीं. मला तें वस्तुस्वरूप माहीत नाहीं असे माहीत असतांही ह्मणणें वगैरे, पदोष-मोक्षाला साधन असलल्या ज्ञानाची प्रशंसा चालली असतां आपण दुष्टाभिप्रायाने मुशंसान् करणें. आसादन -दुसरा कोणी द्वान प्रसार करीत असल्यास आतांच तुसी हें कार्य करू नका पुढ़ें पाइतां यहूळ वगेरे सांगृन शरीर आणि वचनानें त्यांचा निषेध करणें हीं ज्ञानसंवधीं असल्यास ज्ञानावरणाचे आस्त्रव येतात. दर्श-नासंबंधीं असल्यास दर्शनावर्ण कर्माचे आसव येतात.

तीनः परं यः परिणामभेदो भनेत्कषायोदयतः स नाढं ॥
चारित्रमोहास्रवहेतुरुक्तो जीवस्य जीवादिपदार्थविद्धिः ॥ ३० ॥
उत्पादनं स्वस्य परस्य चार्तः कषायजातं यातिदृषणं वा ॥
संक्विष्टितंगनताधारणादिः कषायनेद्यास्रवंकारणं स्यात् ॥ ३१ ॥
दीनातिहासो नहुविप्रलापः प्रहासशीलत्वसुशन्ति नित्यं ॥
धर्मोपहासादिकमप्युदाराः सुहास्यवद्यास्रवकारणानि ॥ ३२ ॥
कीडासु चित्रासु च तत्परत्वं शिलेष्वरुच्यादिरिप व्रतेषु ॥
उशित संतो रतिवेदनीयास्रवस्य हेतुं तनुभूषणानां ॥ ३३ ॥

्वेदनीय कर्माचे दोन भेद् आहेत एक सातावेदनीय व दुसरा असतावेदनीय ज्या पासून जीवाला संसार। वस्थेंत सुख मिळतें तें सातावेदनीय कर्म होय व ज्या पासून दृःख भिळतें तें असातावेदनीय कर्म होय. असातावेदनीय कर्माचे आस्नव ज्या कारणांनीं आत्म्याच्या ठिकाणीं येतात तीं कारणें अशी:--दुःख-पीडा उत्पन्न करण्याचे विचार नेहमीं करणे, शोक- उपकार करणाऱ्या व्यक्तीच्या वियोगाने मनांत खेद बाटणे. आक्रंदनः—दुःखाने अश्रुपात करणें, रडणें. ताप निंदा, अपनान इत्यादि झाल्यामुळें दु:ख होणें. हिंसा-आयुष्य, पांच इंद्रियें, मनोबल, वचनवल व कायबल आणि श्वासोच्छ्वास यांचा नाश करणें. अर्थात् प्राण्यांच्या किंवा स्वतःच्या या प्राणांचा नाश करणें ही हिंसा होय. परिदेवन संक्केश परिणामांनीं युक्त, गुण स्मरण व त्यांच्या वर्णनानें सहित, ज्याच्यांत उपकारा-चें वर्गन आहे असें दया उत्पन्न करणारें जें रडणें त्यास परिवेदन ह्मणतात. हीं कारणें स्वतःमध्यें, अन्य व्यक्तीमध्यें व दोघांच्याही ठिकाणीं उत्पन्न केली असतां असाता वेदनीय कर्मीचे आस्रव येतात. २८ सपूर्ण प्राण्यावर दया करणें, व्रती लोकावर अर्थात् श्रावक आणि मुनि, आर्यिका व श्राविका या चार संघावर दया करणें, यांना दान देणें तसेंच इतरांना करुणाबुद्धीनें दान देणें, संसाराचीं कारणें जीं मिथ्यादर्शन अविरती वगैरे आहेत त्यांच्यापापून वेगळे होण्याचे उत्कृष्ट परिणाम असणे, प्राण्यांची हिंसा न करणें व इंद्रियें ताव्यांत ठेवणें, श्रावक धर्म चांगल्या रीतीनें पाळणे, मन वचन व शरीराची प्रवृत्ति-क्रिया निर्देष, डेवणें, क्षमा धारण करणें, लोभाचे जितके प्रकार आहेत तितक्यांचा त्याग करणें. रति विनाशनमन्यजनारित प्रकटनादिकम। हुर निंदिताः ॥ अरति वेद्यथना स्वकारणं दुरितशील जनैः सह संगतिं ॥ ३४॥ यो मूकभावो घनमात्मशोकः परस्य शोकश्चिति निंदनादिः ॥ स शोकवेद्यास्वकारणं स्यादित्याहुराक्षे विदितास्विलार्थाः ॥३५॥

वगेरे साता वेदनीय कर्माचीं कारण आहत. अहताची पूजा करणे, तपस्विजनांची सेवा शुश्रुपा करणें वगैरे ही साता वेढनीय कर्माचीं कारणें आहेत. २९ संघ, जिनधर्म, केवली अरहंत, व जैनशास्त्र व देव यांच्या ठिकाणी नसत्या दोपांचें आरोपण करणे यास अवर्णवाद ह्मणतात अर्थात् यांच्या शुद्ध स्वरूपाचें वर्णन न करितां तें सदोप रीतीनें वर्णन केल्यापासून दर्शन मोहनीय कमीचें आस्रव येतात असे सर्वाचे हित करणाऱ्या मुनीश्वरांनीं सांगितले आहे केवली भगवान् आपली भृक मिटावी ह्मणून भोजन करतात. शास्त्रांत मांस खावयास सांगितलें आहे असे हाणणें, संघ हा घाणेरडा व श्रूहासारखा आहे असे हाणणें, जिनधर्मे सदोप असून त्या धर्माचें आचरण करणारे छोक असुर होतीछ वोलणें, देव मांस खातात, टारू पितात वर्गरे ह्मणणें हें ऋमानें केवली वगैरेचे अवर्णवाद आहेत. ३० क्रोध, मान, माया, लोभ या कपायांच्या तीव्र उदयाने जे आत्म्याचे संक्रेशयुक्त परिणाम होतात त्यापासून चारित्र भोहनीय कर्माचे आस्रव जीवाला येतात अने जीवादि पदार्थीचे णारे मुनीश्वर ह्मणतात. ३१ स्वतःला व इतरांनाही दुःख देणें, क्रोधादिक उत्पन्न करणें, मुनींना दोप लावणें, संक्रज परिणामांनी दीक्षा घेणे, त्रतधारण करणें ही चारित्र मोहनीय कर्माचीं कारणें होत. ३२ गरीवांची थट्टा करणें, असंबंद्ध भाषण करणें. नेहमी यट्टा करणें, धर्माचरणाची यट्टा करणें यापासून हास्यकर्माचे आसव येतात असे मुनीश्वर ह्मणतात. ३३ नाना प्रकारच्या क्रीडा करण्यामध्ये तत्पर असर्णे, ब्रतं व शील यामध्ये प्रेम नसर्णे, यापासून रतिवेदनीय कर्माचे आम्रव येतात.

३४ दुसऱ्यांच्या अंतःकरणात द्वेप उत्पन्न करणे; प्रेमाचा नाश-करणें. पाप करण्यांत नहर्मा तत्पर असलेल्या लोकांशीं सोवत करणें ही कृत्यें अग्तिवेदनीय यमांच्या तीव्र असवाला कारण आहेत. ३५ दुस्मा शोक करीत असल्यास त्याचा शोक नाहीमा न करता आपण स्वस्थ वसणें, स्वत. शोक करणें, दुसऱ्या- अथ भयपरिणामः स्वस्य चान्यस्य नित्यं भयविसरविधायी भीति वैद्यास्वस्य ॥

भवति खलु निमित्तं कारणस्यानुरूपं जगति ननु कथंचिदृश्यते कार्यमार्थैः॥ ३६॥

साधिकयाचारिवधौ जुगुप्सा परापवादोद्यतशिलतादिः॥
निमित्तमाहुर्यतयो जुगुप्सावद्यास्रवस्यास्रवदोषहिनाः॥ ३७॥
असत्यवादित्वरतिं च नित्यं परातिसंधानपरत्वमेकं॥
प्रश्रद्धरागादिमपीरयन्ति स्त्रीवेदनीयास्रवहेतुमार्थाः॥ ३८॥
अर्गवता स्तोककषायता च स्वदारसंतोषगुणादिरीशैः॥
सतां परिज्ञातसमस्ततत्वैः पुंवेदनीयास्रवहेतुरुक्तः॥ ३९॥
सदा कषायाधिकता परेषां गुद्धोद्रियाणां व्यपरोपणं च॥
प्राहुः परस्त्रीगमनादिकं च तृतीयवेद्यास्रवहेतुमार्थाः॥ ४०॥

च्या शोकाच्या गोष्टी ऐकण्यांत आनंद मानणें, निंदा करणें हीं सर्व कारणें शोक वेदनीय कर्मांचीं आहेत असें सर्व तत्वांना जाणणारे विद्वान झणतात ३६ स्वतःचे परिणाम नेहमीं भययुक्त असणें, दुसऱ्याला नेहमीं भय दाखिवणें या कारणांनीं भय उत्पन्न करणारें भीति वेदनीय कर्म उत्पन्न होतें. या जगांत कारणाला अनुसक्त योग्य असेंच कार्य कथांचित् असूं शकतें असें विद्वान ऋषि झणतात. ३७ मुनींच्या धार्मिक क्रियामध्यें तिटकारा असणें, दुसऱ्याची निंदा करण्यांत, त्याला अतिशय तुच्छ लेखण्यांत नेहमीं तत्पर असणें या गोष्टी आसवाच्या दोषापासून अलिस असलेले मुनीन्थर जुगुप्सा वेदनीय कर्मास्त्रवास कारण आहेत असें झणतात ३८ नेहमीं असत्य बोलण्यांत प्रेम असणें, नेहमीं दुसऱ्यांना फसविण्यांत तल्लीन असणें, रागहे-षादि विकार वाढत्या प्रमाणांत असणें. हीं सर्व कारणें स्त्रीवेदनीय कर्माच्या आल-वाला कारण आहेत असें आर्य-श्रेष्ठ लोक म्हणतात. ३९ गर्व न करणें, कपाय मंद असणें, स्वस्त्रीमध्यें संतोष ठेवणें, यांनीं पुरुष वेदनीय कर्माचे आसव येतात असें सर्व तत्व जाणणारे व सत्पुरुषांचे पुढारी असलेले श्रीजिनेन्थर म्हणतात. ४० नेहमीं कपाय अधिक असणें, दुसऱ्यांचीं गुहोंद्रियं कापून काढणें, परस्तीगमन करणें, दुसऱ्याची स्त्री उपटून आणणें वगैरे नपुंसक वेदनीयाची कारणें आहेत.

वहारंभपरिग्रहत्वमसमं हिंसाक्रियोत्पादनं ॥ रौद्रध्यानमृतिः परस्वहरणं कृष्णा च लेख्या परा ॥ गार्थक्यं विषयेषु तीव्रमुदितः स्यान्नारकस्यायुषः ॥ सार्वेरास्रवहेतुरित्यविकलज्ञानेक्षणेः प्राणिनां ॥ ४१ ॥ मायाथास्रवहेतुरित्यभिहिता तिर्थग्गतेरायुपस्तद्धेदाः परवंचनाय पद्धता निःशीलता केवलं ॥

मिथ्यात्वाहितधर्मदेशनरतिध्यानं तथातं मृतौ लेश्ये दे विदुषां वरै-स्तनुमतां नीला च कापोतकी ॥ ४२ ॥

अल्पारंभपरित्रहत्वमुदितं मर्त्यायुषः कारणं।। तद्व्यासोऽल्पकषायता च मरणे संक्लेशतादिः परं॥ भद्रत्वं प्रगुणाकियाव्यवहातिः स्वाभाविकः प्रश्रयः॥ स्यादन्यापि परा स्वभावमृदुता शीलव्रतेरुव्नता॥ ४३॥

असं आर्य म्हणतात. ४१ ज्यामध्यें पुष्कळ हिंसा होते अशी शेतकी, उद्योग धंदे, युद्ध वंगेरे क्टरें करणें, परिग्रह अतिशय वाढविणें, हिंसेचीं कामें करविणें रोंद्रध्यानानें मरण पावणें, दुसऱ्याचें धन हरण करणें, उत्कृष्ट कृष्णलेक्या असणें, पचेंद्रियांच्या विषयामध्ये अतिशय हाव असणें हीं प्राण्यांना नरकायूच्या आस्रवाची कारणें आहेत असें निर्मल ज्ञानरूपी नेत्रांनीं युक्त असलेले व सर्वीचें हित करणारें केवली भगवान ह्मणतात. ४२ कपट करणें हें तिर्धचाच्या आयुष्याचें कारण आहे. याचप्रमाणें दुसऱ्यास कसविण्यांत प्रवीण असणें, व्रतें व शील न पालणें, पिथ्यात्वानें युक्त अशा धर्माचा उपदेश देण्यांत प्रेम ठेवणे, आर्तध्यानांत मरण पावणें; नील लेक्या व कापोत लेक्यांनीं मरण पावणें ही प्राण्यांना तिर्धगतीच्या आस्रवाला कारण आहेत असें विद्वच्लेष्ट आचार्यादिक मुनि ह्मणतात.

४२ ज्यामध्यें हिंसा घडते अशीं शेतकीं वगैरे कामें थोडक्या ममाणांत करणें, परिग्रह थोडा ठेवणें हें मनुष्यायुष्याचें कारण आहे. याचाच विस्तार असा कषाय मंद असणें, मरणसमयीं संक्षेत्र परिणाम नसणें अथीत् शांतता ठेवणें, भला स्वभाव असणें किंवा रवतः मिध्यात्वी असूनही जिनधमीचा द्वेष नकरणें, लोकांशीं निष्कपट व्यवहार ठेवणें, स्वाभाविक विनय गुण असणें, शील व व्रतांनीं वदंति दैवस्य सरागसंयमं सुसंयमासंयममायुषो बुधाः॥
तपश्च बालं व्वनभीष्टिनिर्जरां परं च सम्यक्त्वसुदारकारणं॥ ४४॥
निगदन्त्यथ योगवक्रभ्यं प्रतिसंवादनमास्रवस्य नाम्नः॥
अशुभस्य निमित्तमागमज्ञाः शुभनाम्नः खलु तद्विपर्ययश्च॥ ४५॥
सम्यक्त्वशुद्धिर्विनयाधिकत्वं शीलव्रतेष्वव्यभिचारचर्या॥
ज्ञानोपयोगः सततं च शक्त्या त्यागस्तपस्या च परा निकामं॥ ४६॥
संवेगता साधुसमाधिवैयाद्यत्तिक्रियाभ्युद्यतिरादरेण॥
जिनागमाचार्यवहुश्रुतेषु भक्तिश्च वात्सल्यमि श्रुते च॥ ४७॥
आवश्यकाहानिरुशन्ति मार्गप्रभावना च प्रकटा नितान्तं॥
एतानि चात्यद्भुततीर्थकृत्वनामास्रवस्येति निमित्तमार्याः॥ ४८॥

उन्नत असणें हीं मनुष्यायुष्यांचीं कारणें होत. ४४ संसाराला वाढविणाऱ्या मिथ्यात्व, अविरति, कषाय वगैरे कारणांना दूर करण्याच्या उत्कट भावनेने प्राणि संयम व इाद्रीयसंयम पाळणें, श्रात्रकांचीं बारा त्रतें पाळणें, वाछतप-ामिध्यादर्शनानें सहित व कायक्केशयुक्त असें तप करणें व अकामनिर्जरा-आपली इच्छा नसतांही आपणावर संकट आले असतां त्या प्रसंगीं शांत परिणाम ठेऊन भूक तहान वरेंगरे दुःखें सहन करणें हीं देवायूचीं कारणें होत. यामध्यें सम्यक्त्व व सराग संयम आणि संयमासंयम हे स्वर्गातील देवत्व प्राप्त करून देणाऱ्या देवा यूला कारण होत व अकाम निर्जरा, बाल तप वगैरे भवनवासी, व्यंतर आणि ज्योतिषवासी या देवामध्यें उत्पन्न करणाऱ्या आयुष्याचीं कारणें होत ४५ मन वचन व शरीराची प्रवृत्ति नेहमीं कपट रूपाची ठेवणें व एखादा प्राणी स्वर्गमोक्षास कारण अशा सत्य आचरणाने वागत असल्यास त्याला त्यापासून भ्रष्ट करून अयोग्य आचरणास सत्य आचरण आहे असे भासऊन त्यामध्ये प्रवृत्त करणें यास विसंवादन ह्मणतात. अशा कारणांनीं अशुभनाम कर्माचे आस्रव येतात व या कारणाच्या उलट प्रद्वात्त ठेवण्याने शुभनाम कर्माचे आस्त्रव येतात. असें शास्त्रज्ञ ह्मणतात. ४६-४८ सम्यग्दर्शन दोषरहित करून धारण करणें, रत्नज्ञय व त्यांचे धारक यांचा आदरसत्कार करणें, शिंछ व त्रतें हीं निरतीचार पाळणें, नेहमीं ज्ञानाध्ययनांत रत होणें, यथा

शून्याश्रयोद्धस पुरावसातिप्रवेशावन्योपरोधकरणं परसाक्षिहेतोः भिक्षात्रशुद्धिस व्धर्मचरानुवादावेते च चौरिकमहाव्रतपंचदोपाः।५७। स्त्रीरागादिकथाश्रुतेर्विरमणं तच्चारुतालोकन्—

त्यागः पूर्वरतो स्मवस्मृतिपरित्यागौ विदासुत्तमैः॥ वृष्येष्टादिरसस्य वर्जनमपि स्वांगप्रमोदिक्रियाः॥

प्रायः पंच च भावना निगदिता ब्रह्मवतस्य स्फुटस् ॥ ५८ ॥

मनोहरेष्वप्यमनोहरेषु सर्वेद्रियाणां विषयेषु पंचसु ॥

सुरागविद्रेषवि वर्जनं सतामिकंचनत्वस्य च पंच भावनाः ॥ ५९॥ हिंसादिषु स्फुटमिहैवपरत्र चापायावद्यद्शीनमनन्यिया निकामं ॥ संसारवासचिकतेन सुभावनीयमंतर्धनं शमवतामिदमेव सारं॥६०॥

पाहण्याचें सोडणें, पूर्वी भोगलेल्या संभोगादि सुखांच्या आठवणी न करणें, कामोत्तेनक व आवडत्या अशा पढार्थीचा त्याग करणें, आपलें शरीर सन्नविण्याचा त्याग करणें, अशा पांच भावना विद्वच्लेष्टांनी ब्रह्मचर्यव्रताच्या सांगितल्या आहेत. ६० पांच इंद्रियांना आवडणाच्या व नावडणाच्या अशा वस्तूमध्यें प्रेम व देष न करणें या पांच भावना सत्पुरुषांच्या परिग्रहत्याग व्रतांच्या आहेत. ६० हिंसादिक पांच पापं केल्यापासून इहलोकीं व परलोकीं राजादिकापासून दह भोगावा लागती व पापवंघही होतो असें स्पष्ट जाणून एकाग्रवुद्धियुक्त व संसारांत फिरण्यापासून भय पावलेल्या पाण्यांनीं या भावनांचें चिंतन करावें. तपस्वी अर्थात् शांति-प्रयान माणसांचें हें अंतरग उत्क्रष्ट धन आहे.

६१ संपूर्ण प्राणिमात्रांना दु.ख होऊं नये अशा इच्छेला मैत्री म्हणतात. आपल्यापेक्षां गुणांनीं अधिक असलेल्या लोकांविपयीं मनांत आनंद व आदर मानणें यास प्रमोद म्हणतात. रोगपीडित व दु.खी लोकाविषयी दयाभाव वालगणें व उद्धट अशा मिध्याद्दाष्टिविपयीं नेहमीं उपेक्षा भाव वालगणें. ह्या चार सामान्य भावना व्रतपालनास योग्य आहेत. व्रतधारकांनीं यांचा विचार करावा. ६२ संसा-रापासून भीति व वराग्य उत्पन्न व्हावें या साठीं जास्त्रांत सांगितल्याप्रमाणें जरी-राचा स्वभाव व जगाची स्थिति नेहभीं आर्य पुरुषांनीं विचारांत घ्यावी. आतां मी वंधाचें स्वरूप संक्षेपानें सांगतों. ६३ मिध्यात्वपारिणाम, अविरति, प्रमाद, कपाय

सर्वेषु सत्वेषु च भावनीया मैत्री प्रमोदश्च गुणाधिकेषु ॥
कारुण्यमार्तेषु च दुः खितेषु सदाऽविनेयेषु पराभ्यपेक्षा ॥ ६१ ॥
कायस्वभावो जगतः स्थितिश्च संवगवराग्यनिमित्तमार्थैः ॥
संचितनीयं सततं यथावत्समासतो बंधमुदाहारिष्ये ॥ ६२ ॥
मिथ्यात्वभावाविरतिप्रमादाः कषाययोगाः खळु हेतवः स्युः ॥
बंधस्य मिथ्यात्वमपि प्रतीतं प्रचक्षते सप्तविधं मुनींद्राः ॥ ६३ ॥
पिंद्रियाणां विषयप्रभदान्नरेद्र ! षद्धायिकिल्पतश्च ॥
दिषाङ्घेषां चाविरतिं प्रतीहि तामेव चासंयममित्युशन्ति ॥ ६४ ॥
शुद्धयष्टकस्यांगमविद्धिरुत्तमक्षमादिकानां विषयप्रभेदतः ॥
सद्धिः प्रमादा नरनाथ ! कीर्तितास्त्वनेकभेदा इति जनशासने६५

व योग हीं बंधाचीं कारणें आहेत. मुनीश्वरांनीं या मिथ्यात्वाचे सात भेद सांगि-तले आहेत ते असे: — जीव वगैरे पदार्थ सर्वथा अनित्य किंवा नित्यच समजणें यास एकान्त मिध्यात्व ह्मणतातः जिनेश्वरांनीं सांगितलेलीं जीव, अजीव, आस्रव वंगेरे सात तत्वें खरीं आहेत किंवा खोटीं आहेत अशा संशयाला सांश-यिक मिथ्यात्व ह्मणतात. सर्व देव, सर्व शास्त्रें व सर्व धर्म हे समानच आहेत अशा श्रद्धेला वैनियक मिथ्यात्व ह्मणतात. कुहेतु व कुद्दष्टांतांनीं ज्यांचें मन घेरछें आहे असा प्राणी तत्व-खरें वस्तु स्वरूप समजत नाहीं. आग्रही बनतो याला दरीन मिथ्यात्व ह्मणावें. खऱ्याला खोटें मानणें, खोटें तें खेर असें समजणें हें विपरीत मिथ्यात्व होय जन्मांध जसा चांगळें वाइट कोणतेंच रूप जाणत नाहीं तसें ज्याला तत्व अतत्व कांहींच समजत नाहीं त्याला निसर्ग मिथ्यात्वी ह्मणतात. हिंसा करण्यांत धर्म समजणें, परिग्रह युक्ताला गुरु समजणें व रागादिक विकारांनीं युक्त अशा कुदेवाला देव समजणें हें अज्ञान मिथ्यात्व होय. ६४ सहा इंद्रियांचें निरिनराळे विषय व पृथ्वी, हवा, पाणी, अग्नि आणि वनस्पति व त्रसजीव असे षट्टाय जीव याविषयीं अविरति असेंग ह्मणेज इंद्रियांच्या विषयापासून विरक्त न होणें व षट्काय जीवांचें रक्षण न करणें याप्रकारें अविरतीचे वारा भेद आहेत. या अविरतीसच् विद्वान असंयम असेंही ह्मणतात. ६५ भाव शुद्धि-परिणाम निर्मळ असों, कायशुद्धि-शरीरानें सावधानपूर्वक धर्म किया करणें.रत्नत्नय धारकांचा यथा-

कषायमेदानथ पंचित्रं शिंत वदिन्त संतः सह नौकषायकैः॥
दशित्रिभियोगिविकल्पमेकतः परं च विद्याह्य पंचिभिर्युतम्॥६६॥
एते पंच हि हेतवः समुदिता वंधस्य मिध्यादृशो
मिध्यात्वेन विना त एव गदिताः शेषास्त्रयाणामिष ॥
मिश्रा चाविरितश्च देशविरतस्यान्ये विरत्या विना
पष्ठस्य त्रय एव केवल्लिमिति श्रोज्ञैः प्रमादादयः॥ ६०॥
द्रावन्यो क्रमतः प्रमादरितावुक्तौ चतुर्णा पुनः
शांतश्चीणकषाययोरिष जिनस्यकः सयोगस्य च॥
योगो योगविवर्जितो जिनपतिर्निर्मुक्तवंधत्रयो
वंधो योगनिमिक्तको हि विगमे तेषां कथं जायते॥ ६८॥

योग्य विनय करणें ती विनयशुद्धि होय. ईर्यापथ शुद्धि कोणत्याही जीवांना त्रास होणार नाहीं अशा रीतीनें गमन करणें. मुनींनी आहार कसा घ्यावा यावहळ जे

आचारशास्त्रांत नियम सांगितले आहेत त्याप्रमाणें वागणें यास भिक्षाशुद्धि सणतात. प्रतिष्ठापनशुद्धि—मलमूच टाकणें, एकाटा पदार्थ ठेवणें किंवा उचलन घेणें या गोष्टी कारितांना प्राण्यांना वाथा पोहोंचणार नाहीं अशी खवरदारीं घेणें,स्त्री, पशु, पार्ण लोक जेथे राहतात अशा स्थानीं न राहतां यांनीं रहित अशा ठिकाणीं निजणें, वसणें वंगरे क्रिया करणें यास शयनासन शुद्धि ह्मणतात आरंभ परिग्रह ज्यांने वाढेल असें भाषण न वोलतां त्रतादिकांची वाढ होईल असें भाषण चोलणें ती वाक्यशुद्धि होय. या आठ शुद्धि पालण्यामध्यें उत्साह नसणें यास प्रमाद ह्मणतात. तसेंच उत्तम क्षमादिक दहा धर्माचें पालन करण्यांत उत्साह नसणें यास प्रमाद ह्मणतात. त्यांचें पालन करण्यांत उत्साह नसणें यास ही प्रमाद ह्मणतात. या रीतीनें सत्युरुपांनीं प्रमादाचे अनेक भेद—जैन शास्त्रांत सांगितले आहेत. ६६ आत्म्याच्या जानादिक गुणांचा नाश करणाच्यास कषाय ह्मणतात. त्यांचे पंचवीस भेद आहेत ते याप्रमाणें: -अनतानुवंधी क्रोध, मान, माया, लोभ अपत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ व संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ हे सेाळा भेद य नऊ नोकषाय हास्य, रित, अरित, शांक,

भय, जुगुप्सा, खींवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद याप्रमाणें पंचवीस कषाय आहेत.

नितरां सकपायसूयतः खलु जीवो नृप! कर्मणः क्षमान्॥
परमावहतीति पुद्गलान्स तु वंधः परिकीर्तितो जिनेः॥६९॥
प्रकृतिः स्थितिरप्युदारवोधरनुभागश्च समासतः प्रदेशः॥
इति ति इधयः प्रकीर्तिता यस्तनुमाञ्जन्मवनेषु बंभ्रमीति॥७०॥
द्रौ योगहेतू प्रकृतिप्रदेशौ बंधौ भवेतां तनुभृद्गणानां॥
सदा परौ द्रौ च क्षायहेतू स्थितिश्च राजन्ननुभागबंधः॥७१॥
ज्ञानावृर्वृतिष्टिवृतिश्च वेद्यं मोहायुषी नाम च नामतोऽमी॥
गोत्रांतरायाविति सम्यगष्टावाद्यस्यं वंधस्य भवंति भदाः॥७६॥
प्रोक्तास्तु पंच नव च कमतस्तथा द्रौ षड्भिर्युता मुनिवृषेरथ विंशा
तिश्च॥
द्रौ द्याहतौ नृवर! सप्तयुता च षष्टिद्रौ चोत्तरप्रकृतिवंधविधाश्च
पंच॥७३॥

शरीर नामकर्ष आणि अंगोपांग नामकर्माच्या उदयानें व मनोवर्गणा, वचनवर्गणा आणि कायवर्गणा याँच्या आश्रयानें कर्म नोकर्माना ग्रहण करणाऱ्या जीवाच्या विशिष्ट शक्तीला भावयोग म्हणतात व या भावयोगाच्या निमित्तानें आत्मप्रदेश चंचल होणें यास द्रव्ययोग म्हणतात. या योगांचे तेरा व पंधरा असे भेद आहेत. ते याप्रमाणें:-मनोयोगाचे सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग आणि अनुभय मनोयोग. वचनयोगाचे सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचर्नयोग व अनुभयवचनयोग. काययोगाचे औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रयोग, वैकि-थिक काययोग व वैक्रियिक मिश्रयोग, व कर्माणयोग या रीतीनें योगाचे तेरा भेद होतात. यामध्यें आहारकाययोग व आहारक मिश्रयोग हे दोन मिसळले असतां पंधरा भेद होतात. ६७ पिथ्यात्व, आवराति, प्रमाद, कपाय व योग या मिथ्यादृष्टि जीवाला-पहिल्या कारणांनीं ्रपांच असलेल्या प्राण्याला कर्माचा बंध होतो. सासादन, व मिश्र आणि अविरत सम्य-ग्दृष्टी या तीन गुणस्थानांत असणाऱ्या जीवांना मिथ्यात्वाशिवाय वाकीच्या का-रणांनीं कर्मबंध होत असतो. देशविराति नांवाच्या पांचव्या गुणस्थानामध्यें अ-विरित मिश्ररूपाची असते अर्थात् या गुणरथानांतला जीव पापांचा कांहीं अंशानें त्याग करूं शकतो. जसें रथावर जीवांची हिंसा त्याच्या हातून घडत असत

आद्यानां तिसृणां परा स्थितिरथो त्रिंशत्समुद्रोपमा ॥
कोटीकोट्य इति ब्रुवन्ति सुधियो धीरांतरायस्य च ॥
मोहाख्यस्य च सप्तिर्द्रिगुणिता पंक्तिश्च नाम्नस्तथा ॥
गोत्रस्य त्रिभिरायुषोऽपि सहितास्त्रिशत्समुद्रोपमाः ॥७४॥
दिषण्मुदूर्ता ह्यपरा स्थितिःस्याद्धेद्यस्य चाष्टावपि नामगोत्रयोः ॥
अथेतरेषां कथिता च राजन्नंतर्प्रदूर्तेति समस्तवेदिभिः ॥ ७५ ॥
भावेरथानंतगुणं समस्तैःस दानकाले रसमात्महेतोः ॥
स्थानैः समुत्पादयति स्वयोग्यैः कर्भप्रदेशेष्विखलेषु जीवः ॥७६॥
एकदित्रिचतुर्भिरेव विहितो वंघोऽनुभागोंऽगिनां ॥
घातीनां सकलाववोधनयनैः स्थानैश्चतुर्णां जिनैः ॥ ७७ ॥

ह्मणून तो आविरत आहे व त्रसजीवांची हिंसा तो करीत नाहीं ह्मणून विरत आहे. यास्तव त्यास विरताविरत अथवा मिश्र असे ह्मणावयास हरकत नाही. सहाव्या प्रमत्त संयत गुणस्थानांत मिथ्यात्व व आविराति ही दोन कारणें नाहींशीं होतात स्मणून तेथें तीन कारणांनींच कर्मवंध होतो. प्रमाद, कषाय व योग या का-रणांनींच या गुणस्थानांत वंध होतो. ६८ अपमत्त संयत, अपूर्वकरण, अनिष्टति-व सूक्ष्मसांपराय या चार गुणस्थानांत कषाय व योगापासूनच वंध होतो. उपशांत मोह, क्षीणमोह, सयोग केवली या तीन गुणस्थानांत फक्त योगा-पासून बंध होतो. येथें कषायाचा अभाव झालेला असतो. अयोग केवली या गुणस्थानांत योगही नसतो. यामुळें या गुणस्थानांतील जिनेश्वर अयोग केवली असें हाटलें जातात. अविरित, प्रमाद, कपाय हे तीन नष्ट झाले तरी योगान कर्म वंध होतो. परंतु तो ही नष्ट झाल्यावर बंध कसा होईछ १ मुळींच होणार नाहीं ६९ हा आत्मा कषाययुक्त झाला स्मणजे कर्मरूप वनण्याला योग्य अशा पुद्रल वर्गणांचें ग्रहण करीत असतो. हे राजा! अशा त्याच्या कृत्याला जिनश्वरांनीं वंध हें नांव दिछें आहे. आतम्याच्या मदेशामध्यें कमीचे प्रदेश दृध व पाण्याप्रमाणें एकमेकांत पूर्ण गिसळ्न जाणें यास वंध ह्मणतात. ७० ज्यांचें ज्ञान मोठें आहे अशा केवल ज्ञान्यांनीं प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश असे वंधांचे चार भेद सांगितले आहेत. या चार प्रकारच्या वंधांनीं हा आत्मा संसारक्ष्मी जंगलामध्यें वारंवार भटकत आहे. सुखदुःख वगैरे देण्याच्या कर्माच्या स्वभावाला प्रकृतिवंध हाणतात. आत्म्यामध्ये

राजन्! बित्रिचतुर्भिरेकसमये स्वप्रत्ययेनाहृतः शेषाणां च भवेच्छुभाशुकलप्राप्तेः परः कारणं॥ ७८॥ ज्ञानेक्षणावरणदेशवृतिश्च यांति विप्तृनेवेदसहिताश्चरमाः कषायाः स्थानश्चतुर्भिरिति सप्तद्शित्राभिश्च सप्तोत्तरं शतमुपैत्यनुभागवंधः ७९ नामप्रत्ययसंयुता इति जिनैः प्रोक्ताः समं सर्वतो योगानां सुविशेषतः समुद्धितः सूक्ष्माः स्थिताः पुद्गलाः॥ एकक्षेत्रमनुप्रविश्य सकलेष्वात्मप्रदेशेषु येऽ॥ नंतानंतवनप्रदेशसहिताः कर्मत्वमायांति ते॥ ८०॥ सद्देदनीयं शुभयुक्तमायुःसन्नामगोत्रे च वदन्ति पुण्यं॥ जिनैस्ततोऽन्यत्वलु पापमुक्तं सत्संवरं व्यक्तमथाभिधास्ये॥ ८१॥

कर्म टिक्र्न राहणे हा स्थितिवंध होय. कर्माच्या अणूंच्या संख्येला प्रदेशवंध ह्राणतात. १ व कर्मा पास्न सुखदुः खादिकांचा अनुभव मिल्रणं यास अनुभाग वंध म्हणतात. १ या चार वंधापैकीं सर्व प्राण्यांना योगापासून प्रकृतिवंध व प्रदेशवंध हे होत असतात. या चार वंधापैकीं सर्व प्राण्यांना योगापासून प्रकृतिवंध व प्रदेशवंध हे होत असतात. हे राजा! कपायापासून स्थितिवंध आणि अनुभागवंध होतो. याप्रमाणें वंध आहे. ७२ हे राजा! कपायापासून स्थितिवंध आणि अनुभागवंध होतो. याप्रमाणें वंध आहे. ७२ यापैकीं प्रकृतिवंधाचे ज्ञानावरणादिक आठ भेद आहेत. ज्ञान न होऊं देणारें जें यापैकीं प्रकृतिवंधाचे ज्ञानावरणीय, सामान्य पदार्थीचे रवरूपही ज्यानें समजत नाहीं तें दर्शना-कर्म तें ज्ञानावरणीय, सामान्य पदार्थीचे रवरूपही ज्यानें समजत नाहीं तें दर्शना-कर्म तें ज्ञानावरणीय, हिताहित जाणूनही त्यामध्ये प्रवृत्ति न करू देणारें तें वेदनीयकर्म, करणारें तें मोहनीय कर्म, सुखदुःखाचा भास उत्पन्न करणारें तें वेदनीयकर्म, एकाच शरीरामध्यें कांहीं काल्पर्यत कोंडून ठेवणारें तें आयुक्त, प्रकाच शरीरामध्यें कांहीं काल्पर्यत कोंडून ठेवणारें तें नामकर्म, नानाप्रकारच्या श्रगराची प्राप्ति करून देणारें तें नामकर्म, जीवाला उच्चावस्था व नीचावस्था प्राप्त करून देणारे जें कर्म त्यास गोल हाण-

जीवाला उच्चावस्था व नीचावस्था प्राप्त करून देणारे जें कर्म त्यास गोत ह्मण-तात व दान, लाभ, भोग, उपभोग आणि वीर्य यामध्य विध्न आणणाऱ्या कर्माला अतराय कर्म ह्मणतात. असे हे प्रकृतिबंधाचे आठ भेद आहेत. ७३ कर्माला अतराय कर्म ह्मणतात. असे हे प्रकृतिबंधाचे तोन, मोहनीय कर्माचे ज्ञानावरणीयाचे पांच, दर्शनावरणीयाचे नउ, वेदनीयाचे दोन, मोहनीय कर्माचे अष्ठाविस, आयु कर्माचे चार, नाम कर्माचे सदुसष्ट, गोत्तकर्माचे दोन व अंतराय अर्घाविस, आयु कर्माचे चार, नाम कर्माचे सदुसष्ट, गोत्तकर्माचे दोन व अंतराय कर्माचे पाच याप्रमाणे प्रकृति बंधाचे हे उत्तरभेद मुनीश्वर, नीं वार्णले आहेत असे समजावें. ७४ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व मोहनीय या तीन कर्माचा जिनैनिरोधः परमासवाणामुदाहतः संवर इत्यमोधैः ॥
स द्रव्यभावदितयेन भिन्नः स्याद्विप्रकारो मुनिभिः प्रशस्यः ॥ ८२ ॥
मुनिश्वरैः संसृतिकारणिकयानिय्विरुक्तः खळु भावसंत्ररः ॥
स तिन्नरोधे सित कर्मपुद्गळग्रहेकविच्छित्तिरपीतरो मतः ॥ ८३ ॥
गुप्यन्वितः समितिधर्म निरंतरानुप्रेक्षापरीप हज्यैः कथितर्ख्वारेत्रैः ॥
व्यकं जिनैः स खळु संवर एप सारः स्याभिर्जराथ तपसेति च
विश्वविद्धिः॥ ८४ ॥

सम्यग्योगविनिग्रहो निगदितो छिप्तिस्त्रिवासौ इधैः॥ वाग्गुप्तिः खळु कायग्रुप्तिरनघा ग्रिप्तस्तथा चेतसः॥

उत्कृप्ट स्थिनिवंघ तीस कोटी सागरोपम वर्षाची आहे. अंतरायकर्षाचा ही एव-दाच स्थितिवंघ आहे. घोद्दनीय कर्माची स्थिति सत्तर कोटिकोटि सागरोपमवर्षे आहे. नाम व गोत्र या कर्मीची उत्कृष्ट स्थिति वीस कोटि सागरोपम वर्पाची आहे व आयुक्रमांची उत्कृष्ट स्थिति फक्त तेहतीस सागरीपमवर्षाची आहे. ७५ वेटनीय कर्माची जघन्य रियति वारा भुहूर्त आहे. व नाम आणि गोत्र या कर्माची आठ मुहर्त आहे. यागिवाय वाकीच्या कर्मीची अंतर्मुहर्त आहे. असे केवलहान्यांनी सां-गितलें आहे. ७६ जीव कर्मग्रहण करतेवेळीं आपल्या योग्य अशा स्थानांच्या द्वारें संपूर्ण कर्मपटेशामध्ये आत्मानीमेत्तक सर्व परिणामांनी अनंत प्रकारच्या कर्मरसाला-सुखदु खरूपी रसाला उत्पन्न करितो यासच अनुभाग वंघ ह्मणतात. ७७-७८ या दोन श्लोकांचा अर्थ समजत नाहीं ७९ ज्ञानावरणादिक कर्माना वनविण्याग कारण असलेले सूक्ष्म पुद्रलपरमाणु आत्म्याच्या ठिकाणीं मन, वचन, काय या तीन प्रकारच्या विशिष्ट योगांनीं येत असतात. हे सूक्ष्म कर्मपरमाणु येऊन आन्ध्याच्या संपूर्ण प्रदेशांत एकक्षेत्रावगाह होऊन राहनात अर्थात् आत्म्याच्या भदेशाशीं यांची एकरूपता होते. हे कर्म प्रदेश प्रतिगमयी अनंतानंत. येतान यालां भिनन्दर्गनीं प्रदेशवय हाटलें आहे. ८० सातावेटनीय. देवायु, मनुष्यायु व तिर्यचायु, नीर्थकरन्व, यशस्कीनी वैगरे वेचाळीस नामकर्म प्रकृति, व उचगात्र या क्रमेंप्रकृतींना पुण्यपकृति ह्मणनान. या शिवाय वाकीच्या कर्मपकृति पापरूप अहिन अमें आजिनेत्रगंनीं मागितलें आहे. आनां मी उत्तम अर्थान् आत्याकहन

ईर्यायाः समितिः परा च वचसाप्यादानिनेक्षेपयोः ॥
उत्सगस्य च पंचमी च समितिः स्यादेपणाया विधिः ॥ ८५ ॥
क्षांतिः सत्योक्तिर्मार्दवं चार्जवं च श्रयः शौचं संयमः सत्तपश्च ॥
त्यागाकिंचन्यत्रह्मचर्याणि धर्मः प्रोक्तो विद्धिः स्यादशैतानि लोके८६
उशंत्यकालुष्यमथो तितिक्षां सदाप्यमित्रादिषु बाधकेषु ॥
सत्सु प्रशस्तेषु च साधुवाक्यं सत्यं यथाज्ञास्थितिसंयुतं वा॥८७॥
वदंति जात्यादिमदाभिमानप्रहीणतां मार्दवमार्जवं च ॥
अवक्रतां कायवचोमनोभिः शौचं च लोभाद्धिनिवृत्तिरेका ॥८८॥

रवीकारण्यास योग्य अञ्चा संवराचे वर्णन स्पष्ट रीतीनें करितो हे राजन्! तें तूं ऐक ८१ ज्यांचें वचन व्यर्थ होत नाहीं अशा जिनेश्वरांनीं आस्रव चांगल्या तव्हेनें रोकला जाणें यांस संवर म्हणावे असे सांगितलें आहे. आत्म्याच्या ठिकाणीं नवीन कर्म येक न देण यास सवर म्हणतात. हा द्रव्यसंवर व भावसंवर अशा प्रकारें दोन पकारचा आहे असे मुनीश्वरांनीं सागितले आहे. ८२ संसार वाढविण्यास कारण असलेल्या मिथ्यात्व, अत्रिरति. प्रमाद, कपाय व योग यांचा आतम्यांतून पूर्ण अभाव करणें यास भावसंवर, असें मुनिश्वर ह्मणतात. हीं कारणें आत्म्यांतून काढून टाकिली असतां नवीन कर्मपुद्गलसमूह आत्म्यामध्यें येण्याचे बंद होतें. असे होणें यास द्रव्य संवर ह्मणतात. नवीन कर्म न येणें हा द्रव्यसवर होय व त्या कर्माला रोकण्यास योग्य असे आत्म्याचे परिणाम होणें यास भासवर ह्मणतात. ८३ हा दोन पकारचा संवर,आत्म्याच्या ठिकाणीं गुप्ति, सामिति, धर्म, अनुपक्षा, परीषहजय व चारित यांनी होत असतो. असा संवर हांणें हें फार उत्कृष्ट आहें कारण यानें लौकरच मोश प्राप्ति होते. वारा भक्तारच्या नपांनीं कर्माची निर्जरा-पूर्वी वांधलेलें कर्म उद-याला येऊन नाहींसें होणें-होतेअसें सर्व जगाला जाणणाऱ्या सर्वज्ञ जिनांनीं स्पष्ट सांगिनलें आहे. ८४ उत्तम रीतीनें मन, वचन व शरीर यांची क्रिया-प्रदृत्ति रोकणें यास गुप्ति ह्मणतात. ही गुप्ति तीन प्रकारची आहे. मनोगुप्ति-रागद्वेषादि-विकार मनांत उत्पन्न होऊ न देणें अथवा साम्य भावनेंत मनाला स्थिर करणें. वचन गुप्ति-कठोर, अप्रिय वगैरे भाषण न बोलणें अथवा मौन धारण करणें. कायगुः शि-शरीरावरील ममत्व सोडून देणें अथवा उपसर्ग प्रसंगीं ही शरीरामध्यें

प्राणींद्रियाणां परिहार एको यः संयमं तिन्नगदिन सन्तः ॥
कर्मश्चर्यार्थं परितप्यते यत्तपश्च त्वादशभेदिभन्नं ॥ ८९ ॥
त्यागः सुशास्त्रादिकदानिमष्टं ममेदिमित्याद्यभिसंधिहानिः ॥
अिकंचनत्वं गुरुमूलवासः स्याद्वह्मचर्यं सुविरागता च ॥ ९० ॥
प्राज्ञाः प्राहुरिनत्यताप्यशरणं जन्मैकता चान्यता
कायस्याशुचिता परा च विविधः कर्मास्रवः संवरः ॥
सम्यिद्धिनर्जरणं जगच्च सुवचस्तत्वं च धर्मस्थिति
वीधेर्दुर्लभता तथा दिषडनुप्रेक्षा इमाः श्रेयसे ॥ ९१ ॥

हालचाल न होछ देणें. याप्रमाणें तीन गुप्ति आहेत. समि तीचे पांच भेट आहे ते याप्रमाणें -ई्यासामिति-स्वतःच्या स्थानापासून इतर ठिका णीं जेव्हां मुनि जातात तेव्हां सूर्याचा चांगला प्रकाश पडल्यावर पुढें चार हात जमीन पाहुन व द्यींद्र अंतःकरणाने तिच्यावर सावकाश पावलें ठेवीत जातात. र्यो कृत्यास ईर्यासमिति म्हणार्वे. भाषासिमाति-हितकर, थोडेसें, संगयरहित वोलणे. एषणासमिति-ज्यापासून रत्नत्रयाची वाढ होईछ असे शुद्ध अन्न अन्तराय व उद्गमादिदोषांचा त्याग करून शुद्ध श्रावकार्ने विधिपूर्वक दिलेले घेणे. आदाननिक्षे-पणसामिति-स्वच्छ केलेल्या व पाहिलेल्या जमीनीवर पुस्तक, कमंडलु, फळी वगैरे डेवणें व घेणें. व्युत्सर्गसमिति-निर्जन्तुक अशा जिमनीदर मलमूत्र-विष्ठा हे पढार्थ टाकणें. अशा या पांच समिती ओहत ८५ उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्यागं, आर्किचन्य व ब्रह्मचर्य असे धर्मोच दहा भेट आहेत. संसारदुःखापासून जीवाला सोडऊन त्याला उत्कृष्ट इंद्रादिपदांची जो प्राप्ति करून देतो त्यास विद्वान धर्म म्हणतात. शत्रु वगैरेनी पुष्कळ त्रास ढिला तरी मनांत क्रोध उत्पन्न होऊ न देणें व सर्व लास सहन करणें यास क्षमा म्हणतातः मुनि व त्यांचे भक्त अथीत् श्रावक यांच्याशीं रत्नत्रयाचा उपदेश धर्मदृद्धि व्हावी म्हणून करणें अथवा शास्त्राजेला अनुसरून वोल्लें, धर्ममर्याटा टिकेल असे भाषण करेंग यास सत्य म्हणावें असे विद्वान म्हणतात. ८६ जात. इल श्वाक्त, ऐश्वर्य, ज्ञान, आद्रसत्कार, तप व शरीर या गोर्ष्टाचा आमिमान करणें सोडून देणें यास मार्टव ह्मणतात. मन, वचन व शरीराची प्रदाति सरळ,

रूपं यौवनमायुरक्षनिचयो मोगोपभोगौ वपु—॥ वीर्यं स्वेष्टसमागमो वसुरतिः सौभाग्यभाग्योदयः॥ नो नित्याः स्फुटमात्मनः समुदिता ज्ञानेक्षणाभ्यामृते॥ शेषा इत्यनुचित्यंतु सुधियः सर्वे सदानित्यतां॥ ९२॥ व्याधिव्याधभयंकरे भववने मोहेद्धदावानले हंतुं सृत्युमृगारिणा सरभसं कोडीकृतं रक्षितुं॥ आत्मैणीपृथुकं जिनंद्रवचनादिस्मन्परे नेशते मित्राद्या इति भावयन्त्वंशरणं भव्या भवोलंधिनः॥ ९३॥

ठेवणें यास आर्जव ह्मणतात. लोभाचा त्याग करणें यास शौचधर्म ह्मणतात. ८७ त्रस आणि स्थावर अज्ञा प्राण्यांची हिसा होणार नाहीं अज्ञा रीतीनें वागणें व आपलीं इंद्रियें ताब्यांत ठेवणें यास इंद्रियसंयम ह्मणतात. तसेंच कर्मीचा श्रय व्हावा ह्मणून उपवास करणें, एकदां जेवणें वगैरे जें बारा प्रकारचें तप केलें जातें त्यास सत्पुरुष तप असे ह्मणतात. ८८ शास्त्र देणें, आहार देणें, अभय देणें, व औषध देणें यास त्याग हाणतात. शारीरावर तसेच इतर पदार्थावर हे माझे आहेत असा जो संकल्प उत्पन्न होतो त्याचा त्याग करणें त्यास आर्किचन्य ह्मणतात. गुरूच्या स्वाधीन होऊन राहणें व कामविकारापासून पूर्ण विरक्त होणें यांस ब्रह्मचर्य ह्मणतात. याप्रमाणें दशधर्माचें स्वरूप आहे. ८९ अनित्यता, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, शररिाचा अपवित्रपणा, नानाका-रचे कर्माचे आस्रव, संवर, उत्ताम निर्जरा, लोकधर्मस्वाख्यातत्व व वोधिदुर्लभानु-प्रेक्षा अज्ञा या बारा अनुप्रेक्षा आत्म्याचें कल्याण करणाऱ्या आहेत. ९० सौंदर्य, तारुण्य, आयुष्य, इंद्रियांचा समुदाय, भोगोपभोगाचे पदार्थ, शरीर, शक्ति, आव-डत्या पदार्थीची प्राप्ति, धन, प्रेम. सौभाग्य व भाग्योदय, या सर्व गोष्ट्री आत्म्याला पाप्त झाल्या तरी नित्य नाहींत यांचा नाश होतोंचे आत्म्याचें ज्ञान व दर्शन हे गुणच नित्य आहेत यामधाणें विद्वान लोकांनीं नेहमी पदार्थीच्या अनित्यपणाचें चिंतन करावें. ९१ या संसाररूपी वनामध्यें मोहरूपी प्रदीप्त अग्नि पसर्छा आहे व रोगरूपी पारधी येथे राहात असल्यामुळें हें भयंकर दिसत आहे. या विकाणीं मृत्युरूपी सिंहानें मोठ्या त्वरेनें आत्मारूपी हरिणीचा बच्चा पकडळा आहे संसारः खलु कर्मकारणवशाज्जीवस्य जन्मांतरा— वाप्तिर्वंधिविपर्ययेर्वेह्यविधेरात्यक्षयोन्यादिभिः ॥ किं वा सांप्रतमेव यत्र तनयोप्यात्मात्मना भाव्यते तस्मिन्नीद्दशि कीदृशीं बत विदां संतो रतिं कुर्वते ॥ ९४ ॥ जन्मव्याधिजरावियोगमरणव्यावृत्तिदुः खोदधा— वामज्जन्नहमेक एव नित्रां सीदामि मे नापरे ॥ विद्यंत सुहृदो न चापि रिपवो न ज्ञातयः केवलं ॥ धर्मो बंधुरिहापस च परामित्येकतां चिंतयेत् ॥ ९५ ॥ अन्योऽहं नित्रां शरीरत इतो बंध प्रति प्रायशः ॥ सत्येक्येऽप्यथ लक्षणाहितभिदो भेदो ममास्त्यस्य च ॥

जिनेश्वराच्या वचनाशिवाय दुसरे मिलादिक याचे रक्षण करूं शकत नाहींत. जिनवचन हेंच आत्म्याचें रक्षण करितें असे ससाराचें उर्लघन करणाऱ्या भन्य जीवांनीं विचारांत आणावें ९२ मिध्यात्वादिक कर्मरूपी कारणांनीं एकजन्म सुटून पुनः दुसरा जन्म धारण करणें यास संसार म्हणतात. गाति, इंद्रिये, प्राप्त झालेल्या अवस्था या जीवाला बंधुसार्ख्या बाटतात पण त्या त्याच्या गत्रु आहेत, कारण या अवस्थानीं त्याला संसारांत फिरावें लागत आहे. या संसारांत योग्य अस काय आहे ? कारण या संसारांत हा आत्मा स्वतःहि रवतःचा मुलगा होतो. यास्तव अशा रीतीच्या या संसारांत जाणते सत्पुरुप कसें वरें प्रेम करतील ? करणारच नाहीत-९३ जन्म, नाना प्रकारचे रोग, ह्यातारपणा, इष्ट पदार्थीचा वियोग हाणे, वगैरे संकटें ज्यामध्यें आहेत अशा या दु:खरूपी समुद्रांत वुडणाऱ्या मलाच अति. शय दृ ख भोगावे छागतें. माझ्या दु:खांचे वाटेकरी दुसरे होऊन शकत नाहीत. या जगामध्यें माझे कोणी मित्रही नाहींत शत्रूही नाहींत व नातलगही नाहींत. फक्त धर्मच या लोकीं व परलोकीं वधु-हितकती आहे या प्रमाणे रवतःच्या एक त्वाचें चिंतन करावें. ९४ जरी शरीराशीं माझा एकरूपणा सध्या दिसत आहे तरी तो कर्मवंध झाल्यामुळेंच तसा समजावा. वास्ताविक पाहिलें तर मी व शरीर यांची छक्षणें भिन्न असल्यामुळें मी शरीरापासून देगळा आहे. मी म्वतः ज्ञानमय नित्य आहे, व माझे शरीर अचेतन, नाशवत व इंद्रियांनीं सहित आहे. मी अतीदिय आत्मा ज्ञानमयो विनाशरहितोऽप्यज्ञं वपुर्नश्वरं ॥
साक्षं वाहमनक्ष इत्यपघनात्संचितयेदन्यतां ॥ ९५ ॥
अत्यताशुचियोनिसंभवतया शश्विमसर्गाशुचि—
त्वडमात्राष्टितपृतिगंधिकुनवद्धारं कृमिव्याकुलं ॥
विण्मूत्रप्रसवं त्रिदोषसहितं नद्धं शिराजालकैः ॥
वीभत्सं वपुरेतदित्यशुचितां मान्यः सतां मन्यताम् ॥ ९६ ॥
उक्तास्त्वास्वहेतवः सह जिनेरक्षेः कषायादयो ॥
दुःखांभोनिधिपातिनो हि विषयास्तेषामिहासुत्र च ॥
आत्मा तदशगश्चतुर्गतिगुहां मृत्यूरगाध्यासिताम् ॥
अध्यास्ते भ्रुवमास्रवस्य सुधियो ध्यायंतु दोषानिति ॥ ९७ ॥

शरीर तसें नाहीं. याप्रमाणें शरीरापासुन रवतःची भिक्तता जाणून घेऊन विचार करावा. ९६ हें श्रीर अत्यंत अपावित्र अशा योनिरथानापासून उत्पन्न होतें. हें कायमचें व रवाभाविकपणें अपवित्र आहे. हें फक्त कातड्यानें झांकलें आहे. या शरीराला जीं नऊ छिद्रें आहेत त्यांतून मळ वाहात असतो. या शरीरांत कृषि भरले आहेत. विष्ठा व सूत्रा यांचें हें जत्पात्तिस्थान आहे. वात पित्त आणि कफ यांनीं सहित आहे व हैं शिरांनीं जखडून बांधलें गलें आहे. बीयत्स अज्ञा या शरीराच्या घाणेरडेपणाचा सत्पुरुषांना मान्य असलेल्या लोकांनीं त्रिचार करावा. ९७ इद्रियें कषाय, अब्रतें, अहिंसादिकव्रतें न पाळणें, व सम्यक्त्वादिक पंचवीस क्रिया हीं सर्व आस्रवाचीं कारणें आहेत असें जिनेश्वरांनीं सांगितलें आहे. हे इंद्रियांचे विषय जीवाला दु:खरूपी समुद्रांत टाकून देणारे आहेत. इहलोकीं व परलोकीं आत्मा त्यांच्या स्वाधीन होऊन मृत्युरूपी सर्प ज्यामध्ये राहात आहे अशा नरकादि गतिरूपी गुहेंत प्रवेश करितो. याप्रमाणें विद्वान लोकांनीं आस्रवाच्या दोषांचें मनांत चिंतन करावें. ९८ जसें समुद्रात नावेला भोंक पडले असता ती पाण्यानें भरून जात तसें हा आत्मा ज्यामध्यें अनंत दुःखे भरलीं आहेत अश् या जन्मांत आस्रवरूपी समुद्रात बुहून जात आहे. यास्तव मन वचन, व शरीर हीं ताब्यांत ठेऊन आस्त्रवाला रोकार्वे ह्मणजे आत्म्याचे कल्याण होतें. कारण मन वचन व शरीराच्या हालचालीला आळा वसला हाणजे हा आन्मा लोकरच

पोतो वारिधिमध्यगः सित जैंटेडिंड्रि प्रपूर्णी यथा ॥
मज्जत्याद्या तथास्रवे च पुरुषो जन्मन्यनंतासुखे ॥
तस्मादाम्बरोधनं त्रिकरणैः श्रेयो यतः संवृतो ॥
निर्वास्यत्यचिराय संवरिमिति ध्यायंतु संतः परम् ॥ ९८ ॥
यत्नेनापि विशोपणादुपचितो दोषो यथा जीर्यते ॥
गाढं कर्म तथैव निर्जरयति व्यानद्धमप्याचितम् ॥
वीरः कातरदुश्चरेण तपसा रत्नत्रयालंकृतो ॥
नान्येनेति विदंतु संततिममां भव्याः परां निर्जराम् ॥ ९९ ॥
लोकस्याथ यथा जिनोदितमधास्तर्यक्तथोध्दं परं ॥
वाहुल्यं वरसुप्रतिष्ठकनिमं सस्थां च संचितयेत् ॥
सर्वत्रापि च तत्र जन्ममरणे स्रांतिं चिरायात्मनः ॥
सम्यक्त्वामृतमादराद्पिचतः स्वप्नांतरेऽपि क्रिन्त् ॥ १०० ॥

निर्वाणपदाला प्राप्त होईल. याप्रमाणें सत्पुरुप उत्कृष्ट संवराचा नेहमीं विचार करोत. ९९ औषध घेणे वगैरे यत्नांनीं व उपवासानें जसें शरीरांत रोग उत्पन्न करणारे दोष नाश पावतात त्याप्रमाणे आत्म्याच्या टिकाणीं पूर्वी वांधलेले व संचित झालेलें कर्म रत्नव्यानें अलंकुत झालेले धर्मवीर धर्यहीनाला करण्यास अशक्य असलेल्या तपश्चरणाच्या साह्यानें जाणे करून टाकितात. ही धर्मवीरांची कर्मानिर्जरा इतर उपायाने होणें शक्य नाहीं, याप्रमाणे भव्यानीं नेहमी निर्जरेचें असे उत्कृष्ट स्वरूप समजून घ्यावें. १०० श्रीजिनेश्वरांनीं या जगाची खाली, वर, मध्यभागीं जी कांही लांबी रुदी सांगितली आहे ती तशी जाणून याचा आकार सुप्रतिष्ठकाप्रमाणें आहे असे विंतन करावें. ज्यानें स्वप्राप्तध्यें देखील कधीं सम्यक्तक्षणी अमृत प्राश्चन केलें नाहीं अशा प्राण्याला या जगांत सर्व टिकाणीं जन्ममरण करीत भ्रमण करावें लागतें असा भव्य जीवांनीं विचार करावा. १०१ जगाचें कल्याण व्हावें म्हणून तत्व- झानरूपी नेत्राचे धारक अशा जिनेश्वरांनीं हिंसादि दोषांनीं रहित असें धर्माचें उत्कृष्ट स्वरूप प्रतिपादिलें आहे. जे सत्पुरुप या धर्मामध्यें निमय झाले आहेत ते या अपार ससाररूपी समुद्राला गाईच्या पावलाप्रमाणें ओलांइन जातात व जो अनंन सुखांचें टिकाण ह्मणून प्रसिद्ध आहे अशा मोक्षाला ते प्राप्त होतात. १०२ या

स्वाख्यातो जगतां हिताय परमो धर्मो जिनेरंजसा ॥
तत्वज्ञानविलोचनैर्विरहितो हिंसादिदोषेरयं ॥
संसाराणवमप्यपारमचिरादुहुंच्य वा गोष्पदं ॥
ख्यातानंतसुखास्पदं परमितं तैरेव येऽस्मिन्नताः ॥ १०१ ॥
मानुष्यं खलु कर्मभूमिरुचितो देशः कुलं कल्पता ॥
दीर्घायुः स्वहिते रितश्च कथको धर्मश्चितिः स्वादरात् ॥
सत्स्वेतेष्वतिदुर्लभेषु नितरां बोधिः परा दुर्लभा ।
जीवस्येति विचित्तयंतु सुकृतो रत्नत्रयालंकृताः ॥ १०२ ॥
सन्मार्गाच्यवनविशिष्टनिर्जरार्थं बोढव्याः सकलपरीषहा सुनिशैः॥
कुच्ल्रेषु श्रियमपुनर्भवासुपेतुं वांछंतः स्वहितरता न हि व्यथंते ॥१०३॥

जगांत मनुष्यपणा लाभणें कठिण आहे. तो लाभला तरी कर्मभूमीमध्यें जन्म होणें त्याहीपेक्षां दुर्छभ आहे. उत्तम देशांत जन्म मिळणें याहून कठिण असून उत्तम कुलांत जन्मणें हें त्यापेक्षां दुर्रुभ आहे. यापेक्षां आरोग्य, दीर्घायुष्य हीं दुर्रुभ असून आत्मकल्याणाच्या बुद्धीची प्राप्ति होणें अतिशय दुर्रुभ आहे. आत्महिताच्या बुद्धि बरोबर सद्गुरूची जोड मिळणें धर्मोपदेश ऐकण्यांत प्रेम असणें ह्या गोष्टी उत्तरोत्तर दुर्लभ आहेत. या सर्व गोष्टी प्राप्त झाल्या नरी रत्नस्रयांची जीवाला प्राप्ति होणें हें सर्वीत अधिक दुर्लभ आहे असें रत्नलय धारक जीवांनीं नेहमीं मनांत चिंतावें. १०३ रत्न ज्ञय पुण्यवान मार्गापासून आपण सुटूं नये म्हणून व कर्माची विशेष निर्जरा व्हावी ह्मणून सर्व परीषह मुनीश्वरांनीं सहन करावेत. आत्मकल्याणांत नेहमीं अनुरक्त असणारे व मोक्षलक्ष्मीच्या पाप्तीची इच्छा करणारे मुनि अशा संकटप्रसंगीं-परीपह ं सहन करण्याच्या प्रसंगीं बिछकुछ खेद मानीत नाहींत. १०४ क्षुघा वेदनीय क-मीच्या उदयानें पीडा होत असतांही आहार लाभापेक्षांही आहार न मिळाल<sup>ा</sup> असतां मनामध्यें खेद न मानतां आनंदच मानितो. व आहार घेतांना जो न्यायपू-र्वक आहार घेतो व घेतांना अयोग्य दात्यांच्या येथें जो आहार घेत नाहीं. तसें निर्दोष आहार जो घेतो त्या मुनीश्वराचा हा क्षुधाविजय नांवाचा परीषह जाणावा. १०५ जो म्रानिराज आपल्या हृदयरूपी घागरींत असल्लेखा निर्मल आत्म-

क्षुद्रेदनीयोदयवाधितोऽपि लाभादलाभं वहु यन्यमानः ॥
न्यायेन योऽश्वाति हि पिंडगुद्धिं प्रशस्यते क्षुद्धिजयस्तदीयः॥१०४॥
स्वहृदयक्ररक्षस्थितेन नित्यं विमलसमाधिजलेन यः पिपासां ॥
प्रशमयति सुदुःसहां च साधुर्जयति स धीरमतिस्तृपोऽभितापम् १०५
प्रालेयवायुहतिमप्यवि।चिन्त्य माघे यः केवलं प्राति।निशं वहिरेव शेते।।
संज्ञानकंवलवलेन निरस्तशीतः शीतं वशी विजयते स निसर्गधीरः
॥ १०६॥

दवाभिज्वालाभिजीटिलितवने श्रीष्मसमये स्थितस्योश्रेभीनोः शिखरिणि मयूखैरिभमुखं॥ समुत्तप्तांगस्य क्षणिमह धृतेरप्यचलतः॥ सहिष्णुत्वं तस्य प्रथयति मुनेरुष्णसहनम्॥ १०७॥ दष्टोऽपि दंशमशकादिगणेन वाढं मर्मप्रदेशमुपगम्य निरंकुशेन॥ यो योगतो न चलति क्षणमप्युदारस्तस्येह दंशमशकादिजयोऽव-सेयः॥ १०८॥

ध्यानरूपी पाण्यानें दु सह अशी तहान शांत कारितो तो श्रेष्ठ वृद्धीचा मुनि तहाने पासून होणाच्या वृःखाला जिंकितो १०६ जो मुनिराज माघ महिन्यांतील यंडगार वाच्याचा आघात विचारांत न घेतां प्रत्येक रात्रीं उघड्या मैदानांतच शयन करितो व सम्यजानरूपी घोगडच्या सामध्यांनें थंडीला हाकाल्यन लावितो, स्वाभाविकच थीर असा तो जितेद्रिय मुनीश्वर शीतपरीषहाला जिंकितो असे जाणाचें १०७ ग्रीष्मऋ तूंत अग्निज्वालांनी सगलें वन व्यापून गेले असतां, पर्वतावर जो सूर्योकडे तोंड करून उभा राहतो व सूर्याच्या तीक्षण किरणांनी सगलें शरीर संतप्त झाले असतां देखील जो घेर्यापासून क्षणभरही अष्ट होत नाही अशा त्या मुनीश्वराचें उप्णता सहन करणें त्याच्या सहनशीलतेला प्रसिद्ध करितें १०८ ज्याला डास, ढेकूण,चिलटें मुंग्या वगैरे प्राणी चार्फन आतिशय लास देत असतांही—निर्भयपणें त्याच्या मर्म प्रदेशीं जारुन त्यास पीडित असतांही, एक क्षणभर दोखिल जो ध्यानापासून डलमळत नाहीं त्या उदार महात्म्याचा या लोकी दंशमशक्षपरीषह जय जाणावा. १०९ नग्नता ही याचना, प्राणिहिंसा वगैरे दोपांनी रहित आहे. व ही संपूर्ण परि-

याञ्चाप्राणिवधादिदोपरहितं निःसंगतालक्षण—
मप्राप्यामपरैः समुत्मुक्यितुं निर्वाणलक्ष्मीं क्षमं ॥
नारन्यं कातरद्वधरं धृतवतोऽचेलव्रतं योगिनः ॥
पर्याप्तिं समुपैति तद्धि विदुषां तत्वैषिणां मंगलम् ॥ १०९ ॥
इंद्रियेष्टविषयेषु निरुत्मुक्तमानसः पूर्वभुक्तमुखसंपदमप्यविचित्यन् ॥
यस्तपश्चरति दुश्चरमेकविमुक्तिधोर्मुक्तयेऽरितपरीषहजित्स विदां वरः
॥ ११० ॥

आवाधमानाषु मिथो जनीषु मनोभवाभिप्रभवारणीषु ॥ यः कूर्मवत्संवृतचित्तमास्ते स्त्रीणां स बाधां सहते महात्मा ॥१११॥

ग्रह रहितपणाचें लक्षण आहे. ही नग्नता इतर मिथ्यात्व्यांना प्राप्त न होणाव्या मोक्षलक्ष्मीला मुनिकडे जाण्याविषयीं उत्सुक करण्यास समर्थ आहे. ही नग्नता भित्रीं माणसें धारण करूं शकत नाहीत. ही निर्देख्न नग्नताच योगिजनास रक्षण करण्यास-क्रुमार्गापासून पराष्ट्रत्त करण्यास समर्थ आहे. खऱ्या आत्मस्वरूपाच्या लाभाची इच्छा करणाऱ्या विद्वानांचें हीच मंगल -कल्याण करिते ११० इंद्रियांच्या आवडत्या पदार्थाविषयीं ज्याचें मन पूर्ण निरुत्सुक झालें आहे, पूर्वी उपभो-गिलेल्या सौच्य संपत्तीचें जो कघींही मनांत स्मरण करीन नाहीं; जो अतिशय कठिण असें तपश्चरण करितों व फक्त मुक्तीकडेच ज्याचें लक्ष लागलें आहे तो बिद्वच्छ्रेष्ठ मुनिराज असति परीषहाचा विजयी होय. १११ मदन-कामविकाररूपी अग्नि उत्पन्न करण्यास अराणि नांवाच्या लांकडाप्रमाणें असलेल्या सुंदर स्निया एकांतस्थानीं त्रास देत असतां ज्यानें कासवाप्रमाणें आपली मनोद्यात्ति संकुाचित केली आहे तो महात्मा मुनि स्त्रीपरीपह विजयी होय. ११२ जिनमंदिर, मुनि व आपले आवडते गुरु यांना वंदन करण्यासाठीं जो देशांतरीं जातो व आपल्या सयमाला अनुकूल अमा मार्ग पाहून योग्य अशा कालीं जो गमन करितो, जात असतां काटे, दगड यांच्या समुदायांनीं पाय फाटून गेलें असतांही गृहस्थाश्रमांतील नानापकारच्या हत्ती घोडा, पालखी. वगैरे वाहनांची ज्याला आठवण होत नाही अज्ञा मुनिराजाचें चर्यापरीषह जिंकणें सज्जनांना मान्य ११३ पर्वताची गुहा, पडकें घर वगैरे ठिकाणीं प्रथमतः शास्त्रोक्त पद्धतीने येथें जीव-

नंतुं नैत्ययतीनगुरूनिमतान्देशांतरस्यातिथेः॥
पंथानं निजसंयमानुसदृशं काले यतेः स्वोचिते॥
भिन्नांत्रेरिप कंटकोपलचयैः पूर्वस्वयुग्यादिनः॥
यानस्यास्मरतः सतामभिमतस्तस्यैव चर्याजयः॥ ११२॥

भूभृदुहादिषु पुरा विधिवन्निरीक्ष्य वीरासनादिविधिना वसतो निकामं॥

सर्वोपसर्गसहनस्य मुनेर्निषद्यापीडाजयो दुरितवैरिभिदोऽसेयः

ध्यानागमाध्ययनभूरिपरिश्रमेण निद्रां मनाग्गतवतः स्थपुटोर्व-रायां॥

कुंध्वादिमईनभियाऽचिलतांगयष्टेः शय्यापरीपहजयो यमिनोऽ वगम्यः॥ ११४॥

मिथ्यात्वेन सदावलिप्तमनसां क्रोधामिसंदीपकं ॥ निंचासत्यतमादिवाक्याविरसं संश्रृण्वतोऽप्यस्रवं ॥

जंतु आहेत किंवा नाहींत हें नेत्रांनीं चांगलें पाहून त्या गुहादिक ठिकाणीं त्रीरासन वगैरे आसनें घालून जो वसतो व सर्व उपसर्ग सहन करितो अज्ञा पापरूपी जत्रचा नाज करणाच्या त्या मुनिराजाचा तो निषद्या परीषह विजय होय. ११४ ध्यान व शास्त्रपठन करून झालेल्या पुष्कळ परिश्रमानें उंच सखल अज्ञा जिमनीवर जो योडींज्ञी झोंप घेतो. व झोपीत कृमिकीटकांना पीडा होईल त्यांचें मर्दत होईल या भीतींनें एकच वाजूनें जो झोप घेतो व आपलें अंग थोडेसे देखिल हालवित नाही अज्ञा त्या मुनिराजाचा जय्यापरीपह जय जाणावा ११५ मिध्यात्वकर्माच्या उद्यानें ज्यांचें मन नेहमीं गर्वोद्धत वनलें असल्यामुलें, ज्यांच्या मुखांतून निंच व अतिशय असत्य, कठोर अशीं भाषणें वाहेर पडतात अज्ञा मिध्यात्वी लोकांची कटुवाक्यें क्रोधरूपी अग्नीला मज्वलित करणारी असतात तथापि तीं वारंवार ऐक्नहीं तिकडे लक्ष न देतां जो उत्कृष्ट क्षमा धारण करितो उत्तम वृद्धिधारक अज्ञा त्या मुनीश्वराचा तो आक्रोश परिषह विजय होय. ११६ नानाप्रकारच्या शस्ताचे

तद्व्यासंगविवर्जितन मनसा क्षांति परां विभ्रतः॥ तस्याक्रोशपरीषहप्रसहनं ज्ञेयं यतेः सन्मतेः॥ ११५॥ नानाविधास्त्रहतियंत्रनिपीलनाधैव्यहिन्यमानतनुरप्यरिभिः

प्रसह्यम् ॥

ध्यानात्परादचलतः सहते विमोहो मोक्षोद्यतो वधपरीषहमप्यस-ह्यम् ॥ ११६॥

नानारोगैर्बाधितोऽपि प्रकामं स्वप्रेप्यन्यान्याचते नौषधादीन् ॥
यः शांतात्मा ध्यानिर्धूतमोहो याञ्चा तेन ज्ञायते निर्जितेति ११७
महोपवासेन कृशीकृतोऽपि लाभादलामं परमं तपो मे ॥
भैक्ष्यस्य योगीत्यपि मन्यते यो जयत्यलामं स विनीतचेताः ११८
प्रस्तिश्चरं युगपद्दियतिचित्ररोगैर्जलीपधादिविविधिद्वयुतोऽप्यु
पेक्षां॥

काये परां प्रकुरुते खळु निःस्पृहत्वाद्यः सर्वदा गदपरीषहजित्स योगी॥ ११९॥

आघात, यंत्रांत पिळणें, एकेक अवयव तोडणें वगैरे प्रकारांनीं शत्रूच्या द्वारें जवर दस्तीनें शरीराचा नाश केला जात असतांही मोहरहित व मोक्षप्राप्त करून घेण्या साठीं उद्युक्त झालेला जो मुनीश्वर हें सर्व सहन कारितों व उत्कृष्ट अशा आत्मध्या नापासून श्रष्ट होत नाहीं त्याचा हा असहा वध परीषह जय जाणावा ११७ जो नानारोगांनीं अतिशय पीडित होऊन देखिल स्वप्नांत देखिल औषधाची याचना करीत नाहीं, ज्यानें ध्यानाच्या द्वारें मोहाचा नाश केला आहे -अशा त्या शांत मुनीश्वराचा तो याचना परिषह विजय समजावा ११८ पक्षोपवासादिक उपवा सांनीं कृश होऊन देखिल आहारलामा पेक्षांही त्याचा लाभ न होणें हेंच माझें- उत्तम तप आहे असें जो समजते शास्त्रांनीं संस्कृत झालें आहे मन ज्याचें असा तो योगीश्वर अलाभपरीपह विजयी जाणावा ११९ ज्याला एकदम अनेक तच्हे च्या रोगांनीं पीडित केलें आहे व ज्याला नाना रोगाविनाशक जलीं । शिक्षांद्व प्राप्त झाल्या असतांही निस्पृहपणामुळे को शरीराची विलक्कल परवा इ.लगांत

यस्तीक्ष्णवर्त्मतृणकंटकरार्कराद्येरादारितांत्रियगलोऽपिहतप्रयादम्॥ चर्यादिषु प्रयतते विधिना क्रियास तस्य प्रतीहि तृणतोदजयं सुनीशः॥ १२०॥

अंभःकायिकसत्विहंसनिभया स्नान कियामासतेः प्रत्याख्यातवतोऽपि दुःसहतरां कंद्वतिसुद्धाटनं ॥ आरोहन्मलसंपदा प्रतिदिनं वल्मीकसूतं वपु— विभाणस्य परीषहो मलकृतो निश्चीयते योगिनः ॥ १२१ ॥ ज्ञाने तपस्यप्यकृताभिः ।ने निंदाप्रशंसादिषु यः समानः ॥ पूजापुरस्कारपरीषहस्य जेता सधीरो सुनिरप्रमादः॥ १२२॥

नाहीं तो योगीश्वर रोगपरीपह विजयीं होय. १२० खराव रस्त्यांतील तीक्ष्ण काटे, बाळु, खुर दगड इत्यादि-कानी ज्याचे दोनही पाय फाटून गेले असतांही विलक्षल आलस न कारितां जाणें वगैरे क्रिया योग्य विधीनें करीत असतो अज्ञा त्या मुनीश्वराचा तृण रपर्श परीपह विजय जाणावा. १२१ जलकायिक जीवांची हिसा होईल या भीतींनें आमरण ज्यानें स्नानत्याग केला आहे, वर्चेवर ज्यांच्या अंगावर मळ चढत असल्यामुळें जो प्रतिदिवशी बाद्धळासारखे ज्यांचे शरीर झाड़े आहे असा भासू लागतो व पुष्कळ खाज सुटली असतांही जो ती व्यथा सहन कारतो अज्ञा त्या साधूचा तो मलयरीषह विजय होय असे हैं राजन तू समज. १२२ जो मुनिवर्य ज्ञान व तपश्चरणायध्ये विलक्षल अभिमान धारण करीत नाही. अर्थात् स्वतः अतिशय ज्ञानी व महातपस्वी असतांही जो विलक्कल निगवीं आहे, निंदा प्रशंसा वगैरेमध्यें समानता धारण करिता तो सन्मुनि पूजा परीपह विजयी समजावा अर्थात अशा महाद्यनीचा कोणी आदरसत्कार नाही केला तरी मनांत त्याविषयी खेद मानीत नाहीत १२२ मी संपूर्ण द्वादशांग श्रुतज्ञानरूपी समुद्रात्न तरून त्याच्या दुसऱ्या किनाऱ्यास जाऊन पोंचलो आहे. माझ्यापुढें हे अल्पज्ञ लोक पशुसारखे असल्यामुळे शोभत नाहींत अशा रीतीचा ज्ञानगर्व जो विछकुळ त्यागितो मोही स्वभाव ज्यानें नष्ट केला आहे अशा त्या साध्वयांचा तो प्रज्ञा

तीणीिखलश्चतमहांबुनिधः पुरस्तादन्ये ममाल्पमतयः पश्चाने भाति इत्यादिकं मतिमदं जहतोऽवसेयः प्रज्ञापरीषहजयो हतमोहवृत्तेः।१२३ किंचिका वेत्ति पशुरेष विषाणहीनो लैं।केरिति प्रतिपदं खलु निंदितोऽपि ॥

क्षांतिं न मुंचित मनागि यः क्षमावानज्ञानजं विषहते स परीषहार्ति ॥ १२४॥

वैराग्यातिशयेन शुद्धमनसस्तीर्णागमांभोनिधेः॥
सन्मार्गेण तपस्यतोऽपि सुचिरं लिब्धर्न मे काचन॥
संजातेत्यविनिंदितप्रवचनं संक्लेशमुक्तात्मनः॥
तस्यादशनपीडनैकविजयो विज्ञायते श्रेयसे॥ १२५॥
चारित्रमाद्यं कथितं जिनेंद्रैः सामायिकं तद्विविधं प्रतीहि॥
कालेन युक्तं नियमेन चैकं तथा परं चानियतेन राजन्॥ १२६॥

परीषह जय होय ! १२४ हा कांहीं जाणत नाहीं. शिंगें नसलेला हा पशु आहे असें लोकांनीं प्रत्येक पावलीं जरी निंदा केली तरीही जो थोडादेखील क्षमेचा त्याग करीत नाहीं तो क्षमावान् मुानि अज्ञान परीषहाचा विजयी समजावा. १२५ तीव्र वैराग्यानें अंतः करण् निर्मळ बनून मी संपूर्ण द्वादशांगश्रुतज्ञानरूपी समुद्र तरून गेलो आहे. रत्नत्राय मार्गाला अनुसरून फार दिवसापासून तीत्र तपश्चरण करीत अस-तांही मला अद्यापि एकही लिब्ध-ऋदि प्राप्त झाली नाहीं यास्तव तपस्च्यांना अनेक ऋदि प्राप्ता होत असतात असे शास्त्रांत लिहिलेल वचन खोटें आहे असे मानून जो शास्त्राची बिलकुल निंदा करीत नाहीं व अंतः करणांतून संक्लेश परि-णामाला जो दूर सारतो अशा त्या मुनिरायाचा अदर्शन परीपहिवजय मोक्षाला कारण मानला जातो. १२६ श्री जिनेंद्रांनीं पहिल्या सामायिक चारित्राचे दोन भेद सांगितले आहेत. पहिल्या भेदाचा काल ठराविक असतो व दुसऱ्या भेदाचा तसा नसतो. स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, वंदना वगैरे कर्तव्ये नियमितकालीं करावयाची असतात म्हणून ह्यास नियतकाालिक सामायिक म्हणतात. व ईर्यापथ वैगेर कांईां कियांचा काल ठरवितां येत नाहीं. देववंदना, आहार, शौच वगैरे किया करावयाच्या वेळीं द्रीप्थ करावें लागतें यास्तव याचा काल ठर्वितां येत नाहीं. सामायिक झणजे अन्तर्मुहूर्त वगैरे कालप्रमाण करून पंच पातकांचा सर्वत्र त्याग करणें, स्वाध्याय वगैरे छेदोपस्थापनारूपं निरुपमसुखदं सुक्तिसोपानसूते ॥ चारित्रं तद्दितीयं दुरितविजयिनां जैत्रमस्त्रं सुनीनां ॥ प्रत्याख्यातप्रमादस्खलनियमनं स्वागमानुक्रयेण ॥ छेदोपस्थापनेति प्रक्थनमथवा या निष्टित्तिर्विकल्पात् ॥ १२७ ॥ परिहारविद्युद्धिनामधेयं नृप ! चारित्रमवेहि तत्तृतीयं ॥ परिहारविद्युद्धिरित्युदीणीं सकलप्राणिवधात्परा निष्टृत्तिः ॥१२८॥ उपलक्षय सूक्ष्मक्षांपरायं नृप ! चारित्रमनुत्तरं तुरीयस् ॥ अतिसूक्ष्मकषायतस्तत्प्रवदंतीह यथार्थनाम संतः ॥ १२९ ॥

क्रियंत ही यांचा त्याग होतोच हाणून या क्रियांनाही सामायिक हाणण्यास हरकत नाहीं. १२७ छेदोपस्थापना नांवाचे दुसरे चारित उत्कृष्ट सुख देणारें व मोक्ष प्राप्तीस पायरीप्रमाणे आहे. हें मुनीश्वराच्या पातकांचा नाज करून देणारे विजयी शस्त्र आहे व्रतें व नियम यांच्या आचरणांत प्रमादानें दोप लागल्यावर आग-मांत सांगितलेल्या प्रायाश्चित्ताविधीनें त्या दोपापासून आपलें रक्षण करणे यास किंवा विकल्पांचा—अहिंसा, सत्य वगैरे विकल्पांचा त्याग करून अभेदरूपानें पालणें यास छेदोपस्थापना ह्मणतात.

१२८ हे राजन, परिहार विशादि नांवाचें तिसरें चारित्र आहे. संपूर्ण प्राणि-वधापासून पूर्ण निवृत्ति होणें यास परिहारिवशुद्धि नांवाचें चारित्र ह्मणतात असे तूं समज. या चारित्राचा धारक मुनिराज षट्काय जीवांनीं पूर्ण भरलेल्या प्रदेशां-तृन जरी विहार करूं लागला तरी ही कमल पाण्यांत असूनही तें जसें त्यापासून अलिप्त असतें त्याप्रमाणें यालाही पापापासून अलिप्त राहतां येतें, अर्थात् या मु-नीच्या विकाणी अशी एक विलक्षणता उत्पन्न होते कीं त्या प्राण्यांना तिलमालहीं तास पोहोंचत नाहीं. यास्तव या चारित्राचे परिहारिवशुद्धि हे नांव योग्य आहे. १२९ हे राजेश्वरा! सूक्ष्मकषाय नांवाचें चौथें उत्कृष्ट चारित्र आहे. हें चारित्र क्रोध मान माया या कषायांचा उपग्रम अथवा क्षय झाला असतां आणि लोभ अत्यंत क्षीण झाला असता मुनिवर्यास प्राप्त होतें असें समज. या चारिताचें सूक्ष्म कषाय हें नांव अगदीं अन्वर्थक आहे. १३० चारित्र मोहनीय कर्माचा पूर्ण क्षय अथवा उपश्म झाला असतां यथाख्यात नांवाचें प्रसिद्ध असें पाचवें चारित्र आत्म्याला प्राप्त होतें. हे नरेश्वरा! या चारित्रामुळें जीवाला आपले खेरे जिनैर्यथाख्यातिमिति प्रतितं चारित्रमुक्तं खलु पंचमं तत् ॥
चारित्रमोहोपरामात्क्षयाच्च याथात्म्यमात्मा समुपैति येन ॥१३०।
अथावगच्छ द्विविधं तपस्त्वं बाह्यं सदाभ्यंतरमित्यपीष्टं ॥
प्रत्येकमेकं खलु षड्विधं तद्वक्ष्ये समासेन तयोः प्रभेदान् ॥ १३१ ॥
रागस्य प्रशमाय कर्मसमितेनीशाय दृष्टं फलं ॥
हृष्ये चाप्यनपेक्षणाय विधिवद्धचानागमावासये ॥
सिद्धचे संयमसंपदोऽप्यनशनं धीरः करोत्यादरात् ॥
तेनैकेन हि नीयते मतिमतां दुष्टं मनो वश्यतां॥ १३२ ॥
प्रजागरायोद्धतदोषशान्त्ये संवाहनार्थं च सुसंयमस्य ॥
स्वाध्यायसंतोषनिमित्तमुक्तं सदावमोदर्यमुद्धारबोधैः ॥ १३३ ॥

स्वरूप पूर्ण प्राप्त होतें. १३१ हे राजन्! तपाचें वाह्य तप व अभ्यंतर तप असे दोन भेद आहत व हे दोन भेद आत्म्याचें कल्याण करणारे आहेत. या प्रत्येक भेदाचे सहा सहा मकार आहेत. यांचें मी संक्षेपानें म्बरूप सांगतो. १३२ राग विकार शांत व्हावा, कर्मीचा नाभ व्हावा ह्मणून आदरसत्कार, कीर्ति वगैरे ऐहिक सुंदर फलांची इच्छा न ढेवितां हें दोन मकारचें तप करावें लागतें, शास्त्रोक्त पद्धतीनें ध्यानाची प्राप्ति व्हावी व संयम संपत्ति लाभावी ह्मणून धीर मुनि अनशन नां-वाचें पहिलें बाह्य तप आद्रानें करीत असतात. याच एका तपानें बुद्धिमान लो-कांना आपलें दुष्ट मन स्वाधीन ठेवतां येते. अनशन हाणजे अन्न, पिण्याचे पदार्थ, खाद्य-बफी, लाइ, चिवडा वगैरे, व चाटण्याचे पदार्थ या चार आहारांचा त्याग करणें. याचें षष्ट, अष्ट्रम, पक्ष, मास वगैरे पुष्कळ भेद आहेत. १३३ जागरूकपणा, वातापितादिकांचें उपशमन, संयम चांगला पालता येण, स्वाध्याय व संतीष या गोष्टींच्या सिद्धचर्थ हें अवमोद्र्य तप करावें असें केवलज्ञानी जिनेश्वर भन्यांना सांगतात. कमी आहार घेणें यास अवमोदर्थ किंवा ऊनोदर ह्मणतात. एक हजार तांदळांचा घास या प्रमाणास धरून पुरुपाचा आहार वत्तीस घास प्रमाण मान-लेला आहे, एकेक घास कमी करीत करीत एक घासापर्यंत आहार घेणे हें सर्व ऊनोदराचे भेद होतात. १३४ एक घर, गल्ली, दाता, अन्न, वगैरेविपयीं कांहीं संकल्प करणें यास दृत्तिपरिसंख्यान ह्मणतात. अशा संकल्पाने मन ताव्यांत

संकल्प एकभवनादिक गोचरो यश्चित्तावरोधनमवेहि तपस्तृतीयं तृष्णारजःशमनवारि निरत्ययाया लक्ष्म्यास्तदेव हि वशिकरणैक-मंत्रं ॥ १३४ ॥

यथागमं शून्यगृहादिकेषु विविक्तशय्यासनमामनंति ॥
स्वाच्यायदेवव्रतयोगसिद्धे मुनेस्त १ः पंचममंचितं तत् ॥ १३६ ॥
श्रीष्मातपस्थितिघनागमवृक्षमूळवासाभवासविविधप्रातिमादिकं रात्
पष्टं तपः परमवेहि नरेंद्र! कायक्केशाभिधानमिद्मेव तपः मुमुख्यं १३७

राहतें. हैं तप छोभरूपी धूळ धुऊन टाकण्यास पाण्यासारखें आहे व निर्वाध अगा मोसलक्ष्मीला वग करण्यास हैं वशिकरण मंत्रासारखें आहे. अमुक दात्यानें आ हार दिला तर घेईन, अमुक पात्रांतून आहार दिला तर घेईन इत्यादि संकल्पास द्यांपिरिसंख्यान तप ह्मणावें. १३५ दुष्ट इंद्रियरूपी घोड्यांची मस्ती नाहीं शिव्हांची ह्मणून व निद्रा व आलस यांना जिंकण्यासाठीं, स्वाध्याय व ध्यान यांची सुखानें प्राप्ती व्हाची ह्मणून, तूप साखर वगैरे रसाचा त्याग करणें यास रसपिरत्याग तप ह्मणावें १३६ जाह्माला अनुमरून पडकें घर, सोहून दिलेलें घर, पर्वताची गुहा वगैरे दिकाणीं स्वाध्यायतपासाठीं व ब्रह्मचर्यत्रत चांगलें पालावें ह्मणून मुनि निजतात व वसतात त्यांचें हें विविक्त शय्यासन नांवाचें हें पांचवें पूल्य तप होय.

१३७ उन्हाळ्यांत उन्हामध्यें तपश्चरण करणें, पावसाळ्यांत झाडाच्या खार्ळीं तप करणें, इतर वेळीं अशीत्-हिवाळ्यांत उघट्या मेदानांत तपश्चरण करणें तसेंच रात्रीं स्मग्रान वगेरे टिकाणीं ध्यान धरणें, मूर्यासंमुख मुख करून ध्यान धरणें वंगरे प्रकारानें तप करणें यास हे राजन्! कायक्रेश नांवाचें तप म्हणतात असें समज्ञ. हेंच तप सर्व तपामध्यें मुख्य आहे. १३८ सर्वज जिनेश्वराच्या आजेला अनुसन्त प्रमादापासून जे दोप आपल्या हातून घट्टन येतात त्यांचें नियमन परणें अर्थान् ज्या उपायांनीं ते दोप दुर होतात असें आगमामध्यें सांगिनलें आहे ते उपाय अमलांन आणणें यास प्रायिच्च तप म्हणतात. या तपाचें दहा

अथ दर्शविधं प्रायिश्वत्तं प्रमादभगगसां प्रतिनियमितं सर्वज्ञाज्ञापणीतिविधानतः ॥ प्रवयसि जने प्रवज्याद्यैः स यः परमादरो ॥ भवति दिनयो मूलं मुक्तेः मुखस्य चतुर्विधः ॥ १३८ ॥ निजतनुवचःसाधुद्रव्यांतरैर्यदुपासनं ॥ ननु दशविधं वैयावृत्त्यं यथागममीरितं ॥ अविरतमथ ज्ञानाभ्यासो मनःस्थितिशुद्धये ॥ शमसुखमयः स्वाध्यायोऽसो दशाधिविधो मतः ॥ १३९ ॥

भेद सांगितले आहेत. दीक्षा, ज्ञान, तप वगैरेनीं अधिक अञ्चा वयोधिक मुनि आचार्य वगैरे विषयीं जो उत्कृष्ट आदर करणें तें विनय नांवार्चे तप होय. याचे दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय व उपचारविनय असे चार भेद आहेत. शंकादि दोषगहित असे तत्वावर श्रद्धा टेवणें हा दर्शन विनय. मोठ्या आदरानें ज्ञानाचा अभ्यास करणें, मनन करणें यास ज्ञानविनय म्हणतात. चारिल्लांत पूर्ण स्थिरता असणें हा चारित्रविनय व मत्यक्ष आचार्य आले असतां उठून उमा राहणें, हात जोडणें वैगेरे उपचाराविनय होय. हा विनय मुक्तिमुखाचें मूळ आहे. १३९ स्वतःचें शरीर, वचन, व निर्दोष असे औषधादि-पदार्थ यांच्या साहाय्यानें मुनीश्वरांची आगमाला अनुसक्त उपासना करणें-सेवा सुश्रुषा करणें यास वैयावृत्य म्हणतात. याचे आगमांत दहा भेद सांगितले आहेत. मनाची विशुद्धता चांगली गहावी म्हणून नेहमी ज्ञानाभ्यास करणे यास स्वाध्याय ह्मणतात. हा स्वाध्याय शांति व सुख यांनीं भरलेला आहे अर्थात् यापासून याची शाप्ति होत असते. या स्वाध्याय तपाचे पांच भेद आहेर. निर्देशि ग्रंथ शि-कविणें यास वाचना ह्मणतात. संशय नाहींसा होण्याकरितां अथवा आपणास अस-लेल्या माहितींत बलकटी यावी ह्मणून प्रश्न करणे यास पृच्छना ह्मणावें. शुद्ध पाठ ह्मणणें तो आम्नाय व जाणछेल्या तत्वाचें वारंवार मनानें चिंतन करणें यास अनुपेक्षा, धर्मकथा सांगणें, उपदेश देणें। यास धर्मीपदेश झणतात. १४० मी या पदार्थाचा स्वामी आहे व ही वस्तु माझी आहे अशा प्रकारच्या आपल्या संकल्प बुद्धीचा उत्तम रीतीनें त्याग करणें यास जिनेश्वरांनीं व्युत्सर्ग तप असें नांव दिल्लें आहे. याचे बाह्योपाधि त्याग-घर, धनधान्य यांचा त्याग करणें व

आत्मात्मीयायाः स्वसंकल्पबुद्धेः सम्यक्त्यागो यः प्रणीतो जिनेंद्रैः॥
म व्युत्मगों द्विप्रकारः प्रतीतो ध्यानं चातः सप्रभेदं प्रवक्ष्ये॥१४०॥
अविह सत्संहननस्य सूक्तमेकाण्रचितास्त्विनरोध एकः॥
ध्यानं जिनेद्रैः सकलावनोधरंत्रभृहूर्तादथ तच्चतुर्धा ॥ १४१॥
आर्तं च रेष्द्रं नरनाथ! धर्म्यं हुक्लं च तद्भेद इति प्रणीतः॥
संसारहेतू प्रथमे प्रदिष्टे स्वमीक्षहेतू अवतः परे द्वे॥१४२॥
आर्तं विद्धि चतुर्विधं स्मृतिसमन्वाहार इष्टेतरा—
वाप्तस्तिद्धरहाय चेष्टविरहे तत्संगमायेति यः॥
अप्यत्युद्धत्वेदनाभिहतये घोरं निदानाय तत्—
प्रादुर्भृतिरुदाहृदा खु गुणस्थानेषु पद्स्वादितः॥१४३॥

अभ्यंतरोपाधि - क्रोधादि ं विकागचा त्याग करणें असे दोन भेद आहेत.
आतां ध्यानाचे भेदसहित मी वर्णन करितों, १४१ एकाच
विपयाकढे विचाराला रोक्तन ठेवणें यास ध्यान म्हणतात. हें ध्यान
वज्रवृपभनाराच, वज्रनाराच व नाराच या तीन सहनमधारकांना अंतर्भृहतपर्यत
होऊं शक्तें असें सर्वज्ञ जिनांनीं सांगितलें आहे असें हे राजन्! तुं समज१४२ या ध्यानाचे आर्नध्यान, गेहत्यान, धर्मध्यान आणि शुक्रध्यान असे चार
भव आहेत. हे राजाधिराज, पहिली दोन ध्याने संसाराला व शेवटचीं दोन ध्याने
मोक्षाला कारण आहेत. १४३ आर्तध्यान चार तन्हेंचे आहे. आनिष्ट पढार्थीचा
संयोग झाला असतां तो दृर व्हावा असा नेहमी विचार करणें, यास अनिष्ट
मंयोगज आर्तध्यान म्हणतात आवडत्या पढार्थीचा वियोग झाला असतां
त्यांच्या माप्तीविपर्या नेहमी विचार करणें यास इष्टवियोगज आर्तव्यान म्हणतात.
गंगापास्न वेदना उत्पक्त होऊं लागली असतां ती दूर व्हावी असा नेहमी विचार
परणें व पुटें मला उत्तम भोग्य पढार्थ मिलावेत अशी इन्हा असणें हें निटान
आर्न यान होय. पहिलीं नीन ध्यान पहिल्या गुणस्थानापासून साहच्या
गुणस्थानापर्यन होतानः महाच्या गुणस्थानांत निटान आर्नियान होत नार्हा.
१४४ हिसा, असत्य भाषण, चोरी व परिगहाचे रक्षण करणें या कार्यीन

१४४ हिंसा. असन्य भाषण, चोरी व परिग्रहाचे रक्षण करणे या कार्यान भगरी गएन जाणे व न्यामुळे परिणामामध्ये अतिकय क्रता उत्पन्न होणे यास हिंसानृतस्तेयपरिश्रहैकसंरक्षणेभ्यः खळु रौद्रमुक्तं॥ तस्य प्रयोक्ता विरतो निकामं स्यात्संयतासंयतलक्षणश्च ॥ १४४॥ आज्ञापायविपाकसंस्थितिभवं धर्म्यं चतुर्धा मतं यः सम्यज्विचयाय तत्स्मृतिसमन्वाहार आपादितः॥ भावानामातिसोध्स्यतो जडतया कर्मोदयादात्मनः॥ तत्राज्ञाविचयो यथागमगतं द्रव्यादिसंचितनम् ॥ १४५॥ मिध्यात्वेन सदा विमूहमनसो जात्यंघवत्प्राणिनः॥ सर्वज्ञोक्तमताच्चिराय विमुखा मोक्षार्थिनो ज्ञानिनः॥ सन्मार्गादवबोधनादिभमताहूरं प्रयांतीति यत्॥ मार्गोपायविचितनं तद्धदितं धर्म्यं दितीयं चुधैः ॥ १४६॥ अपायविचयोऽथवा निगदितो जिनैः कर्मणां अपायविधिचिंतनं नियतमात्मनः संततम् ॥ अपेयुरहितादिमे कथमनादिमिध्यात्वतः श्रारिण इतीरिता स्मरणसंतितश्चापरा ॥ १४७॥

रौद्रध्यान म्हणतात. या ध्यानाचा स्वामी अविरत जिंव व संयतासंयत अर्थात् आवक हे होत. श्रावकाला पिरग्रहांचें संरक्षणामुळें हें ध्यान होऊं शकतें परंतु तें त्याला नरकगतीला कारण असूं शकत नाहीं. मुनींना जर हें रौद्रध्यान होऊं लागलें तर ते आपल्या संयमापासून श्रष्ट होतात. १४५ रत्नत्वयधमीपासून जें वेगलें नाहीं त्यास धर्म्यध्यान म्हणतात. याचें आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय व संस्थानविचय असे चार भेद आहेत. आज्ञा वगैरेचा उत्तम रीतींनें वारंवार विचार करणें, स्मरण करणें, यास धर्म्यध्यान म्हणतात. जीवादिपदार्थांचें स्कृष्म स्वरूप स्वतःला कर्मीद्यामुळें वुद्धीला मांच आल्यानें शास्तांत जमें सांगितलें असेल तमें प्रमाण मानून त्याचें वारंवार चिंतन करणें यास आज्ञाविचय धर्म्यध्यान म्हणतात. १४६ जन्मांघाला कांहीं दिसत नसल्यामुळें तो खाच खळग्यांत जसा पडतो तमें पिथ्यात्वानें या जीवांचें मन नेहमीं मृढ वनलें आहे यामुळें हे सर्वज्ञ जिनेश्वरांनीं दाखविलेल्या सन्प्रार्गापासून श्रष्ट होत आहेत. जिनेश्वराच्या

यज्ज्ञानावरणादिकर्मसमितेर्द्रव्यादिकं प्रत्ययः ।
प्रोद्यचित्रफलोच्चयानुभवनं प्रत्यक्संचितनम् ॥
सम्यक्तिन्नतरां विपाकविचयो लोकस्य संस्थाविधेः ॥
यत्संस्थाविचयो निरूपणमिति स्याद्रप्रमत्ताच्च तत् ॥ १४८ ॥
चतुर्विकल्पं निगदंति शुक्कध्यानं जिना ध्यानिविभिन्नमोहाः ॥
आद्य सदापूर्वविदो भवेतां परे परं केवलिनः प्रणीते ॥ १४९ ॥
प्रोक्तित्रवर्गस्य जिनैः पृथक्तवितर्क आद्यः स इति प्रणीतं ॥
द्वितीयमेकत्विवर्तकं एक्योगस्य च ध्यानमनूनवोधैः ॥ १५०॥

करयाणकारक उपदेशापासून हे अज्ञ प्राणी फार दुर जात आहेत यामुळें संसार भ्रमरूपी अपाय यांना झाला आहे असें चिंतन करणें व यापासून यांच्या उद्घाराच्या **उपायाचा विचार करणे यास** उपाय यम्पेष्यान म्हणतात. १४७ कर्मापासून जीवाचें नेहमीं अकल्याण होतें असें जिनांनीं सांगितले आहे. सर्वे कर्मीपैकीं मिथ्यात्व कर्म हैंच जीवाचा फार अपाय करिते अशा मिथ्यात्वापासून हे प्राणी कर्से वरे दुर होतील ? असें नेहमीं स्मरणरूप चिंतन करणें यास अपाय विचय असेंही ह्मणतात. १४८ ज्ञानावरणादिक आठ कर्मे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इत्यादि कारणसामग्री मिलाली असतां उदयाला येऊन नानाप्रकारची फळें-सुखदुःखादिक फळें जीवास भोगावीं लागतात. त्या प्रत्येक कमीच्या फलाचें उत्तम रीतीने चिंतन करणें याम विपाकविचय असें ह्मणतात. लोकाच्या आकाराचा व त्यामध्यें होत असलेख्या दु खादिकांचा व लोकांच्या अनेक भेदाचा-स्वर्ग, नरक, द्वीप, समुद्र, मोक्ष इत्या-दिकांचा विचार करणे यास संस्थानविचय असें ह्मणतात. हें धर्मध्यान अविरत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तविरत व अप्रमत्तविरत या चार गुणस्थानातील जीवांना होते. १४९ शुक्लध्यान चार प्रकारचे आहे असे ध्यानाच्या द्वारं मोद्दर्भीय कर्म ज्यांनी नष्ट केलें आहे अशा श्री जिनेश्वरानी सांगितलें आहे. पहिलीं दोन ध्याने चौदा पृत्रीचें ज्ञान ज्यांना आहे अञा मुनीवगम होते व पृद्वीं दोन त्यानें सयोग के उठी व अयोग केविही या उभयतांना होत असतात. जमें अतिशय स्वन्छ केलेलें वल पूर्ण पांडरें होतें तसे या ध्यानामध्यें आत्म्याचे परिणाम अगर्टी निर्गळ होतात म्हणून या ध्यानास शुक्लध्यान हैं नाव आहे. स्क्ष्मिक्रयासु प्रतिपादितेन स्क्ष्मिक्रयादिप्रतिपातिनामा॥
तत्काययोगस्य वदंति शुक्लं तृतीयमालोकितिवश्वलोकाः ॥१५१॥
अथो विपूर्वोपरतिक्रयादिका निश्चित्तकारव्या परमस्य कीर्तिता ॥
नरेन्द्र शुक्कस्य समस्तदृष्टिभिक्षेवत्ययोगस्य तद्व्यदुर्लभम् ॥१५२॥
एकाश्रये विद्धि कुशाश्रबुद्धे वितर्कवीचारगते निकामं
पूर्वे दितीयं त्रिजगत्पदीपैर्जिनैरवीचारिमिति प्रणीतम् ॥ १५३॥
बुधा वितर्क श्रुतिमित्युशन्ति वीचार इत्याचरणप्रधानाः॥
अर्थस्य च व्यंजनयोगयोश्र संक्रान्तिमाक्रान्तशमैकसौक्याः॥१५४॥

१५० पृथक्तव वितर्क हैं पहिलें शुक्ल ध्यान मन वचन व काययोग या तीनहीं योगांनीं उत्पन्न होतें अर्थात् तीन योगाचे धारक असे पूर्व श्रुतज्ञान्याला हैं पहिलें ग्रुक्लध्यान होतें. दुसरें एकत्विवितर्क नांवाचें ग्रुक्लध्यान तीन योगापैकीं कोणत्याही एक योगाला घारण करणाऱ्या मुनीराजास होते असे पूर्ण ज्ञान धा-रण करणारे जिनेश्वर सांगतात. १५१ ज्यावेळी सयोग केवळी जिनेश्वर योगनि-रोध करितात त्यावेळीं काय योगाला अतिशय सूक्ष्म करितात. या योगाला सूक्ष्म करतांना त्यांना सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति हैं ध्यान होतें. यावेळीं इतर योग आधींच नष्ट झालेले असतात. असें सर्व तत्वांना पाहिलेले अरहंत भगवान सांगतात. या ध्यानाचें द्वारें भगवान् अयोग केवली बनतात. १५२ यानंतर व्युपरत क्रिया नि-दृत्ति नांवाचें चौथें शुक्लध्यान होतें. हें ध्यान सर्वोत्कृष्ट आहे. हें अयोग केव-**ळीना होतें. इतरांना याची प्राप्ति** होत सर्वदर्शी जिनेश्वरानी सांगितलें आहे. या अयोग केवलीच्या अवस्थेंत योगाचा पूर्ण निरोध होतो. व त्यामुळें या ध्यानाचें व्युपरतिक्रिया निष्टात्ति असे नांव आहे १५३ पृथक्तवितर्क व एकत्विवर्तक हीं दोन शुक्लध्यानें हे निष्णुण राजन् एकाच आधारांत असतात अर्थात् चौदा पूर्वींचे ज्यांना ज्ञान आहे अशा मुनी-श्वरांना हीं दोन ध्यानें होत असतात. पहिल्या शुक्ल ध्यानांत वितर्क व वीचार असतो म्हणून त्याचे पृथक्त्ववितर्क वीचार असे नांव आहे. दुसऱ्या ध्यानांत वीचार नसतो म्हणून त्यास त्रैलोक्याला दिपासारखे प्रकाशित करणाऱ्या जिने-श्वरांनीं एकत्व बीतर्क अवीचार असे नांव दिलें आहे. १५४ आचरणाला-चारि-ञाला प्रधानमुख्य समजणारे मुनीश्वर श्रुतज्ञानाला वितर्क असे नांव देतात. व ज्यांनीं समतारूप अद्वितीय सुखाची प्राप्ति करून घेतली आहे अशा जिनेश्वरांनीं अर्थ व्यंजन व योग यांच्या संऋगणाला वीचार असे नाव दिलें

ध्येयं द्रव्यम्थार्थिमत्यभिमतं तत्पर्ययो वापरो राजव्यंजनिमत्यवेहि वचनं योगांगवाक्चेतसां ॥ प्रस्पंदः परिवर्तनं यदुदितं संक्रान्तिरित्यंजसा ॥ स्वालम्ब्येकतमं क्रमेण विधिना कृत्स्नेषु चार्थादिषु ॥ १५५ ॥ द्रव्याणुं सुवशीकृताक्षतुरगो भावाणुमप्यादतो ध्यायन्प्राप्तवितर्कशक्तिरनधः सम्यक्पृथक्त्वेन यः ॥ अर्थादीन्मनसा क्रमाच शमयन् संसर्पतोन्मूलयन् ॥ मोहस्य प्रकृतीरसो वितनुते ध्यानं सदाद्यं सुनिः ॥ १५६ ॥ प्राप्यानंतगुणैकशुद्धिसहितं योगं विशेषक्रमात्। छिंदन्मोहतरुं समूलमचिराज्ज्ञानावृतेः संततं ॥

१५५ ज्याचें चिंतन करावयाचें त्याला ध्येय ह्मणतात. द्रव्य, गुण व पयोय यांचा जो समुदाय त्यास अर्थ ह्मणतात व हा अर्थच ध्येय आहे व्यंजन द्मणजे शब्द अर्थात् शास्त्रांतील 'एको ह शाश्वतः आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः' इत्यादि वाक्यांना व्यंजन असे झणतात. शरीर, वचन व मनाची जी प्रवृत्ति चलन वलन होते यास संक्रांति ह्मणतात. ही संक्रांति तीन प्रकारची आहे. अर्थ संक्रांति, व्यंजन सक्तांति व योगसंक्रांति. द्रव्यरूप ध्येयाला सोडून पर्याय किंवा गुणरूपी ध्येयाकढे प्रद्याती होणें ही अर्थ संक्रांति होय. एका श्रुत शब्दाचा किंवा वाक्याचा आश्रय घेऊन ध्यान करीत असतां तें सोइन दुसऱ्या श्रुतवचनाचा आश्रय घेण नें सोड्न तिसऱ्याचा घेणें या सर्वाला व्यजन सक्रांति म्हणतात. काययोगाच्या आश्रयाने आधी ध्यान करून नंतर मनोयोगाने ध्यान करणे तोही सोडून नंतर वचन किंवा मनोयोगानें ध्यान करणें इत्यादिकांना योग संक्रान्ति ह्मणतात. पहिल्या ध्यानांन दढता नसतें म्हणून असें परिवर्तन होतें परंतु दुसऱ्या ध्यानांत दा प्रकार नाईं। १५६ इद्रियरूपी बोड्यांना ज्यानें उत्तम बश केंछे आहे असा मुनिराज श्रुत जानाची शाक्ति प्राप्त करूत घेऊन द्रव्यगुण पर्याय वगैरेचें वेगळं वेगळे चिंतन करितो. आपल्या मनोवेगाने द्रव्याणु म्हणजे द्रव्याचा सूक्ष्मपणा व भावाणु म्हणजे भावाचा स्वंसंवेटन पिगामाचा मूक्ष्मपणा याचे मुनिराज चिंतन करितो. आपत्या परिणामाच्या निर्मलतेने मोहनीय कर्गाच्या पकृतीना शमविणे किंवा त्यांचा क्षय करणे हीं कार्य या पहिल्या ध्यानांत होतात.

र्रंघन्वंघमि स्थितेश्च जनयन् न्हांसक्षयौ निश्चलः॥
स्यादेकत्विवर्त्वभागिति यतिः कर्माणि हंतुं सहः॥ १५७॥
अर्थव्यंजनयोगसंक्रमणतः सद्यो निवृत्तश्चतः॥
साधुः साधुकृतोपयोगसहितो ध्यानश्चमाकारभृत्॥
ध्यायन्श्चीणकषाय इत्यचलितस्वांतः पुनर्ध्यानतः॥
निर्लेपो न निवर्तते मणिरिव स्वच्छाकृतिः स्फाटिकः॥ १५८॥
निःशेषमेकत्ववितर्कशुक्कध्यानाभिद्ग्धाखिलघातिदारः॥
ज्ञानं परं तीर्थकरः परो वा स केवली केवलमभ्यपैति॥ १५९॥
चूडारत्नांशुजालैः किशलियतकरैर्वद्यमानः सुरंद्रैः॥
स्वज्ञानान्तर्निममित्राजगदनुपमस्तीर्भसंसारसिंधुः॥
उत्कर्षणायुषोऽसौ विहरति भगवान्भव्यवृद्धैः परीता॥
देशोनां पूर्वकोटीं शिशविशदयशोराशिभः श्वेतिताशः॥ १६०॥

१५७ अनतपर्टानीं ज्यांत विशुद्धि झाळी आहे अशा कीणत्यातरी एका योगाचा आश्रय करून विशेषरीतीनें क्रमानें मोहनीय कर्माचा नाश करण्यास मुनिराज सुरवात कारितात. व त्यावेळीं मोह सर्व मूळसहित नष्ट करून टाकितात. याच प्रमाणें ज्ञानावरणीय कर्माचा वंध रेाकून व त्याची स्थिति कमी करून टाकितात. अशा रीतीनें मुनिराज ज्यांचा योग निश्चळ आहे असे वनळे ह्मणजे ते कर्मनाश करण्याप्त समर्थ होतात. असले याति एकत्ववितर्कशुक्छध्यानी होत. १५८ जेव्हां या ध्यानास मुनिराज सुरवात करितात त्यावेळीं त्यांचें श्रुतज्ञान निश्चळ होतें व त्यावेळीं अर्थ व्यंजन व योग यांच्या सक्तांति झणजे परिवर्तनें नाहींशीं होतात. व योगाची पूर्ण एकाग्रता प्राप्त होते. ध्यानाला योग्य अशा आकाराचे धारक असे ते मुनिराज या एकत्व वितर्के ध्यानापासून जेव्हां पराष्ट्रत्त होत नाहींत तेव्हां त्याचें क्षीण कषाय हें गुणस्थान प्राप्त होतें. त्यावेळीं यांचा आत्मा स्वच्छ आकाराच्या स्फटिक मण्याममाणें निर्लेप वनतो अर्थात् मोहनीय कर्माचा पुनः त्यांना बंध होत नाहीं. १५९ एकत्विवतर्क शुक्छध्यानरूपी अग्नीने जाळून टाकिले आहेत ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय व अंतराय कर्म संपूर्ण ज्यांनी असे ते तीर्थंकर किंवा सामान्य मुनि केवलज्ञानाला प्राप्त होतात. १६० तेव्हां

अन्तर्भुहूर्तिस्थितिकं यदायुस्तचुल्यवेद्यान्वितनामगोत्रः॥ विहायवाद्यानसयोगमन्यं स्वकाययोगं खळु वादरं च॥ १६१॥ आळंव्य सूक्ष्मिकृतकाययोगमयोगतां ध्यानवळेन यास्यन्॥ सूक्ष्मिक्रयादिप्रतिपातिनाम ध्यायत्यसौ ध्यानमनन्यकृत्तः॥१६२॥ आयुःस्थितेरप्यपरं निकामं कर्मत्रयं यद्यधिकं स्थितं स्यात्॥ तदा समुद्धातमुपैति योगी तच्चल्यतां तत्त्रितयं च नेतुं॥१६३॥ दंडं कपाटमनधं प्रतरंच कृत्वा स्वं लोकपूरणमसौ समयैश्चतुर्भिः॥ तावाद्धरेव समयैरुपसंहतात्मा ध्यानं तृतीयमथ पूर्वविदभ्युपैति॥१६२॥

चूडामणिरत्नाच्या किरण समृहांनीं ज्यां हे हात पाछवी फुटल्याप्रमाणें शोभतात अशा देवेन्द्राकडून जे बंदिले जातात. ज्यांच्या ज्ञानामध्यें त्रैलोक्य निमग्न झालें आहे जे अनुपम असून संसारसमृद्रांतून तरून गेले आहेत असे ते मुनिराज भव्यसमूहांनीं वेष्टित वनून पूर्वकोटि वर्षीना काहीं कमी अशा उत्कृप्ट आयुष्यानें विहार करितात व आपल्या चंद्राप्रमाणें निर्मल अशा स्वतः च्या यशसमूहांनीं सर्व दिशा पांढच्या करितात. १६१--६२ जेव्हां अंतर्भुहूर्त आयुष्य राहतें व नाम, वेदनीय आणि गोत्न ही कर्में ही अंतर्मुहूर्त रिथतीचीं अस-तात त्यावेळीं वचनयोग व मनोयोग यांचा त्याग करून व वाद्र काययोगाचा आश्रय वेतात. काययोगाला सूक्ष्म करून ध्यानवलानें ते अयोगावस्येला प्राप्त होतात. इतर कोणतेंही कुत्य नसल्यामुळं सूक्ष्मिक्रयामातिपाति नांवाच्या ध्यानाला ते पारंभितात. १६२ आयुक्रमीपेक्षां नाम गोल, व वेदनीय ही तीन कर्मे ज्यांची अविक स्थितीची उरली असतील तर त्या कर्माची स्थिति आयुकर्मा एवढी कर्-ण्याकरितां ते योगी समुद्धात कारितात यांच्या या समुद्धाता लोकपूरणसमुद्धात असें नांव आहे. या समुद्धातामध्यें योग्याचे आत्मप्रदेश सर्वछोकभर पसरून ते पुनः सकुंचित होऊन देहस्थ होतात. १६४ पहिल्या चार समयांत या योग्याच आत्मप्रदेश दंडाकार वनून देहाचा आश्रय न सोडतां देहापासून वाहेर पडतात नंतर कवाड व पड्याच्या आकाराचे वनून चवध्या समयांत सर्व लोकभर पस-रतात व नसेंच चार समयांनी आत्मप्रदेश संकुचित होतात यानंतर तिसऱ्या ध्या-

ततः समुच्छिन्नपदादिकिकियानिवृत्तिना ध्यानवरेण कर्मणां ॥
निरस्य शक्तिं सकलामयोगतां प्रपद्य निर्वाणमुपैति केवली ॥१६५॥
स्वपूर्वकृतकर्मणां च्युतिरुदीरिता निर्जरा
दिभद्युपयात्यसाविति विपाक्तजा पाकजा ॥
पचंति सुवि कालतः परमुपायतो योग्यतो
वनस्पतिफलानि मनुजनाथ कर्माण्यपि ॥ १६६ ॥
सम्यग्दृष्टिरुपासकश्च विरतः संयोजनोद्रेष्टको
मोहस्य क्षपकरूतथो शामको दृष्टेश्चरित्रस्य च ॥
शांताशेषकषायकः क्षयकरः प्रक्षीणमोहो जिनो
नासंख्येयगुणक्रमाञ्चनु भवत्येषां परा निर्जरा ॥ १६७ ॥
इति संवरनिर्जरानिमित्तं द्विविधं सत्परिकीर्तितं तपस्त्वं ॥
शृणु संश्रयणीयमेकबुद्धचा क्रमतो मोक्षमतस्तवाभिधास्ये ॥१६८॥

नाला ते सुरवात करितात. १६५ यानंतर समुच्छिन्न किया प्रतिपाती नांवाच्या उत्कृष्ट चौथ्या ध्यानानें अद्यापि कर्मीची सर्व शक्ति नष्ट करूच मुनिराज योगर-हित बनून निर्वाणपदाला प्राप्त होतात.

१६६ पूर्वी संचित कैलेल्या कर्माची आत्म्यापासून थोडी थोडी सुटका होणें यास निर्जरा म्हणतात. या निर्जरचे सविपाका व अविपाका असे दोन भेद आहेत. यथाकालीं कर्म उदयाला येजन आपलें फळ आत्म्याला देजन तें नष्ट होणें यास सविपाक निर्जरा म्हणतात व जसें झाडाचीं फलें उपायांनीं पक्षावस्थेला नेता येतात त्याप्रमाणें हे राजन हीं ज्ञानावरणादि कर्म देखिल पक्षावस्थेपत नेजन त्यांना आत्म्यापासून काढून टाकिता येतें. या निर्जरेला अविपाका निर्जरा म्हणतात. १६७ सम्यग्हिष्, त्रतीश्रावक, महात्रती म्राने, (साह्व्या व सात्व्या गुणस्थानांतलें) अनंतानुवंधी कषायांचे विसंयोजन करणारे—त्यांना अपत्याख्या स्वभावाचे वनविणारे, दर्शनमोहाचा क्षय करणारे, चारित्रमोहाचा अप करणारे ज्यांचे चारित्र मोहकर्म पूर्ण उपश्म पावलें आहे असे, चारित्रमोहाचा क्षय करीत असलेले व त्याचा पूर्ण क्षय केलेले व स्योगि जिन या सर्वीची उत्तरोत्तर कर्माची असंख्यातपटीनें आधिक अधिक निर्जरा होत असते. १६८ याप्रमाणें संवर व

वंधस्य हेतोर्नितरामभावात्मुसंनिधानादिप निर्जरायाः ॥
समस्तकर्मस्थितिविप्रमोक्षो मोक्षो जिनेंद्रैरिति संप्रणितः॥१६९॥
प्रागव मोहं सकलं निरस्य गत्वाथ च श्रीणकपायसंज्ञां ॥
विवोधदृष्ट्यावरणांतरायान्हत्वा ततः केवलमभ्युपैति ॥ १७० ॥
चतुर्व्धासंयतपूर्वसम्यग्दृष्ट्यादिषु भाक् सुविद्याद्धयुक्तः ॥
स्थानेषु कर्समाश्चेदिप क्षिणोति मोहस्य सप्त प्रकृतीरशेपाः॥१७१॥
निद्रानिद्रा प्रचलास्त्वपूर्वा गृद्धिस्तथा स्त्यानपदादिपूर्वा ॥
श्वा गतिस्तत्सदृशानुपूर्वी तिर्यग्गतिस्तत्प्रकृतानुपूर्वी ॥ १७२ ॥
एकेंद्रियादिश्चतुर्रिं वांता चतुर्विधा जातिरथातपश्च ॥
उद्योतकस्थावरस्क्ष्मसंज्ञा साधारणाख्या प्रकृतिश्च राजन् ॥१७३॥
निर्वरा या उभयतांना कारण असलेले दोन मकारचे (अंतरंग व वहिरंग) तप

हें राजन मीं वर्णिलें आहे. आतां ऐकण्याला योग्य अजा मोक्षाचें क्रमानें मी तुला स्वरूप सांगतो. तूं एकाग्रवुद्धिने तें ऐक. १६९ वंधाच्या कारणांचा (मिध्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग ) पूर्ण अभाव झाला असतां व निर्जरा कर्मवंथान रिहत अशी होऊं लागली असतां संपूर्ण कर्म सत्तेंतून पूर्ण नष्ट होतें यास जिनेश्वरांनीं मोझ म्हणावें असें सांगितलें आहे. १७०पयमतः संपूर्ण मोहनीय कर्भ नष्ट करून व क्षीण कषाय नांवाच्या गुणस्थानांत प्रवेश झाळा असतां तेथें जानावरण, दर्शनावरण, अंतराय या तीन कमीचा आत्मा नाश करितो व केवली वनता. १७१ चौश्या गुणस्थानापासून सातन्या गुणस्थानापर्यंत कोणत्या ही एका गुणस्थानांत परिणामांच्या निर्मळतेने युक्त होऊन दर्शन मोहनीय कर्मा-च्या-सातप्रकृतींचा आत्मा नाज करितोः अशीत् मिथ्यात्व, सन्यङ् मिथ्यात्व, सन्य-क्त्व, अनंतानुवंधिकोध, मान, माया व लोभ यांचा नार्च करितो. १७२-७३-७४ तदनंतर निद्रानिद्रा पचलापचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगाति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्थ-गाति, तिर्युगत्यानुपूर्वी, एकेंद्रिय. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिद्रिय नातिनामक्षे, आतप, उद्योत, स्थावर, सुक्ष्म, साधारण या सोळा कर्म प्रकृतींचा अनि-द्यत्तिवादरसांपराय गुणस्थानांत हे राजन् नाज्ञ होतो तदनंतर याच गुणस्था-नांत अम्त्यारन्यान क्रोध, मान, माया छोभ प्रत्यारन्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, कोभ अशा आटकपायांचा नाश मुनिश्वर करीत असतात.

क्षिणोति शुद्धचा सहितोऽनिवृत्तिस्थाने स्थितः सन्निति षोडशैताः॥ ततः कषायाष्टकमेकवारं तत्रैव नष्टं क्रियते यतीशा ॥ १७४॥ नपुंसकं वेदमथ क्षिणोति स्त्रीवेदमप्याहितशुद्धवृत्तः ॥ ततः परं तत्र च नोकषायषद्वं च धीरो युगपत्समस्तं ॥ १७५॥ तत्रैव पुंवेदमथो विहन्ति पृथंकपृथक्संज्वलनत्रयं च ॥ लोभोऽपि सूक्ष्मादिकसांपरायस्यांते क्षयं संज्वलनः प्रयाति ।१७६। ततः क्रमात्क्षीणकषायवीतरागोपदेशं समधिष्ठितस्य ॥ उपान्तिमे द्राक्समये निकामं निद्रा विनाशं प्रचला च याति ॥ १७७॥ अथ द्योरन्यतस्य वेद्यो दैवी गतिस्तत्प्रकृतानुपूर्वी ॥ औदारिकं वैकियिकं शरीरमाहारकं तैजसकार्मणे च ॥ १७८॥ स्पर्शाष्टकं पंच रसाः शरीरसंघातकाः पंच च पंच वणीः॥ लघुश्र पूर्वो निहितागुरुश्च तथोपघातः परघातकश्च ॥ १७९॥ प्रा विहायोगतिरप्रशस्ता तथा प्रशस्ता च शुभाशुभा च ॥ स्थिरास्थिरौ सुस्वरदुःस्वरौ च पर्याप्तकोच्छासकदुर्भगाश्च ॥१८०॥ प्रत्येककायोऽप्ययशःपदादिकीर्तिस्त्वनादेयसमाहृया च ॥ निर्माणकर्मप्रकृतिश्च नीचैगोंत्रं च पंचापि रारी (बंधाः ॥ १८१॥

१७५-१७६ यानंतर याच गुणस्थांनात आणखी आत्माचें चारित्र विशुद्ध वनलें म्हणजे नपुंसक वेद, व स्त्री वेदाचाही नाश होतो. यानंतर धीर असे हे मुनिराज याच गुणस्थानांत एकदम हास्य, रित, अरित, शोक, भय, जुगुप्सा या सहा नोकषायांचा नाश करितात. याच गुणस्थानांत पुंवेदाचा नाश करून नंतर संज्वलन क्रोध, मान, माया यांचा नाश होतो. यानंतर दहावें गुणस्थान पाप्त होतें तेथें संज्वलन लोभाचा पूर्ण नाश होतो. १७७ यानंतर वाराज्या गुणस्थानांत-क्षीण कषाय गुणस्थानांत जीव जेव्हां प्रवेश करितो तेव्हां याच्या ज्यान्त्य समयीं निद्रा व प्रचला यांचा नाश होतो व शेवटच्या समयांत पांच ज्ञानावरणीय कर्में, चार दर्शनावरणीय कर्में, पांच अंतराय कर्में यांचा क्षय होतो. १७८-१८१ यानंतर अन्यतर वेदनीय कर्म, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, औदारिक, वेकियिक, आहारक, संस्थानपद्धं त्रिशरीरकांगोपांगं च पदसंहननं द्विगंधं ॥
हन्तीत्युपान्ते समये नृपेता द्वासप्तिंच प्रकृतीरयोगः ॥ १८२ ॥
वेद्यद्वयोरन्यतरं नराणामायुर्गतिश्चापि तदानुपूर्वी ॥
जातिश्च पंचेंद्रियशब्दपूर्वी पर्याप्तकारूयस्त्रसवादरो च ॥ १८२ ॥
स्रुतींथकत्त्वं सुभगो यशः स्यात्कीर्तिस्तदादेयससुच्चगोत्रे ॥
त्रयोदशेताः प्रकृतीः समं च हिनस्ति सान्त्ये समये जिनेंद्रः ।१८४।
व्यपेतलेशः प्रतिपद्य माति शैलेशिमावं नितरामयोगः ॥
विराजते वारिदर्भयमुक्तो निशासु स्वे किं न शशी समयः ।१८५।
भावानां खलु मुक्तिरौपशमिकादीनामभावात्परं ॥
भव्यत्वस्य च भव्यसत्वसमितेश्तकंठमातन्वती ॥
सम्यक्ताद्यं केवलादगमनाद् हृष्टेश्च सिद्धत्वतः ॥
स्यादत्यंतनिरंजनं निश्पमं सौरूयं परं विश्वती ॥ १८६ ॥

तंजस व कार्मण हीं पांच जरोरें, जीत, उप्णादिक आठ स्पर्ज, कडू आंवट वगैरे पांच रस, औदारिक संघानादि पांच संघात, पांढरा, काळा वगैरे पांच रंग, अगुरु लघु, उपघात, परघात विहायोगिति, (प्रज्ञस्त व अप्रश्नस्त) ज्ञुभ, अजुभ, स्थिर, अस्थिर, सुस्वर, दुःस्वर, पर्याप्त, उच्छूम, दुर्भग, प्रत्येक जरीर, अयशस्कीति, अनादेय, विर्माण, नींच गोत्र, औटारिक वंघन वगैरे पांच वंघन कर्मे, समचतुरस्नादिक सहा संस्थानें, औटारिक वैक्तियिक आहारक अंगोपांग अशीं तीन अंगोपांग, वज्रपेभ, नाराचादिक भहा संहननें, सुगंघ दुर्गथ अशा वहात्तर प्रकृति अयोग गुणस्थानाच्या उपान्य समयांत नष्ट होतात. १८३-१८४ अन्यतर वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्य गित, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पंचेंद्रियज्ञाति, अपर्याप्त, त्रस, वादर, तीर्थेकरत्व. सुभग, यग्नः कीर्नि, आदय, उच्चगोत्त, या नेरा प्रकृतींचा चौदाच्या गुणस्थानाच्या शेव-टब्या मगयांत जिनेश्वर नाश करितान. १८५ योवर्ळी चौदाच्या गुणस्थानांच अमन्यत्या या जिनेश्वरांना लेट्या कोणनीदी राहात नाही. अट्या हजार जीलांची भाति होतें. योवर्ळी हे जिनराज फार जोभनान. वरोवर आहे कीं, मेघांच्या जिन्थांनून सुक्त झालेळा संपूर्ण चंद्र गर्नीच्या प्रार्थी शोभत नाही काय ? या गुण-व्यातृन सुक्त झालेळा संपूर्ण चंद्र गर्नीच्या प्रार्थी शोभत नाही काय ? या गुण-



५ एकदां प्रभु अतिमुक्तक नांवाच्या स्मशानांत रात्री प्रतिमायोग धारण करून ध्यानांत लीन हाले अमतां नानाप्रकारच्या विद्यांच्या सामर्थ्यानें उपसर्ग करणारा भव नांवाचा अकरावा रुद्र संसाररित वीर प्रभूला जिंकण्यास असमर्थ झाला. तेव्हां त्यानें पुष्कळ पेळ नमस्कार करून हपीनें प्रभूचे महाति महावीर असे नांच ठेविलें. पृष्ठ ३६१.

आविष्टपांतादथ याति सौभ्यकर्मक्षयानंतरमूर्धमेव॥
एकेन मुक्तः ममयेन मुक्तिश्रियाप्यमूर्तः परिरम्यमाणः ॥ १८६॥
पूर्वप्रयोग।न्नियमप्रकृष्टादसंगकत्वाच्च विवंधलेपात्॥
गतिस्वभावस्य तथाविधत्वानमुक्तात्मनामूर्धगतः प्रसिद्धः॥१८७॥
सौम्याविद्धकुलालचक्रवदथो निर्लेपकालाबुवत्॥
वातारिश्चपवीजविच्छिखिशिखावच्चेति तत्वैिषिभः॥
सद्दष्टान्तचतुष्ट्यं निगदितं पूर्वोदितानां क्रमात्॥
हेतूनां परिनिश्चयाय च गतेः सद्भिश्चतुर्णामिषे॥ १८८॥
धर्मास्तिकायस्य न यांत्यभावात्ततः परं सिद्धिसुखोत्कासिद्धाः॥
धर्मास्तिकायादिविवर्जितत्वादलोकमाहुः परिमद्धवोधाः॥१८९॥

स्थानाच्या नंतर जीवाला मोक्ष प्राप्त होतो. औपरामिक, क्षायोपश्चामिक, औदियक व पारिणामिक भावांपैकीं भव्यत्व यांचा, मुक्तीच्या वेळीं नाश होतो. ही मुक्ति भव्यजीवाच्या अंतःकरणांत उत्कंटा उत्पन्न करीत असते. या मुक्तिमध्यें जीवा. च्या ठिकाणीं सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलद्र्शन, सिद्धत्व, हे गुण राहतात. उप- भारहित आणि कर्मरहित असे उत्कृष्ट सुख येथें प्राप्त होतें.

१८६ कर्मीचा क्षय झाल्यावरोवर हा आत्मा एका समयांत लोकाच्या अंतापर्यंत वरच जातो. व तेथें त्याला मुक्तिलक्ष्मी गाढ आलिंगन देते. १८७ जीवाचा वर जाण्याचा नेहमीं पूर्वीपासून प्रयत्न चाललेला असणें, कर्मापासून वेगला होणें, सर्व कर्मांच्या वंधाचा छेद होणें, व वर गमन करण्याचा स्वभाव असणें या कारणांनीं मुक्त जीवांचें ऊर्ध्वगमन सिद्ध होतें. १८८ हे सीम्य राजा, वर उर्द्धगमनाचे जे चार हेतु सांगितलें होते त्यांची माहिती चांगली व्हावी म्हणून कमानें चार दृष्टांत तत्वज्ञानीं सत्पुरुषांनीं सांगितलेंले आहेत. ते याप्रमाणें कुंभागनें एकदा चाक जोरानें फिरविलें म्हणंने तें संस्कार क्षय होईपर्यंत फिरतें त्याप्रमाणें जीवाला वर जाण्याच्या संस्कारानें वर जाता आलें. ज्याचा लेप निघून गेला आहे असा भोपला पाण्यावर उसळ्न येतो त्याप्रमाणें जीवाचें कर्माचें लिंपण कमी नष्ट झाल्यामुळें जीव वर गमन करितो. एरडाचें वी जसें विज कोशाचीं वंधनें ढिलीं झालीं असतां वर उद्दन जातें तसें कर्माचें

आवरण तुटून गेलें असतां जीव वर जातो. अग्नीची जाते स्वाभाविकपणें वर जाते तसें हा आत्मा कर्माभाव झाल्यावर स्वाभाविक वर जातो. १८९ मुक्ति सुखाविष-यीं उत्कंठित झालेले सिद्धजीव धर्मद्रव्याचा अभाव असल्यामुलें अले।काकाशांत जात नाहींत. लोकाकाशाच्या पुढें धर्मास्तिकाय वगैरे द्रव्यें नसल्यामुळें वाकी राहिलेल्या आकाशाला उत्कृष्ट जानी जिनेश्वर अलोकाकाश असे म्हणतात. १९० क्षेत्र, काल, चारित्र, लिंग, गति, तीर्थ, अवगाहना, प्रत्येकवुद्ध, वोधितवुद्ध, ज्ञान, अंतर, संख्या, अल्पवहुत्व, या पकारांनीं व दोन नयांच्या आश्रयानें फक्त मानलेला आहे. वास्तविक त्यांच्यांत भेद नाहींत. क्षेत्रसिद्ध-प्रत्युत्पन्न नयाच्या अपेक्षेनें आत्मपदेशांत अथवा सिद्धिक्षेत्रांतच मोक्ष प्राप्त होतो. परंतु भूतानुग्राही नयानें पाहिलें असतां पंधरा कर्मभूमिमध्यें जीवाला मोक्ष प्राप्त होतो. कालसिद्ध--प्रत्युत्पन्ननयापेक्षेनें एका समयांत सिद्धि होते. परतु भूतानुग्राही नयानें उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी कालांत मोक्षलाभ होतो. विशेष रीतीनें पाहिलें असतां अवसर्पिणी-च्या सुषम दुःषमाच्या अंतभागीं व दुःषम सुषमकालांत जन्मलेला सिद्ध होतो. दु:पमकालांत उत्पन्न झालेला सिद्ध होत नाही. चारित्रसिद्ध-यथाख्यात चारित्रानें सिद्धि होते अथवा चार व पांच चारित्रांनींही मोक्षप्राप्ति होते. छिंगसिद्ध-मोक्षप्राप्तीच्यावेळीं स्त्री, पुरुष, नपुंसक असे कोणतेंही छिंग नसते म्हणून अलिंगत्वानें सिद्धि होते. अथवा भाविंगाच्या दृष्टीनें पाहिलें असतां तीन्हीं लिगांनी सिद्धि होते. द्रव्यालिंगानें फक्त पुर्लिगानेंच सिद्धि होते. गति-सिद्ध-मनुष्यगतीनें मोक्ष प्राप्त होतो. गागच्या गतीनें विचार केळा असतां चारी गतींनीं मोक्ष प्राप्त होतो. तीर्थसिद्ध-तीर्थकर होऊन सिद्ध होणें च सापान्य मुनि होऊन सिद्ध होणें. अवगाहनासिद्ध-उत्कृष्टावगाहना ५२५ धनुष्यें, जघन्यावगाहना साडे तीन हात अवगाहनांचे मध्य वि रुष्ट असख्यात आहेत. या अवगाहनांनीं सिद्धि होते. प्रत्येकवुद्ध-परोपदेशाशिवाय ज्ञानप्राप्ति करून घेन सिद्ध होणें. वोधितबुद्ध-परोपदेशानें ज्ञानलाभ करून मोक्ष प्राप्त करून ज्ञानसिद्ध-केवल्जानानेंच मोक्ष प्राप्त होतो. परंतु भूतपूर्व नयाने पाहिले असतां मित व श्रुत या दोन ज्ञानांनीं अथवा मितश्रुताविध या तीन ज्ञानांनीं, किंवा मित श्रुत मन पर्येय या तीन ज्ञानांनीं, किंवा मति श्रुत अविध मनःपर्यय या चार ज्ञानांनीं मोक्ष मिळतो. अंतरसिद्ध-एक समय अंतर पहून जवन्य रीतीनें मोक्ष प्राप्त होतो व उत्कृष्ट रीतीने एक जीव मोक्षास गेल्यानंतर दुसरा सहा महिन्यांनी मुक्त होतो. संख्यासिद्ध जयन्य रीतीनें एका समयांत एक जीन सिद्ध होतो व उत्कृष्ट

क्षेत्रं कालचिरित्रिलिंगगतयस्तिर्धावगाहो मतौ॥
प्रत्येकप्रतिबुद्धबोधितांवधी ज्ञानं तथैवान्तरम्॥
संख्या चाल्पबहुत्वामित्यभिहितो भेदस्त्वमीभिः परं॥
सिद्धानां सुनयैनयद्धयबलात्संप्रत्यतितस्प्रशः॥ १९०॥
विधिवदिति जिनेंद्रश्रकनाथाय तस्मै
सदिस नवपदार्थान्व्यक्तमुक्त्वा व्यरंसीत्॥
अपि सुविहितबोधस्तस्य गोभिः समंतान्
अभिनव इव पद्मः पद्मबंधोर्विरेजे॥ १९१॥
विज्ञाय मोक्षपथमित्यथ चक्रवर्ती चक्रिश्रयं तृणिक्वि प्रजहौ दुरंताम्॥
जानन्त्रसन्नपयसः सरसः प्रदेशं पातुं सृगोऽपि यतते मृगतृष्णिकां
कि॥ १९२॥
स्वं ज्यायसे सक्लराज्यमिरंजयाय प्रीत्या प्रदाय तनयाय बभार

दीक्षां ॥ क्षेमंकरं जिनपतिं समुपत्य भक्त्या क्षेमाय षोडशसहस्रनृपैः स सार्द्धं ॥ १९३॥

रीतीनें एका समयांत १०८ जीव सिद्ध होतात. अल्पबहुत्वासीद्धि-अनेक प्रकारची आहे. गतीच्या दृष्टीनें जसे तिर्यच गतींतून येऊन थोडे जीव मुक्त होतात. यापेक्षां मनुष्यगतींतून येऊन मोक्षाला जाणारे जीव ज्यास्ती आहेत. अशाच रीतीनें अल्पबहुत्व क्षेत्र, काल वगैरेमध्यें देखील जाणावा. १९१ याप्रमाणें शास्त्रोक्त पद्धतीला अनुसक्त जिनेंद्रांनीं चक्रवर्तीला समन्वसरणांत नऊ पदार्थीचा उपदेश केला व नंतर ते थांबले. जसें सूर्याच्या किरणापस्न कमलामध्यें विकास उत्पन्न होतो तसे भगवंताच्या वाणीपासून चक्रवर्तीला उत्तम बोध झाला. १९२ मोक्षमार्गाचें स्वरूप याप्रमाणें जाणून चक्रवर्तीनें दुःख-दायक अशा चक्रवर्तींच्या वैभवाचा गवतात्रमाणें तुच्छ मानून त्याग केला. बरोबरच आहे कीं, प्रसन्न पाण्यानें भरलेल्या सरोवराच्या प्रदेशाची ज्याला चांगली माहिती झाली आहे असा हरिण मृगजलाचें पान करण्याची खटपट करील काय १ १९३ चक्रवर्तीनें आपलें सर्व राज्य आरंजय

मनिस प्रशमं निधा र शुद्धं विधिना संधु तपश्चाचार घोरं ॥
भुवि भव्यजनस्य वत्तिलत्वातित्रयमित्रः प्रियमित्रतां प्रयातः ॥१९४॥
अथायुरंते तपक्षा तनुत्वं तनुं स यातां विधिना विहाय ॥
कर्लं सहस्रारमनल्पपुण्येः स्वर्राजतं वर्जितमाप खेदैः ॥ १९५ ॥
तत्राष्टादशक्षागरायुरमरस्त्रणां मनावस्त्रभो
हंसां के रुचकाव्हये प्रसु दत्तित्तष्ट्रिन्वमाने परे ॥
बालावात्मतन् रुचा रुचिरया सूर्यप्रभां देपयन् ॥
दिव्यामष्टगुणां बभार सुचिरं सूर्यप्रभः संपदम् ॥ १९६ ॥

इत्यसगकृते वर्द्धमानचरिते सूर्यप्रभसंभवो नाम
 पंचदशः सर्गः समाप्तः 
 ॥

नांवाच्या मोठ्या मुलाला पीतीनें देऊन टाकिलें व क्षेमंकर जिनेश्वराकडे भक्तीनें येऊन सोला हजार राजांसह आपलें कल्याण न्हावें ह्मणून दीक्षा घेतली. १९४ भन्यलोकांवर मेम करीत असल्याकुळें हा पियमित्र चक्रवर्ती पियमित्र या अन्वर्थक नांवाला प्राप्त झालेला होता. यानें मनामध्यें निर्दोष प्रश्नम धारण करून योग्य विधीनें निर्दोष व घोर असें तपश्चरण केलें. १९५ नंतर जेन्हां आयुष्य संपर्ले त्यावेलीं या चकीनें तपश्चरणानें कृश झालेल्या शरीराचा सल्लेखना करून त्याग केला व जेथे विलक्षल दु ख नाहीं अशा सहस्रार रवर्गाची विपुल पुण्यानें प्राप्ति करून घेतली. १९६ त्या स्वर्गीत याचें आठरा सागर वर्षीचें आयुष्य होतें. देवांग्याना याला पाहून फार आनदित होत असत. हंसाच्या चिन्हाने युक्त असलेल्या रुचक नांवाच्या न्वतः च्या विमानांत हा आनंदित होऊन राहत असे. स्वतःच्या सुंदर शरीरकांतीनें सूर्याच्या वाल कांतीला याने लिजित केलें होतें. यामुलें याचें सूर्यमभ हें नांव सार्थक होतें. ह्या सूर्यमभ देवांने पुष्कल कालपर्यंत अणिमा माहिमा वगैरे आठ दिन्यगुणांनीं युक्त अशा ऐश्वर्याला धारण केलें होतें.

याप्रमाणें असगकविकृत वर्द्धमानचरित्रामध्यें सूर्यप्रभदेवाच्या उत्पत्तीचें वर्णन करणारा पंधरावा सर्ग समाप्त झाला.





अथ नाकसौरूयमनुभूय बहुविधमचिन्त्यवैभवम् ॥
संगरिहतमवतीर्य च स त्वमभूरिह प्रकृतिसौम्यनंदनः ॥ १ ॥
वपुरादधिविधमाञ्च विजहदिप कर्मपाकतः ॥
मेघ इव वियति वायुवशात्परिंगंभ्रमीति पुरुषो भवोदधौ ॥ २ ॥
पुरुषेण दुर्लभमवेहि परममविनाशि दर्शनम् ॥
येन सहितमचिराय यतस्तमुपैति मुक्तिरिप मुक्तिवर्तमना ॥ ३ ॥
सफलं च जन्म खलु तस्य जगित स विदां पुरःसरः ॥
गुप्तिपिहितदुरितागमनं भववीतये भवति यस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

१ दुःखरिहत व नाना प्रकारचें अवर्णनीय ऐश्वर्य ज्यामध्यें आहे असें स्वर्गमुख भोगृन तूं या पूर्व देशांतील श्वेतातपत्नानगरीमध्यें स्वभावतः सौम्य असा नंदन नांवाचा राजा झाला अहिस. २ हे राजन् या जगामध्यें आत्मा कर्मा द्यामुळें नाना भकारचें शरीर ग्रहण करीत असतो व सोहून देत असतो. अशा रीतीनें हा आत्मा मेघ जसा वाच्याच्या धक्षचामुळें आकाशांत इकडे तिकडे भ्रमण करीत असतो तसा या संसारसागरांत वारंवार भ्रमण करीत आहे. ३ हे राजा या जगांत अविनाशी व उत्कृष्ट असें सम्यग्दर्शन आत्म्याला प्राप्त होंणे फार दुर्लभ आहे असें तूं समज. हें सम्यग्दर्शन मोक्षाचा मार्ग आहे. व या सम्यग्दर्शनांन जो आत्मा युक्त बनला आहे त्याला लौकरच मोक्षाची देखील प्राप्ति होते. ४ मनो ग्रिति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति या गुप्तींच्या द्वारें पातकाला न येऊं देणारें असें ज्यांन चारित संसाराचा नाश करण्यास कारण होतें त्याच आत्म्याचें जन्म घेणे सफल

घनरूढमूलमि नाम तरुमि महामतंगजः॥
मोहमिखलमिचराय पुमान्स भनिक्त यः प्रशमसंपदा युतः॥५॥
अववोधवारिशमकारि मनिस शुचि यस्य विद्यते॥
क्रांतजगदिप न तं दहित न्हदमध्यमिनिरिव मन्मथानलः॥ ६॥
अधिरूढसंयमगजस्य विमलशमहेतिशालिनः॥
श्वांतिघनतरतनुत्रभृतो व्रतशीलमौलपरिरक्षितात्मनः॥ ७॥
स्वातुमिप न सहते पुरतो निह दुजयोऽस्ति सुनयावलिन्वनाम्।८।
सुवशीकृताश्चहृदयस्य शमनिहृतमोहसंपदः॥
दैन्यरहितचरितस्य सतः किमिहैव मुक्तिरपरा न विद्यते॥ ९॥

आहे व जगांत तोच विद्वानांचा खरा पुढारी आहे, असें समजावें. ५ जसें मोठा हत्ती ज्याच्या दाट मुळ्या फार खोल गेल्या आहेत अशाही झाडाला तत्काल उपडून टाकितो तसे प्रशम संपत्तीने युक्त असलेला आत्मा फार दिवसापासून सर्व आत्मप्रदेशांत खोल रुनून वसलेल्या अशा रागद्वेषात्मक मोहाला तेथून तत्काल नष्ट करून टाकितो. ६ ज्याच्या हृदयांत मोहाचें शमन करणारें पवित्र असें ज्ञानरूपी पाणी राहात आहे त्या आत्म्याला तळ्याच्या मध्यभागीं प्रवेश केलेल्या मनुष्याला जसें अग्नि जाळूं शकत नाहीं तसें सगळ्या जगाला ज्यानें व्यापून टाकिलें आहे असा मदनरूपी अग्नि दम्ध करूं शकत नाही. ८ जो संयमरूपी इत्तीवर आरूढ होऊन हातांत निर्मेल प्रशमरूपी तरवार धारण केल्यानें शोभत आहे. ज्यानें क्षमारूपी दृढ चिलल्वत आंगांत धारण केलेलें असून व्रते व अठरा हजार शील्ररूपी मुख्य सैन्याच्या द्वारें ज्यानें स्वतःचें रक्षण केलें आहे असा मुनिरूपी राजा ज्यावेळीं तपरूपी रणामध्यें लढण्यासाठीं तयार होऊन उभा राहतो, त्यावेळी पापरूपी शत्रु पुष्कळ उद्घट असला तरीही तो त्याच्यापुढें उभा देखिल रादण्यास समर्थ होत नाहीं. वरोवर आहे कीं, ज्यांनीं सन्मार्गाचा आश्रय घेतला आहे त्यांना जगांत दुर्नय असा-कोणता पदार्थ आहे वरें ? ९ ज्यानें आपर्छी इाद्रियें व मन पूर्णपणें स्वाधीन केलें आहे. प्रशमाच्याद्वारें ज्यानें मोहाची सर्व संपत्ति नष्ट करून टाकिली आहे, ज्याच्या आचरणांत दीन-पणाळा राहावयास जागा मिळालेली नाहीं अशा सत्पुरुपाला इहलोकींच दुसरा

अमृतच्युता मुनिगिरा विबुधमहितया तमोनुदा ॥
पद्म इव शिशिररिमरुचा प्रतिबोध्यते भुवि न दूरभव्यकः ॥ १०॥
श्रुतमिद्धमप्यफलमेव विपयनिरतस्य चेष्टिते ॥
श्रुतमिद्धमप्यफलमेव विपयनिरतस्य चेष्टिते ॥
श्रुतमिद्धमप्यफलमेव विपयनिरतस्य चेष्टिते ॥
श्रुतमिद्धमपद्धतम्बित्यबहुविधगुणं सुदुर्लभं ॥
स्तिमिव भजित भव्यजनः श्रुरणे निधाय भुवने कृतार्थतां ॥ १२॥
इति नंदनाय समुदीर्थ मुनिपतिरतीततद्भवान् ॥
व्यक्तमविधनयनो व्यरमत्पुरुपार्थतत्वमिप तत्ववेदिने ॥ १३॥
स वमनमुदाश्च शुचि तस्य वचनमवधार्थ नंदनः ॥
चंद्रमणिरिव रराज गलज्जलाबिदुरिदुकरजालसंगतः ॥ १२॥

मोक्ष प्राप्त झाला नाहीं काय ? १० ज्यापासून अमृत पाझग्ते, जो देवामध्यें आदरणीय मानला जातो, जो अंधाराचा नाश करितो अशा चंद्राच्या थंडगार किरणाच्या कांतीने सूर्यविकाासि कमळ जसें प्रफुल्लित होत नाहीं, तें मिटलेलेंच राहतें त्याप्रमाणें ज्यांतून अमृतासारखा कल्याणपद उपदेश बाहेर पडत आहे व जें विद्वानांना व देवांनादेखील मान्य असून मिध्यात्वाचा व अज्ञानाचा नाश करिते अशा मुनीराजाच्या भाषणानें या जगीं जे दूर भव्य आहेत तें प्रसन्न होत नाहींत अर्थात् त्याच्यावर कांहीं परिणाम होत नाहीं

११ जो पुरुष चारित धारण करूनही विषयामध्ये आसक्त बनतो त्याचें शास्त्रज्ञान उत्कृष्ट असूनही व्यर्थ होय. युद्धामध्ये भयाने थरथर कांपत असलेल्या माणसाच्या तीक्ष्ण शक्षाप्रमाणें तें विफल आहे असे हे राजा तूं जाण. १२ मुनी-व्याचा उपदेश अद्भुत व अचिंतनीय फलाला देणारा, अनेक सद्धुणांनी युक्त व. आतिशय दुर्लभ असल्यामुळें चिंतामणी रत्नाप्रमाणें आहे,जो भव्य जीव हा उपदेश आपल्या कानामध्ये धारण करितो तो तेलोक्यांत कृतार्थ होतो. १३ अवधिज्ञान-रूपी नेत धारण करणाऱ्या त्या प्रोष्टिल महामुनीनीं याप्रमाणें तत्व जाणणाऱ्या नंदन राजाच्या पूर्व भवाचे स्पष्ट वर्णन करून व धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष या चार पुरुषार्थाचें स्वरूप सांगृन विश्रांति घेतली. १४ जसा चंद्रकांत मणि चंद्रिकरणांच्या सहवासानें ज्याच्यांतून पाण्याचे भेंच गळत आहेत असा होत्साता शोभूं लागतो. तसा त्या मुनीव्याच्या पवित्र भाषणाला हृद्यांत धारण

प्राणिपत्य मौलितटनम्रमुकुलितकराग्रपछ्वः॥
भिक्तिवसरपिरनद्धतनुर्मुनिमित्यवोचत वचो महीपितः॥ १५॥
विरला भवन्ति एनयोऽथ विनतजनताहिताय ये॥
चित्रमणिगणिवतानमुचो विरलाश्च ते जगित वारिवाहिनः।१६॥
विरलाः कियन्त इह सन्ति लसदविधवोधलोचनाः॥
रत्निकरणपिरिभिन्नजलस्थलसंपदः प्रापिरला जलाशयाः॥ ५७।
भवतः करिष्यति वचोद्य मम सफलमीश जीवितं॥
अस्तु नियतमियदेव परैः किमुदीरितैर्विफलमिप्रयेस्तव॥ १८॥
अभिधाय धीरिमिति वाचमवनिपतिर।दिशत्मुतम्॥
वर्महरमतिविनीतिमिलामिवतुं तमंद्यनिधवारिवाससं॥ १९॥

फरून तो नंदन राजा आनंदाश्रु गाळणारा असा शोभूं छागछा। १५ भक्तीच्या भारानें ज्याचें शरीर नम्र झाछे आहे, ज्यानें मुकुटाच्या किनाच्या-वर आपळें नम्र हातरूपी कोमळ पछ्छवांना मिटिविछें आहे अशा त्या नंदनराजानें नमस्त्रार करून मुनिश्वरांना पुढें छिहिल्याप्रमाणें वोळण्यास मुरवात केछी। १६ हे मुनिराज, नम्र अशा भव्यांच्या हितासाठीं उचुक्त होणारे मुनि आपल्यासारखे वि-रळाच असतात. वरोवरच आहे कीं, नानापकारच्या रत्नसमूहाची वृष्टि करणारे मेप फार विरळाच असतात. १७ शोभणाच्या अवधिज्ञानरूपी नेत्रानें युक्त असलेले मुनिश्वर जगांत किती असणार? ते विरळाच असतात. रत्नाच्या किरणांनीं ज्यांनीं पाणी व किनाच्याचा प्रदेश व्याप्त केलेला आहे—सुशोभित केला आहे अशीं सरोवरें जगांत थोडींच असणार. १८ हे मुनिराज! आपलें हें भाषण आज माझ्या जीवि-ताला अवस्य सफल करील. एवढेंच वोलेंण पुरें आहे. आपल्याला अपिय अस-खेल्या इतर भाषणांना घेळन काय करावयाचें आहे?

१९ याप्रमाणें गंभीर भाषण करून राज्य पालन करण्यास योग्य, अतिशय नम्र अशा आपल्या नंद नांबाच्या मुलास समुद्राचें पाणी हेंच जिचें वस्र आहे अशा पृथ्वीचें रक्षण करण्यास राजानें सांगितलें. २० जगांत प्रसिद्ध झालेल्या प्रौष्टिल मुनीस नमस्कार करून राज्यलक्ष्मीचा त्याग करून दहा हजार राजांसह नंदन राजानें तपाचा स्वीकार केला. २१ अंगवाह्य व अंगप्रविष्ट

सहनंदनः श्रियमपास्य दशशतदशक्षितीश्वरैः॥
शौष्ठिलमुनिं नु जगत्प्रथितं तमिष्रणम्य समुपाददे तपः॥ २०॥
श्रुतवारिधिं द्रयधिकपंक्ती विल्रसदमलांगवीचिकं॥
तूर्णमतरदुरुखद्धिमुजा बलतोंऽगवाद्यविविधम्रमाकुलं॥ २१॥
मनसाश्रुतार्थमसकृत्स विषयविमुखेन भावयन्॥
तप्तुमसुकरमुपाकमत कमतो द्रिपङ्किथमनुक्तमं तपः॥ २२॥
जहदात्मदृष्टफललौल्यमनभिमतरागशांतये॥
ध्यानपठनसुखसिद्धिकरं प्रयतोऽकरोदनशनं सुनिश्चितस्॥ २३॥
विधिवत्मजागरवितर्कपरचितिसमाधिसिद्धये॥
सत्वममलमवलम्ब्य मुनिर्मितभोजनं विसलधीश्च बार सः॥ २४॥
अरुणत्क्षुधः खलु कृशोऽपि मुनिरिति तृषो विसर्पणं॥
दिज्ञिभवनगमनोचितया विधिवतस्वृत्तिपरिसंख्यया परं॥ २५॥

या दोन तटांनीं युक्त असलेला आचारांग, सूबद्धतांग वगैरे निर्मल वारा अंगे या लाटांनीं युक्त असलेला, अंगवाह्याचे जे सामायिक, चतुर्विश्वतिस्तव वगैरे जे भेद आहेत हेच भोवरे ज्यांत आहेत अशा श्रुतज्ञान रूपी समुद्राला हा नंदन मुनि आपल्या मोट्या बुद्धिरूपी वाहूच्या सामर्थ्यांनें तरून गेला.

२२ पंचेंद्रियांच्या पदार्थापासून विरक्त झालेल्या मनाच्या द्वारें वारंवार शा-स्नांत सांगितलेल्या जीवादि पदार्थाचें चिंतन करणाच्या या नंदनमुनींनीं करण्यास कठिण असें वारा प्रकारचें उत्तम तप क्रमानें करण्यास सुरवात केली. २३ आदर-सत्कारादि लेकिकफलाची इच्छा न ठेवितां व संयमाला अयोग्य अशा रागभा-वांचा उपशम व्हावा झणून ध्यान व स्वाध्याय यांची सुखानें प्राप्ति करून देणारें अनशन (चार प्रकारच्या आहारांचा त्याग करणें) तप निश्चितरूपानें प्रयत्नशील होऊन हे मुनिराज करीत असत. २४ जागरूकपणा राहावा, तर्कशाक्ति वाढावी व ध्यानसिद्धि व्हावी झणून शास्त्रांत सांगितल्याप्रमाणें आपले निर्मल परिणामांचा आश्रय घेऊन निर्मल बुद्धीचे धारक असे हे मुनिराज मितमोजन करीत असत. हे मानिराज कृष झाले होते तरी भूक व तहानही वाढली असतांही त्यांना ताव्यांत ठेवीत असत. दोन अथवा तीन घरांतच भी आहार घेईन अशा शास्त्रोक्त पद्धतीनें हें प्रविधाय वृक्षरसमोक्ष्मविज्ञितिवृद्धिक्षचापलः ॥
क्षोभविसरजनकानि सदा मनसो रुरोध खल्ल कारणानि सः ॥२६॥
स पदेष्वजंतुवधकेषु विहितद्ययनासनिस्थितिः ॥
ध्यानपरिचितिच्तुर्थवरव्रतरक्षणार्थमभवत्समर्थधीः ॥ २७ ॥
स तपे तपोभिरभिमूर्यमचल्लधितरास्त दुःसहे ॥
त्यक्तनिजतनुरुवेर्महतः किमिहास्ति किंचिदिप तापकारणं॥ २८॥
तरुमूलमावसददभ्रधनवल्यमुक्तवारिभिः ॥
सिक्ततनुरिप नभस्यचलं शामनामहो चरितमद्भुतास्पदं॥ २९॥
शिशिरागमे बहिरशेत निशि शिशिरपातभीषणे॥
भीतिविरहितसमाचरणः किम्र दुष्करेऽिप परिमुह्यति प्रभुः॥ ३०॥
परमांतरं च स चकार निरुपममतंद्रितस्तपः॥
ध्यानविनयताध्ययनप्रभृतित्रिग्रिप्तिभूरिसंवरः॥ ३१॥

ष्टितिपिरिसंख्यान नांवाचें तप करीत असत. २६ मुळ, साखर वगैरे रसाचा त्याग करून ज्यांनीं झोंप व इांद्रियांची चपलता जिंकली आहे अशा या मुनीश्वरांनीं मनामध्यें रागद्देषादि विकार उत्पन्न करणाच्या कारणांचा त्याग केला. २७ जेथें प्राण्यांचा वध होत नाहीं अशा निर्जतुक ठिकाणीं हे मुनिराज वस्णें, उठणें, निजणें हीं कार्यें करीत असत. व ध्यानाची वाढ करण्यास कारण असलेल्या ब्रह्मचर्य व्रताचें रक्षण करण्यासाठींच समर्थ बुद्धीचे हे मुनिराज हीं कार्यें करीत असत. निश्चल धैर्याचे धारक हे मुनीश्वर दुःसह अशा ग्रीष्कक्रतुंत सूर्याकडे मुख करून व तपश्चरणाच्याद्वारें शरीरावर निस्पृह होऊन राहत असत. वरोवरच आहे कीं, स्वतःच्या शरीरावर पेम करणें ज्यानें सोडून दिलें आहे अशा महात्म्याला या जगांत कोणताच पदार्थ तापदायक असूं शकत नाहीं. २९ पाण्यानें भरलेल्या मेघमंडलाकडून पाण्याच्या वर्षावांनी ज्यांचे शरीर भिजून ओले चिंव झालें आहे असे हे मुनिराज श्रावण मासांत झाडाच्याखालीं निश्चल होऊन तप करीत असत, योग्यांचें चारित्र खरोखर फार आश्चर्यपूर्ण असतें; आश्चर्याचें स्थान असतें ३० वर्ष पडण्यानें भयंकर वाटणाच्या हिवाळ्यांत रात्रीच्या वेलीं भयरहित चारित्र पळणारे हे मुनीश्वर उघड्या मेदानांत वाहेर निजत असत जे मोठे

अथ कारणानि परिवोधिवशदतरधीरभावयत् ॥
-तीर्थंकरिवपुलनाम्न इति प्रगतानि षोडशिवधाः सुभावनाः॥३२॥
समभावयत्पिथ जिनेंद्र परिविरचिते विमुक्तये ॥
जातिवपुलधितरचितः स चिराय दर्शनिवशुद्धमिद्धधीः॥३३॥
अपवर्गकारणपदार्थपरिघितमिकभूषितः ॥
नित्यमपि विनयमप्रतिमं स गुरुष्वतिष्ठिगदिनंष्ठितादरं ॥३४॥
प्रथयांवभूव परिगुप्तिममलविधिना समाधिना ॥
शीलवृति परिवृतेषु सदा स परं व्रतेष्वनित्वारमाचरन् ॥ ३५॥
समभावयन्नवपदार्थविधिकथनवाङ्मयं सदा ॥
तत्वमखिलजगतः सकलं हतशङ्कमैक्षत पुरःस्थितं यथा ॥३६॥

असतात ते दुष्कर कार्य करतांनाही गोंधळून जात नाहींत. ३१ तीन गुप्तींच्या द्वारें धारण केलेला आहे पुष्कल संवर ज्यांनीं असे ते मुनीराज आलसराहित होऊन ध्यान, विनय, स्वाध्याय, प्रायिश्वत्त, वैयादृत्त्य, ब्युत्सर्ग अशा रीतींन सहा प्रकारचे अंतरंग उत्कृष्ट निरुपम तप ते करीत असत. ३२ आत्मानुभवानें आपिक निर्मल झाली आहे बुद्धि ज्यांची असे हे मुनीश्वर तीर्थंकर पदविला कारण असलेल्या पोडश कारण भावनांचे चिंतन करीत असत.

३३ ज्याच्या ठिकाणीं अतिशय धैर्य प्रगट झालें आहे, ज्यांचें ज्ञान उज्ज्वल झालें आहे, जिनेश्वरांनीं निर्माण कलेल्या मोक्ष मार्गामध्यें जे दृढ आहेत असे ते मुनिराज पुष्कळ काल्लपर्यंत सम्यग्दर्शनाच्या निर्मलते वितन करीत असत. ३४ मोक्षाला कारण अशा जीवादि पदार्थापासून उत्पन्न झालेल्या भक्तीनें अलंकृत झालेले हे मुनिराज गुरूंच्या ठिकाणीं नेहमीं अत्यादरयुक्त, अपतिम विनय करीत असत. ३५ निर्दोष विधीनें ध्यानाच्याद्वारें शीलक्षी छुंपण ज्यांना आहे अशा आहिंसादि व्रतामध्यें अतिचार बिलकुल उत्पन्न न होऊं देणारे हे मुनिवर्य त्यांचें सर्व तन्हेनें रक्षण करीत असत. ३६ जीवादिक नऊ पदार्थीचें ज्यांत स्वरूप व त्यांचें प्रकार वगैरे सांगितलें आहे अशा शास्त्रांचें मनन करणारे हे मुनिश्वर सर्व जगाचें सर्व स्वरूप विशदपणें पुढें उभें राहिल्याप्रमाणें शंका-रहित पाहात असत. ३७ या दुःखदायक अशा संसारक्ष्पी जंगलांतून

स्वितः क्यं व्यपनयामि भवगहनतो दुरंततः ॥
नित्यमवक्ळयतोऽस्य मितर्विमला समाधिमिति वेगमास्थिता ३७
स्वमिप स्वकीयमपलौल्यमितरिनशमात्मना त्यजन् ॥
लोभलवमिप क्यं कुरुते हृद्येऽथवा विदितमुक्तिपद्धतिः ॥३८॥
आनेगुद्ध वीर्य मस्मानमक्तत स तपस्तपोधनः ॥
भाविनरुपमसुल्स्पृह्यायितमान्निवस्यित यथावलं न कः ॥३९॥
स समाद्धे स्वम्थ भेदकृति सित च कारणे परं ॥
धैर्यमवगतपदार्थ गतिर्विजहाति कुन्क्रपिततोऽपि नाथवा ॥४०॥
गुणिनां चकार स गदेपु नि गुणतर्भाः प्रतिक्रियां ॥
त्यक्तस्कलममतोऽपि सदा यतते परोपकृतये हि सन्जनः ॥४१॥
स बहुश्चतेष्वय जिनेषु गुरुषु च परां सदागमे ॥
भावविशदहृदयेन ततो विततान गक्तिमनवद्यचेष्ठितः ॥ ४२ ॥

मी स्वतः हा कसे वरे मुक्त करीन असा नेहमीं विचार करणाऱ्या या यतिवर्याची निर्मलवुद्धि अतिशय वेगानें समाधीवर दृढ राहिली. ३८ ज्यांनीं मोक्षाचा जाणिला आहे. पदार्थावरील आसक्तीचे परिणाम ज्याच्या बुद्धीपासून वेगले झालेले आहेत, हें मांझें आहे व मी यांचा स्वामी आहे अशी भावना नेहमीं ज्यांनीं स्वतः काहून टाकिली आहे असे हे मुनिपुंगद आपल्या हृद्यामध्ये योडा-देखील लोभ घारण करतील काय? ३९ आपली शक्ति न छपितां हे तपस्वी उत्कृष्ट असं तपश्चरण करीत असत. वहोवरच आहे कीं, पुढें प्राप्त होणाच्या निरु पमसुखाच्या इच्छेर्ने कोणता बुद्धियान मनुष्य यथाशाक्ति प्रयत्न करीत नाहीं वरें ? प्रयत्न करितोत्त. ४० रत्नत्रयापामून पृथक करण्याची कारणे प्राप्त झाली असतां पढार्थाचें स्वरूप ज्यांना चांगळ माहीत झालें आहे असे ते मुनीश्वर स्वतःला स्वतः मन्यें पुन रिथर करीत असत. व संकटपाप्त झालें असतांही घैर्याचा त्याग ४१ सर्वोविषयीं ममताभावाचा ज्यांनीं त्याग केला नसत. असे हे आतिशय निपुण बुद्धीचे तपस्वी रतनत्रयधारक अशा गुणी भन्यांना रोग झाला असतां त्यांचा इलाज करीत असत. वरोवरच आहे कीं, सज्जन पुरुष नेहर्मी परोपकार करण्यास्तरीच प्रयत्न करीत असतात. ४२ निर्दोप

अन्पेतकालमथ पद्मु नियमविधिपृद्यतोऽभवत् ॥ इ ॥ ज्ञातिवमलसकलावगमेर्न हितोद्यतेरलसतावलम्ब्यते ॥ ४३ ॥ वरवाङ्मयेन तपसा च जिन्पतिसपर्यया सदा ॥ ४४ ॥ धर्ममनवरतमुज्ज्वलयन्समयस्य साधुरकरात्मभावनाम् ॥ ४४ ॥ अधिखङ्गधारिभव द्यातमसुकरतरं यथागमं ॥ ज्ञानिधिरिप चरन्सुतपः सहधमंसु प्रकृतिवल्सलोऽभवत् ॥४५॥ कनकावलीं परिसमाप्य विधिवदिप रत्नमालिकां ॥ सिंहिवलिसतसुपावसद्धुरुमुक्तये तदनु मौक्तिकावलीं ॥४६॥ अथ भव्यचातकगणस्य गुद्धविरतं प्रवर्द्धयन् ॥ अथ भव्यचातकगणस्य गुद्धविरतं प्रवर्द्धयन् ॥ ज्ञानजलशिमतपापरजाः शुशुभे सदा मुनिनभस्यवारिदः॥ ४७ ॥ ज्ञानजलशिमतपापरजाः शुशुभे सदा मुनिनभस्यवारिदः॥ ४७ ॥

चारित्राला धारण करणारे हे मुनिश्रेष्ठ पिरणामांनी निर्मल झालेल्या अंतः करणांने स्वमत व परमताला जाणणारे मुनिवर्य, श्रीजिनेश्वर आचार्य व शास्त्र यांच्या िं काणीं उत्कृष्ठ भक्ति करीत असत. ४३ हे मुनिराज सामायिक भितक्रमण वैगेरे सहा प्रकारच्या अवक्रयक क्रियां मध्ये योग्य वेलेचें उल्लघन न करितां तत्पर राहात असत. वरीवरच आहे कीं, ज्यांनीं निर्दोप अशा सर्व शास्त्रांचें अध्ययन केलें आहे व रवतःच्या हितासाठीं उद्यक्त झालेले असे पुरुष आलसाचा आश्रय करीत नाहींत. ४४ उत्कृष्ट धर्मीपदेशानें, उत्तम तपश्चरणाने, श्रीजिनेश्वराच्या पूजनानें नेहिंध धर्मीला उज्वल करणाच्या या मुनिराजांनीं या जैनशासनाची उत्तम प्रभावना केली.

४५ हे मुनीराज तरवारीच्या धारेप्रमाणें तीक्ष्ण व अतिशय किटण असें शास्त्रोक्त तप करीत असत. हे ज्ञानाचा खिजना होते तथापि साधिर्मिक इतर मुनिजनावर हे हृदयापासून पेम करीत असत. ४६ या मुनिराजांनीं प्रथमतः योग्य विधीस अनुस-रून कनकावली तपश्चरण करून नंतर रत्नमालिका तपश्चरण केले या नंतर सिंहनिष्की डित व उत्कृष्ट मुक्तिसुख प्राप्त होण्यास मौक्तिकावली हें तपश्चरण केलें. कन कावली व्रतांत चारशें चौतीस उपवास व अञ्चाएंशी पारणा असतात. हे व्रत एक वर्ष पांच महिने व वारा दिवसांत समाप्त होतें. रत्नमालिका व्रतांत तीनशें चौत्याएंशी उपवास व पारणा अल्याएंशी होतात. सिंहनिष्क्रिडित व्रतांत चारशे शहाण्यव उपवास व पारणा अल्याएंशी होतात. सिंहनिष्क्रिडित व्रतांत चारशे शहाण्यव उपवास व एकसष्ट पारणा होतात. हे व्रत पांचशें सत्तावन दिवसांत

अपरिग्रहोऽपि स महर्द्धिरभवदमलांगभागिप ॥ श्रीणतनुरतनुधीश्च वशी विभयोऽपि गुप्तिनिमितिप्रवर्तनः ॥४८॥ अमितश्चंमामृतजलेन मनसि निरवापयत्परं ॥ कोधशिखिनमविचिंत्यमहो खल्ल कौशलं सकलतत्त्ववेदिनां ।४९। मनसो निराकुरुत मानिपमुचितमार्दवेन सः ॥ ज्ञानफलिमित तदेव परं कृतबुद्धयो हि यमिनां प्रचक्षते ॥५०॥ अपि जात न प्रकृतिसौस्यविशदहृदयः स मायया ॥ प्रापि विमलशिशिशरांशुचयः समवाप्यते किमुत मिश्रया शशी ।५१।

निजविग्रहेऽपि हृदि यस्य तनुरिप न विद्यते स्पृहा ॥ तेन विजित इति लोभरिपुः किमु वात्र विस्मयपदं मनीपिणः॥५२॥

समाप्त होते. मुक्तावली व्रतांत पचवीस उपवास व नऊ पारणा होतात हें व्रत ३४ दिवसांत समाप्त होते. ४७ भन्यरूपी चातक समुहास नेहमी अतिशय आनंद देणारे व ज्ञानरूपी पाण्यार्ने पापरूपी धूळीचा ज्यांनी उपशम केळा आहे असे हे मुनिराज श्रावण मामांतील मेघापमाणें शोभूं लागले. ४८ हे मुनिराज परिग्रहरहित अम्नही विपुल ऐश्वर्यानी युक्त होते. अर्थात महाऋदियुक्त होते. यांना अणिमा महिमा वगैरे पुष्कळ ऋाद्धि प्राप्त झाल्या होन्या. निर्मे शरीराचे धारक असूनही श्रीण शरीराचे होते. अर्थात तपः प्रभावानें यांचें शरीर तेजस्वी वनलें होतें. यांची बुद्धि विशाल होती व हे जितेंद्रिय होते. भयरहित असूनही सुप्ति व सिमती यामध्ये प्रवृत्त होते. ४९ पुष्कळ क्षमारूपी अमृतासारच्या पाण्याने मनामध्ये उत्पन्न झालेला कोधरूपी अप्नि यांनी पूर्ण शांत केला. वरोवर आहे कीं, संपूर्ण तन्वें जाणणाऱ्या महापुरुपांचें चातुर्य आचित्य आहे. ५० उत्तम व योग्य अजा गार्ट्य गुणाने या मुनिवर्यानीं आपल्या मनांतुन गर्व विष काहृन टाकिलें होतें. जे विदान असतात ते मुनीवगच्या जानाचें हेंचे फल आहे असे सांगतात अर्थात् विनय धारण करणे हैं जानाचें फल आहे. ५१ स्वाभाविकपणेंच जांत व निर्मल हर्य उपांचे आहे असे हे मुनिवर्य मायेनें-कपटानें कथींही युक्त झाले नाहींन. यरोवरच आहे की निर्णल व यंहगार किरणसमृहानी युक्त अमलेला चंद्र अंघ:-कारपूर्ण अभा गतीशीं क्या संयोग पावेल काय ? ५२ या मुनिश्वराच्या चित्तांत

अतिनिर्मलं तमुपगम्य मुनिगुणगणास्तमोपहाः॥
रेजुरिषकमवदाततमाः स्फिटिकाद्रिमिंद्राकिरणा इवोन्नतं ॥ ५३ ॥
उदपाटयन्मदमुदारमितिरिति तरां समूलतः ॥
संगविरिहतसमाचरणो मरुदल्पमूलिमव जीर्णपादपं ॥ ५४ ॥
तपसा दहम्निप स कममलमिखलमात्मिनि स्थितं ॥
तापमभजत मनागपि न स्वयमेतदद्भुतमहो न चापरं ॥ ५५ ॥
न तुतोष भिक्तिविनतस्य नच पिर्चुकोप विद्विषे ॥
स्वानुगतयितजने प्यभवन्न रतः सतां हि समतेव भाव्यते ॥५६॥
शमसंपदास्थितमुपेत्य तमिप तपसा विदिद्यते ॥
भाति जलधरपथं विमलं रिविबंबमेत्य किस्नु नो घनात्यये ॥ ५७ ॥
भाति जलधरपथं विमलं रिविबंबमेत्य किस्नु नो घनात्यये ॥ ५७ ॥

रवतःच्या शरीराविषयीं ही थोडीशी ही इच्छा ( प्रेम ) नव्हती यावरून त्यांनीं लोभरूपी शत्रूला जिंकिलें होतें हें सिद्धच होतें. विद्वान मनुष्याला यांत आश्चर्य करण्यासारखें काय आहे १ ५३ अंधाराचा नाश करणारे, अत्यंत निर्मल असे चंद्र किरण जसें उच्च व अतिशय निर्मल अशा स्फटिकाच्या पर्वताचा सयोग प्राप्त कर् रून आतिशय शोभतात त्याप्रमाणें अज्ञाननाशक, अतिशय स्वच्छ असे मुनीश्वरांचे गुणसमूह अति निर्मल व उन्नत अशा या नंदन मुनिराजाचा आश्रय घेऊन अतिशय शोभूं लागले. ५४ जसें वारा थोड्याशा मुलांच्या जोरावर उभा राहिलेल्या जुनाट दृक्षाला उपडून टाकितो तसें विशालबुद्धीच्या या मुनीश्वरांनीं—परिग्रहांनीं पूर्ण रहित असें आपलें चारित्र ठेऊन गर्वाला मुलापासून पूर्ण उपडून टाकिलें. ५५ स्वतःच्या आत्म्यांत सांटलेल। सर्व कर्म मल या मुनीश्वरांनीं तपांच्याद्वारें जाळ्न भस्म केला परंतु त्या तपाच्याद्वारें हे स्वतः थोडेसे देखिल संतप्त झाले नाहींत हेंच फार आश्वर्यकारक आहे. याशिवाय दुसरी गोष्ट आश्चर्यकारक नाहीं.

५६ जो भक्तीनें आपल्या चरणीं नम्र झाला आहे त्याच्या विपयीं यांना 'आनंद होत नसे व शत्रूवर रागावतही नसत. जे या मुनिराजांना नेहमीं अनुस-रतात त्यांच्याविषयीं दोखिल यांच्या टिकाणीं प्रेम उत्पन्न होत नसे. वरोवरच आहे कीं, सत्पुरुष नेहमीं समतेचाच विचार करितात तीच आपल्या अंगीं आण-ण्याचा प्रयत्न करीत असतात. ५७ शांतिसंपत्तिनें युक्त असलेल्या या मुनिश्वरा च्या टिकाणीं तपश्चरणानें प्रवेश करून चेतल्यामुळें ते फार शोभूं लागले. वरोवर

अतिद्वःसहाद्पि चचाल न स निजधतेः परीषहात् ॥ मीममंद्रिभहतोऽपि तटीं समतीत्य याति किमु यादसां पतिः ५८ जनताहिताय तामिताश्च शमनिधिः नेकलब्धयः ॥ गीतरुचिभिव शरत्सममे शिशिराः सुधारसपरिच्युतो रुचः॥५९॥ विक्लाशयं तसुपगस्य विराहितिधियोऽपि मानवाः ॥ धर्ममनुषममुदा जगृहुः शमयेन्छगानपि न किं दयार्द्रधीः ॥ ६० ॥ स्वमतार्थसिद्धि समिवीक्य तमभजत भव्यसंहतिः॥ पुष्पभरविनतचूततरुर्न परीयते किसु सुदालिमालया ॥ ६९ ॥ इति वासुवुज्य जिनतीर्थमुरुगुणगणैः प्रकाशयन् ॥ सम्यगकृत स तपः परमं चिरकालमन्ययतिभिः सुदुश्चरं ॥ ६२ ॥ आहे की, शरतकाली निर्मल अशा मेघमार्गाचा-आकाशाचा आश्रय करून सूर्य-पंडल शोभत नाहीं काय ? ५८ अतिशय दुःसह परिषह होत असतांही हे मुनिपुं-गव स्वतःच्या धैर्यगुणापासून चलायमान झाले नाहींत अर्थात् त्यांनी धैर्य सांह्रन दिले नाहीं. बरोवरच आहे कीं, फार मोठ्या वाऱ्याने खबळलेला असाही समुद्र तटाला उछंधून बाहतो काय? ५९ पूर्ण ज्ञांतीचा सागर असलेल्या या मुनिराजांना लोककल्याणास्तव अनेक ऋद्वींची प्राप्ति गरत्कालीं अमृतरसाची वृष्टि ज्याच्यापासून होत असे थंडगार किरण जसें चंद्राचा आश्रय करितात व त्यापासून लोकाना आनंद प्राप्त होतो त्याप्रमाणे यांना अनेक ऋदि पाप्त झाल्या. ६० निर्मल विचारयुक्त अशा या मुनीव्यगंकडे येऊन अतिगय मुर्ख अशींही माणसें जिनधमीचा अनुपम आनंदानें स्वीकार करीत असत. वरीवरच आहे की, दयेने ओली झाली आहे बुद्धि ज्याची अर्थान् अतिशय दयाळ् असा मनुष्य पश्नंना देखिल शांत चनवीत नाहीं काय ? ६१ अापल्या मताची-जनयर्भाची वृद्धि या मुनीश्वरापासून होत आहे असे पाहन भव्यांचा समुदाय यांची उपाराना करूं लागला. वरावरच आहे कीं, मोहरांनीं अनिगय लक्षडलेला आस्रवृत सुरयांच्या समुदायानी आनंदाने वेदला जात नाही काय ६६२ यात्रमाणें श्रीवासुपूच्य नीर्थकरच्या तीर्थाचा आपल्या फार मोठ्या अशा गुणानीं चोहीं करे उत्तम रीतीनें प्रसार करणाच्या या महा मूनीश्वरांनीं करण्यास ं निवस्तय पाटिण अमें उन्हृष्ट नषअरण इनर मुनीसह पार दिवसपर्यन फे.हें.

अथायुरंते खलु मासमेकं प्रायोपवेशं विधिना प्रपद्य ॥
ध्यानेन धर्म्येण विहाय विन्ध्य प्राण्नम्म्रानिः प्राणतमाप कर्णं॥६३॥
-पुष्पोत्तरे पुष्पसुगंधिदेहो बसूव देवाधिपतिर्विमाने ॥
तिस्मिन्नसौ विंशतिसागरायुः नाप्रोति किं स्रितपःफलेन॥ ६४ ॥
तं जातिर्मिद्रमवगम्य सुराः समस्ताः सिंहासनस्थमिषिच्य सुदा
प्रणेसुः ॥
लीलावतंसिम्य पाद्युगं नदीयं रक्तोत्पलस्थितहरं सुकुटेख कृत्वाह५
भावी तीर्थकरोऽयमित्यविरतं संपूज्यमानः सुरैः ॥

अक्षय्यावधिरप्सरोजनवृतो रेमे स तस्मिन्सुदा ॥

६३ यानंतर आयुष्य समाप्तीच्यावेळीं एक माहिनापर्यंत शास्त्रांत सांगितः विषाप्तमाणें प्रायोपवेशविधीनें ध्यान करून दश्रळक्षणीक धर्माचें चिंतन करून विध्यपर्वतावर ह्या मुनिराजानीं प्राणत्याग केळा. तेव्हां त्यांचा आत्मा प्राणत स्वर्गीत उत्पन्न झाळा. स्वतःच्या शरीराचा औषधादिकांनीं स्वतः उपचार न करणें व इतरांकडून कोणताही उपचार अथवा सेवा—शुश्रूषा करून न घेतां धर्मध्यानांत प्राणत्याग करणे यास प्रायोपवेश झणतात. ६४ तो महामुनि फुळाप्रमाणें ज्याचा देह सुगंधयुक्त आहे, ज्याचे वीस सागर वर्षांचें आयुष्य आहे असा होत्साता त्या स्वर्गीत पुष्पोत्तार विमानांत सर्व देवांचा अधिपति अर्थात इंद्र होऊन जन्मळा. बरोबरच आहे कीं, पुष्कळ तपश्चरणाच्या फळानें जगामध्यें कोणती वस्तु प्राप्त होत नाहीं वरें? सर्व उत्तम वस्तु तपाच्या प्रभावानें मिळतातच.

६५ हे नंदन महामुनी आपल्या स्वर्गीचे अधिपती अर्थात् इद्र झाले आहेत. असें जाणून सिंहासनारूढ झालेल्या त्यांच्या सर्व देवांनीं अभिषेक केला व तांवड्या कमलाच्या कांतीला जिंकणाऱ्या त्याच्या चरणकमलाला कीडाभूपणाप्रमाणे समजून मोठ्या आनंदानें त्यांनीं नमरकार केला. ६६ हा इद्र पुढच्या जन्मीं तीर्थकर (महावीर जिन) होणार आहे न्हणून देवाकड्न नेहमीं पूजिला जात असे. (या इद्राच्या) गुणसंपत्तीनें जणु काय उत्कंठित झालेल्या मोक्षलक्ष्मीकड्न वक्षीच्या कांतीला पराजित करणाऱ्या हारलतेच्या मिपानें आलिंगिला गेलेला व ज्याचें अवाधितान क्षय न पावणारे अर्थात् रुढ्या जन्मीही वरोदर जाणारें आहे अस

औत्सुक्यं गुणसंपदा गमितयेवार्लिंग्यमानो गले॥ नीक्षारयुतिहारिहारलतिकाञ्याजेन मुक्तिश्रिया॥ ६६॥

> श्चिह्यसगकृते वर्द्धमानचरिते नंदनपुष्पोत्तरगमनो नाम षोडशः सर्गः समाप्तः श्चा

होत्साता त्या स्वर्गीत अप्सरांनीं वेष्टित होऊन मोट्या आनंदानें रममाण होत असे. \* याप्रमाणें महाकवि असगकृत वर्दमान चरित्रांत नंदन महामुनि पुष्पो-

अस्याम्माण महाकाव असगकृत वद्धमान चारत्रात नदन महामान पुष्पा-त्तर विमानामध्ये उत्पन्न झाळे याचे वर्णन करणारा सोळावा सर्ग समाप्त झाला.





श्रीमानथेह भरते स्वयमस्ति घात्र्या पुंजीकृतो निज इवाखिलकां-तिसारः।।

नाम्ना विदेह इति दिग्वलये समस्ते ख्यातः परं जनपदः पदमुन्न-तानामः॥१॥

गोमंडलेन धवलेन सदापरीता स्वेच्छानिषण्णहरिणांकितमध्यदेशा॥ रात्रौ शिशोरपि चिराय विलोकनीया यत्रेंदुमूर्तिरिव भात्यटवी समग्रा ॥२॥

क्षेत्रेषु यत्र खलता ललनालकेषु कौटिल्यमंबुजवने मधुपप्रलापः॥ पंकस्थितिः कमलशालिषु सर्वकालं संलक्ष्यते शिखिकुलेषु विचि-त्रभावः॥३॥

१ या भरत क्षेत्रांत संपूर्ण दिझांडलांत प्रासिद्ध व सत्पुरुषांची उत्कृष्ट निवासभूमि असा विदेह नांवाचा देश आहे. हा संपत्तीनें पूर्ण भरलेला आहे व पृथ्वीचा
आपोआप एकत झालेला संपूर्ण कांतीचा जणु उत्कृष्ट समुदाय आहे-असा शोभत
आहे. २ या देशांतील सर्व अरण्य भाग पांडच्या रंगाच्या गायींनीं गत्रवजलेला
व स्वच्छंदपणें बसलेल्या हरिणांनीं युक्त आहे मध्यभाग ज्याचा असा असल्यामुळें रात्तीं लहान मुलाकडूनहीं पुष्कल वेलपर्यंत पाहण्यास योग्य अशा चंद्राच्या
विवापमाणें शोभत असे. चंद्रविंबही धवल गोमंडलानें—अर्थात् पांडच्या किरण
मंडलानें शोभत असतें व त्याचा मध्यभाग स्वेच्छेनें बसलेल्या हरिणानें युक्त आहे
अशा चंद्रविंबाला लहान मुलेंही रात्रीं जसें निर्भयपणें पाहूं शकतात तसें या देशा-

पूगहुमैः स्वगतनागलतादलाभश्यामीकृतांवरतलैर्निगमाः परीता ॥ भास्वन्महामरकतोपॡकल्पितोच्चशालावलीवलयिता इव यत्र सान्त्॥॥

तृष्णां सदाश्रितजनस्य दिनाशयद्भिरंतः प्रसित्तसिहतेरनपेतपद्भैः॥ तोयाशयेरमिलनिद्धजसेवनीयेः सद्भिश्च भाति अवि यः समतीत-संख्यैः॥५॥

यस्मिन्सदास्ति खुरजेषु कराभिघातो वंधिस्थितिर्वरहयेषु च राद-शास्त्रे॥ दंद्रोपसर्गगुणलोपविकारदोषो विंवाधरे सृगदृशामिप विद्वसश्रीः॥

च्या जंगलांन हरिणे व गायी नेहमीं राहात असत. इतर क्र्र जंतु विलक्तल तसल्यामुळें लहान मुलांनाही रातीं देखिल ते अरण्य पाहातांना भय वाटत नसे.
या देशांतील शेतांतच फक्त खलता—धान्याचे खळें होतें. लोकांमध्यें खलता—
हुप्टता नव्हती, ज्ञाटिलपणा फक्त खियांमध्यें होता, अर्थात कपटाचार फक्त सियांमध्यें होता. इतर ठिकाणीं ज्ञुटिलता—वांकडेपणा नव्हता. कमलसमृहामध्येच
मधुप प्रलाप—पुंग्यांचा गुजारव होता. लोकांमध्यें मधुप प्रलाप नव्हता अर्थात्
हा गोष्ट पाक्त कमलें व साली यापध्ये आहळ्न येत असे. लोकांपध्यें पंकास्थाति—
पाप कार्यात राहणें ही गोष्ट आहळत नव्हती. विचित्र भाव नाना रंगांचें अस्तित्व
मोरामध्यें आहळ्न येत होने व तेथील लोकांमध्यें कपट, द्वेष वगैरे अनेक तव्हेंचे
अयोग्य मनोविकार नव्हते. ४ स्वतःला बेहणाच्या नागवेलीच्या पानांच्या
कांतीनें क्यांनी आकाश भागाला हिरवेगार केलें आहे अशा सुपारीच्या झाडांनी
व्याप्त झालेली या देशांतील गांवें चमकणाच्या अमूल्य पांच रत्नांनीं वनविलेल्या
एंच तट पंक्तीनीं वेहल्याप्रमाणें शोभत असत.

५ तो विदेह देश आश्रित लोकांची तहान भागविणारे, तलभागीं नेहमी स्वच्छ असलेले, कमलांनी सिहत असलेले, हंस पक्षांनी सेवनीय अगा असंख्यात नर्ळी व सरोवरें गांनी या भूतलावर जसा शोभत आहे तसाच आश्रित लोकांच्या आशेचा नाग करणारे अधीत त्यांची इच्छा पूर्ण करणारे, हृद्यांत नेहमीं प्रसन्नता धारण करणारे, लक्ष्मीरें-संपत्तीनें युक्त, व निर्दोप असे ब्रानण, क्षत्रिय व वैश्य तत्रास्त्यथो निखिलवस्त्ववगाहयुक्तं भास्वत्कलाधरबुधैः सवृषं सतारं॥ अध्यासितं वियदिव स्वसमानशोभं ख्यातं पुरं जगति कुंडपुरा-भिधानं॥ ७॥

माकारकोरिघाटितारुणरत्नभासां छायामयैः परिगता पटलैः

आभाति वारिपरिखा नितरामनेकां संध्याश्रियं विद्धतीव दिवापि यत्र ॥ ८॥

धौतंद्रनीलमणिकल्पितकुहिमेषु यत्रोपहाररचितान्यसितोत्पलानि ॥ एकीकृतान्यपि सलीलतया प्रयांति व्यक्तिं पतद्धमरहुंकृतिभिः समंतात्॥९॥

याक्षडून आदरणीय अशा असंख्यात सत्पुरुषांनीं चोहोंकडे शोभत आहे. ६ या विदेह देशांत कराभिघात-हातांनीं ठोकण्याची क्रिया फक्त मृदंगामध्येंच घडून येत होती. लोकामध्यें परस्परांत ही क्रिया घडून येत नव्हती. उत्ताम घोड्यांच्या ठिकाणींच बंध स्थिति-बांधून घातल्यामुळें एकाच ठिकाणीं राहणें ही क्रिया होती. परतु लोकामध्यें ही गोष्ट होत नव्हती. शब्दशास्त्रामधीं-व्याकरणांत द्वंद्र समास, प्र, पर, उप वगैरे उपसर्ग, गुण, लोप, विकार होणें वगैरे गोष्टी होत्या परंद्र तेथील लोकांत हंद्र-तंटा, उपसर्ग,-दुःख देणें, गुणलोप-गुणांचा-सदाचारा-चा नाश होणें, विकार-रोगादिक उद्भवणें हे दोष नव्हते. या देशांतील स्त्रियांच्या तोडल्याममाणें असलेल्या ओठांत विद्वमश्री पोवळ्याममाणें कांति होती. परंतु तो देश विद्यमश्री-झाडांच्या शोभेनें रहित नव्हता. अर्थात तेथे पुष्कळ झाडें असल्या-मुळें त्याला फार शोभा आली होती. ७ त्या विदेह देशांत सगळ्या वस्तूंना आश्रय देणारें, सूर्य, चंद्र, बुध, दृषभ राशि, यांनीं सहित, तारागणांनींयुक्त, अशा आका-ज्ञानमाणें जोभा धारण करणारें जगांत प्रख्यात असलेलें कुंडलपूर या नांनाचें गहर आहे. हें शहरही (निखिलवस्त्ववगाहयुक्त-सर्व वस्तृंना आश्रय देणारें) भास्वत्कलाधर बुधै: अध्यासित, शोभणाऱ्या कलांना धारण करणाऱ्या विद्वान लोकांकडून निवास केले गेलेले, सद्दप-धर्मानें सहित अथवा वैलांनीं सहित, सतार-चांदी, सोनें, मोतीं यांनीं युक्त असें शोभत होते. ८ तटाच्या शिखरांना

जैत्रेषवः सुमनसो मकरध्वजस्य निस्तेजितां बुजरुचे। शशलक्ष्मभासः अप्रावृषो नवपयोधरकांतियुक्ता यस्मिन्विमान्त्यसरितः सरसा

रमण्यः ॥ १०॥

अखुनताः राशिकर भकरावदाता मूर्धस्थरत्नरुचिपछवितांतरिक्षाः उत्संगदेशसुनिविष्टमनोज्ञरामाः पौरा विभांति भुवि यत्र

सुधालयाश्च ॥ ९१ ॥

बसविळेल्या बद्यराग रत्नांच्या कांतीच्या छायामय समूहांनीं सर्व वाजूंनीं न्याप्त क्षाळेळा पाण्याचा खंदक या शहरांत दिवसा देखिळ नाना प्रकारच्या विपुळ संध्या-काळच्या शोभेला उत्पन्न करीत असल्याप्रमाणें शोभतो. ९ रवच्छ अशा इंद्रनील रत्नांनीं निर्मिलेल्या जिमनीवर शामेसाठीं ठेवलेली निलीं कमलें जिमनीशीं समान कांतीमुळें एकरूप झालीं होतीं परंतु त्यावर लीलेनें येऊन पडणाऱ्या भुंग्यांच्या गुंजारवांनीं हीं कमळें आहेत व ही जमीन आहे असें व्यक्त होत होतें. १० या कुंडलपूर शहरांतील स्त्रिया निर्मल अंत करणाच्या होत्या व मदनाच्या विजयी वाणा-प्रमाणें होत्या. यांचें सौंदर्य चंद्राच्या किरणाप्रमाणें मनोहर होतें व यांनीं कमला-मध्यें जिचें प्रेम आहे अर्थात कमलामध्यें जी नेहमीं राहत असते अशा छक्ष्मीला तेजोविद्दीन वनविलें होतें, वर्षाऋतु नवपयोधर कांतियुक्त असतो अर्थात नवीन पयोधर मेघ त्यांच्या कांतीनें शांभेनें युक्त असतो परंतु या स्त्रिया वर्षाऋतु स्वरूपी नसतांही नवपयोधर-नवीन स्तनांच्या कांतीनें युक्त होत्या तसेंच या स्त्रिया नदीच्या स्वरूपाच्या नसतांही सरसा अर्थात सरसांनीं शृगादि रसांनीं सहित होत्याः नद्याही सरसा अर्थात रसानें-पाण्यानें सहित असतातः

११ या कुंडलपुरशहरांतील श्रीमंत लोकांचे वाडे अतिशय उंच, चंद्राच्या किरणसमूहाप्रमाणें निर्मल, गचीच्या अग्रभागीं वसविलेल्या रत्नांच्या कांतीनें आकाशाला पछवयुक्त-पालवी फुटल्याप्रमाणें करणारे, ज्यांच्या मध्यभागीं सुंदर-स्त्रिया वसल्या आहेत असे शोभतात. याचप्रमाणें तेथील पुरुषही अतिशय उच कुलांत जन्मळेले, चंद्राच्या किरणसमूहापमाणें सुंदर, मस्तकावरील चूडामणि रत्ना-च्या कांतीनें आकाशाला पालवीनें युक्त करणारे, व ज्यांच्या मांडीवर सुंदर स्त्रिया वसकेल्या आहेत असे शोभतात. १२ हाताच्या अग्रभागीं असलेले कीडेचे निक-कमक सोइन देऊन व ज्यांतून मकरंद गळत आहे असे कानावरील कमल

लीलामहोत्पलमपास्य कराग्रसंस्थं कर्णोत्पलंच विगलन्मधु यत्र भृंगाः निश्वाससौरभरता वदने पतंति स्त्रीणां मृदुर्भदुकराहतिमीप्सवश्र॥१२॥ आमुक्तमौक्तिकविभूषणराहमजालैः श्वेतीकृताखिलदिशो विहरंति यस्मिन् ॥

वारांगनामदसलीलमितस्ततोऽपि ज्योत्स्नां दिवापि सुभगामिव दर्शयन्त्यः॥ १३॥

यस्मिन्विमानखितामलिचित्ररत्नच्छायावितानशबलीकृत-विश्वदिकाः॥ बद्धेंद्रचापराचितांशुकगात्रिकेव संलक्ष्यते प्रतिदिनं नितरां दिनश्रीः॥ १४॥

देखिल त्यागृन श्वासोच्छ्वासाच्या सुगंघामध्यें आसक्त झालेले भुंगे ख्रियांच्या अतिंा शय मज अशा हातांच्या आघातांची इच्छा करणारे असे होत्साते वारंवार त्यांच्या मुखावर पडतात. १३ या नगरांत धारण केलेल्या मोत्यांच्या डागिन्यांच्या किरण समृहांनीं ज्यांनीं सर्व दिशांना उज्ज्वल केलें आहे अशा वेश्या गर्वोद्धत हो जन ळीळेनें जेव्हां इकडे तिकडे फिरतात त्यावेळीं त्या दिवसा देखिळ सुंदर असें रात्रींचे चांदणें जण छोकांना दाखवित आहेत असें वाटत असे. १४ या नगरांत सात ताळांच्या माडीला लावलेल्या स्फाटिक वगैरे नानाप्रकारच्या कांतिमंडपानें चित्र विचित्र केल्या आहेत दिशा अशी दिवसलक्ष्मी इद्रधनुष्याच्या वस्नानें जणु जिचें शरीर गुरफटलें आहे अशी होऊन दररोज फार शोभिवंत दिसत असे या शहरांतील लोक आहे-इन-वपु सर्पीचा मालक जो शेष त्याचे सारखें शरीर धारण करीत असूनही अभुजंगशील होते अर्थात् सर्पाच्या स्वभावाचे नव्हते. या विरोधाचा परिहार याप्रमाणें अ-हीन-वपु-उत्तम शरीराचे धारक असे तेथील लोक अभुजंगशील होते. भुजंग जार पुरुष त्याच्या स्वभावाचे नव्हते. तसेंच ते लोक मित्रानुरागसहित-सूर्याच-रील प्रेमाने युक्त असून कलाधरेच्छ-चंद्राची इच्छा करणारे होते. या विरोधाचा परिहार मित्रानुरागसहिता-मित्रावरील प्रेमानें सहित होते व नाना कलाधारक आपण बनावे अशी इच्छा करणारे होते. याचपमाणें तेथीळ जनता प्रसिद्ध असे

यस्मिन्नहीनवपुरप्यभुजंगशीला मित्रानुरागसहितापि कलाधरेच्छा। भाति प्रतीतसुवयःस्थितिरप्यपक्षपाता निवासिजनता सरसाप्यः रोगा॥१९५। सूर्याशको निपतिता भवनोदरेषु वातायनस्थितहरिन्मणिरिस-

तिर्यिभिवेशितनवायतवंशशंकामभ्यागतस्य जनयंति जनस्य यत्र ॥ १६॥ रामाविभूषणमणिप्रकरांशुजालविष्वंसितांधतमसेषु गृहोदरेषु॥

लिप्ताः॥

रामाविसूपणमाणप्रकराशुजालाव चासतावतमसबु गृहादरेषु ॥ व्यर्थीभवन्ति निशि यत्र परं प्रदीपा यद्यंजनं खळु वमंति न नेत्रपथ्यं ॥ १७॥ दोपः स यत्र निशि सौधचयाग्रलग्रस्फीतेंदुकांतमणिकल्पितदुर्दि-

दोषः स यत्र निशि सौधचयात्रलग्नस्पतिंदुकांतमणिकिष्पतदुर्दि-नेन॥ तिम्यंति यद्युवतयोर्द्दपथे स्मरातीश्चंद्रोदये त्रियानिवासगृहं

प्रयान्त्यः ॥ १८॥ जे चांगले पक्षी त्याच्या अवस्थेनें युक्त होते (प्रतीतसुवयः स्थितिः) असें असूनही अपलपाता पंखांच्या पडण्यानें रहित होती अर्थात् प्रसिद्ध व उत्तम असे

जे वय अर्थात तरुणपणा त्यानें युक्त होती व पक्षपातानें रहित होती. याचपमाणें ती जनता सरसा श्रृंगारादि रसानें सहित व रोगरहित होती. १६ खिडकीला वसविकेरया पांच रत्नांच्या किरणांनीं लिप्त झालेले सूर्याचें किरण जेव्हां घरांत प्रवेश करीत असत तेव्हां घरामध्यें आलेल्या लोकांस येथें नवीन लांव वेळ तिरपें

रच्न ठेविछे असावेत अशी शंका उत्पन्न करीत असत. पांच रत्नाच्या हिरव्या कांतीर्मी संलग्न झाछेले व खिडकींत्न तिर्पे येऊन आंत शिरणारे सूर्य किरण उपयुक्त कल्पनेपमाणें भासत असत. १७ या नगरांत ह्रियांच्या डागिन्यांत जड.

विकेल्पा रत्नांच्या किरणसमृहांनी जिथील दाट अंबार नाहींसा केला आहे अगा वराच्या मध्यभागी लावलेले दिव्यांना जर नेताला हितवर असे अंजन त्यांनी दिलें नसतें तर व्यर्थपणा आला असता. १८ या नगगंत रात्री चंद्रोदय झाला असतां स्वच्छे कपोलफलके निशि कामिनीनां संलक्ष्यते शश्वरः प्रतिमा-च्छलेन ॥

आदातुमागत इवाननभूरिशोभां यस्मिन्स्वकांत्यविमलत्वातिरस्कि-यायै ॥ १९ ॥

आनम्रराजकशिखारुणरत्नरिमबालातपप्रसरचुंबितपादपद्मः ॥ राजा तदात्ममतिविक्रमसाधितार्थः सिद्धार्थ इत्यभिहितः पुरमध्यु-वास ॥ २० ॥

योज्ञातिवंशममलेन्दुकरावदातः श्रीमान्सदा ध्वज इवायतिमानुद्रग्रः। निर्व्याजमुत्सवपरंपरया प्रकाशमुत्थापितोद्धरितभूमिरलंचकार ।२१। यं प्राप्य रेज़ुरमला नरनाथविद्याः संयोजयंतमखिलं च फलेन लोकं॥ सर्वा दिशो जलधरात्ययमेत्य कालं कांतिं प्रसादसहितां किम्रुनोद्ध-हंति॥ २२॥

मिय पतीच्या घरीं जाण्यासाठीं ख्रिया कामाकुल होऊन निघाल्या असतां अध्यी रस्त्यांत मोठ्या वाड्यांना जडिविलेल्या निर्मल चंद्रकांत मण्यापासून गळत असलेल्या जल्यारांनीं त्या भिजून ओल्या होत असतं एवढाच काय तो दोष त्या शहरांत आढळून येत असे. १९ या नगरांत राजी स्वतःच्या कांतिमध्यें असलेला मिलनपणा काढून टाकण्यासाठीं व ख्रियांच्या स्वांची पुष्कल शोभा घेण्यासाठीं जणु चंद्र त्यांच्या स्वच्छ अशा गोल गालामध्यें प्रतिविंबाच्या मिषानें प्रवेश करीत आहे असें दिसत असे. २० नम्र झालेल्या राजसमूहाच्या मस्तकावरील पद्मराग रत्नाच्या किरणांच्या कोमल प्रकाशाच्या प्रसारानें ज्यांचे चरणकमल स्पर्शिले गेले आहेत व ज्यानें स्वतःच्या निर्दोष बुद्धि व पराक्रमाच्या द्वारें विपुल संपत्ति मिलविली आहे असा सिद्धार्थ या नांवाचा राजा या शहरांत राहात होता. २१ जसा ध्वन निर्मल चंद्राच्या किरणाप्रमाणें ग्रुम्न, शोभायुक्त संदर्ग, लांव व उच असतो व अनेक उत्सवाच्यावेलीं तो उचलून जमीनींत रोवून स्थापन करितात व हा ध्वन त्याला जोडलेल्या चेळूला स्वाभाविक स्पष्टपणें भूषित करीत असे: त्याप्रमाणें चंद्र किरणा प्रमाणें सुंदर, लक्ष्मी संपन्न, भाग्यशाली असा हा सिद्धार्थ राजा पराक्रमी होता. याने पृथ्वीची उन्नाति करून तिचा उद्धार केला होता, नेहमीं उत्सवांच्या परंपरेतें

(3\$2) दोषो वभूव गुणिनोऽप्ययमेक एव यस्य प्रतापमतुळं द्धतो धराया॥ वक्षः स्थिता प्रियतमापि वलालुरस्ताद्यद् भुज्यते सतति भष्टजनेन लक्ष्मीः ॥ २३ ॥ तस्य प्रिया नरपतेः प्रियक।रिणीति नाम्ना वभूव महिषी भ्रवनैकरत्नं। यां वीक्ष्य लोचनसहस्रमिदं कृतार्थमचेत्यमन्यत वृपापि विवाहकाले२४ किं को मुदी तनुमती नहि सान्हि रम्या दिव्यांगनेय मुत सा न विलो-लनेत्रा॥ वीक्ष्येति विस्मयवशादिष मन्यमानो यामर्थनिश्चयमपूर्वजनो न लेभ 11 24 1 स्वाभाविकपणे प्रसिद्ध अशा आपल्या ज्ञातिकुलाला यांने ध्वजाप्रमाणे सूपित केलं होतें. २२ सर्व प्रजाजनाला इच्छित फलांनीं संयुक्त करणाऱ्या या राजाला फरुन घेऊन सर्व निर्मल अशा राजविद्या फार शोर्भू लागल्या. वरोवरच र्का, अरदत्त्या समयाला प्राप्त होऊन सर्व दिशा प्रसन्नतेने सहित, अजा जोभेला भारण करीत नाहींत काय ? २३ या पृथ्वी तलावर अनुपम पराक्रम करणाऱ्या या गुणी राजाच्या ठिकाणीं एकच दोप होता. तो असा कीं, अतिशय आवडती व राजाच्या वक्ष:स्थलावर राहणारी अशीही लक्ष्मी याच्या देखत इष्ट मित्रंदिकाकहून वस्रात्कारानें भोगिस्री जात असे. २४ त्रैस्रोक्यांतीस अद्वितीय रतन अशी पियकारिणी नांवाची पत्नी या सिद्धार्थ राजाची पट्टराणी होती. या राजा-राणींच्या विवाहकालीं या शियाति कि प्राप्त इंडानें देखील आज माले हजार टोळे असणें कृतार्थ झालें अ 🔻 🕝 🕆 २५ अपूर्व लोक अर्थात् या

करणाच्या या गुणी राजाच्या टिकाणीं एकच दोप होता. तो असा कीं, अतिशय आवडती व राजाच्या वक्षः स्थलावर राहणारी अशीही लक्ष्मी याच्या देखत इष्ट मित्रांदिकाकहन वलात्कारांने भोगिली जात असे. २४ त्रेलोक्यांतील अद्वितीय रतन अशी पियकारिणी नांवाची पत्नी या सिद्धार्थ राजाची पहराणी होती. या राजा-राणींच्या विवाहकालीं या पियत कि ज्या हंडानें देखील आज माझे हजार रोलें असणें कृतार्थ झालें अस्ता कि क्या के अपूर्व लोक अर्थात या राणींला ज्यांनीं पूर्वी पाहिले का अत्यत, यामुळें विचार करणाऱ्या अशाही स्थांना वास्ताविक बस्तुस्थितीचा निश्चय होत नसे. त्यांना या प्रमाणें संशय उत्पन्न होत असे:—काय ही मूर्तिमंत कोमुदी—चंडाचें चांदण-आहे १ लेले ही जर कोमुदी असती तर दिवसा रमणीय कशी दिसली असती १ कारण कोमुदी दिवसा रम्य दिसन नाहीं. ही देवांगना असेल असे मानलें तर वेंही योग्य दिसन नाहीं कारण देवांगनेचे टोले चंचल नसतात. ही तर चंचलनयना दिसते. चाप्रमाणें स्थांना काहीं निर्णय करना चेत नसे. २६ हा सिद्धार्थगना स्वामाविक चाप्रमाणें स्थांना काहीं निर्णय करना चेत नसे. २६ हा सिद्धार्थगना स्वामाविक

रेजे परं सहजरम्यतयान्वितोऽपि तां प्राप्य भूपतिरनन्यसमानकांतिं। शोभांतरं वजित न प्रतिपद्य हृद्यः किं शारदीं शशघरो भुवि पौर्ण-मासीं ॥ २६॥

साप्यात्मनः सदृशमेत्य पतिं मनोज्ञं तं दिद्युते रितिरेव प्रकटं मनोजं॥
लोके तथाहि नितरामनुरूपयागः केषां न दीषयति कांतिमनन्य-साम्यः॥ २७॥

एकोयमेव समभूदिभरामकीत्योदिं।पस्तयोर्भ्रवि वधूवरयोरनूनः ॥ कृत्वा पदं सुमनसासुपरि प्रकाशं याद्धिस्यतुः प्रतिदिनं कुसुमायु-धात्तो ॥ २८॥

धर्मार्थयोः सतत्तिस्यविराधिकान सार्धं तथा मृगद्दशानुभवन्नरेद्रः॥ संरक्षणात्ममद्यन्सकलां धरित्रीं कालं निनाय स यशोधवलीकः-ताशः॥ २९॥

सौंदर्यानें युक्त असून जिच्या समान कोणाचीही कांति नाहीं अशा त्या पियका. रिणीला प्राप्त करून वेऊन अर्थात तिच्यासह संयोगानें फारच शोभूं लागला-वरोवरच आहे कीं या जगांत शरत्कालच्या पौर्णिमा तिथीच्या संयोगानें मूलचाच सुंदर असलेला चंद्र अनिर्वचनीय अशा शोभेला प्राप्त होत नाहीं काय १ प्राप्त होतोच. राजा तर सुंदर होताच पण राणीच्या अनुपम सौंदर्यानें त्याला फारच शोभा आली होती.

२७ सुंदर अज्ञा मदनाच्या प्राप्तीनें रित देवी जिशी शोभत होती तशी ही मियकारिणी राणी देखील स्वतःला योग्य अञ्चा सुंदर सिद्धार्थ राजाच्या संयोगानें स्पष्टपणें फार शोर्भू लागली. बरोवरच आहे की ज्याची बरोवरी कोणी करूं शकत नाहीं असा अनुरूप संबंध या जगांत कोणाच्या शोभेला वाढिविणारा होत नाहीं बरें ? २८ सुंदर कीर्तीला धारण करणाऱ्या या पितपत्नींच्या ठिकाणीं एकच मोठा दोव होता. तो हा कीं, उघडपणें हें जोडपें विद्वान व देव यांच्यावर आपलें पाउल ठेवीत असत व दररोज मदनापासून भय पावत असत अर्थात् विद्वान व देव यांच्या चरणांना नमस्कार करीत असत आणि हे काम पुरुषार्थाचा विरोध न येईल अशा रीतीनें अनुभव घेत असत. २९ आपल्या कीर्तीनें सर्व दिशा ज्यानें

भक्तवा प्रणेमुरथ तं मनसा सुरेंद्रं पण्मासरोषसुरजीवितमेत्य देवाः ।
तस्मादनंतरभवे वितानिष्यमाणं तीर्थं भवोदिधसमुक्तरणैकतीर्थं
॥ ३०॥
इंद्रस्तदा विकसिताबाधे चक्षुरष्टौ दिक्कन्यका विततकुंडलरोलवासाः
यूयं जिनस्य जननीं त्रिशलामुपाध्वं प्राग्माविनीमिति यथोचितमादिदेश ॥ ३१॥
चूडामणिद्युतिविराजितपुष्पचूला चूलावती जगति मालिनिका
च कांता॥
पर्याप्तपुष्पविनता वनमालिकेव दृश्या सदा तनुमतां नवमालिका च

पीनोन्नतस्तनघटद्वयभूरिभारताम्यत्तनुत्रिविष्ठका त्रिशिराभिधाना।
लीलावतंसितसुरहुमचारुपुष्पा पुष्पप्रहाससुभगापि च पुष्पचूला
॥ ३३ ॥
निर्मल केल्या आहेत असा तो सिद्धार्थ राजा त्या हरिणनेत्रा प्रियकारिणी राणीः
सह धर्म व अर्थ या पुरुपार्थीना वाधा न येईल अशा रीतीनं कामसुखाचा अनुभव
येत व संरक्षण कार्यानं सर्व पृथ्वीला आनंदवीत आपला काल व्यतीत करूं लागलाः
३० इकडे ज्याचे देवगर्तातलें आयुष्य सहा महिने उरलें आहे व जो पुढच्याच जन्मीं
संसार समुद्र तहन जाण्यासाठीं अद्वितीय अशा घाटासार्य्या तार्थीचा प्रसार

नमस्कार करूं लागले. ३१ त्यावेळीं ज्याचा अवधिज्ञानरूपी डोला विकसित आला आहे अशा सीधर्म इंद्रानें भावी जिनमाता जी त्रिशला राणी तिची तुम्ही खपासना करा अशी, विरतीण कुढल पर्वतावर ज्यांचा निवास आहे अशा आट दिवडुपारींना आजा केली. ३२ च्हामणि रत्नाच्या कांतीनें जिचा फुलांचा मुक्ट शोभत आहे अशी चूलावती, जगामध्यें अतिशय सुद्र अशी मालानिका, पुष्कलशा पुष्पांनी नम्न झालेल्या वनमालेममाणें सर्व प्राण्यांना पाइण्यास योग्य अर्थात सुद्र अशी नवपालिका, मोटे व उंच अशा स्तनत्वि दोन कुंभाच्या ओझ्यानें जिचा देर व विवली खिन झालेले आहेत अशी तिशिशरा नांवाची दिकन्या, कल्पटलाच्या

करणार आहे अशा प्राणतेंद्राकडे येऊन देव त्याला मनाने-मनःपूर्वक भक्तीने

चित्रांगदा कनकचित्रसमाव्हया च तेजोऽभिभूतकनका कनकादि देवी॥

द्राग्वारुणी च सुभगा प्रियकारिणीं तामासेदुरानतिशरोनिहिताप्र-

हस्ताः ॥ ३४ ॥ ताभिः स्वभावरुचिराकृतिभिः परीता सात्यंत गांतिसहिता नित्रं

विरेजे ॥ एकापि लोकनयनोत्सवमातनोति तारात्रली वळियता किमु चंद्र लेखा ॥ ३५ ॥

तिर्पिग्वजं भक्सुगश्च निधिं दधानास्तत्राज्ञया प्रतिदिशं सुसुचुर्ध-नेशः॥

सार्धं त्रिकोटिपरितः प्रनदाय रत्नं लोकस्य पंचदश विस्फ्रितांशु मासान् ॥ ३६॥

पुष्पांचे जिनें अलंकार धारण केले आहेत व फुलाप्रमाणें मृदु व स्वच्छ हंसण्यानें सुंदर दिसणारी पुष्पचूला, चिलविचिल बाहुभूषणांनीं युक्त अशी कनकिच्चा, स्वतःच्या तेजानें सोन्याच्या कांतीचा पराभव करणारी कनकादेवी व सुंदर अशी वारुणी देवी अशा या आठ दिकन्यका नम्न झालेल्या आपल्या मस्तकावर हातांचा अग्र स्थापन करून अर्थात् हात जोडून व ते नम्न झालेल्या मस्तकावर ठेंजन मियकारिणी राणीकडे आल्या. ३५ स्वाभाविक सुंदर आकृतीच्या अशा या आठ दिकन्यकांनीं वेष्टिलेली अत्यंत सौंदर्ययुक्त ती पिय कारिणी जिनमाता फारच शोभू लागली. वरावरच आहे कीं, चंद्राची कोर एकटीच असली तरीही लोकांच्या नेचांना आंनंद देणारी होते, मग तारांच्या सम्रदायांनीं ती वेष्टित झाल्यावर काय विचारावयाचें आहे? अर्थात् ती स्थावेलीं आतिशय आनंददायक होते. त्याप्रमाणें या अष्ट दिक्कन्यांनीं जिनमाता फारच शोभूं लागली.

३६ निधींना धारण करणारे तियीग्वजृंभक नांत्राचे देव कुवेराचे आहेनें त्या कुंडपुर शहरांत प्रत्येक दिशेमध्यें लोकांना आनंद व्हावा म्हणून पंधरा महिनें पर्येत ज्यांचे किरण चोहींकडे पसरले आहेत अशा साडेतींन कोटि रत्नांची दृष्टि करूं लागले, ३७ अमृतामाणें पांडच्या रंगाच्या महालांत कोमल हंसाममाणें

(३४२)
सोध सुधाधविति मृदुहंसतूले रात्री सुखेन रायिता पियकारिणी सा।
स्वप्रानिमानथ जिनाधिपतिप्रस्तिप्रख्यापकानुषित भव्यनुतान्यपरयत् ॥ ३७ ॥
ऐंद्रं गजं मदजलाईकपोलम्लं प्रोत्तंगिर्देधवलं दृपमं नदन्तं ॥
पिंगाश्रमुज्ज्वलसटं मृगराजमुत्रं लक्ष्मीं सुदावनगजिरिभिपिच्यमानां ३८
दामद्रयं अमदलिप्रकरं नभःस्थं विष्वंसितांधतमसं सकलं मृगांकं ॥
वालं रिवं सरिसजानि विवोधयनतं क्रीडन्मदेन विमलांभिस

मत्स्ययुग्मं ॥ ३९ ॥
कुंभो सरेरिहदृतो फलसंवृत्तास्यो रस्यं सरः सरिसजैःस्फिटकाच्छवारि

वारां निधि पिहितदिग्वलयं तरंगैः सिंहासनं मणिमयूखिवभूपितांगं ॥ ४०॥ चैचङ्कुजं सुरविमानमनूनमानं नागालयं समदनागवधूनिवासं॥ विस्तारितं सुनिवहं दिवि रत्नराशिं वन्हि च धूमरहितं किपली कताशम ॥ ४१॥

उत्तम काषुम ज्यांत आंह अशा विछान्यावर रात्रीं सुखाने निजलेल्या िषयका-िर्मा राणीने जिनेश्वराच्या जन्माची सुचना करणारीं भव्यांकडून प्रशिसली जा-णारीं अशीं पुढें लिहिलेली स्वाने प्रातःकालीं पाहिलीं. ३८ मर्गाच्या पाण्याने ज्याच्या गंडस्थलाचा मृत्र भाग ओला झाला आहे असा उंच ऐरावन हत्ती, चहा प्रमाणें पांडग व गर्नेना करणाग वेल विगट डोल्याचा, चमकणाऱ्या आयालांचा, व उम्र अमा सिंह, आनंदाने गनटी हत्ती जिला रनान वालीत आहेत अशी लक्ष्मा, आकाशांन लोंवणाऱ्या व ज्याच्या सभोवती गुग्यांचा मसुदाय फिरन पारे अशा दोन पुष्पाला, ज्याने दाट अंशा नष्ट केला आहे

भमा पूर्णचंद्र, कमछांना विकासित करणारा बाल सूर्य, गर्वाने स्वच्छ पाण्यांत कीडा करणारे माझाचे जोडपें, फलांनी ज्यांची तींटे बांकळी आहेत असे कमळांनी वेदिलेंचे दोन पलझ, कमछानी मनोहर दिसणारे व स्कटिकावमाणें निर्मेळ पाण्याने करलेंचे सरोवर, आपल्या तरंगांनी सर्व दिशांनाच्यापृत टाकणारा समुद्र, रत्नांच्या स्वप्रान्सदस्यवनिपाय जगाद देवी तानात्मजाननविलोकनकौतुकाय सोऽपि प्रमोदभरविव्हलितांतराक्षस्तस्यै क्रमादभिद्धाविति तत्फलानि ॥४२॥

हुएन ते त्रिभुवनाधिपतिर्गजेन पुत्रो भविष्यति वृषेण वृषस्य कर्ता ॥ सिंहेन सिंह इव विक्रमवान्खगाक्षि ! लक्ष्म्या सुरैः सुरगिरौ स सुदाभिषेच्यः ॥४३॥

दामद्रयेन भविता यशसो निधानं चंद्रेण चंद्रमुखि! मोहतमोविभेदी। हंसेन भव्यकमलपतिनोधकारी सोऽनंतमाप्स्यति सुखं शफरद्रयेन ॥४४॥

धास्यत्यलं घटयुगेन सलक्षणांगं तृष्णां हिनष्यति सदा सरसा जनानां॥

किरणांनीं ज्याचें सर्व अवयव सुशोभित झाले आहेत असें सिंहासन, ज्याच्यावरील ध्वज हालत आहेत असें फार मोटें देव विमान, योवनोत्मत्त नागिस्वया ज्यांत आहेत असें नागभवन, आकाशांत पसरलेल्या रत्नांचा पुंज, ज्यानें सर्व दिशा पिगट केल्या आहेत असा धुगनें रिहत अग्नि, अशीं सोला स्वमें राणीनें पाहिलीं. धर राणोनें समेंत पुत्राचें सुख पाहण्याविपयीं कौतुक युक्त सिद्धार्थ राजाला हीं स्वमें सांगितलीं, आनदभरानें ज्याचें मन व इदियें विव्हल झालीं आहेत अशा त्या राजाने तिला कमानें त्यांचीं फलें सांगितलीं. तीं येणें प्रमाणें: हे हिरणनेत्रे, हतीं पाहिलास त्यायुळें तुला बेलोक्याचा अधिपति असा सुलगा होईल व बेल पाहिलास त्यायुळें तुला बेलोक्याचा अधिपति असा सुलगा होईल व बेल पाहिलास त्यायुळें प्रमीचा कर्ता अर्थात् त्याचा प्रसार करणारा असा पुत्र होईल. सिंह दर्शनानें सिंहाप्रमाणें पराक्रमी, लक्ष्मीदर्शनानें मेरूपर्वतावर—देवांक इन अभिपेक होण्यास सिंहाप्रमाणें पराक्रमी, लक्ष्मीदर्शनानें यशांचा सांठा, हे चद्रवटने, चंद्र टर्शनानें योग्य, दोन पुज्याचा नाश करणारा, सूर्य दर्शनानें भव्य लोकरूपी कमलांना विकतित करणारा, दोन मत्रयांच्या दर्शनानें अन्तें सुखाला प्राप्त होणारा, दोन कलशांच्या दर्शनानें अत्र सुखालां प्राप्त सरोवर दर्शनानें नेहर्मी लोकांची तृष्णा दूर करणारा, समुद्रदर्शनानें संपूर्ण ज्ञानाला प्राप्त करून घेणारा, व लोकांची तृष्णा दूर करणारा, समुद्रदर्शनानें संपूर्ण ज्ञानाला प्राप्त करून घेणारा, व सिंहासनदर्शनानें अन्तीं उत्त अन्तीं उत्कृष्टपदाला अर्थात् मोथ प्राप्त करून घेणारा, व सिंहासनदर्शनानें अन्तीं उत्त अन्तीं उत्कृष्टपदाला अर्थात् मोथ प्राप्त करून घेणारा,

अभोधिना सकलबोधमुपैष्यतीह सोउन्ते पदं परमवाप्स्यति विष्रेण ॥४५॥

देवालयादवतरिष्यति देवधामा तीर्थं करिष्यति फणींद्रगृहेण मुख्यं॥ यास्यत्यनंतगुणतां मणिसंचयेन कमक्षयं स वितानिष्यति पावकेन

स्वप्रावलीफ अमिति प्रियतो निराम्य सा पिप्रिये जिनपतेरवतारशंसि। मेने स्वजन्म सफलं वसुधाधिपोऽपि त्रैलोक्यनाथगुरुताथ मुदे न केषां ॥ ४७ ॥

पुष्पोत्तरात्समवतीर्य सुराधिपोऽथ स्वप्ने विवेश धवलद्धिपरूपधारी ॥ देव्या मुखं निशि शुनौ सितपक्षषष्टयां चंद्रे प्रशृद्धिमति चोत्तर फाल्गुनिस्थे॥ ४८॥ तस्मिन्क्षणे स्वहरिविष्टरकंपनेन ज्ञात्या सुराधिपतयोऽथ चर्जावे-

कल्पाः॥
तामेत्य दिव्यमाणिभूषणगंधमाल्यवस्त्रादिभिः समभिपूज्य ययुः
स्वधाम ॥ ४८॥

४६ देव विमानाच्या दर्शनानें तो स्वर्गापायून अवतरेल, व नागविमानाच्या दर्शनानें युख्य तीर्थाचा कर्ता होइल. रत्नराशीच्या अवलोकनानें तो अनत गुणांचा धारक होईल व अग्नि पाइण्यानें कर्मक्षय करणारा होईल. ४७ या प्रमाणें जिने- खगच्या अवतागचे सचक अशा स्वज्ञाचें फल आपल्या पतिराजापायून प्रियका- रिणी राणीला ऐकून फार आनंद झालां. व आपण जन्म धारण करणें हें सफल झालें असें ती मानूं लागली. याचप्रमाणें सिद्धार्थ राजाही आपल्या जन्माचें आज साफल्य झालें असें समजूं लागला. वरोवरच आहे कीं, त्रैलोक्यनाथ अशा जिने- खराचे आई बाप होण्याचा प्रसंग कोणाला वरें आनंदाला कारण होणार नाहीं १ ४८ यानंतर तो प्राणतेंद्र पुष्पोत्तर विमानापासून उतल्व रवमामध्यें ज्यानें

४८ यानतर ता प्राणतद्र पुष्पात्तर विमानापासून उतहन रवसायव्य ज्यान पांढच्या हत्तीचें रूप घारण केलें आहे असा होत्साता रात्रीं आपाढ शुक्त पष्टीच्या दिवशीं उत्तराफाल्गुनि नक्षत्नावर चंद्र उन्नतावस्थला प्राप्त झाला असतां देवीच्या श्री-हिधित श्रलवणा च बला च कीर्तिलक्ष्मीश्र वाक्च विकसंत्र-मदेन देव्यः॥ एता निजद्यतिविदीपितवायुमार्गास्तामाज्ञया सुरपतेः सहसोपतस्थः

लक्ष्मीर्मुखे हिंदे घतिर्लवणां च घाम्नि कीर्तिर्गुणेषु च बले च बला महत्वे ॥ श्रीवीचि वाक्च नयनद्वितयेच लज्जा तस्या मुदा सह यथोचित्तम-

ध्युवास ॥ ५१ ॥ . गर्भास्थतोऽपि स जहें जगदेकचक्षुर्ज्ञानत्रयेण विमलेन न जातु मातुः॥

भानुरुद्याद्रितरीविशालकुक्षिस्थितोऽपि रुचिरेण परीयते किं ॥ ५२ ॥

न प्राप किंचिदपि गर्भनिवासदुःखं कामं मलैरनुपसंःख्रुतकोमलांगः॥ पंकानुलेपरहितस्य सरिङ्जलान्तर्मग्नस्य पद्ममुक्कलस्य किमास्ति खेदः ॥ ५३॥

मुखामध्ये प्रविष्ट झाला. ४९ त्याच क्षणी आपल्या सिंहासनांच्या कंपनीनें चार प्रकारच्या इंद्रांनीं जिनेश्वराचे गर्भीत अवतरण झाळें असे जिनेश्वराच्या मातेकडे प्रयाण केलें व तिचा दिच्य रत्नालंकार, गंध, पुष्पमाला अमूल्य वस्त्रं वगैरेनीं त्यांनीं आदर केला व स्वतःच्या रथानीं पुनः प्रयाण केलें. ५० स्वतःच्या देहकांतीने आकाशाला मकाशित करणाऱ्या श्री, दही, धात्ती, लवणा, बला, कीर्ति, लक्ष्मी व वाक या आठ देवता हार्द्धगत होणाऱ्या आनंदासह इंडाच्या आज्ञेनें मातेजवळ तत्काळ येजन इजर झाल्या. ५१ मुखामध्ये लक्ष्मी, हर्यात ृ धित, शरीरांत लवणा, गुणामध्यं कीर्ति, वलामध्यें वला, महत्वामध्यें श्री, भाषणांत वाक्, दोन नेवामध्ये लज्जा या रीतीने देवतांनीं मातेच्या यथोचित स्थानीं मोट्या आनदानें वास केला. ५२ जगाला अद्वितीय नेनाममाणें असलेले प्रभु गातेन्या गर्भामध्ये विराजमान झाले होते. तथापि ते निर्मल अशा तीन जानांकरन कथांहि सोडले गेले नाहींत. बरोबरच आहे कीं, उद्य पर्वताच्या तटी हिंगा विशाल उटरा-मध्यें सूर्य राहृन देखिल आपल्या सुंदर अशा तेजानें वेदलेला असन नाहीं कायी असतोचे. ५३ रक्त वरेरे मळापासून पूर्ण अलिप्त झालें आहे, कोमल अग ज्याचें असा

गर्भस्थितस्य विमलावगमप्रणुन्नं मोहांधकारमिव चित्तगतं वमन्तौ ॥ तस्याः स्तनौ सपदि नीलमुखावभूतां पीनोन्नतौ कनककुंभिनभौ मृगाक्ष्याः॥ ४४॥

न्द्रगाद्याः ॥ ५४॥ आपांडुतां तनुश्याय तदा नतांग्या निर्यत्तदीययशसा धवलीकृतेव॥ पूर्वं तथा न विरराज वलित्रयेण तस्यायथोदरमनुल्बणमेधनेन॥५५॥ तस्यास्त्रिसंध्यमकृतेत्य मनुष्यधर्मा सेवां स्वयं पटलिका निहितानि

विभ्रत्॥ विभ्रत्॥ श्रीमांगरागसुमनोमणिसूषणानि प्रख्यापयन्निव जिने निहितां स्वभक्ति॥ ५६॥

तृष्णाविहीनसथ गर्भगतं दधाना तं दौहदेन न कदाचिदसौ बबाधे एप क्रमोऽयमिति पुंसवनं नरेंद्रस्तस्याश्चकार विब्धेरिप पूजितायाः ॥ ५७॥

त्या जिनेश्वराला गर्भांमध्ये निवास करण्यापासून थोडेसेंही दुःख झालें नाहीं. वरोवरच

आहे कीं, चिखलाच्या लेपापासून राहित असून नदीच्या पाण्यांत बुहालेल्या कमळाच्या कळीला कांहीं तरी खेद वाटतो काय ? ५४ प्रभु गर्भीत आले त्या वेळीं मृगनेत्रा अशा त्या राणीचे मोटे व उंच आणि सुवर्ण कुंभापमाणें असलेले दोन रतन तत्काल ज्यांचीं वेंखें निळी झालीं आहेत असे झालें. गर्भामध्यें येऊन राहिलेल्या प्रभूच्या निर्मल जानानें हाकालून दिलेला स्नांतील मोहरूपी अधारच जण ते दोन स्तन वाहेर ओकून टाकीत आहेत कीं काय असे शोभूं लागलें. ५५ जिचे शरीर नम्र झालेले आहे अशा त्या मातेचे शरीर पांढरें झालें जणू ते प्रभूच्या वाहेर निचणाच्या यशानेंच धवल झालें. मातेचे वाढणारें पोट जसें शोभूं लागलें तसें पूर्वी अप्रगट व तीन वलकळ्यांनी युक्त असलेलें शोभत नव्हतें.

पद श्री जिनेश्वरामध्यें असलेल्या आपल्या मक्तीला जणु व्यक्तच करीत आहे असा कुवेर सकालीं, ढोनपहरीं व संध्याकालीं पिटाच्यामध्यें वारीक सुंदर वस्तें, अंगाला उटी लावण्याचे पदार्थ, पुष्पमाला, रत्नालंकार वगैरे ठेऊन मातेकडे येत असे व निची स्वतः सेवा करीत असे. ५७ मातेनें तृष्णेनें रहित अर्थात् निरपृष्ट अशा जिनमगवंताला गर्भीन धारण केलें होतें रहणून तिला होहाले उत्पन्न होऊन दृष्टे प्रहैरथ निजोच्चगतैः समग्रैर्लभे यथा पतितकालममूत राज्ञी॥ चैत्रे जिनं सिततृतीयजया निशान्ते सोमान्हि चंद्रमसि चोत्तर-फाल्श्विस्थे॥ ५८॥

आशाः प्रसेदुरथ देहभृतां मनोभिः सर्वाः समं वियदधौतिभियाय शुद्धिम् ॥

पेते मदालिचितया सुरपुष्पवृष्ट्या नेद्रुस्तदा नभा भे बंदु अयश्च मंद्रस्पर जाते तदा प्रथिततीर्थकरानुभावे तस्मिन्भविष्ठिद जगित्रतये कनाथे ॥

सिंहासनानि युगपित्रदशेश्वराणां कंपं ययुःसहमनोभिरकंपनानि ६० उन्मीलिताविदशा सहसा विदित्वा तज्जन्मभक्तिभरतः प्रण-तोत्तमांगाः॥

धंटानिनादसमवेतिनकायमुख्या दिष्टवा ययुस्तिदिति कुंडपुरं सुरेंद्राः ॥ ६१ ॥

क्यों हो तास झाला नाहीं. ही वंशाची पद्धात आहे असे समजून देवांनी ही पूज्य असलेल्या प्रियकारिणीचा पुंसवन संस्कार राजा सिद्धार्थीनें केला. ५८ यानंतर कांहीं दिवसांनीं सर्व ग्रह आपल्या उच्चस्थानीं येजन त्यांनी लग्न पाहिलें असतां, योग्य काल आला असतां, चैत्र शुद्ध त्योदशीच्या दिवशीं सीमवारीं पहाटे चंद्र उत्तरा फाल्गुनि नक्षत्रावर आला असतां त्रिशला मातेनें श्री जिनेश्वराला जन्म दिला ५९ भगवंताच्या जन्मानें सर्व पाण्यांच्या अंतः करणासह सर्व दिशा प्रसच्च झाल्या. धुतल्यावाचूनच आकाश शुद्ध -स्वच्छ झालें. उन्मत्त भुंग्यांनीं ज्याप्त झालेली पुण्पदृष्टि देव कर्क लागले. आकाशांत देव नगारे गंभीर शब्द कर्क लागले. ६० तेलोक्याचे आदितीय स्वामी, संसाराचा नाश करणारे, ज्यांच्या ठिकाणीं तीर्थकराचे चेभव मगट झाले आहे असे जिनेश्वर उप्तच झाले असतां, सर्व इंद्राचीं कंप न पायणारा आसनें न्यांच्या मनासह एकदम कंप पावलीं. ६१ विकसित झालेल्या अवधितान-रूपी डोळ्यानें अकस्मात् जिन जन्म झाला आहे अमें जाणून व भक्तिभागनें ज्यांचीं मस्तकें वाकलीं आहेत, घंटाच्या ध्वनीनें एकत झालेल्या चार मकामच्या देवाचे मुख्य असे सर्व इंद्र मोठ्या हर्पानें न्यांचेलीं गुंडपुगक्ट निवाले.

आज्ञाप्रतीक्षणपरेऽप्यनुरागभावात्कश्चित्सुरः परिजने स्वयमेव दथे॥ हस्तद्वयेन कुसुमस्रजमितुं तं कस्याथवा भवति प्रज्यतमे न

भक्तिः ॥ ६२ ॥ तस्याभिषेकसमये यदिहास्ति कृत्यं कृत्स्नं तदाशु विद्धाम्यहमेव

युक्तं॥ युक्तं॥ कर्तुं दिशामि न परेभ्य इतीव भक्त्या चक्रे सुरः प्रमुदितः स्वम-नेकमेकः॥ ६३॥

नक्षमकः॥ ५२॥ कृत्वापरः करसहस्रमनेकमुच्चैर्विश्रद्धिनद्रकमलानि जिनानुरागात् तेने वियत्यपि सरोजवनस्य लक्ष्मीं शक्तिं न कारयतिं किं किमि-वातिभक्तिः॥ ६४॥ केचित्सः मौलिकिक्सप्रिकाक्षसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धान्यसम्बद्धानसम्बद्धान्यसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्यसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्यसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसम्बद्धानसमसमसम्बद्धा

केचित्स्यमौलिशिखरस्थितपद्मरागवालातपारुणमरीचिचयच्छलेन । अंतर्भरात्सपदि निष्पतितं जिनेंद्रे रेजु शिरोभिरनुरागमिवोद-हन्तः॥ ६५॥

६२ आपापछा परिवार देवांचा समुद्राय आहे ची वाट पाहण्यांत तत्पर असतां ही कोणी एक देवानें तीर्थकराच्या भक्तीमध्ये छीन होऊन स्वतःच आपल्या दोन हातांनीं जिनेश्वराची पूजा करण्याकारितां पुष्पमाला धारण केली. वरोवरच आहे कीं, अत्यंत पूज्य अशा व्यक्तीवर कोणाची भक्ति नसतें वरें? ६३ जिनाच्या अभिपकाच्या वेलीं जे काम करावयाचें असते तें सर्व भीच करीन मलाच—करणें योग्य आहे इतरांना करण्यासाठीं भी आजा करणार बाहीं असा जणु मनांत विचार करून भक्तीनें आनंदगुक्त होऊन कोण्या एका देवानें स्वतःला अनेक रूपाचे केलें, ६४ कोण्या एका देवानें हजारों हान उसन केलें व जिनेश्वराच्या भक्तींत लीन होऊन त्यामध्ये त्यानें विकसित कमलें घारण केलीं व त्यानें आकाशांतही कमल समृहाची शोभा उत्पन्न केली. वरोवरच आहे कीं, अतिज्ञय योठी भक्ति कोणते कक्तींचें काम करवीत नाहीं वरें? ६५ कित्येक देव आपल्या किरीटाच्या अग्रभागीं असलेंच्या पद्मराग मण्यांच्या कोवल्या प्रकाशांच्या लाल किरीटाच्या अग्रभागीं असलेंच्या पद्मराग मण्यांच्या कोवल्या प्रकाशांच्या लाल किरीटाच्या प्रेपाला अंतरंगांतृत एकदम समृहरूपानें वाहेर पडले त्या जिनाविषयींच्या प्रेपाला आपल्या मस्तकांनीं जणू धारण केलें कीं काय असे शोभूं लागले.

एकावली तरलनीलकरप्रशेहश्रेणीकरालितमनोज्ञभुजांतरालाः सद्यः प्रसन्नजिनभक्त्यपनीयमानचित्तस्थमोहतिमिरा इत्र केचि-दासन्॥ ६६॥

आयातवेगपवनेन विकुष्यमाणां दूरांतराज्जलधरा विबुधान्सम-न्तात ॥

यानस्थरत्नरचितामरचापलक्ष्मीमादित्सयेव नभसि द्वतमन्वयुस्तां व्

देवैविवित्रमणिभूषणवेषयानैस्तैरापतद्भिरूपरुद्धसमस्तदिका ॥ केनापि निर्मितमभित्ति सजीवचित्रं द्योर्विअतीव समवैक्षि जनैः

सचित्रं॥ ६८॥ ज्योतिःसुरा हरिरवानुगतात्मसैन्याश्चंद्वादयः सपदि पंचविधास्तदेयुः शंखस्वनेनभवनोदरवासिनस्ते भृत्यैः सहाशु मिलितश्चमरादयश्च६९

६६ एक पदरी हाराच्या मध्यभागीं असलेल्या मोठ्या इंद्रनील मण्याच्या किरणां-कुरांच्या पंक्तींनीं व्याप्त झालेला आहे दोन बाहूच्या मधील शरीराचा भाग ज्यांचा असे कित्येक देव तत्काल निर्मल अशा भगवंताच्या मक्तीच्या द्वारें ज्यांच्या चित्तांतील मोहरूपी अंधार नष्ट होत आहे असे जणू शोभूं लागले. तात्पर्य हैं कीं, कित्येक देवांनी अपल्या गळ्यांत हार घातले होते. त्यांच्या मध्यभागीं असलेल्या इंद्रनील मण्याच्या किरणांनीं त्थांचे वक्षस्थल व्याप्त होऊन गेल्यापुळें हृदयांत उत्पन्न झालेखा निर्मल जिनभक्तीनें तेथें असलेला मोहरूपी अंधार सगला जणु वाहेर आल्याप्रमाणें वाहूं लागलें, ६७ दूर अंतरापासून आलेल्या वेगाच्या वाऱ्यानें सर्व वाजूंकडून आकार्षिले गेलेल्या मेघांनीं विमानांत असलेल्या रत्नापासून चनलेल्या इद्रधनुष्याच्या शोभेला जणु ग्रहण करण्यासाठीं आकाशांत देवांचें जलदीनें अनुसरण केलें. तात्पर्य विमानाच्या वेगानें मेघ ओढले जात असत. परंतु ते विमानांत जढ-विलेल्या रत्नांच्या शोभेला हिरावून घेण्यासाठी जणु त्यांच्या मागे धावत आहेत अशी कल्पना केली आहे. ६८ नानाप्रकारचे रत्नालकार, उत्तामवेष व सुंदर् विमानें यासह यऊन देवांनीं आकाशांत सर्व दिशा घेरून टाकिल्या. त्यावेळीं सर्व लोक आश्चर्यचिकत होऊन वर पाहात असतां कोणी काढलेलीं आकाशानें भिंतीवांचूनच सर्जाव

तद्वंतराधिपतयः पटहस्वनेन न्याहृतसेवकनिरुद्धदिगंतरालाः॥ प्रापुः पुरं स्वसमाधिष्ठितवाहवेगव्यालोलकुंडलमणिद्यतिलिप्तगंडाः

आसाच राजकुलमाकुलमुत्सवेन प्रत्युत्थितेन विदिता वसुधाधिपेन॥ मातुः पुरः स्थितमनन्यसमिजिनेंद्रमिद्रास्तदा ददृशुरानतमौलयस्तम्

मायार्भकं प्रथमकल्पपतिर्विधाय मातुः पुरोऽथजननाभिषविक्रयाये॥ बाळं जहार जिनमात्मरुचा स्फुरंतं कार्यातरान्ननु बुधोऽपि करात्य-कार्य ॥ ७२ ॥ स्कंधे निधाय शरदभ्रसमानमूर्तिरेरावतस्य मदगंघहतालिपंकेः॥७३॥

धारण केलीं आहेत असे वादूं लागलें. ६९ सिंह गर्जनेला अनुसह्हन अथोत् ज्योतिलेकिांत जेव्हां सिंहनाट झाला तेव्हां चंद्रादिक पांच प्रकारचे डेपोत्दिं आपर रा सैन्यासह जीव्र सौधर्मेद्राला जाऊन मिळाले.याचप्रमाणे भवना-वासांत शंखध्वानि झाला तेव्हां चमर वैरोचन वंगरे भवनवासी देवांचे इंद्र आपल्या परिवार देवासह सौधर्मेद्राला येऊन मिळाले. ७० नगाऱ्याच्या ध्वनीने बोलावि लेल्या नोकरांच्याहारें ज्यांनीं सर्व दिशांचा मध्यभाग व्यापून टाकिला आहे व स्वतः आरोहण केलेल्या वाहनांच्या वेगाने हालत असलेल्या छुंडलांच्या रतन-कांनीनी ज्यांचे गाल व्याप्त झाले आहेत अर्थात कुंडलांच्या रत्नांची कांति ज्यांच्या गालावर पडली आहे असे न्यंतरदेवाचे इंद्र कुंडलपुराला येऊन टाखल झाले. ७१ अनेक उत्सवांनीं व्याप्त झालेल्या राजवाड्यास प्राप्त होऊन उट्टन उभा राहिलेल्या राजाकट्टन उसांचा रवीकार केला आहे अर्थात् आटर केला आहे व ज्यांचे किरीट नम्र आले आहेन अशा न्या इंद्रानीं मातेच्या पुढें अंसलेल्या ज्यांच्यासारखा जगांत दुसरा सुंदर कोणी नाहीं अशा त्या जिनवालकांस पाहिलें. ७२ यानंतर सौधर्मेंद्रानें मातेन्या पुढें एक मायामयी वालक स्थापून स्वतः च्या कांतीने चमकणाऱ्या जिनवालकाला जन्माभिषेक कर्ण्यासाठी हरण केलें. वरोबरच आहे की, विद्वान देखील कार्यवश टोउन असार्य सरीत असतो. ७३ कमलाममाणें कांतियुक्त असलेल्या आपल्या वेतलेल्या जिनवालका**ला** 

उचलन

उन्द्राणीन

हानांनीं

रुन्थिन्दिशो दशनवांबुदनादमंद्रस्तूर्यध्विनः श्वितिसुखः परमुच्चचार॥
तद्वर्णशांसि कलमप्रतिकिन्नरेंद्रेर्गानं नभस्यनुजगेऽनुगति त्रमार्गम्
॥ ७४॥
चंद्राकृतिसुतिहरं धवलीकृताशं मूर्तं यशो दिवि तदियिमिवोज्जिहानं।
ईशानकलपपतिरुच्छितमातपत्रं तस्य त्रिविष्टपपते विभरांवभूव। ७५
पार्श्वस्थसामजिनिविष्टसनत्कुमारमाहेन्द्रहस्त धतचामररुद्धदिका ॥
घोरावभो स्वयमनुद्ववताभिषेक्तुं दुग्धाब्धिना परिवृतेव जिनेश्वरं तं ७६
उत्क्षेपकस्फिटकदर्पणतालवृत्तं गृंगारतुंगकलशादिकमंगलानि ॥
तस्यात्रतः पटलिकागतकलपवृक्षपुष्पस्रजश्च दिवरे सुरराजवध्वः ७७
वेगेन मंदरगवापुरमामनोभिश्वत्यालये रक्तकैः कृतभूरिशोभस् ॥
अध्वश्रमं कृथयता त्रिगुणान्वितेन तत्सानुजेन मरुतो मरुतोपगूढाः

देवांनी अनुसरलेल्या सीधमेंद्रानें शरत्कालच्या मेघापमाणें ज्याचें शरीर शुभ्य आहे त स्वतःच्या मदगंधानें ग्रंग्याच्या पंक्तीचें आकर्षण करणारा अशा ऐरावत हक्तीच्या खांद्यावर स्थापन करून आकाश मार्गानें नेलें. ७४ नवीन मेघांच्या गर्जनेपमाणें गंभीर, कानाला गोंड लागणारा व दहा दिशांना रोकणाग असा वाद्यांचा ध्वनि त्यावेळीं होऊं लागला. तेव्हां निनाच्या यशाचें वर्णन करणारे मधुर व अनुपम, द्रत मध्य व विलंबित असें तीन प्रकार ज्यांत आहेत असें गाणें आकाशामध्यें किन्नरेंद्र गाऊं लागले.

७५ चंद्राची आकृति व कांति हरण करणारे आपल्या कांतीने सर्व दिशांना पांढरें करणारें, जणू प्रभूचें जिनवालकाचें मूर्तिमंत यशच वर आकाशांत जात आहें असें भासणारे उंच छत्र इशानेंद्रानें तेलोक्यपाति अशा जिनाच्यावर धारण केंद्र होते. ७६ दोन्ही वाजूला उमे असलेल्या हत्तीवर वसलेल्या सानत्तुमारेंद्र व माहेंद्र यांनीं आपल्या हातांत धारण केलेल्या चवच्यांनी दिशा व्यापून गेल्या असतां, स्वतः त्या जिनेश्वराला अभिषेक घालण्यासाठीं अनुसरणाच्या क्षीर समुद्रानें जणु वेद- ल्याप्रमाणें आकाश शोभूं लागलें. ७७ चामर, स्फटिकमण्याचें द्र्पण, पंता, भृंगार, उंच कलश, वगैरे अष्टमंगल द्रव्यें व करंड्यामध्यें स्थापन केलेल्या पुष्प द्रक्षाच्या माळा हे पदार्थ इंद्राण्यांनीं जिनवालकाच्यापुढें धारण केलें होनें. ७८ गार्गामध्यें

आसाद्य पांडकवनं विबुधैर्नगस्य तस्यापि पंचरातयोजनमात्रदीर्घा दीर्घार्द्धविस्तृतिरथो युगयोजनोच्चा तैः पांडकंबलशिला शरदिन्दु-पांडुः ॥ ७९॥

तस्यां मुरा रजनिनाथकलाकृती तं सिंहासने महति पंचधनुः शतार्द्धम् ॥

व्यासोच्छिती दधति तद्दिगुणायतिं च जन्माभिषेकमहिमां विनि-

क्षारोद्धेरतिमुदा तरसोपनीतैभीस्वन्महामणिघटाष्ट्रसहस्रतोयैः ॥ मांगल्यशंखपटहस्वननादिताशं शकादयस्तममरां सममभ्यिषंचन्

त्तिम्तिदा श्ववति कंपितशैलराजे घोणाप्रविष्टमलिलात्पृश्केंप्यजसं।। इंद्रादयस्तृणभिवैकपदे निपेतुवीर्यं निसर्गजमनंतमहो जिनानाम् ८२

बालेला श्रम शिथिल करणारा, सुगंध, शीतल व मंद अशा तीन गुणांनी युक्त व मेरुपर्वताच्या शिखरापासून उत्पन्न होणारा अशा वाऱ्याने आर्छिगिछेछे देव अक्ट-तिमचैत्यालयांनीं ज्याला फार शोभा आली आहे अशा मेरुपर्वताकडे आपल्या मनारह वेगानें जाऊन पोहोचलें अर्थात् मेरुपर्वताकडे जावें असा मनांत विचार येतो ताँच शरीराच्या वेगानें ते तेथें जाऊन पोहाेचले. ७९ या मेरपर्वताच्या पांडुक वनाला माप्त होऊन तेथें महायोजनांच्या प्रमाणांनीं शंभर योजनें लांव व पनास योजनें रंद आणि आठ योजनें उंच अशा शरत्कालच्या चंद्राप्रमाणें शुभ्रवणीच्या पांडुकवल शिलेवर देव प्राप्त झाले. ८० चंद्राच्या कलेची आकृति धारण करणाऱ्या त्या पांड्कंबलाशिलेवर पांचशें धनुष्य व्यासाचे व आहिचशें धनुष्य उंचीचे व या-हून दुष्पट लांबीचे अजा सिंहासनावर जिनवालकास स्थापन जन्माभिषेकाचा महिमा कर्ण्यास प्रारंभ केला. ८१ अतिशय आनंदानें व शीघ्र आणिलेख्या चमकणाऱ्या महारत्नांनीं निर्माण केलेख्या एक हजार घागरीं भरलेल्या क्षीरसमुद्राच्या पाण्यांनीं इंद्रादि देवांनीं मंगल शंख, नगारा वैगेरेच्या श्रन्दांनीं सगळ्या दिशा शब्दमय करून जिनवालकाचा अभिषेक केला. रयाचेळीं नाकांत पाणी शिरल्यामुळें वालरूप जिनेम्बरांना शिक आली तेव्हां तो

कत्वाथ वीर इति नाम नतः सुरेंद्रस्तस्याग्रतः सुललितं सममप्सरोभिः अक्ष्णोर्धुगं सफलयन्नमरासुराणां साक्षात्प्रकाशितसमस्तरसं नन्त

अत्य द्धतं विविधलक्षणलक्षितांगं ज्ञानत्रयेण विमलेन विराजमानं ॥ बाल्योचितैर्मणिमयाभरणैर्विभूष्य भत्तयामरास्तमिति तुष्टुवुरिष्टि-सिद्धे ॥८४॥

श्रीवीर यद्यथ वचे। रुचिरं न ते स्याद्धव्यात्मनां खलु कुतो भुवि तत्त्ववाधः॥

तेजो विना दिनकरस्य विभातकाले पद्मा विकासमुपयांति किमात्मनैव ॥ ८५ ॥

अस्ने ६ संयुतदशो जगदेकदीपश्चितामणिः कठिनतारहितान्तरात्मा अन्यालवित्तसहितो हरिचंदनागस्तेजोनिधिस्त्वमसि नाथ निरा-कृतोष्मा ॥ ८६॥

मेर पर्वत दोलिल शिंकेच्या आवाजानें हलला व इंद्र जुने झालेल्या गवताप्रमाणें एकदम परले जिनेश्वराचें स्वाभाविक अनंतवल असतें हें आश्चर्य आहे. ८३ या जिनेश्वराच्या कृत्यानें नम्न झालेल्या इंद्रानें जिनेश्वराचें वीर असें नांव ठेविलें. व सर्व देव आणि दैत्य यांच्या नेत्रयुगाला सफल करणारा तो इंद्र संपूर्ण रस ज्यांत पकट झाले आहेत असें सुंदर नृत्य अप्सरासह प्रभूच्यापुढें करूं लागला. ८४ आतिशय अद्भुत व नानाप्रकारच्या लक्षणांनीं ज्यांचें अंग युक्त आहे. निर्मल अशा तीन झानांनीं जो शोभत आहे. अशा त्या जिनेश्वराला बालपणाला योग्य अशा रत्नमय अलंकारानीं सुशोभित करून सर्व देव मोल्या भक्तीनें आवडत्या पदार्थाची-मोक्षाची प्राप्ति व्हावी महाप्ति करूं लागले. हे वीरनाथा! जर तुझें सुंदर वचन नसतें तर भच्य जिवांना या भूतलावर बस्तुचें खरें स्वरूप कसें समजलें असतें. वरोवरच आहे कीं, सूर्याच्या पकाशावाचूनच प्रातःकाळीं कमलें आपोआपच विकास पावनात काय?

े ८६ हे जिनेशा! आपण तेरु व वात यांस राहित असा जगांतील आहित य दीप आहात. कढिनपणानें रहित आहे अंतरात्मा ज्याचा असे आपण चिंतामणी रत्न आहात. प अजंगाचे वेष्ट्रन न्याका नाहीं असा पंदनवक्ष आपण आहात. क्षीरोदकेनपटलावलिजालगौरं स्थित्वा नमस्यमृतर्शिमपदेन हृद्यं॥ व्याप्तं मया कियदनाप्तमिदं क्षणेन निष्यायतीव जगदीश जगद्यतस्ते॥ ८७॥

स्तुत्वा तिमत्यथ सुराः पुनराशु निन्युर्भरोस्ततः कुसुमभूपितसन्नमरोः सौधात्रबद्धकदळी ध्वजरुद्धचमानं यानावतारसमयान्नगरं तिद्छं ८८ पित्रोः सुतापगमजा भवतोरथार्तिर्मा भूदिति प्रतिकृतिं तनयस्य कृत्वा।।

नीत्वामराद्रिमभिषिच्य भवस्तुतोऽयमानीत इत्यभिनिवेद्य दृदुः सुरास्तं ॥ ८९॥ दिव्यांबराभरणमाल्यविलेपनाद्यैः संपूज्यमानवपतिं प्रियकारिणींच। आवेद्य तद्भगवतोऽस्य बळं च नाम भीता ययुः स्वनिलयं त्रिदशाः प्रमृत्य॥९०॥

जिल्लातेनें रहित व तेनांचा साठा असें आपण सूर्य आहात. ८७ हे जगदीशा क्षीरसमुद्राच्या फेनसमृहाच्या पंक्तीप्रमाणें गौरवर्णाचें व रमणीय असें आपलें यश आकाशांत अमृताप्रमाणें ज्याचे किरण आहेत अशा चंद्राच्या मिपानें राहून मी हें जग किती ज्यापिलें आहे व केवढें ज्यापावयाचें राहिलें आहे. असा खणपर्वत जणु विचार करीत आहे. ८८ याप्रमाणे प्रभूची स्तुति करून नंतर फुलांनीं अलकृत झाले आहेतें. उत्तम नमेरु दक्ष जेथें आहे अशा त्या मेरु पर्वतापासून मोठमोठ्या वाड्याच्या पुढें उभारलेल्या ध्वजांनीं विमानाचें खालीं उत्तरणें रोकलें गेलें आहे अशा समृद्ध नगरांत देवांनीं प्रभूला पुन: लौ कर नेलें. ८९ आपणाला मुलाच्या नेण्यानं पीडा होईल स्हणून मुलाची दुसरी प्रतिकृति मायेनें निर्माण करून व आपल्या मुलाचा मेरुपर्वतावर अभिषेक करून हा आपला मुलागां आही आणिला आहे. असे भगवंताच्या मातापित्याला सांगून देवांनी त्यांना प्रभू परत दिला. ९० दिन्य वसें, अलंकार, पुष्पहार, उटीचे पदार्थ वगेरेंनीं सिद्धार्थ राजाची व प्रियकारिणीची पूजा करून आदर करून आणि त्या भगवंताचे सामर्थ्य व नांव सांगून व नृत्य करून संतुष्ट झालेले देव आपल्या म्थानीं निशून गेले. ९१ भगवंताच्या गर्भापासून स्वतुःच्या करूनी लक्ष्मी पत्येक दिवशीं

तद्गर्भतः प्रतिदिनं स्वकुलस्य लक्ष्मीं हन्ना मुदा विधुकलामिव वर्द्धमानां॥

सार्छं सुरैभंगवतो दशमेन्हि तस्य श्रीवर्छमान इति नाम चकार राजा॥ ९१॥

तस्यापरेद्यस्य चारणल्डिययुक्ती भर्तुर्वती विजयसंजयनामधयी तद्रीक्षणात्सपदि निःसृतसंशयार्थी आतेनतुर्जगति सन्मतिरित्य-भिख्यां ॥ ९२॥

शकाज्ञया प्रतिदिनं 'धनदोऽनुरूपैरानर्च रिश्मजिटिलैर्माणेभूषणेस्तं। नाथे। व्यवर्द्धत यथेन्दुरकृष्णपक्षे भव्यात्मनामतनुना प्रमदेनसार्द्धं १३ संपाप्स्यते न पुनरेच वयुः सुरूपं बाल्यं मया क्षपितसंसृतिकारणत्वात् तस्मादिमां सफलयामि दशामितीव मत्वाभरेः सह जिनः पृथुकैः स रेमे ॥९४॥

वटबृक्षमंथेकदा महान्तं सह डिंभैरिधरुह्य वर्द्धमानं ॥ रममाणमुदीक्ष्य संगमाख्यो विब्रथस्त्रासयितुं समाससाद ॥९५॥

चंद्राच्या कलेप्रमाण बाहत आहे हें पाहून दहाच्या दिवशीं राजानें देवासह प्रभूचें शिवर्द्धमान असें नांव टेविलें. ९२ तदनंतर कोणे एके दिवशीं चारण ऋद्धीनें युक्त अशा विजय व संजय या नांवाच्या दोन मुनींनीं भगंवताचें दर्शन घेतल्यावरे।वर ते तत्वांतील संश्यानें रिहत झाले तेव्हां त्यांनीं प्रभूचें 'सन्मित ' असें नांव-टेविलें. ९३ जसा शुक्लपक्षांतील चद्र दररोज वाहत जातो तसे प्रभु भव्यजीवांच्या अतिशय आनंदासह वाहूं लागलें. इंद्राच्या आहेनें कुवेर किरणांनीं व्याप्त अशा रत्नालंकारांनीं प्रभूचा दररोज आदर करीत असे. ९४ मी संसाराचीं सगलीं कारणें नष्ट केली असल्यामुलें युनः मला असलें सुंदर शरीर व असला सुद्र वालपणा प्राप्त व्हावयाचा नाहीं म्हणून मी ही अवस्था सफल करितो असा विचार करून जणु काय प्रभु इतर लहान मुलांसह कीडा करीत असत. ९५ एके दिवशीं एका मोठ्या वडाच्या दक्षावर इतर लहान मुलांसह चहून भभू खेलत आहे असे पाहून संगम नांवाचा देव त्यांना भिवविण्यासाठीं त्यांच्याजवल आला,

स विकृत्य फणासहस्रभीमं फणिरूपं तरसी वटस्य मूलं॥
विटेपैः सह वेष्टतेस्म वालास्तमथालोक्य यथायथं निपेतुः ॥९६॥
वरणो विनिवेश्य लीलयासौ भगवान्मूर्धनि तस्य भोगिभतुः॥
तरुतोऽवनतार वीतशंको भुवि वीरस्य हि नास्ति भीतिहेतुः ९७
अभयात्मत्या प्रहृष्ट्वेता विबुधस्तस्य निजं प्रकाश्य रूपं॥
अभिष्च्य सुवणकुंभतोयैः स महावीर इति व्यथत्त नाम ॥९८॥
अथ लेघितशश्चवः अभेण प्रतिपेदे नवयौवनं श्रिया सः॥
भगवान्निजवापलं विहन्तुं स्वयमभ्युद्यत एव वर्द्धमानः॥ ९९॥
सहजैदेशभिर्गुणरुपतं वपुरस्वेदपुरःसरेस्तदीयं॥
अभवद्भवि सप्तहस्तमात्रंरुचिकीणं नवकिणकारवर्णं॥ १००॥
भगव।नमरोपनीतभोगान्स निनायानुभवन्भवस्य हंता॥
त्रिगुणान्दशवत्सरात्रवाव्जसुकुमारांत्रियुगः कुमार एव॥ १०१॥
अथ सन्मतिरेकदाऽनिमित्तं विषयेभ्यो भगवानभूदिरक्तः॥
प्रशमाय सदा न बाह्यहेतुं विदितार्थस्थितिरक्षिते सुमुञ्चः॥१०२॥

९६ त्या संगम नांवाच्या देवानें हजार फणांनीं भयंकर दिसणारें असे सर्पांचं रूप विक्रियेने धारण करून शीव्र वडाचे मूळ अर्थात बुंधा त्याच्या सर्व फांचांसह वेदून टाकिला त्यावेळीं त्या भयंकर सर्पाला पाहून सर्व लहान मुर्ले परापट खाली पड़ं लागली. ९७ तेव्हां प्रभू लीलेने त्या सर्परीजाच्या मस्तकावर-आपले दोन पाय ठेऊन निर्भयपणें जमीनीवर झाडावरून उतरले. बरोबरच आहे कीं, बीर पुरुषाला जगांत भय उत्पन्न करणारें कोहीं कारण असत नाहीं ९८ प्रभूचा निर्भयपणा पाहून देवाचे अंत करण आनंदित झालें. त्याने आपलें रूप प्रगट करून व सुवर्ण कलशांच्या पाण्याने प्रभूचा अभिषेक करून त्यांचे महावीर असे नांव ठेविलें. ९९ वाढत चाललेल्या प्रभूनीं स्वतःचा चंचलपणा सोइन दिला व क्रमाने वालपणाचे उल्लंघन केले तेव्हां नवीन तारुण्यरूपी स्रक्षीने त्याचा स्वीकार केला. १०० घाम न पेण, सुगंध क्षरीर असणें, रक्त दुधासारखं पांडरे असणें वगैरे जन्मत उत्पन्न झालेल्या स्वाभाविक दहा गुणांनी युक्त असलेले त्यांच शरीर कांतीने पूर्ण भरलेलें व नवीन कांचनारहक्षाच्या वर्णीचे आणि सात हात उंचीचे असे होते. १०१ नवीन कमलाप्रमाण कोमल आहेत, दोन पाय भगवंतानीं देवांनीं आणिलेख्या ज्यांचे संसारनाशक अशा

विमलाविष्या निष्टत्य नाथः ऋमतोऽतीतभवानचित्यत्स्वाम् ॥
प्रकृटीकृतवृत्तमुद्धतानामवितृप्तिं विषयेषु चेद्रियाणां ॥ १०३ ॥
प्रात्तबोधियतुं मुदा तदायादय लोकांतिकसंहतिस्तमीशं ॥
प्रकृटांशुभिरिद्रचापलक्ष्मीमपयोदां दिवि कुर्वती विचित्रैः ॥ १०४ ॥
प्रकृलीकृतहस्तपल्खवासो विनयेन प्रतिपात्य तं पुमुखं ॥
प्रसंहतिरित्युवाच वाचं मुदिता तत्समभावदृष्टिपतिः ॥१०५॥
परिनिष्कमणस्य नाथ योग्या सविधं कालकलयमागता ॥
स्वयमुत्कत्तया समागमाय प्रियदूती प्रहिता तपः श्रिया वा ॥१०६॥
सहजेन समन्वितस्य भर्तुस्तव वेदात्रितयेन निर्मलेन ॥
अपरैः परिबद्धतावलेशेरुपदेशैः क्रियते कथं विमुक्तेः ॥१०७॥

अपोग घेत कौमारावस्थेंत तीस वर्षे व्यतीत केलीं. १०२ एकेवेलीं भगवान सन्मित जिनेश्वर कारणावाचून विषयापासून विरक्त झाले. बरोबरच आहे की, ज्याला जीवादि पदार्थोंचे स्वरूप समजलें ओहे असा मोक्षेच्छ भव्य जीव की, ज्याला जीवादि पदार्थोंचे स्वरूप समजलें ओहे असा मोक्षेच्छ भव्य जीव वैराग्य पाप्त व्हावें म्हणून वाह्यकारण पाहात वसत नाहीं. १०३ भगवंतांनीं निर्मल अविधिज्ञानानें मागच्या स्वतःच्या भवांना वळ्न पाहिलें व त्यांचा विचार केला. तसंच अविधिज्ञानानें मागच्या स्वतःच्या भवांना वळ्न पाहिलें व त्यांचा विचार केला. तसंच कशी असते या गोष्टीचाही त्यांनी विचार केला. २०४ नानाप्रकारच्या मुगटांच्या कशी असते या गोष्टीचाही त्यांनी विचार केला. २०४ नानाप्रकारच्या मुगटांच्या किरणांनीं मेच नसताही आकाशांत इंद्रधनुष्याचीं शोभा उत्पन्न करणारा लोकांतिक किरणांनीं मेच नसताही आकाशांत इंद्रधनुष्याचीं शोभा उत्पन्न करणारा लोकांतिक हित्रंचा समुदाय त्यावेलीं प्रभूंना उपदेश देण्यासाठीं आनंदानें आला. १०५ देवांचा समुदाय त्यावेलीं प्रभूंना उपदेश देण्यासाठीं आनंदानें आला. १०५ हात्रूपी कोमल पानें ज्यानें निटविलीं आहेत अर्थात ज्याने हात जोडले आहेत करा प्रभूंच्या समताभावास दाखविणाच्या कटाक्षपातांनीं आनंदित होजन पुढें लिहिल्याप्रमाणें बोलं लागला. १०६ हे प्रभो, दीक्षा घेण्यास योग्य रीतीची ही वेल जिल्ल आली आहे. अथवा स्वतः अतिशय उत्कंटित होजन आपला समागम व्हावा जबल आली आहे. अथवा स्वतः अतिशय उत्कंटित होजन आपला समागम व्हावा महणून तपोलक्षी पाठविलेल्या द्तीप्रमाणें ही वेल सध्यां आम्हास वाटत आहे.

१०७ जन्मतः च उत्पन्न झालेल्या अशा निर्मल तीन ज्ञानांनी हे प्रभो, आपण युक्त आहांत ज्यांना तत्वाचें फार थोडें स्वरूप समजलें आहे अशा इतर लोकांकहन आपणास मोक्षाचा उपदेश कसा वरें केला जाईल ? अर्थात् हे प्रभो आमचा या तपसा सुनिरस्य घातिकर्मप्रकृतीः केवलमाप्य भव्यसःवान् ॥ प्रतिबोधय मुक्त्युपायमुक्तवा भववासव्यसनाद्धिभीतिचित्तान्॥१०८॥ अभिधाय गिरं प्रवन्नकालामिति लैंकितिकसंहतिव्यरंसीत्॥ भगवानिप निश्चिकाय मुक्तिं वचनं स्वावसरे हि याति सिर्धिं १०९ अथ देवगणाश्चतुर्विकरपास्तरसा कुंडपुरे तदा त्वपत्यन् ॥ प्रतिलोकनकौतुकानियेषाः पुरनारीः स्ववध्विशंकप्रेव ॥ १९०॥ स सुरैभगवान्कृतोरुयूजो विधिना पृष्टसमस्तवं धुवगेः॥ अभिवाह्य वनं यया मुमुक्षुश्चरणाभ्यां भवनात्पदानि सप्त ॥११९॥ व्रर्त्नमयीं विध्रप्रभाख्यां श्रियमाणां नभसि स्वयं मुरेंद्रैः॥ शिविकामधिरुह्य वीरनाथो निरगाद्भव्यजनैः पुरात्परीतः ॥११२॥ भगवान्वनमेत्य नागखंडं त्रिद्शेन्द्रैरवतारितः स यानात्॥ अभिह्र्य इव स्वकीयपुण्ये स्फटिकाइमन्यतिनिर्मले न्यपीदत्रिश्री हतकर्ममलानुदङ्मुखन प्रणिपत्यैकिधयाथ तेन सिद्धान्।। प्रसंगीं ये उन चार् गोष्टी बोलणें हा नियोगच आहे न्हणून आन्ही या वराग्याच्या गोष्टी सांगत आहोत. आपणास उपदेश करण्याची आमच्यामध्य पात्रता नाहीं.

१०८ ह भगवंता, तपश्चरणाच्याहारे घानि कमांच्या प्रकृतींचा नाग करून व केवलज्ञानाची प्राप्ति करून घेऊन, संसारवासाच्या संकटापामून भ्यांलले आहे चित्त ज्यांचे अ्शा भव्य जीदांचा मोक्षाचा उपाय दाखळन उपदेश करा, १०९ या भगाण योग्य कालास अनुसरुन लोकांतिक देवसमृह भाषण करून थांवला. भगवंतांनीही मोक्ष प्राप्त करून येण्याचा निश्चय केला वरोवरच आहे की योग्य कार्ला योग्य भाषण केल असनां ते फलहूप होतेंच. ११० यानंतर चतुर्णिकाय देवांचे समुदाय गोघ्र कुंडलपुगस आले व पारण्याच्या कोतुकान ज्यांनी आपल्या पापण्या लवाविल्या नाहीत अज्ञा नगरांतील स्त्रियांना त्यांनी ह्या आपल्या देवांगनाच आहेत काय अजा संशयाने पाहिलें. १११ देवाकहून योग्य विथीन ज्यांची मोटी पृजा केली आहे व ज्यांनी आपल्या सर्व वंधुवर्गास विचारिलें आहे असे ते मुश्कु प्रभु बनाकडे जाण्याच्या उद्देशाने घरांतून सात पावल चालून बाहेर आले. ११२ देवद्रांनी आकाशांत स्वतः धारण केलेल्या उत्कृष्ट रत्नांनी निर्माण कलेल्या अगा चंद्रप्रभा नांवाच्या पालखीमध्य भगवंतांनी आगोहण केले व भव्य-जनांनी विष्टिलेल हो जन् नगरांतृन वान्र आले. ११३ नाग खंडवनांत प्रभु आले नेव्हां ने पालखीत्न देवेन्द्राकडून अवनारित झाले. अर्थात् इंट्रांनी प्रमु पालखीत्न

ज्वलदाभरणोत्करः कराभ्यां प्रकटो राग इव स्वतो निरासे।११४॥ भिव मार्गिशिरस्यकृष्णपक्षे स दशम्यां प्रथितः श्रियाऽपराण्हे ॥ परमार्यमणि स्पिते शशांके कृतपष्टो भगवांस्तपः प्रपेदे ॥११४॥ निविडीकृतपंचमुष्टिलुसानलिनीलान्मणिमाजने निधाय ॥ स्वयमेव शिरोरुहांस्तदीयान्निद्यौ क्षीरपयोनिधौ महेंद्रः ॥११६॥ अभिवंच तपःश्रिया समेतं विद्यधास्ते प्रतिजग्मुरास्थाम ॥ जनताभिरयं स इत्युद्धं क्षणमात्रं नमसीक्षितो विचित्य ॥११९॥ अचिरादुपलव्ध सप्तलिक्धः स सनःपर्ययवोधमभ्युपत्य ॥ स्र्थं वितमाः परं रजन्यामनवार्षेक्कलो यथा ख्यांकः॥११८॥ अपरेद्युर्नृनसत्वयुक्तो नमसो मध्यमधिष्ठिते पतंगे ॥ उरुहम्यचयेन पारणाय निचितं कृलपुरं विवेश वीरः ॥११९॥

उत्तरत असतां त्यांना आपल्या हाताचा आश्रय दिला. तदनतर स्वतःचे पुण्य जणु हुउय अवस्थेला पोहोंचलें आहे. अशा अतिशय निमल स्फिटिकमण्याच्या शिलेचर प्रश्नाचिराजमान झाले. ११४ यानंतर उत्तरेक हे तों ह करून ज्यांनीं सर्व कर्ममल नष्ठ केला आहे अशा सिद्ध परमेष्ठींना प्रभूनीं एकाग्र मनानें नमस्कार करून जणु हा प्रगट झालेला राग भावच आहे अशा प्रकाशमान अलंकार समूहाचा रवतःपासून त्याग केला ११५ मार्गशिष कृष्णपक्षाच्या दशमी दिवशें. चंद्र परमायमणावर असतां दोनप्रहरीं उपवासाची प्रतिज्ञा ज्यांनीं केली आहे अशा लक्ष्मीसंपन्न प्रश्नूनीं या भूतलावर त्याचा रवीकार केला अथात दीक्षा घारण केली ११६ घट धरलेल्या पांच मुठींनीं उपडलेले संग्याममाणें काले असे मगवंताचे केश इंद्रानें स्वतः रत्नपात्रांत ठेऊन क्षीरसमुद्रांत टाकिले. ११७ हा सौधर्में हा ईशानें द्र हा सानत्कुमारेंद्र आहे असे तोड वर आकाशांत थोडा वेल विचार करून पाहिलेले ते देव तपोलक्ष्मीनें सहित झालल्या प्रभूला नमस्कार करून स्वस्थानीं निघृन गेले.

११८ दिशा घेतल्यानंतर लोकरच प्रम्न चुद्धि, विक्रिया, तप, वल, औपध, रस व क्षेत्र अशा सातऋदिनी यक्त झाले व मन पर्ययज्ञान प्राप्त करून चेऊन ज्याला एक कला प्राप्त झाली नाहीं असा चंद्र जसा तमराहेत होऊन रात्री शोभनों त्याप्रमाणें अज्ञानरहित होऊन व केवलज्ञानरूपीकला अचापि ज्यांना प्राप्त झाली नाहीं असे होत्साते अतिशय शोभूं लागले. ११९ दुसरे दिवशीं आकाशाच्या मध्यावर सूर्य आरूढ झाला असतां अतिशय धेर्यशाली वीर जिनेश्वरानीं पारणे

भुवि कृल इति प्रसिद्धनामा नृपतिस्तन्नगराधिपः स्वगेहम् ॥
प्रविशंतमणुत्रती निद्ध्यो भगवंतं प्रतिपालितातिधिस्तं ॥१२०॥
नवपुण्यिचकिर्पया धरायां नवपुण्यक्रमवेदिनां वरीयान् ॥
क्षितिपस्तमभोजयत्तदीयान्निरयासीद्भवनाज्ञिनोऽपि भुक्ता ।१२१॥
अथ तस्य गृहाजिरे नभस्तो वसुधारा निपपात पुष्पवृष्ट्या ॥
सह दुंदुभयोऽपि मंद्रमंद्रं दिवि नेदुिश्चदशैः प्रताङ्यमानाः ॥१२२॥
विकिरन्नवपारिजातगंधं सुववौ गंधवहः सुगंधिताशं ॥
अतिविस्मितचेतसां सुराणां खमहो दानवचोभिरापुपुरे ॥ १२३ ॥
इति दानफलेन स क्षितीशः समवापाद्धतपंचकं सुरेभ्यः॥
यशसः सुखसंपदांच हेतुर्गृहधर्माभिजुषां हि पात्रदानं ॥ १२४ ॥
अतिमुक्तकनामनि श्मशाने प्रतिमास्थं निशि नाक्षमिष्ट जेतुं ॥
विविधेरुपसर्गमात्मविद्याविभवैस्तं विभवं भवो वितन्त्वन् ॥१२५॥

साठीं मोठमोठ्या महालांच्या सम्रदायानें युक्त असलेल्या कुल्यपूर नांवाच्या शहरांत प्रवेश केला. १२० या पृथ्वीतलावर कूल या नांवानें प्रसिद्ध असलेला एक राजा त्या कुल्यपूर नगराचा स्वामी हाता. तो अतिथीची वाट पाहात होता. आपल्या घरीं प्रवेश करणाऱ्या भगवंतास त्या अणुत्रती राजानें पाहिलें. १२१ पात्राचा आद्रानं स्वीकार करणं, त्याला उचासनावर वसविणे, पाय धुणे, पूजन करणें, नमस्कार करणें, मनवचन आणि शरीर शुद्ध ठेवणे व आहाराची शुद्धि ठेवणें या नऊ प्रकारच्या पुण्यक्रमाचे स्वरूप जाणणाऱ्यामध्ये श्रेष्ठ अंसलेल्या त्या राजाने मभूला आहार दिला व प्रभु देखिल त्याच्या घरीं आहार घेऊन तेथून निघून गेर्लं. १२२ यानंतर राजाच्या घराच्या आंगणांत आकाञांतुन पुष्पदृष्टीसह रत्नदृष्टि झाली. आकाशांत देवाकहन ताडले जाणारें नगारे गंभीर शह करूं लागले, ज्याने सर्व दिशा सुगंधित केल्या आहेन अशा नवीन पारिजात कलपृक्षाच्या गंधाहा धारण करून वारा वाहूं लागला. अतिशय आश्चरीचिकत झालें आहे मन ज्याचें अशा देवांच्या टान पर्शेसात्मंक शहांनी आकाश भरून गेले. १२४ याप्रमाण त्या कुरु राजानें वीर प्रभूका आहार दिला. त्याच्या फर्कानें त्याका देवापासून पंचाधर्याची माप्ति बाली वरोवरच आहे की, पात्रदान हें गृहस्थांना कीति, सुल व संपत्ति यांची प्राप्ति करून देण्यास कारण आहे. १२५ एकदां प्रश्च आतिश्वताक

प्रणिपत्य ततो भनाभिधानो जिननाथस्य चिराय काशिकायां ॥ स महातिमहादिरेष वीरः प्रमदादित्यभिधां व्यथत्त तस्य॥ १२६॥ परिहारविद्याद्धिकंस्यमेन प्रकटं-ढादश वत्सरांस्तपस्यन् ॥ रा निनाय जगत्रयेकंबधुभगवान् ज्ञातिकुलामलांबरेंद्धः ॥ १२०॥ अधर्जकूलोच्छितकूलभाजं श्रीजृंभक्ष्यामसुपेत्य सम्यक् ॥ पष्टोपवासेन युतोऽपराण्हे सालस्य मूलाश्मिन सिन्निविश्य ॥१२८॥ वैशाखमासस्य विद्युद्धपक्षे तिथौ दशम्याधुद्धपेऽर्यमस्थे ॥ स धातिकर्माण जिनः प्रहत्य ध्यानासिना केवलमाप बोधम्॥१२९॥ स्य दशविधेरच्छायाद्येर्युणेः सहितं तदा

त्रिद्शपत्तयो अक्तया नेमुः समेत्य जिनेश्वरम् ॥ भिगतकरणं निध्ययितं यथास्थिति सर्वदा ॥ युगपदिखलं लोकालोकं स्वकेवलसंपदा ॥ १३०॥

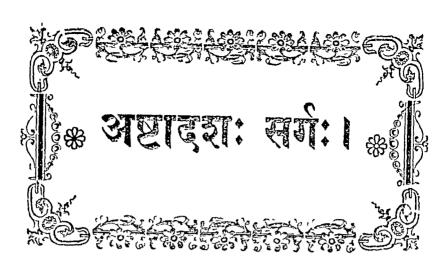
नांव।च्या इमज्ञानांत रात्रीं प्रतिमायोग धारण करून ध्यानांत लीन झाले असतां नानाय. कारच्या विद्यांच्या सामध्यांनीं उपसर्ग करणारा भव नांवाचा अकरावा रह संसार-रित वीर प्रभूला जिंकण्यास समर्थ झाला नाहीं. १२६ तेव्हां त्या भव नांवाच्या रहानें पुष्कल वेळपर्यंत नमरकार करून काशी नगरांत मोळ्या हर्पानें वीर प्रभूंचें महाति महाविर असें नांव टेविलें. १२७ तेलोनयवंधु, ज्ञातिवंशक्षी आकाशाला शोभा आणण्यास चंद्राप्रमाणें असलेले भगवान वीरनाथ परिहारिवशुद्धि नांवाचें संयम धारण करून तप करूं लागले. या प्रमाणे त्यांची प्रगट रीतीन वारा वर्ष व्यनीत झालीं. १२८—१२९ यानंतर ऋजुक्ला नदीच्या उंच किनान्यावर वसलेल्या श्री जंभक नांवाच्या गांवाजवल यंजन दोन उपवासांच्या पतिज्ञेंन युक्त होजन दोन-पहरीं साल हक्षाच्या खाली असलेल्या शिलेवर उत्तम रीतीनें वसून जिनेश्वरांनी वैश्वास शुक्ल द्शमीच्या दिवशीं अर्थमावर चंद्र आला असतां शुक्ल ध्यानस्पी तस्वारीनें मोहनींय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अंतराय या चार याति कर्मांचा यात करून केवल्जानाची प्राप्ति करून चेतलीं. १२० सावलीं न पडणें, नख-केश न वाहणे, उपसर्ग न होणे, कवलाहार नसणें वंगर दहा प्रकारन्या गुणांनीं

## इत्यसगकृते श्रीवर्धमानचरित्रे भगवत्केवलोत्पत्तिर्नाम सप्तद्शः सर्गः।

युक्त, इन्द्रियांची अपेक्षा न टेवितां रवत च्या केवलज्ञान संपत्तीनें एकद्म संपूर्ण लोक व अलोक यांच्या रवरूपाला जसें आहे तशा शितीनें नेहमीं पाइणारे व जाणणारे अञा वीर भगवंताला न्यावेळीं देवेंद्र येऊन भक्तीनें नमस्कार करूं लागले.

याप्रमाणे अमगमहाराविकृत श्री वर्द्धमान चरिचांत भगवान वीरनाथास केवकोत्पत्ति झाळी याचें वर्णन करणारा सतरावा सर्ग समाप्त झाळा.





अथ धनपतिरिंद्रस्याज्ञया स्वस्य भक्तया विविधवरविसृतिं तत्क्षण-नेति चक्रे॥

समवसरणभूमिं तस्य नाथस्य रम्यामभिमतममराणां किंन साध्यं। त्रिलोके ॥ १ ॥

ततो दिषड्योजनमात्रविस्तृतं क्षोणीतलं नीलमयं रजोमयः॥ शरत्रभोभागमिवां बदो चयः शालः परीयाय हिमां गुनिर्मलः॥२॥ स सिद्धरूपैः समभावि मान स्तंभिमहादिक्ष दिहक्षया न्ता। सित्रदेशैर्भवमागतिर्वाततः परैभी सुररेण शालात्॥३॥

१ भगवंतांना केवलज्ञान झाल्यानंतर इन्द्राच्या आजेने व रवत च्या भक्तींन ही खियेरानें तत्काल वीरप्रभूच्या रमणीय आणि नानाप्रकारच्या ऐश्वयींनी युक्त अशा समवसरणभूमीची रचना केली. बरेवरच आहे कीं, देवांना वैलोक्यामध्ये असाध्य अशी कोणती गोष्ट आहे वरें ? २ जसा मेघसमुद्राय शरदत्तील निलसर आकाशाच्या भागाला वेष्टण घालतो तसे चंद्राप्रमाणें निर्मल अना धृलीमाल नांवाच्या तटानें बारा योजन विस्ताराच्या नीलरत्नांनीं निर्माण केलेल्या शृमि - लाला वेष्टण घातलें. अर्थात् नीलरत्नांनीं वारा योजन प्रमाणाची जमीन वनवन तिच्या सभोंवती कुबेरानें धूलीसाल नांवाच्या तटाची रचना केली. ३ या प्रकारमान धूलीसालाच्या पुढें सिद्ध परमेष्टींच्या मृतींनी युक्त चार महादिशामच्ये चार मानस्तंभ होते. जणु मोक्षाचे पदेश त्या धृलीसालाला पाहाण्याच्या उच्लेनं पृर्वान नलावर आले आहेत असें पाहणारांना वाटत असे. ४ यानंवर स्वच्छ पाण्यानें

ततः पराण्यच्छपयोघराणि सपद्मपत्राणि सरांस्यभूवन् ॥ आशामुखानीव घनांतकाले चत्वारि नंदान्हदनामयांजि॥ ११॥ ततः परा विमलजलांबखातिका सवेदिका विकचितांबुजिश्चिता॥ सतारका सुरपदवी सुरैःसमं व्यराजत स्वयमिव सूमिमागता॥ ॥ समनोन्वितमप्यपेतवोधं वहुपत्राकुलमप्यसैन्यमासीत्॥ ॥ विपरीतमपि प्रशंसिवलीवनमाभोगि ततः परं समन्तात्॥ ६॥ भाकारः कनकमयस्ततः परोऽभूत्संयुक्तः सुरजतगोपुरैश्चतुर्थिः॥ आयातो भुवमचिरप्रभासमूहः स्थानं वा चतुरमलांबदेहपेतः॥ ।।

पूर्ण भरलेलीं व कमलपत्रांनीं सहित अशी नंदान्द्र नांवाचीं चार सरोवरे होती. हीं शरत्कालीं स्वच्छ वनलेल्या दिशांच्या मुखाप्रमाणे शोभत होती. ५ या सरोव-रानंतर प्रफुलित झालेल्या पांढच्या कमळांनीं भरलेला, वेडिकेन साहित व निमेळ पाण्यानें पूर्ण असा खंदक होता. तो नक्षत्रानें साहित व देवांनीं युक्त असे आहा श जणु या भृतलावर स्वतः आले आहे असा शोभत होता.

१ पाण्यानं भरलेल्या खंदकानतर त्याच्या समोवती उत्कृष्ट वेळीच वन होतें तें मुमनोान्वित अर्थात् देवांनी किया विद्वानांनी युक्त अमृनही अपेतवीय होतें अर्थात् ज्ञानगृत्य होतें. या विरोधाचा परिहार याप्रधाणें, तें वर्ळीचें वन सुमनोः न्वित—फुळांनी युक्त होतें. व एकाद्रिय जीवरूप असल्यापुळें अवीध होतें. यहुपना- कुळ अर्थात् पुष्कळ हत्ती, घोडे इत्यादि वाहनांनी युक्त अधूनही असैन्य होतें. — सन्परहित होतें. याचा विरोध परिहार असा—बहुपन—अर्थात् पुष्कळ पानांनी युक्त होतें. विपरीत असृनही भगंसनीय होतें. या विरोधाचा परिहार असा—वि—पर्शान- पश्यांना वेढळेळें होतें व प्रशंसनीय होतें. नसेंच आधीगि—विस्तायक्त होतें. सारांश हा की, खंदकाच्या सभावती पुळांनी ळकडळेळें, पानांनी गजदनळें , व पश्यांनी युक्त असे विरतीण वेळींचें वन होने. ७ यानंतर सोन्याचा तट चार उत्तेम चांदीच्या गोपुरांनी युक्त होता. चार निर्मेळ मेवांनी युक्त असा विजांचा समृह जणु या भूतळावर राहण्यासाठी आला आहे असे त्या गोपुरांने सिहत अगा तटाळा पाहन छोकांना वाटत असे. ८ पूर्व दिदोच्या उंच गोपुरांचे विजय असे नांच होतें. दाक्षण दिशेंत रत्नांच्या तोरणांनी युक्त असे ज गोपुर होते त्यांच

पाच्यां गोपुरमुच्छितं विजयिमत्यासी सभरव्यां दथद्-याम्यां यद्दिशि रत्नतोरणयुतं तद्दैजयंताभियं ॥ वारुण्यां कदछीध्वजैरिवकछैः कांतं जयन्ताभियं कोवेपी मपराजिताल्यमपरेराकीणवदीतरम् ॥ ८ ॥ तद्दोपुरोच्छितिविराजिततोरणानां नेत्रापहारिविधिनोभयभाग-वर्ति ॥ मांगल्य जातममलांकुरचामरादि प्रत्येकमष्टरातमाविरसूदिसूत्ये ।। तेषु व्यराजन्मणिदामघंटा हिरण्यजालादिकलंबनानि ॥ मुक्ताकलापांतरितानि हमेः काराविधायीनि निरीक्षकाणां ॥१०॥ तद्दोपुरांतर्गतचारुवीथी दिपार्श्वयोरुच्छितनात्यसाले ॥ दे दे सृदंगध्वनिनेय भव्याच् द्रष्टुं विभातः स्म समाव्हयन्त्यौ ॥१९॥ वीधीनामुभयविभागयोस्ततः स्युश्चत्वारि त्रिदराजनोपसेवितानि॥ पिंड्यालीविषमपलाराचंपकाष्ठैः कीर्णानि प्रपदवनान्यनुक्रमेण।१२॥

वैजयंत हें नांव होतें. पश्चिम दिशेला ध्वजांनीं पूर्ण व सुंदर जयंत नांवाचें गोपुर होतें व उत्तर दिशेल वे वेदी व तह यांनीं न्याप्त व देवांनीं युक्त असे अपराजित नांवाचें गोपुर होतें. ९ या गापुराच्या उंचीवर शोभत असलेल्या तोरणांच्या दोन्ही भागा- जवल नेलांचें आकर्षण करणारे मंगलाचा लमूहरूप असणारीं निर्मल अग्र भागांनीं युक्त असलेलीं चामर, कलशा. द्र्षण, वंगेरे अष्टद्रच्ये प्रत्येक गोपुरास१०८ होती.तीं समवसरणाची शोभा वाहवीत असता. १०त्या गोपुरापध्यें मोत्यांच्या गुच्छांनीं युक्त अशा रत्नांच्या माला व रोन्यानें वनविलेल्या झालरी लटकत होत्या. दव व मतुष्यें जेव्हां तिकडे पाहात असत तेव्हां त्यांचे डोले तिकडेच खिळ्न जात असता. १९त्या गोपुरांच्या मध्यभागीं असलेल्या मार्गावर दोन्ही वाज्यस उंच उच अशा दोन दोन नाट्यशाला होत्या. त्या जणु मृद्गांच्या व्वनीन भव्यांना पाहण्यासाटीं वोलावित आहेत अशा शोभत होत्या. १२ रस्त्याच्या दोन्ही वाज्यला जेथे देव विहार करित असतात अशीं कशोक, राप्तच्छड, पंपक व अस्रदृश यांनीं व्याप्त अशीं क्रमानें चार प्रमद्वनें होती. १३ हल्लाच्या कोमल पानांनी युक्त अशा लोवल्वक फोयांनीं

कुर्वाणाः कर्णपूरिश्रयमिव विटंपेरायंतैर्दिग्वधूनां ॥
चंचदालप्रवालैः प्रतिकृतिममलां धारयंतो जिनानाम् ॥
चत्वारो यागवृक्षाः प्रति कुसुमजुपामुिक्कतांभोजखंडैः ॥
पिंड्याद्यास्तेष्वभूवन्समदमधुकृतां मंडिर्हिमंड्यमानाः ॥ १३ ॥
तिस्तिस्ता विमलसिललास्तत्र वाप्यो विरेजुः ॥
चतत्र्यस्रप्रकटचतुराः स्वाकृतीर्धारयन्त्यः ॥
नंदा कीर्णा कनककमलैर्नद्वत्युत्पलौधैः ॥
मेघानीलैः स्फटिककुमुदैर्नाम नंदोत्तरा च ॥ १४ ॥
प्रासादा मणिमंडपा बहुविधा धारागृहश्रेणयश्वकांदोलसभालयाः सुरुचिरा मुक्ताशिलापृहकाः ॥
कीडापर्वतकाः सुरासुरचितास्तत्रेव रेजुर्धृताः
कृजन्मत्तिश्वंडिमंडलवृत्तप्रांतैर्ह्वतामंडपैः ॥ १५ ॥

दिशारूपी स्त्रियांना कर्णपूर छंकाराची शोभा उत्पन्न करणारे,निर्मछ अशा जिनां, च्या प्रतिमा धारण करणारे अशाकि वगैरे चार यागृष्टक्ष होते. ज्यांनीं कम छ सम्हांचा त्याग केछेछा आहे व जे प्रत्येक फुळांचर (यागृष्टक्षांच्या) आनंदाने वसछे आहेत अशा भुंग्याच्या समुद्रायांनीं हे यागृष्टक्ष फार शोभत होते. १४ या प्रमद्वनामध्यें निर्मेळ पाण्यांने भरछेल्या गोछ, तिकोणी व चतुष्कोणी अशा उत्तम आकृतीछा धारण करणाऱ्या विहिरी शोभत होत्या. नंदा ही सुवर्ण कम्छांनीं, नंद्वती तांवज्या कमछांनीं, मेघा नीळ कमछांनीं व नंदोत्तरा स्फटिका-सार्ख्या पांदन्या कमळांनीं ज्याप्त होतीं.

१५ त्या प्रमद्वनामध्यें नानाप्रकारचे रत्नमंडपांनी सहित प्रासाद, धारागृहांच्या पंक्ति ( जेथून सर्व वाज्नीं पाणी पडत असतें अशा घरांना धारागृह म्हणतात. उन्हाळ्यांत श्रीमंत लोक व रांजे लोक उन्हाचा त्रास हो नये म्हणून यांत विश्रांति घेत असतात.) चक्री झोपाले, सभागृहें, सुंद्र फळीच्या आकाराच्या मौक्तिक पापाणाच्या शिळा, देव व ढानव यांनी युक्त असलेल क्रीडापर्वत, हे सर्व ज्यांचे पातभाग ध्वानि करणाच्या उन्मत्त मोरांच्या समुदायांनीं व्यापून गेले आहेत अशा मंदपांनीं शोभत असत. १६ या प्रमद वनाच्या पुढें अकाशामध्यें स्वतःच्या

वनात्परा वज्रमयी नभस्तले प्रसारिताखंडलचापमंडला ॥ वभूव वेदी निजरिंगसंपदा युता चतुर्भिर्वररत्नतोरणैः ॥ १६ ॥ भयूरमाल्यांबरहंसकेशरिद्धिपोक्षताक्ष्यांबजचक्रलांछनाः ॥ ध्वजा दशैकेकमभूच्च साष्टकं शतं सुवीथीरिंभतस्ततः परे ॥१७॥ एकस्यां दिशि कतवः सुरनदीकलोलभंगा इव

क्रांतांभोदपथाःसहस्रमभवन्साशीति वीष्रत्विषः ॥ ते सर्वेऽपि चतुर्दिगंतरगताश्चैकत्र पिंडीकृताः॥

विंशत्या च चतुःसहस्रमपरैर्युक्तं शतैश्र त्रिभः॥ १८॥ ततः परो हेममयः स्फुरत्रभा बभूव शालोम्बजरागगोपुरैः॥ चतुर्महासांध्यघनैः समन्वितं विडंबयन्नेखिलविद्युतां चयम्॥ १९॥ तद्गोपुरेषु प्रथितान्यराजन्मांगल्यवस्तानि घटादिकानि॥ ततः परो हारिमृदंगनादौ द्यौ द्वावभूतां वरनाट्यगेहौ॥ २०॥ तेभ्यः परावुभयतोऽपि पथामुद्रशौ द्यौ द्यौ स्थितौ सुरभिधूपज— धूमपृक्तौ॥

संरेजतुः कनकधूपघटौ मनोज्ञौ नीलाभजालिपहिताविव हेमशैलौ२श

किरण संपत्तिनें इंद्रधनुष्याचा प्रसार करणारीं अशी वच्चनिर्मित वेदिका होती. हिला रत्नांची चार उत्कृष्ट तीरेंण होतीं. १७ त्यानंतर मोर, माळा, वस्न, इंस, सिंह हत्ती, वैल, गरुड, कपल व चक्रवाक पक्षी या चिन्हांनीं युक्त अशा दहा प्रकारण्या ध्वजा एक एक मार्गात एकशे आट एकशें आट होत्या. १८ गंगा नदीच्या लहरींच्या तुकड्याप्रमाणें वाटणारे मेघमंडलास जाऊन भिडलेले ज्यांची कांति पसरली आहे असे ध्वज एकेका दिश्तत एक हजार ऐशीं होते. चारी दिशांची ध्वजसंख्या एकच केली असतां चार हजार तीनशें वीस होते. १९ यानंतर चमकत आहे कांती ज्याची असा सुवर्णमय तट पद्मराग मण्यांनीं वनविलेलया चार गोपुरांनीं युक्त होता. संध्याकालच्या चार मेघांनीं सहित असलेल्या सर्व विजांच्या समृदांचे जण तो सुवर्ण तट अनुकरण करीत आहे असे लोकांना वाटत हाते. २० न्या गोपुरामध्ये घट, दर्पण, चामर वगेरे प्रसिद्ध गंगल वस्तु शोभन अगन. पांच्यापुरें

तत्रैव कल्पेश्र संवितानि कल्पहुमाणामभवन्वनानि ॥
चतुर्महाशास्थितसिद्धरूपसिद्धार्थवृक्षांकितनामकानि ॥ ६२ ॥
ततः पराक्षीच्चतुरुच्चगोपुरैर्विराजमानोत्पलव्जवेदिका ॥
अधित्यकानीय सुरैर्निवेशिता परांजनाद्रेरिव तत्र विस्तृता ॥२३॥
दश दश वररत्नतोरणानि सुतिविचितानि ततः पराष्यसूवच् ॥
सुरतरुकुसुमप्रवालपणैर्विरचित्वंदनमालिकां दधाति ॥ २४ ॥
तैरेवांतरिता वसुनेवनवस्तूपाः पदार्था इव ।

प्रादुर्भावमुपागता जिनपतिं द्रष्टं तदा कौतुकात् ॥ सिद्धानां प्रतियातनांचिततया चंद्रातपश्रीमुषः । पिंडीभूय भुवि स्थिता इव पृथक्मुक्त्येकदेशा इव ॥२५॥

मृदंगाच्या मधुर शद्वांनीं युक्त अशीं दोन दोन नाट्य नहे होतीं २१ यांच्या पुढे ररत्याच्या दोन्ही वाजूला सुगंधी धूपापासून उत्पन्न झालेल्या धुरानें युक्त व उंच अस दोन ढोन सुंदर् सुवर्ण धूपघट होते, हे धूपघट नीलमेघांच्या समुद्यामें आच्छाडिन झालेल्या सुवर्ण पर्वताप्रमाणें शोभत असत. २२ त्या मार्गामध्येच इंद्राला विहार करण्यास योग्य अशीं कल्पष्टक्षाची वने आहेत. ही वनें चार महादिशांमव्ये असळेल्या सिद्ध प्रतिपांना धारण करणाऱ्या सिद्धार्थ हुक्षानीं अंकित आहे नांव ज्यांचें आहेत अर्थात् या चार दिशांना चार सिद्धार्थ वनं आहेत व त्या वनांत सिद्ध मितमांना धारण करणारे वृक्ष पूर्वादि दिशामध्ये आहेत. २३ यांच्यादुहें चार उंच गोपुरांनीं शोभणारी उत्पल वजनेदिका होती. देवांनीं अंजनपर्वनावरचा भाग काहून तो जणू येथें आणून टेविला आहे काय असा तिला पाहृन भास होत होता. २४ त्या वज्रवेदिकेवर कांतिपरिपूर्ण च उत्कृष्ट रत्नांनीं वनलेली अशीं दहा दहा तोरणे होतीं. त्या तोरणावर कल्पर्रकाच्या फुळानीं व कोमळ पछवानीं तयार फेलेरया माळा लाविलेरया होत्या. २५ त्या तोरणमालांनीं अंतरित अर्थात् तोरणभाला ज्यांच्या सभीवती आहेत असे नऊ नङ रनृप तेथें आहेत. जणु जिनेश्वरांना पादण्यासाठीं जीवादिक नवपदार्थच कौतुकानें स्तृपाच्या मिपाने येथे आले आहेन. चंद्रिकरणांच्या शोभेला हरण करणारे ते नड नड रत्प सिद्धांच्या मतिमांनी युक्त होते म्हणून ते सुक्तीचे मदेश एकत्र होजन जणु येथे येजन रगहले आहेत असा स्तृपांना पातृन जनास भास होत होता.

विविधानि समंतत्र तेषां पृथुक्टानि समागृहाणि रेजुः॥
कान्धान्यनगरसेवितानि ध्यन्धालाविरलीकृतात्यानि॥ २६॥
आकाशस्त्राटेकस्थस्ततः परोऽयुत्पाकारो हिरिमाणिगोपुरस्तृतीयः॥
मृतितं रवयनुपगन्य वायुमार्गः संद्रष्टुं जिनसिहमामिवागतः स्मां २७
तद्भापुराणां गमनाश्रमानां द्विपान्ययोः संनिहिता विरेजुः॥
गांगल्यवस्तृति विचित्रत्तेविनिर्मितान्यद्वघटादिकाःनि॥२८॥
तन्मध्ये क्षिरं विभंगसहितं पीठं मनोज्ञं बभा—
वाशालात्मस्ताः प्रदक्षिणमहापीठस्पृशो वेदिकाः॥
आकाशस्त्रिकैः परस्परपृथग्भूताः कृता भाषुरै—
रासन्द्वादशिभगिषः सविनयैरध्यास्यमाना युदा॥ २९॥
तासामुपर्यनुपमसुतिशातक्तंभस्तंभैर्धतो विविधरतमयो वभूत्र॥
श्रीपंडपो मध्रपंडलमंडमानः श्रोत्कृत्वहेमक्रमहैर्विहितोपहारः ३०

२६ त्या नउ नच स्तूपांच्या समोवती ऋषि, म्रान व अनगार यांनी सेवनीय व ध्वजपंक्तींच्या द्वारें स्व्यंभवाशाला एंद करणारीं, मोट्या शिखरानीं युक्त अशीं सभाग्रहें शोभत होतीं. २७ य नंतर पाचरतांनीं वनविलेख्या गोपुरांनीं युक्त असलेळा आकाश स्फटिकाचा सुंदर तट होता. जिनेश्वराचा महिमा पाहण्यासाठी अम्रातिक आकाश जणु मूर्तिक वन्न भूवर आलें आहे काय असें या तटाला पाहणाऱ्यांना वाटत होतें. २८ आकाशाला आपत्या अग्रांनीं स्पर्ध करणाऱ्या त्या गोपुरांच्या दोन्ही वाजूला नाना रत्नांनीं निर्माण केलेळीं फलश, दर्पण वमैरे मंगल द्रव्यें शोभत होतीं. २९ रफटिकानिर्मित तटापासन पसरलेळ व मदिक्षण रूपानें महासिहासनाला रार्श करणारे प्रकाशमान आकाश रफटिकांनीं वनिलेळिल्या एक एक रवतंत्र वेगलेवेगळ्या हेदिका होत्या. या वेदिकावर ऋषि, आर्थिका वमैरे द्वादश गण विनयानें व मोठ्या आर्दानें वस्त होते. या सर्व वेदिकांच्या मध्यभागीं तीन कठळ्यांनीं रुहित, कातियुक्त च लोकांचें मन हरणारे असें सिहासन होतें. ३० या वेदिकांच्या वर अनुपम तेजानें तळपणाऱ्या सान्याच्या खांवांनीं धारण केलेळा ज्यांत नाना मकारपी रत्नें जडविलीं आहेत असा श्री मंडप होता. भुंग्यांच्या सहदायांने ज्यांत नाना मकारपी रत्नें जडविलीं आहेत असा श्री मंडप होता. भुंग्यांच्या सहदायांने ज्यांत नाना मकारपी रत्नें जडविलीं आहेत असा श्री मंडप होता. भुंग्यांच्या सहदायांने ज्यांत नाना मकारपी रत्नें जडविलीं आहेत असा श्री

चतुर्महादिश्च 'घृतानि यक्षेश्चश्वारि सूर्ध्ना सुक्कटोज्ज्वलेन ॥
सदाद्यपीठे सह धर्मचक्राण्यासां बसूबुर्मणिमंगलीधैः ॥ ३१ ॥
हैमे द्वितीयमाणिपीठतले विरेज्ञरष्टी ध्वजाः प्रावेमला हरिदष्टकस्थाः॥
चक्रद्रिपोक्षकमलांवरहंसताक्षमाल्यांकिता विविधरत्निपनद्धदंडाः
॥ ३२ ॥

रराज च्डामणिविश्ठोक्यास्तृतीयपीठे भगविश्ववासः॥
मनोहरो गंधकुटीविमानः सर्वार्थसिद्धीद्धविमानलीलः॥ ३३॥
तस्था स तस्मिश्चिजगत्प्रतीक्यः प्रतीक्ष्यमाणामलवाग् जिनेदः॥
विवंधनो सव्यजनैरुपेतैः सुगंधिगंधांबुभिरुक्षितांते॥ ३४॥
तस्थुर्यतींद्रदिविजप्रमदार्थिकाश्च ज्योतिष्कवन्यभवनामरवामनेन्नाः॥

तं भावना वनसुरा प्रहक्षणजाश्च मत्यीः प्रदक्षिणसुपत्य स्याः क्रमण ॥ ३५॥

आछेल्या सुवर्ण कमलांनी या मंडपाला नजराणा केला होता. अथीन या पंडपाच्या पुढे सुवर्ण कमलांची सुंदर रचना केली होती. ३१ आद्य सिंहासनावर चार महा-दिशामध्ये मुद्धुदांनी उज्जल दिसणाऱ्या मस्तकांच्या हारे यक्षांनी धारण केलेली वर्मचक्तें आठ मिणस्वित मंगल द्रव्यासह शोगूं लगन्हीं. ३२ रत्नस्वचित दृसऱ्या सुवर्ण सिंहासनावर आठ दिशामध्यें चक्रदाक पक्षी, हत्ती, बेल, कमल, बस्त, हंम. गरु, व माला या चिन्हांनी युक्त, व ज्यांच्या ठंडाला नाना प्रकारची रत्नें जडिय शि आहेत असे निर्मल आठ व्या शोभत होते. ३३ मलोक्याला चृडामणि मगाणें शोमा आणणारें, श्री भगदंताचा ज्यावर निवास होतो अर्थात् प्रसु ज्यावर विगानमान होतान, असे मनोहर गंयकुटी दिमान तिसऱ्या सिंहासनावर होतें. हें गश्रुटी विमान नवीथ सिद्धीमध्ये असलेल्या तेज: इंज दिमानाची लीला धारण करीन होतें. ६४ नेलोत्य ज्यांची पूजा करीन आहे, ज्याच्या दिण्य ध्वनीची सर्व लोर याट पातात आहेत, कर्मव्यान हिन्य ध्वनीची सर्व लोर याट पातात आहेत, कर्मव्याचा मूल्यमान सुगंशित केलेला आहे अभा गंयकुटी विमानावर विरानमान ज्याचा मूल्यमान सुगंशित केलेला आहे अभा गंयकुटी विमानावर विरानमान स्राह्मी स्थान पुगंशित केलेला आहे अभा गंयकुटी विमानावर विरानमान स्थान स्थान पुगंशित केलेला आहे अभा गंयकुटी विमानावर विरानमान स्थान स्थान पुगंशित केलेला आहे अभा गंयकुटी विमानावर विरानमान स्थान स्थान पुगंशित केलेला आहे अभा गंयकुटी विमानावर विरानमान स्थान स्थान सुगंशित केलेला आहे बिगानमान स्थान सुगंशित केलेला आहे बिगानमान सुगंशित केलेला सुगंशित देवांगना,

चतुर्महादिग्वलयप्रमेदाद्धिषद्विधानूनगणप्रमेदाः ॥
सोपानमाला दशषद्धभास्तरपरितपीठांतगता बसूद्धः॥ ६६॥
त्रिशालवर्योन्नतरत्नगोपुरे श्रीद्धारपाला वरहैमवेत्राः॥
आसन्यशासंख्यमुदारवेषा वन्यामरा भावनकल्पजाश्र्व॥ ६०॥
आद्यस्य शालस्य मनोन्नमानस्तंभस्य संख्यानिद्धांवरा ये ॥
सदंतरं चित्रविभूतियुक्तं तैयोजनस्याद्धीमिति प्रणीतं ॥ ६८॥
आद्यस्य शालस्य मनोहरस्य दितीयशालस्य च यध्यमाद्धः॥
त्रियोजनं कल्पनगानलीभिविराजमानस्य जिनागमन्नाः॥ ६९॥
दितीयशालस्य मनित्रस्तमभावलीसारितमानुभासः॥
तृतीयशालस्य मनित्रकेतनैर्निरंतरेश्च्छादितवायुवर्त्मनः॥
दिपारिपीठस्य च कीर्तितं चुधैः स्प्ररस्यभस्यांतरमर्थयोजनय्॥ ४९॥

आर्थिका, ज्योतिष्क देवांगना, ज्यंतरांगना, भवनवासि देवांगना, भवनवासि देव, ज्यंतर देव, ज्योतिष्क देव, कल्पवासि देव, मनुष्यं व पशु हे वीर जिनेष्वराच्या सभोंवती प्रदक्षिणारूपानें वसले. ३६ चार महादिशांच्या वलयांच्या भटानें पुष्कल अशा गणाचे वारा भेद झाले होते अर्थात चार दिशांचे मिळ्न वारा कोटे झाले होते. व त्यांत उपर्युक्त वारा गणांचे जीव विराजमान झाले होते. व प्रकाशमान अशा सिंहासनाच्या जेवटापर्यंत पायच्यांच्या सोला पंक्ति होत्या.

३७ तीन्ही तटांच्या उत्कृष्ट व उच्च रत्नगोपुरावर ज्याच्या हातांत सोन्याच्या वेताची उत्तम छडी आहे व ज्यांचा वेप फार अमूल्य आहे असे व्यंतर, भावन व कल्पवासी देव यथाक्रम द्वारपाल होते ३८ गणितज्ञामध्यें श्रेष्ठ अशा विद्वान लोकांनीं पहिल्या तटाचें व सुंद्र मानरतंभाचें उत्तम नानाविध विभूतिगुक्त अतर अध्या योजनाचें आहे असे सांगितलें आहे. ३९ कल्पद्यक्षांच्या पंक्तींनीं शोभणाच्या पहिल्या तटाचें व दुसच्या मनोहर तटाचे मध्यें जिनागमाला जाणणारे विद्वान लोक तीन योजनाचे अंतर आहे असे सांगतान. ४० नानाविधरत्नांच्या कांतिगंडलाने सूर्याच्या किरणांचा तिररकार करणाच्या दुसच्या तटाचें व तिसच्या तटाचें मध्य अतर मुनिश्रेष्ठ ढोन योजनांचें आहे असें म्हणतान. ४१ नानाप्रकारच्या तटाचें मध्य अतर मुनिश्रेष्ठ ढोन योजनांचें आहे असें म्हणतान. ४१ नानाप्रकारच्या

अत्नकांतिर्जिनसांनिधा नदेशस्य धात्रीतलभूषणस्य ॥
अप्यंतरं रत्निवराजनानस्तंभस्य पद्याजनमाहुरायाः ॥ ४२ ॥
इति धाम जिनाधिषस्य तस्योभयता द्वादशयोजनं व्यराजत् ॥
अमरेंद्रफणींद्रभूमिपालैरपरं कीर्णिभवान्तरं त्रिलोक्याः ॥ ४३ ॥
पौष्पी वृष्टिरनुदुता मधुकरेः खेतीकृताशानना ॥
तस्याये सतमालवेव दिनजा ज्योत्साः पपातांवरात् ॥
संद्रष्टं तिमवाव्हयन् जिनपतिं भव्यांखिलोकीगतान् ॥
त्रैलोक्योदरमानसे श्रुतिसुखः खे दुंदुभीनां ध्वितः ॥ ४४ ॥
कांतांमोदपथैरनेकविद्यै रंधन्दिशामांतरं ॥
नानापुष्पनवभवालसुमसो धूर्तःस्ययं वा मधुः ॥
पक्रीस्य दुरुदुमोत्कर इव द्रष्टं तमस्यायता ॥
रक्ताशोकतरुः सुरांचिततलोऽप्यासीत्पवित्रः परम् ॥ ४५ ॥

चक्रॉकृत्य सुरैरुपर्यपरि वा क्षरिांबुराहोः पयो

विन्यस्तं गगने त्रिघा पशिमतं स्वस्य प्रभाख्यातये॥ तस्येंडुद्यतिशुभ्रम्प्यविरतं भव्योघरागावहं॥

त्रैलोक्येशसुलांछनं भगवतश्छत्रत्रयं दिस्ते ॥ ४६ ॥ धुन्वानावित्र दश्यतासुपगतौ ज्योत्स्नातरंगौ दिवा ॥

यक्षी तं विमलप्रक्षिणकपदेनासेविषातां प्रभुं॥ यस्मिन्पश्यति रतनदर्पण इव स्वातीतजन्मावलीं॥

भव्ये।घस्तदधूत्तदीयवपुषो भामंडळं मंडनं ॥४७॥ नानापत्रळतान्वितं वनमिव व्याज्भाणाननै—॥

र्युक्तं केशारिभिः सरत्नमकरं धामेव वारां परं ॥ तुगं हेममयं सुरासुरजनैः संसेब्यमानं सदा ॥

मेरोः शृंगनिवासनं जिनपतेस्तस्यासवद्भासुरम् ॥ ४८ ॥

अशोक द्वस जणूं सृतिंमंत अशोक द्वक्षाप्रमाणें वाटत होता. अथवा देवकुरु व उत्तर कुरु या योगभूगीतिक कलपवृक्षांचा समुदाय वीर प्रभूला जणू पहावयास आछा आहे काय ? अक्षा दिसणारा रक्त अशोक वृक्ष सुरांचिततल असूनही म्हणजे दाक्नें युक्त आहे तलभाग ज्याचा असा असूनही पिवत्र होता. या विरोधाचा परिहार याप्रमाणें समजावा. सुर म्हणजे देवत्यांनीं अचिततल अर्थात् पूजनीय आहे तलभाग ज्याचा असा तो रक्ताशोकवृक्ष अतिशय पिवत्र होता यांत आश्चर्य कसलें?

४६ भगवंताचे छत्रचय भगवान त्रैलोक्याचे स्वामी आहेत असें सुचवीत होतें. हें छत्रत्रय चंद्राच्या कांतिनारखें शुभ्र होतें तरी ही भव्यसमूहाच्या ठिकाणीं आरक्तपणा-तांवहेपणा उत्पन्न करीत होतें. या विरोधाचा परिहार असा:—छत्रत्रय चंद्राच्या कांतिममाणें होतें व ते भव्यांच्या ठिकाणीं रागावह होतें अर्थात् प्रेम उत्पन्न करीत होतें. यवत:च्या मंभची मासिद्धि व्हाबी म्हणून देवांनीं क्षीरसमुद्राचें पाणी आकाशांत चक्राकार करून एकावर एक अशा रीतीने जणु रचिलें आहे काय अशी छत्रत्रय पाहून कल्पना उत्पन्न होत होती. याममाणें तें वीरमभूचें छत्रत्रय चमकृत होते. ४७ निर्मेल चामगंच्या मिपानें जणु दिवसा हत्यावस्थेला प्राप्त झालेल्या चद्मकाशाच्या दोन तरंगांना हलविणार टोन यक्ष प्रभूची सेवा

अजायमानेऽथ पतिः सुराणां दिन्यध्वनौ तस्य जिनेश्वरस्य ॥ आनेतुमात्मावधिदर्शितो यरतं गौतमग्राममगाद्गणेशं ॥ ४९ ॥ तत्र स्थितं जगति गौतमगोत्रसुख्यं विप्रं धिया विमलया प्रथितं च कृतियी ॥

कात्या॥ इंद्रस्ततो जिनवरांतिकभिंद्रभूतिं वादच्छलेन बहुवेपभृदानिनाय।५०। मानस्तं भिवलोकनादवनती भूतं शिरो विभ्रता॥ पृष्टस्तेन सुमेधसा स भगवानुहिश्य जीवस्थितिम्॥ तत्संशीतिमपाकरोा जिनपतिः संभूतिद्वयध्यि — दीक्षां पंचरातार्द्वजातितनयैः शिष्येः समं सोऽश्रहीत्॥५१॥

करूं लागले. रत्नदर्पणांत मुख पाहावें त्याप्रशाणें ज्याच्यामध्ये आपल्या पूर्वभवाचें भव्य जीव अवलोकन करितात तें प्रभूच्या शरीराचें कांतिमंडल त्याच्या शरीराचें भूषण झालें. ४८ नाना प्रकारच्या पानांनीं युक्त असे हें वनच आहे काय, अथवा रत्नें व मगर वगैरे पाण्यांचें निवासरधान असा जलिय-समुद्रच आहे काय' किंवा सुर व असुर यांच्याकह्न सदा सेविलें जाणारें हें मेरूचें शिखरच अशा कल्पना उत्पन्न करणारं, ज्यांनीं तोंड केलें आहे अशा सिंहांनीं युक्त असें वीर जिनाचें सिंहासन फार चमकत होतें. तात्पर्य हे कीं, सिंहासनावर पुष्कळ पकारची वेळबुट्टी काढलेली होती म्हणून तें वनाप्रमाणें भासत होतें, रत्नांनीं जडलेलें व मगर वगैरे पाण्यांची आकृति त्यावर काढलेली असल्यामुळें तें समुद्रासार्खे भासत होते व देव त्याची नेहमी सेवा करीत होते व तें फार उंच आणि चमकणारें असल्यामुळें मेरूच्या शिखरापमाणं भासत होतें. ४९ यानंतर भगवान वीर जिनेश्वराचा दिन्य ध्वनि होत नाहीं हे पाहृन स्वतःच्या अवधिज्ञानाच्या द्वारं जो दाखिवला गेला त्या गौतम गणधराला आणण्यासाठीं देवांचा स्वामी इंद्र गौतम प्रामीं गेला ५० त्या ठिकाणीं विभल चुद्धीनें व कीर्तीनें जगांत प्रसिद्ध असलेला गौतम गोत्रांतील मुख्य अशा इंद्रभूति ब्राह्मणाला वादाच्या मिपानें वटु वेष धार्ण करणाऱ्या त्या इंद्रानें श्री वीर यभूजवळ आणिलें, ५१ इंद्रभूतीनें मानइतंभाचें दर्शन केलें तेन्हां त्याचा गर्व नष्ट झाला व त्याने आपले मस्तक नम्र केले. विद्वान अशा त्याने जीवाच्या आस्ति न्वाला उदेश्न प्रश्न केला तेव्हां ज्यांच्या ठिकाणीं दिव्यध्वानी उत्पन्न झाला आहे

पूर्वाण्हे दीक्षयामा प्रविमलमनशा लब्धयो येन लब्धाः ॥ बुद्धयोषध्यक्षयोजप्राथितरसत्तपोधिक्रयाः सप्त सद्यः॥ तिसम्बेबान्हि चक्रे जिनपतिवदनप्रोद्धतार्थप्रपंचां

सोपांगां द्वादशांगश्चतपदरचनों गौतमः सोऽपराण्हे॥५२॥ संप्राप्तस्वीतिशयं जिनेंद्रमिंद्रस्तदा तं विनयावनग्नः प्रचक्रमे स्तोतिभिति श्वीतज्ञः स्तुत्ये न केषां स्तवनाभिलाषः॥५३॥ अथ जिनेंद्र ! तव स्तवसद्धिं मम फलस्पृह्यापि समुद्यता ॥ स्खलित वीक्ष्य मातिर्शुणगौरवं श्रमकरोऽभिमतोऽपि महामरः॥५४॥ जिन ! तथापि मया हृद्यस्थितप्रच्यस्यितभराद्भिधास्यते ॥ तव गुणस्तुतिरप्यतिद्वष्करा सद्चरागश्चतस्य न हि त्रपा ॥५५॥

अशा वीर प्रभूंनीं त्याचा संशय दूर केला. तेव्हां इद्रभूतीने पांचशे ब्राह्मण शिष्या- सह वीरनाथाजनल दीक्षा घेतली. ५२ दिवसाच्या पूर्वभागांत दीक्षा घेतल्यावरीवर इंद्रभूती गणधराला परिणामांच्या अतिशय निर्मळपणासुळं बुद्धि, औपय, अक्षय, वल, रस, तप, विक्रिया या सात ऋद्धि प्राप्त झाल्या. तेव्हां जिनेश्वराच्या सुखापासून निघालल्या अर्थाचा—जीवादि पदार्थांच्या वर्णनाचा विस्तार ज्यामध्य केलेला आहे व उपांगांनीं सहित अशा द्वादशांगश्रुतज्ञानाच्या पदांची रचना इंद्र भूतिगणधरांनीं त्याच दिवशीं दिवसाच्या उत्तर भागांत केली.

पत्र ज्यांना सर्व अतिशय अर्थात् अरहंताला ४६ गुण असतात ते सर्वगुण प्राप्त झालं आहेत अशा श्रीवीर जिनेंद्राची श्रुतज्ञानी व विनयानं नम्र झालं ल्या इंद्रानें रतित करण्यास मारंभ केला. वरोवरच आहे की जो स्तुतीला पात्र आहे त्याची स्तुति करण्याची इच्छा कोणास वरें उत्पन्न होत नाहीं? सर्वीसच होते. ५४ हे जिनेन्वरा! तुझी रत्तित करण्याच्या कार्यी माझी छुद्धि फलाच्या इच्छेंन प्रवृत्त झाली आहे परंतु तुझ्या गुणांचें फार मोठें ओझें आहे हे पाहून अर्थात् तृत्या टिकाणीं अनंत गुण आहेत हें पाहून माझी छुद्धी रखलन पावत आहे. वरोवरच आहे कीं, आवडतें देखिल मोठें ओझें अकवा उत्पन्न करितेंच. ५५ हे जिननाथ! तरीही माझ्या हृद्यांत असलेल्या अतिशय मिक्सुलें तुझ्या गुणाची रत्तित करणें अतिशय किर्याण असताही भी ती करावयास प्रवृत्त झालों आहे. वरोवरच आहे की, उत्तम पता-धीवर-आहम कल्याण करणाऱ्या पदार्थीदर नेमयुक्त वनलेल्या पाष्याला लला।

विगतहानि दिवानिशमुज्जवलं विकचकंजचैयरिमनंदितं ॥
वहित वीर यशस्तव संततं श्रियमनूनमपूर्वकलाभृतः ॥ ५६॥
त्रिभुवनं ५ततं करणकमावरणहीनियदं खलु वीक्ष्यते ॥
जिन ! यथास्थितमस्य परिभ्रमन्न हि विचित्यगुणः परमेश्वरः॥५०॥
श्रुतसुमारुतकंपितिमेरुणा मनासेजो सदुपुष्पधनुर्धरः ॥
अधिरतो भवतेति किमद्धतं बलवता विपमोऽप्यांमभूयते ॥५८॥
जगित यस्य सुदुर्धरमूर्जितं प्रथितधैर्पधनैरिप शासनस् ॥
प्रकटदुःसहग्रिप्तिनंधनं परमकाराणिकः स कथं भवान् ॥५९॥

नसते. ५६ हे वीरनाथा ! तुझें पूर्ण यश अपूर्व चंद्राची शोभा नेहमी धारण करीत आहे. या तुझ्या यशाला केव्हांही हानि नाहीं. तें रात्रेदिसस उज्डबलच राहतें व प्रकुछ झालेल्या कमलसमूहांनीं ( दिवसा विकास पावणाच्या कमलसमृहांनी. ) त प्रशंसनीय झालें आहे. दिनविकासि कमलें चंद्राच्या प्रकाशाला पाहन विकसित न होतां मिटतात अर्थात् त्याच्या प्रकाशाचें स्वागत-अभिनंदन करीत नाईांत. पण हे जिना! तुझ्या यशाला पाहृन तीं प्रफुालित होतात चंद्राला कृष्ण पक्षांत हानि आहे, दिवसा तेजोहीनता ही आहे. य स्तव तुझें यश अपूर्व चढ़ाच्या शोमेला धारण करीत आहे. ५७ हे वर्द्धमान जिना! इदियांच्या क्रमानें व आवरणानें रहित होऊन तुजकडून हें जग जसें आहे तसें पाहिन्नं जात आहे. तसें हे जग पाहण्यासाठी-जाणण्यासाठी तुला फिरावें लागत नाहीं. अथीत एकाच ठिकाणीं राहून तुं सर्व जग जाशीत आहेस. वरोवरच आहे कीं, हे विभो ! तुझे गुण विचार करतां येण्या सारखें नाहीत. ५८ शिंकेच्या वाऱ्यानें हे जिना! त्वां मेरूपर्वत देखिल सक्तंप केला होता. यास्तव अनुलवल धारण करणाऱ्या तुजकहन कोमल पुष्पांचें धनुष्य धारण कर गारा मदन जिंकिला गेला यांत काय आश्चर्य आहे वरें ? वरीवरच आहे कीं. वलवान प्राण्याकहन तुच्छ देखिल च्याक्ति जिंकिली जातेचा ५९ हे बीर प्रभो ! तुझे शासन प्रासिद्ध धैर्यरूपी धन धारण करणाऱ्या पुरुषांना देखिल धारण कार्टण आहे. तुझें हें उत्कृष्ट शासन स्पष्ट रीतीने दुःसह अशा गुप्तींनी युक्त आहे. अर्थात् पनोगुप्ति, वचनगुप्ति व काय्गुप्ति यांनीं साहित आहे. यास्तव हे प्रभो । आपण परमंद्रमाळ कसे ? जसें एखादा राजा उघहरण दुःसर अहा काराष्ट्रशंत छोकाना

अनुदिनं सुमुदं परिवर्द्धयन् परमलोकिवतापि महो दधत्॥
विरहितावरणोऽप्यचलिश्यितिजिनपते! त्वमपूर्वतमोपहः॥ ६०॥
सम्पलभ्य गिरं जिन! तावकीं हततृपो न भवन्ति न साधवः॥
नभित ग्राष्टेविमोरुरजोहरामिनवां अर्थतो सुवि चातकाः॥ ६१॥
सुप्रणात्निधरप्यजडाशयो विमदनोऽपि निकामसुखमदः॥
जिजगत्।सिधपोऽप्यपरिमहस्तव विरुद्धमिदं जिन चेष्टितम्॥६२॥

कां दं तामला म्हणजे त्याची आज्ञा धेर्य धारण करणाच्या लोकांना देखिल पालगंना भीति वाटतें तने हे प्रभी! आपलें जासन-मत उत्कृष्ट आहे परंतु त्याचे गुप्ति सिमित वर्गरे नियम पालणें धीर मनुष्यांना देखिल कठिण वाटतें यास्तव असे कहके नियम पाल्न देणाच्या शिभी! तूं दयाद्ध कसा वरे आहेस ? या ठिकाणीं कवीनें वीर प्रमूच्या पनाची निंदा केली आहे असें वाटेल परंतु ती निंदा नव्हे. पालण्याला कठिण परंतु आत्म्याचें खरें कल्याण करून देणारें असेंच वीरमभूचें मत आहे यास्तव त्याच्याचे लिंदा वर्षे कर्याण करून देणारें असेंच वीरमभूचें मत आहे यास्तव त्याच्याच ठिकाणीं पूर्ण दयालता संभवते. असे कवीने आपलें मत दाखिलें आहे. ६० हे जिनेश्वरा! तूं अपूर्वचंद्र आहेस, तूं नेहमीं कुमुद्द-कु-पृथ्वी तिला आनंद देतीस, व तुझें तेज आतिशय लोकवितापि लोकांना ञस्त करणारें आहे. अथीत सर्व लोकाला—जगाला प्रकाशित करणारें—जाणणारें आहे. तुझ्यावर कथीहि कर्यरूपी मेघाचें आवरण येत नाहीं व तुं नेहमी स्थिर राहतोस यारतव तुं अपूर्वचंद्र आहेम. आक्षाशांतील चंद्र फक्त राजीं विकास पावणाऱ्या कमलांनांच आनंदित करिसी. त्याचा प्रकाश सर्व जगभर पडत नाहीं. त्याला हम झांकून टाफितात. व तो एके ठिकाणीं राहात नाहीं. म्हणून त्याच्या ठिकाणीं कांहींच अपूर्वता नाहीं.

६१ हे जिनेष्वरा! तुझ्या उपदेशाची प्राप्ति करून घेऊन सत्पुरुष तृषाराहित होतात. अर्थात् तुझ्या उपदेशरूपी जलापासून भन्य जीवाचा मोटा पापरूपी मल नष्ट होतो जसें मोठ्या भूलीचा उपश्रम करणारें असें आकाशांतील नवीन मेघाचें पाणी प्राप्त करून घेऊन या पृथ्वीतलावर चातक पक्षी तृप्त होत नाहीं काय ? होतात. ६२ हे जिना! तृं अनेक सद्गुणरूपी रत्नांचा साठा असूनही अर्थात् गुणरत्नसद्धद्र असूनही अजलाशय-समुद्र नाहींस याचा विरोध परिहार असा. अजहाशय-सूर्खपणाच्या आदायानं रहित आहेस. अर्थात् तृं महाज्ञानी आहेस. तृं विमदन-मदनविकारानं रहित असूनहि अतिक्षय कामावे-

उक्त्वेति संपृष्टवते यथावत्तस्मै स जीवादिपदार्थतत्वं ॥ भन्यान्पधि स्थापियतुं विमुक्तेरित्थं जिनेंद्रो विजहार वीरः॥८४॥ अपनीतकंटकतृणीपळादिका धरणीतले सपदि योजनांतरे॥ सुरभीकृताखिलदिगंतराः सुखा मरुता ववुः पथि पुरो जिनेशिनः

अनभ्रवृष्टिः सुरिभर्महीरजः शमं निनायार्कृतपंकविभ्रमा ॥ अधारितास्तस्य पुरःस्वयं ययुर्ध्वजाः समंताद्गगने मर्चलाः ॥८६॥ मणिमयाद्दतलप्रतिमा मही विविधरत्नमयी समजायत ॥ सकलसस्यचयो वृद्धेऽवनौ विदितपक्षसृगैरिप तत्यजे ॥ ८७ ॥ पादन्यासे सप्त पद्माः पुरस्त।त्पश्चाच्चासन्सप्त तस्यांतरिक्षे ॥ अप्रे देवैर्वाद्यमानानि भक्त्या मंद्रं मंद्रं दिव्यतूर्याणि नेदुः ॥८८॥

करीत असतां पुढें आलेल्या किरीटाला डाव्या हातानें पूर्व टिकाणीं योग्य रीतीनें बसवृत इंद्रानें पुढें लिहिल्याप्रमाणें प्रश्न केले. ८३ हे प्रभी ! हें जग कसें स्थिर साहिलें आहे व केवढें आहे ? तत्वं कोणतीं आहेत ? अनादि व अविनाशी अशा या आत्म्याला कर्मवंध कोणत्या कारणांनी होतो व कोणत्या कारणांनीं त्याली मोक्ष प्राप्त होतो १ सर्व पदार्थाचें स्वरूप कसें आहे १ हें आपण आपल्या दिव्य वाणीनं सांगावें. ८४ याप्रमाणे प्रश्न करणाऱ्या त्या इंद्राला यथार्थ रीतीने प्रभूती जीवादिपदर्थीचें स्वरूप सांगितलें नंतर वीरप्रश्च सर्व भव्यांना मोक्षमागीत स्थापन करण्यासाठीं विहार करूं लागले. ८५ विहार करीत असतां मार्गामध्यें जिनेश्वराच्या पुढें एक योजनपर्यंत पृथ्वीतलावर कांटे, गवत, पाषाण वमेरे दृर करणारे, सर्व दि-शांचा मध्यभाग सुगांधित करणारे असे सुखदायक वारे वाहू लागले.८६ मेघ नसतांही मुग्रथ अशा गंधोदकवृष्टीनें जमीनीवर चिखल न करितां सर्व धुळ नाहीशी केली.चाच्या-नें हाळणारे ध्वज आकाशांत सर्वत्र अधर रीतीनें प्रभूच्या पुढें गमन करूं लागले. ८७ पृथ्वी रत्नमय दर्पणामभाणें नानामकारच्या रत्नांनीं निर्माण केलेली अशी आली. पृथ्वीवर सर्वे धान्यांची वाढ झाली. ज्यानीं आपापला पक्ष जाणला आहे अशा पश्ंनीं वैर सोइन दिलें. ८८ आकाशामध्यें प्रश्च विहार करीत असतां त्यांच्या पाऊल ठेवण्याच्या जागीं पुढें सात कमळें व मागे सात कमळें निर्माण अत्रेसरं व्योमिन धर्मचक्रं तस्य स्फुरद्वासुरराश्मचक्रं ॥
दितीयतिग्मद्युतिर्निवशंकां क्षणं द्वधानामिप कुर्वदासीत् ॥ ८९ ॥
एकादश ख्यातमहानुभावास्तस्येंद्रभूतिष्रसुखा गणेशाः ॥
ससुन्नताः पूर्वधराश्च प्च्या वभूनुरुद्धिश्चरातानि लोके ॥ ९० ॥
मताः सहसाणि नवाथ शिक्षका युतान्युदारा नविभः शतैः परैः सहस्रमासन्नवधीक्षणान्वितास्त्रिभः शतैरभ्याधिकं च साधवः ९१ धीरा मनःपर्ययवोधयुक्ता वुधस्तुताः पंच शतान्यभूवन् ॥
अनुत्तमाः केवालिनश्च मान्या मनीषिणां सप्तशतानि शश्चत ॥९॥
अनिदिता विकियिकाः शता निख्याता वभूनुनेव शांतिचत्ताः ॥
उन्मीलिताशेषकुतीर्थदक्षा वादिदिपेन्द्राश्च चतुःशतानि ॥ ९३॥
अथार्यिकाः शुद्धचरित्रभूषाः श्रीचंदनार्याप्रसुखा वभूनुः ॥
पद्धिः सहस्रेरिधकानि वंद्यास्त्रिशत्सहस्राणि सुनीतिमाजः ॥९॥

होत असत. प्रभूंच्या पुढें देवाक इन भक्तीने वाज विलीं जाणारी दिन्य वाद्यें गंभीरपण शब्द करूं लागलीं. ८९ चमकणाच्या तेजस्वी किरणसमूहांनीं युक्त असें धर्मचक्र प्रभूच्या पुढें चालें लागलें. विद्वान लोकांना देखील हें दुसरें सूर्यमंडल आहें अशी तें शंका उत्पन्न करीत असे. ९० ज्यांचा जानप्रभाव प्रासिद्ध आहे असे श्रीवीरप्रभूचे इद्रभूति वगैरे अकरा गणधर होते. व उन्नत अवस्थेला पोहोचलेले अर्थात उत्तम चारित्वधारक महत्वशाली व पूज्य असे चौदा पूर्वाला जाणणारे तीनशे मुनिरान होते (श्रीवीरप्रभूचे इद्रभूति, वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, मौंच, पुत्र, मैत्रेय, अक्तपन, धवेल व प्रभास असे अकरा गणधर होते.)

९१ नउ हजार नजरो शिक्षक मुनि प्रभूच्या समवसरणांत होते, असं
मानिले आहे. तसेंच ज्यांना अवधि ज्ञानक्ष्मी होळा आहे असे मुनि एक हजार
तीनरों होतें. ९२ विद्वानाकहून रतुत्य वधीर असे मनःपर्यय ज्ञानीमुनि पांचरों होते.
विद्वज्जनांना पूज्य व अतिशय उत्कृष्ट अर्थात् लोकोत्तम असे केवलज्ञानी मुनि
सातशें होते. ९३ प्रशंसनीय व शांत अतःकरणाचे वैक्तियिक ऋदियारक मुनि नजरो
होते. ज्यांनीं संपूर्ण कुधमेरूपी द्रक्षाल अर्थात ज्यांनीं
कुमतक्षी दृक्षाला सपूर्णपण मुलापान्न उपदृन टाकिन् असे

अणुगुणवरशिक्षाभेदभिन्ननतस्था जगति शतसहमाण्यूर्जिताः आवकाः स्यः।

त्रतमणिगणभूपास्तत्वमार्गे प्रवीणाक्षिगुणशतसहस्राण्युज्ज्वलाः शविकाश्च ॥९५॥

तस्यासंख्याता देवदेव्यः सभायां संख्यातास्तिर्ययज्ञातयश्चांप्य-भोहाः॥

आसन्सम्यक्तं निश्रलं धारयंतो ज्ञाताशेषाधीः शांतया चित्त

एभिः समं त्रिभुवनाधिपतिर्विहृत्य त्रिंशत्समाः सक्टसत्विहितोः पदेशी ॥ पदेशी ॥ पावापुरस्य कुछुमाचित्रपादपानां रन्यं श्रियोपवन्सापः तता जि-

कृत्वा योगनिरोधमुन्झितसभः षष्ठेन तस्मिन्वने ॥ व्युत्सर्गेण निरस्य निर्मेटक्चिः कर्माण्यशेषाणि सः ॥ स्थित्वेदाविष कार्तिकासितचतुर्दस्यां निशांते स्थिते ॥ स्वातौ सन्मतिराससाद सगवानिसार्द्धं प्रसिद्धाश्रयं ॥१८॥

वादिरूपी गर्नेंद्र अथीर बादऋदींचे धारक मुनीम्बर चारणे होतें. ९४ निजापें चिरत्रहपी असंकार ज्यांनीं धारण केसा आहे व चढ़ना आर्थिका ज्यापध्यें मुख्य आहं अक्षा सुनीतिसा अर्थात् मोक्षमार्गीसा अनुसक्त वागणाच्या आर्थिका स्त्रीस हजार होत्या. ९५ अणुद्रते, गुणद्रतें आणि शिक्षाव्रतें या भेदांनी भिन्न अज्ञा द्राता रिधर राहणारे श्रावक या भृतस्रावर एक स्रावह होते. व द्रतक्ष्मी-रत्नसमृहाच्या अलंकारांनीं युक्त आणि तत्वमार्गीत निष्ठुण निद्रांप कहा तीन स्रावह श्राविका होत्या. ९६ प्रभृष्या समवसरणांत असल्यांत हेवी व देव होते व अमोह अर्थात् मोह रहित असे पंचित्रय निर्यंच सल्यात होनें. हे क्ष्में तिर्यंच, देवी व देव निश्रस सम्यक्तवासा धारण करणारे सर्व पदार्थीचें स्टक्ष जाणणारे असे होते. प्रभृच्या समवसरणांत हे सर्व शांत चिक्तानें वक्तत असत. ९७ तीन जगाचे अदिपति रुप्णे-जीवांना हिताचा उपदेश करणारे अन्ना कीर जिनेम्बरांनीं तीम वर्षेवर्यंत या सर्व

अब्याबाधं पदमतिशयानंतसौरुयं जिनेंद्रे
तस्मिन्याते तनुमनुपमां पूजिनुं तस्य पूतां ॥
भक्त्याजग्मुर्विष्ठधपतयो विष्टरोत्कंपनेन ॥
ज्ञात्वा सर्वे द्वतमनुगतास्तं प्रदेशं स्वसेन्यैः ॥९९॥
अमीन्द्रमौलिवररत्नविनिर्गतेऽमौ कर्पूरलोहहरिचंदनसारकाष्टेः संधुक्षिते सपदि वातकुमारनाथैरिंद्रा मुदा जिनपतेर्जुहुनुः शरीरं१०० कल्पाः कल्याणमुच्चैः सपदि जिनपतेः पंचमं तस्य कृत्वा ॥
भ्यान्नोऽप्यस्य भक्त्या ध्रुवमनिविरात्सिद्धिसौरूयस्य सिद्धिः॥
इत्यंतिश्चतयंतः स्तुतिमुखरमुखास्तं प्रदेशं परीत्य
प्रीत्या शकादयःस्वं प्रतिययुरमरा धाम संप्राज्यसंपत् ॥ १०१ ॥

संघासह विहार केला. नंतर ते पुष्पांनी युक्त अशा वृक्षांच्या सौंद्र्यांने रमणीय अशा पावापुर शहराच्या उद्यानामध्यें आले. ९८ त्या उद्यानामध्यें दोन दिवस पर्यंत योगनिरोध करून ज्यानीं सभास्थान सोडिलें आहे अर्थात् समवरणाचा त्याग केला आहे, परमावगाट सम्यग्द्रश्रेनधारक, अशा वीरस्वामीनी कायोत्सर्गाने सर्व कभीचा नाश केला. व कार्तिक कुण्णपक्षाच्या चतुर्दशीच्या पहाटेस स्वाति नक्षत्रावर चंद्र असतां भगवान सन्मति जिनेश्वरांनीं प्रसिद्ध अशा शोभेळा धारण करणाऱ्या मोक्षास प्राप्त करून घेतलें. ९८ उत्कृष्ट व अनंत सीख्य जेथे आहे अशा वाधारहित मोश्चपदाङा बीर भगवान गाप्त झाले असतां, सिंहसनांच्या हळण्याने भगवतांना मुक्तिमाप्ति झाली हें नाणून आपल्या सैन्यानें अनुसरलेले असे ते सर्व इंद्र मोट्या भक्तीनें उपमारहित अशा जिनेश्वराच्या पवित्र शरीगाचें पूजन करण्यासाठीं त्या महैशाला-पावा पुराच्या उद्यान प्रदेशाला-जेथं भगवताला माक्ष प्राप्त झाला आले. े १०० अग्निकुमार देवांच्या इंद्रांच्या मुकुटाबरील चत्कृष्ट रत्नापासून नियालेला अगि कापूर, अगरु, गोशीर्ष चंदन व इतर उस्कृष्ट सुंगाधि लांकहें यांनीं तत्काल यासकुमारदेवांच्या इंद्रांनीं पेटविळा असतां सीधमेंद्र वगैरे इंद्रांनीं प्रभृच्या शरीराची आनंदाने दहन किया केळी. १०१ सौधर्मस्वर्ग वगैरे स्वगीत राहणाऱ्या देवांनी तस्काल श्रीवीरमभूचे पांचवें कल्याण-मोक्ष कल्याण केलें. व या प्रभूच्या भक्तीने आम्हास देखिल लोकरच मोक्षसुखाची कायमची प्राप्ति होवे। असा त्यांनी मनांत विचार केला. हा विचार करीत व मुखांची एकसारखी स्तुति करीत आनि-

कृतं महावीरचरित्रमेतन्यया परस्वप्रतिवीधनार्थ ॥ सप्ताधिकित्रिंशभवप्रवंधं पुरूदवाद्यतिमवीरनार्थं ॥ १०२ ॥ वर्द्धमानचरित्रं यः प्रव्याख्याति शृणोति च ॥ तस्यहुपरलोकस्य सौख्यं संजायते तरां ॥ १०२ ॥ संवत्सरे दशनवोत्तरवर्षयुक्ते भावादिकीर्तिम्नानिशायकपादसूले ॥ मौद्रुल्यपर्वतानिवासवनस्यसंपसत्च्क्रीविकाप्रजनिते सति वाममत्वे ॥ विद्या मया प्रपठिते त्यसमाब्हयेन श्रीनाथराज्यम्खिलं जनता-पकारि॥

प्राप्येव चोडिवचे विरलानगर्या प्रंचाएकं च समकारि जिनोपिदेषे॥

क्ष इत्यसगञ्जते वधमानचरिते महापुराणोपनिपदि भगविश्वर्वाणगमनो नाम अष्टादशः सर्गः॥

क्ष समाप्तोऽयं ग्रंथः क्ष

शय भीतींने इंद्रादिकांनी त्या प्रभूच्या मोक्षस्थानाला प्रदक्षिणा यातल्या. यानतर हा सर्व विधि करून उत्कृष्ट वैभवान युक्त असलेल्या आपल्या स्थानी—स्वर्गादि-ग्धानीं ते नियन गेले. १०२ पुरुखाच्या भवापासून वीर जिनाच्या भवापयंत सदतीस भवांचे ज्यांत वर्णन केलें आहे असे हे महात्रीर जिनेश्वराचें चिन्त्र मी [असगमहाकवींने] स्वतःला व इतर भव्यांना यापासून वोध मिलावा म्रणून रिकेलें आहे. १०३ जो भव्य या वर्धमान चिर्त्ताचे व्याख्णान करितें। अर्थान त्याचें रपष्टीकरण करितों व जो भव्य हें चिर्त्त ऐकतो त्या भव्यांना अधिक प्रमाणानें इहलोक व परलोकाचीं सुखें प्राप्त होतात १०४-१०५ मौहत्य नांवाचा पर्वत जेथे आहे अला वनामध्यें राहणाऱ्या संपत् या नांवाच्या श्रेष्ट शाविकेनें महावीरचरिताित पर्यां आपला आदर प्रमट केल्यामुलें मी असग प्रवास पर्वति महावीरचरिताित महावीरचर्या चरणासमीप नडके दहा संवतांत हैं विस्त प्रवास करित रिकेलें आहे. प्रजेचें कल्याण कराणाच्या श्रीनाथराजांचे राज्यांन जाऊन सी असगनांवाच्या कर्वानें विद्येचे अध्ययन केलें आहे. व चोल-क्रियांच जाऊन सी असगनांवाच्या कर्वानें विद्येचे अध्ययन केलें आहे. व चोल-क्रियांच विरत्त नगरीमध्यें मी [असगकवांनें] जिनेश्वरोपितिष्ट असे आठ ग्रंथ क्रियांच विरत्त नगरीमध्यें मी [असगकवांनें] जिनेश्वरोपितिष्ट असे आठ ग्रंथ क्रियांच असगकवांनें] जिनेश्वरोपितिष्ट असे आठ ग्रंथ क्रियांच विरत्त नगरीमध्यें मी [असगकवांनें] जिनेश्वरोपितिष्ट विद्यांच विर्त्तांविल

श्रीवीर ज़ितानेचाँ में समाप्त वर्णन करणार हा अठरावा समी समाप्त झाला. सभाप्त